# तुलसी :

# आधुनिक वातायन से

तुलसीको
आधुनिक वातायनसे
देखने-सुनने-समझनेका
मतलब है—
अपने देशकी बहुसंख्यक जनताके
परम्परागत आदर्शों और जीवन-मूल्योंकी
ठोस चुनौतियोंका
अध्ययन !

# तुलसी
# आधुनिक वातायनसे

डॉ० रमेश कुन्तल मेघ
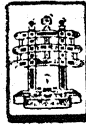
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक–२४९
सम्पादक एवं नियामक :
लक्ष्मीचन्द्र जैन

Lokodaya Series : Title No. 249

TULSI
ADHUNIK VATAYAN SE

( Thesis )

Dr. Ramesh Kuntal Megh

*Bharatiya Jnanpith Publication*

First Edition 1967

Price Rs. 12.00

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

प्रधान कार्यालय
९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७

प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

विक्रय-केन्द्र
३६२०।२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

प्रथम संस्करण १९६७

मूल्य १२.००

सन्मति मुद्रणालय,
वाराणसी–५

# विचार-दीपका आलोकन

नागरिक, नागरक, सन्त, भक्त और कवि तुलसीदास—जिनका बचपनका नाम 'रामबोला' था—पर सात उपनिषदोंवाली हमारी इस गोष्ठीमें न तो काकभुशुण्डि और गरुड़, न याज्ञवल्क्य और भरद्वाज, न शिव और पार्वती, और न ही नरहर्यानन्द और तुलसी मौजूद हैं। उनकी एक मिथकीय एवं आध्यात्मिक-ऐतिहासिक दुनिया थी। हमारी इस गोष्ठीका आयोजन बीसवीं सदीके भारतके मंचपर हो रहा है जहाँकी यथार्थता और स्वप्न दूसरे हैं। आज हम भारतसे रूढ़ सामन्तीय संस्कारोंके खत्म करनेपर जुटे हैं जो वर्णाश्रम धर्म और नारीकी दासताकी वजहसे ग्राम-विकासको रोकते हैं, शहरोंमें बड़े-बड़े भारी उद्योगोंको क़ायम करनेपर जुटे हैं जो समाजवादके लिए इस्पात, बिजली, जेट वायुयान, औद्योगिक माल पैदा करेंगे। आजके खल व्यक्ति नहीं, समूह और वर्ग हैं; आजके सन्त भी सामाजिक दार्शनिक हैं। किन्तु हमारे वर्तमान और इतिहासको एक महान् परम्परा जोड़े हुए है जो एक निरन्तर जीवन्त प्रक्रिया है। तुलसीको आधुनिक गवाक्षसे देखने-सुनने-समझनेका मतलब है, अपने भारतकी बहुसंख्यक जनताके परम्परागत आदर्शों तथा जीवन-मूल्योंकी ठोस चुनौतियोंका अध्ययन! साहित्य और कलाओंको या तो समाजका 'दर्पण' माना जाता रहा है, अथवा 'दीपक'। हमने 'वातायन' या 'झरोखे'का प्रतीक लिया है जहाँसे भारतके मध्ययुगकी विविधता साकार हो उठती है। हमारी आजकी गोष्ठीमें केवल आस्तिक पाठक और सनातन संस्कारोंवाले आलोचक ही नहीं, बल्कि राज-नीतिज्ञ, अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, नृवंशशास्त्री, सौन्दर्यबोधशास्त्री, वैज्ञानिक, मनोविश्लेषक, मार्क्सवादी, कांग्रेसी, समाजवादी आदि भी शामिल हैं। अतः हम इस गोष्ठीको शुद्ध साहित्यिक धरातलसे उठाकर 'सम्पूर्ण संस्कृतिकी' आधु-निकताके बोधपर क़ायम करेंगे, और इन सभी सहभोक्ताओंकी मिली-जुली नयी दृष्टियोंसे झरोखेके पारका दिग्दर्शन करेंगे।

यह गोष्ठी 'मध्यकाल-अध्ययनशास्त्र' ( मेडीवल स्टडीज़ ) का विकास करनेकी दिशामें एक अगला क़दम है। हिन्दीमें मध्यकाल-अध्ययनकी प्रथम गम्भीर चेष्टा आचार्य शुक्लने की, किन्तु वे उदार हिन्दू संस्कारोंसे भी मोहित

थे। अतः उन्होंने उदार हिन्दू-दृष्टिकोणसे इतिहासको देखा। आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदीने मध्यकालको लोकजीवनकी भूमिसे देखा और मध्यकालकी साधनाओंको मानवतावादी व्याख्याएँ कीं। इसके बाद मध्यकालकी निर्मितिके प्रयास रुक-से गये। तुलसीपर आधुनिक दृष्टिसे गम्भीर कार्य करनेवालोंमें सर जॉर्ज ग्रियर्सन, डब्ल्यू-डगलस पी० हिल, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० प० आ० वारान्निकोव, फ़ादर कामिल बुल्के, प्रो० जगदीश पाण्डेयका नाम गर्वके साथ लिया जायेगा। इन देशी-विदेशी मनीषियोंने तुलसी-अध्ययनमालाको ठोस ज़मीन दी है। हमने इसी प्रगतिशील और- गम्भीर परम्परासे प्रेरणा पाकर गोष्ठीके विषय-सूत्रोंको गूँथा है।

मुग़लकालीन भारतके मध्यकालके अध्ययनमें हमें बहुत-सी पहेलियोंके बीचसे गुज़रना पड़ा है। पूरे मध्यकालका अध्ययन करनेके लिए अरबी-तुर्की-ईरानी इतिहासकारोंके ग्रन्थ, मुग़ल सम्राटोंके संस्मरण, 'आईने-अकबरी', चित्र-कला, संगीत, स्थापत्य तथा अन्य कलाएँ, प्रशासन और अर्थतन्त्र, सामाजिक जीवन और धार्मिक चेतना, साहित्य और अन्धविश्वासोंके अध्ययनकी अपेक्षा है। इस समग्र पैटर्नमें हमें मुस्लिम इतिहासकार इसलामी सम्राटोंका दृष्टिकोण देते हैं; तथा सन्त, भक्त एवं सूफ़ी आदि भारतीय लोक-जीवनके स्वप्न। निष्पक्ष सामाजिक यथार्थताको दोनों नहीं दे सके। लेकिन जनताके उस इतिहासको— जिसमें महान् सम्राटों और रजवाड़ोंके युद्ध-प्रेम-ईर्ष्या आदिका लेखा-जोखा न होकर 'भोगा गया' और 'आकांक्षित किया गया' सहज तथा दारुण सामाजिक दस्तावेज़ है— सन्त, भक्त तथा सूफ़ी पेश करते हैं। इनके दृष्टिकोण समूहपरक या साम्प्रदायिक थे, किन्तु वे ही तत्कालीन भारतके वास्तविक नये इतिहासकार (हिस्टोरियोग्रैफ़र्स) हैं जिन्होंने पुराणों और आख्यानोंका सहारा लेकर भी जन-इतिहासकी नींव डाली है। साहित्यिक माध्यमसे लिखे गये इस इतिहासमें राम-भक्ति धारा, कृष्ण-भक्ति धारा, निर्गुण-भक्ति धारा, सूफ़ी-साधना धारा आदिने अपने दृष्टिकोणोंसे समाज तथा संस्कृति, चेतना तथा रूढ़िका भाष्य किया है। हमने केवल तुलसीको ही आधार बनाया है। इसलिए हमारा 'मध्यकाल-अध्ययन' मध्यकालके एक खण्डकी एक (हिन्दू) संस्कृतिके एक साहित्य-रूप (काव्य) की एक धाराके एक कविपर केन्द्रीभूत हो जाता है। इसलिए यह 'मध्यकाल-अध्ययनशास्त्र'की प्रारम्भिक भूमिका ही कहा जायेगा, यद्यपि हमने व्यापकता और गहराईके आयामोंको उभारनेकी हर मुमकिन कोशिश की है।

मध्यकालीन धार्मिक साहित्यके अध्ययनमें अत्यन्त आधुनिक होनेपर हम बड़ी विशाल ऐतिहासिक परम्पराकी धाराके लिए पराये हो जाते हैं; और अत्यन्त

पुनरुत्थानवादी होनेपर रूढ़ियों और ऐतिहासिक पतनके प्रति भी झूठे गौरवका विभ्रम फैलाने लगते हैं। इसके बीचमें चलनेपर फिसल जानेका मुतवातिर अन्देशा क़ायम रहा है। हमने ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोणकी सहायता लेकर इसका नयी-नयी दिशाओंमें पुन:संस्कार तथा अन्तर-रूपान्तर ( मेटेमॅरफ़ोसिस ) किया है। मध्यकालीन साहित्य तथा संस्कृतिके जनपक्षमें तीन प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं : मध्यकालीनीकरण, ग्राम्यीकरण और मिथकीयकरण। इन तीन 'करणों'-की बुनियादपर हम कुछ सही लोचन पा सकते हैं। मध्यकालीन साहित्यमें धार्मिक भाषाकी एक जटिल समस्या है क्योंकि वहाँ धार्मिक प्रतीकों और धार्मिक कर्म-काण्डोंके माध्यमसे स्वयंप्रकाश्य अनुभवोंका अन्वेषण हुआ है। मध्यकालीन सौन्दर्यबोध-शास्त्रकी भी अपनी विशेषताएँ हैं जो काव्यशास्त्रीय परम्परासे थोड़ा पृथक् और भिन्न भी हैं। मध्यकालीन साहित्यमें अभिव्यक्त पौराणिक चेतनाके आधारपर तत्कालीन ऐतिहासिक यथार्थकी संरचना करना भी एक दुरूह समस्या है, और मध्यकालीन आध्यात्मिक चेतनाको तत्कालीन अनुभवगम्य यथार्थतासे जोड़ना भी एक अनबूझ पहेली है। हम इन विपरीतों और अन्तर्विरोधोंको यथा-सम्भव सुलझानेकी चेष्टा करेंगे। इस प्रयासमें प्राप्त नये निष्कर्षों तथा अनुभवोंको प्रकट करनेके लिए हमें परम्परागत शब्दावलीके बजाय नयी शब्दावली गढ़नेकी आवश्यकता सर्वाधिक महसूस हुई है। अतः हम अनेक 'करण'–प्रत्ययोंके द्वारा यह कार्य सिद्ध करेंगे।

सांस्कृतिक दृष्टिसे तुलसीकी सम्पूर्ण जीवनकी रचना, और उसके आलोकमें उनके कृतित्वकी मीमांसा, करना लाज़िमी है। बहुधा हमारे मनमें जिस तुलसी-की छाप डाली गयी है वह एक सन्त भक्तकी है, तथा जिस ग्रन्थका जादू छाया है वह 'मानस' है। तुलसी प्रधानतया सन्त हो सकते हैं, किन्तु इसके साथ-साथ वे एक किसान, ग्रामीण, उपेक्षित वर्गके एक मनुष्य थे। इसी तरह 'मानस'में उनका पुनरुत्थानवाद अपने चरमोत्कर्षपर है। बादमें 'हनुमान बाहुक' और 'कवितावली' तक आते-आते वे वर्णाश्रम तथा अपनी आस्था विश्वासके सामने भी बड़ा-सा प्रश्नचिह्न लगा देते हैं। यह प्रश्नचिह्न मानो उनका निर्भ्रान्तीकरण ( डिस्-इल्यूज़नमेण्ट ) और भारतके भविष्यका इशारा भी है। हमें तुलसीके 'आर्केटाइपल' बिम्बको उनके समग्र व्यक्तित्व तथा विविध कृतित्वकी पृष्ठभूमिमें उभारकर साक्षात् करना होगा।

सारे मुग़लकालमें दो ही व्यक्ति व्यापक इतिहासके प्रतीक हैं : अकबर और तुलसी! व्यापकता, दूरदर्शिता, भारतके महत् भविष्यके प्रति झिलमिलाते स्वप्नों-का साकारीकरण, विराट् जनताके स्पन्दनों और देशके यथार्थको शनै:-शनै: लोक-

भूमिसे आँकना इन ही दोनोंका सामर्थ्य था। इन दोनोंको हम मध्यकालीन संस्कृतिके दो पूरक सामाजिक घटकोंका प्रतिनिधि मान सकते हैं। इन दोनोंके बीच एक सूत्र स्थापित करनेमें हिन्दू-इतिहास और मुसलमान-इतिहासकी ग़लत मनोवृत्तियोंसे आज़ाद होना पड़ेगा। इतिहास या तो महापुरुषों और महान् घटनाओंको केन्द्र मानकर लिखा जाता रहा है, अथवा साधारण जनता और उनकी दैनन्दिन सामाजिक दशाओंको ढूँढ़कर तथा उनकी व्याख्या करके लिखा जा सकता है। तुलसीदासके कलात्मक इतिहास-लेखन ( आर्टिस्टिक हिस्टोरियोग्रैफ़ी ) में दूसरी जीवन-दृष्टि शीर्षस्थ है। यदि उनमें नैतिक यथार्थता और आध्यात्मिक आदर्श हैं, तो सामाजिक यथार्थता और लोकमंगलके आदर्श भी हैं। वे मध्यकालीन अन्तर्विरोधोंसे बरी नहीं हैं। इस तरह तुलसी विशाल मध्यकालीन संस्कृतिके एक दर्पण हैं, एक दीपक हैं और सबसे अधिक एक झरोखे। आइए, हम आधुनिकताके वातायनसे तुलसी और उनके युगका दर्शन-दिग्दर्शन क्यों न करें !

■ ■

## • • विषय-सूत्र

पहली गोष्ठी :

"गुप्त-प्रगट इतिहास पुराना (णा)"—अर्थात् तुलसीके पौराणिक अर्थात् मिथकीय काल और ऐतिहासिक कालके कौन-से आयाम थे ! १

दूसरी गोष्ठी :

"रामायन अनुहरत सिख जग भयो 'भारत' रीति" : अर्थात् तुलसीने समाजका मुग़ल-रंगमंच कैसा पाया, राज्य-संचालनके क्या प्रतिमान बनाये, तथा राजनैतिक दर्शनके कौन-से स्वप्न देखे ! ६३

तीसरी गोष्ठी :

"ऐसे को ऐसो भयो कबहूँ न भजे बिनु बानर के चरवाहे" : अर्थात् तुलसीकी आत्मकथा क्या थी, उनके विचार तथा जीवनदृष्टियाँ क्या थीं, कृतित्व कैसा था, और उनका सृजन-कार्य कैसा था ? ११७

चौथी गोष्ठी :

"कोउ कह नर-नारायन हरि-हर कोउ" : अर्थात् तुलसीकी पात्र-रचनाकी तकनीक क्या हैं ? उनके चरित्रोंकी रचना कैसी है ? उनके शीलनिरूपणमें 'विचार' एवं 'कार्य' की रसवादी-शास्त्रवादी भूमिकाएँ क्या हैं ? १७६

पाँचवीं गोष्ठी :

"देखत तव रचना विचित्र नव समुझि मनहि मन रहिए" : अर्थात् तुलसीके कथारूप क्या हैं ? उनका शिल्प-विधान क्या है ? उनमें किन-किन तकनीकी

कौशलोंका इस्तेमाल हुआ है ? उनमें 'प्रार्थना' एवं 'प्रकृति' के तत्त्वोंकी चर्याएँ कैसी हैं ? २०७

छठी गोष्ठी :
"स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी ॥" : अर्थात् तुलसीमें सौन्दर्यबोध-शास्त्रका कैसा अधिष्ठान है ? कवि और सहृदयके सम्बन्धमें कौन-सी अवधारणाएँ हैं ? सौन्दर्य-शोभाके रूप-गुण-धर्म क्या हैं ? अनिर्वचनीयता एवं सौन्दर्यात्मक प्रतिबोधकी समस्याएँ क्या हैं ? हास्य एवं किमाकारके क्या सिद्धान्त हैं ? कौतुक और जादूके क्या रिश्ते हैं ? टोटेमकी क्या पहल है ? अलौकिक एवं अतिप्राकृतिकके क्या दाय हैं ? बीभत्स एवं भयानकसे कैसी त्रासद दशाएँ उत्पन्न की गयी हैं ? एक धार्मिक भाषाकी संरचनाकी कौन-सी विशेषताएँ हैं ? रूपक एवं बिम्ब-विधान कैसे हैं ? क्या इन सबके द्वारा एक विशिष्ट मध्यकालीन सौन्दर्यबोध-शास्त्रकी पीठिका भी निवेदित हुई है ? २४२

सातवीं गोष्ठी :
"प्रति अवतार कथा प्रभु केरी। सुनु मुनि बरनी कबिन्ह घनेरी ॥" : अर्थात् मिथक, मिथक-रचना, मिथकीयकरण तथा प्रतीकीकरणके आलोकमें तुलसीका व्यक्तित्व कैसा है, और कृतित्वकी क्या भूमिकाएँ हैं ? २९३

समापन गोष्ठी :
"उत्तर प्रतिउत्तर बहु आनसि"—अर्थात् लेखक-रूपी पाठक और सहभोक्ताओंने कौन-सी आलोचनाएँ कीं ? ३१५

■ ■

हिन्दीकी नयी बौद्धिकतावादी
परम्पराको—

# पहली गोष्ठी[1]

●

**"गुप्त-प्रगट इतिहास पुराना"** : अर्थात् तुलसीके युगमें पौराणिक अर्थात् मिथकीय काल ( मिथक टाइम ) और ऐतिहासिक काल ( हिस्टॉरिकल टाइम ) के कौन-से आयाम थे !

अपने बचपनमें 'रामबोला' नामधारी तुलसीदास भारतीय मध्यकालके दान्ते माने जा सकते हैं। भारतका मध्यकाल बहुत लम्बा है जहाँ अनेक स्थानों और समयोंमें काफ़ी विभिन्न प्रकारों एवं स्तरोंकी सभ्यताओंका समावेश है। यह हिन्दू-काल तथा मुस्लिम-कालमें बाँटा जा सकता है। हिन्दू-कालमें भी बाहरी जातियोंके आक्रमणादिके संकटोंके बाद गुप्तोंका साम्राज्य पल्लवित हुआ था और कालिदास-जैसे कविने 'रघुवंश' रचा। मुसलिम-कालमें भी मंगोलों, तुर्कों, अरबों आदिके आक्रमणादिके संकटोंके बाद मुग़ल बादशाल अकबरका साम्राज्य पल्लवित हुआ था और तुलसी-जैसे कविने 'रामचरित मानस' रचा। 'रघुवंश'के पहले ऋषि वाल्मीकिकी रचना पूर्ण हुई थी तथा 'मानस'के पहले किसी गुमनाम मुनिने 'अध्यात्म रामायण' रची थी। इस तरह भारतीय मध्य-कालमें रामवृत्त एक नयी सामाजिक चुनौतीका पुंज रहा है। तुलसीने मुसलिम मध्यकालमें हिन्दू मध्यकालके स्वप्नोंको प्रस्तुत किया है, तथा हिन्दू मध्यकालके आदर्शोंको मुसलिम-मध्यकालके हिन्दू-जनजीवनकी तुलनामें परखा भी है। इसके अलावा तुलसीने कविसे अधिक एक सन्त एवं भक्तकी दृष्टिसे काव्य-रचना की हैं। उन्होंने अकबर-जहाँगीर-कालमें जीवित रहते हुए एक मिथक-कथाको

---

१. पूरी किताबमें श्री सद्‌गुरुशरण अवस्थी-द्वारा सम्पादित 'रामलला नहछू'।

(अ) ( तुलसी के चार दल भाग २ ) को छोड़कर तुलसीकी जिन अन्य पुस्तकोंके सन्दर्भ दिये गये हैं वे गीताप्रेस गोरखपुरके प्रकाशन हैं।

(ब) 'मानस'में सन्दर्भोंका क्रम इस प्रकार है : २।१५२।५-६ – यहाँ पहली संख्या काण्डका, दूसरी दोहेका, एवं बादकी संख्याएँ पूर्ववर्ती दोहेके आगेकी चौपाइयोंका निर्देश करती हैं।

गुप्तकालीन संस्कृतिके वृत्तमें सँवारा है। इस तरह उन्होंने अपने युगका 'मिथकीयकरण' किया है तथा पौराणिक युगका 'मध्यकालीनीकरण'। यह दुतरफ़ा आरोहण-अवरोहण है : एक पूर्ववर्ती युगका अवतार, तथा अपने युगका उद्धार। यह दुतरफ़ा अन्तर ही हमें वाल्मीकि, स्वयम्भू, तुलसी आदिके सर्जनात्मक कार्य ( क्रिएटिव ऐक्ट ) की निजताको समझा सकता है; अन्यथा ऊपरसे तो यही महसूस होगा कि थोड़े-बहुत हेर-फेरके अलावा तुलसीने वाल्मीकि एवं 'अध्यात्म रामायण'का अनुकरण कर डाला है। इस प्रसंगमें इस बातका और भी ध्यान रखना होगा कि भारतीय मध्यकालमें राजवंशावलियों तथा घटनात्मक इतिहासका ब्यौरा तो मिल जाता है किन्तु जनताका इतिहास लगभग नहीं मिलता। सौभाग्य और दुर्भाग्यसे केवल इन सन्तों एवं भक्तोंने ही तत्कालीन भावात्मक इतिहास लिखा है – लेकिन अपने धार्मिक तथा संन्यासी नज़रियोंसे। उन्होंने जगत् और नारीके सम्बन्धमें, गृहस्थी और लौकिक सुखोंके सम्बन्धमें, बड़े ही प्रवृत्त्यात्मक दृष्टिकोण दिये हैं। इनका ख़याल रखना भी ज़रूरी है। फिर, इन्होंने जो कथाएँ ली हैं वे अन्यापदेशिक ( ऐलिगॅरिकल ) या मिथकीय ( मिथिकल ) भी हैं। इसलिए इन्होंने अपने युगका मिथकीयकरण या पौराणिकीकरण किया है, तथा मिथक युगका मध्यकालीनीकरण। यह युग प्रबल अन्तर्विरोधों तथा घोर सामाजिक जकड़ावसे परिपूर्ण था। इस वजहसे एक ही भक्ति-प्रधान युग-चरणमें तुलसी और जायसी तथा सूर और कबीरके दर्शन होते हैं। इन्होंने नाना भाँतिसे दर्शनमें तो अद्वैत ( द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि ) की स्थापना की है, किन्तु जीवन एवं समाजमें चारों ओर द्वैत ही द्वैत था। तो, संस्कृतिके इन नये मध्यकालीन कवि-इतिहासकारोंपर इनके भक्तका अधिनायकत्व रहा है। इनकी कई रचनाएँ धर्मग्रन्थ और काव्यग्रन्थके बीचकी स्थितिमें डगमगाती रही हैं। बहुधा इनके अन्तर्यामी कवि ( सूर और जायसीको अकसर छोड़कर ) पूर्ण रस तक पहुँचते ही फ़ौरन अपने भक्तसे हस्तक्षेप कराकर काव्य-रस फीका कर देते हैं। तुलसी तो इस क़दर सजग हो गये हैं ( 'मानस'में ) कि ज्यों ही राम, रामपक्ष या रावणपक्षका कोई पात्र सहज मानवीय रहनी-करनी कर रहा होता है त्यों ही वे तुरन्त यह टिप्पणी कर देते हैं कि यह तो प्रभुकी 'लीला' या 'कौतुक' है। उन्हें निरन्तर यह ध्यान बना रहता है कि उनके भक्तके राम परब्रह्म हैं और उनके कविके राम तो नट मात्र हैं। मानो उनके सामने वैष्णव भारत प्रश्नाकुल है। अतएव भारतीय 'मध्यकालीन अध्ययनशास्त्र' एक बहुत नाजुक एवं दुस्तर कार्यक्षेत्र है जिसे छूनेमें बहुत मौलिक जागरूकताकी अपेक्षा है। इस कालपर धार्मिक पुनरुत्थान-

वादी तथा विध्वंसवादी दृष्टियोंसे काफ़ी लिखा जा चुका है। इसलिए इसे आध्यात्मिक और अलौकिक आस्थासे अलग करके समाजशास्त्रीय तथा सौन्दर्य-शास्त्रीय धरातलपर अंकित करनेपर हमें कई जटिल गाँठों और ज्वलन्त चुनौ-तियोंका सामना करना पड़ेगा। हम आचार्य शुक्लकी लोकमंगलकी परम्पराको द्वन्द्वात्मक समाजदर्शनकी दिशा देनेकी कोशिश करेंगे।

विश्व संस्कृतिकी रचना अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी प्रयोजनोंके लिए होती रही है। यह रचना उत्पादन और सृजन-द्वारा हुई है। हम शुरूमें ही यह मंजूर करते हैं कि मानव-इतिहासकी गतिमें कोई भी समाज प्राकृतिक एवं मानवीय सम्बन्धोंसे कट नहीं सकता, और कोई भी चिन्तन समाजका परोक्ष या प्रत्यक्ष आकल्पन किये बिना प्रकट ही नहीं हो सकता। हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि राष्ट्रीय इतिहासोंकी रचनामें सत्य निष्पक्ष नहीं रह पाता, और प्रत्येक इतिहास अपनी भौगोलिक सीमाओंकी वजहसे सांगोपांग मानव-इतिहास नहीं हो पाता। पुनश्च हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि भौगोलिक एवं राष्ट्रीय इतिहासमें भी मानवतावादी, या अध्यात्मवादी या बौद्धिकतावादी विश्व-दृष्टिकोण भी निहित होता है। किन्तु क्या विश्व-संस्कृतियोंके मध्यकालोंके कुछ ऐसे सार्वभौम तत्त्व भी हैं जिन्हें प्रत्येक राष्ट्र अपनी विशिष्ट सामाजिक अवस्थामें ऐतिहासिक निश्चयताके मुताबिक़ धारण करता ही है? व्यापक रूपसे कुछ ऐसे तत्त्व हैं। फ़िलहाल हम अपने निरूपणको सामाजिक सम्बन्धों और मध्यकालीन आदर्शों तक सीमित रखेंगे।

पूरे भारतीय मध्यकालके समाज, संस्कृति, कला, धर्म, दर्शन, क़ानून आदिका मूलाधार भूमि-व्यवस्था रही है। सामन्तों और सूबेदारोंने इस व्यवस्थामें राजनैतिक तथा आर्थिक शक्तिको अपने अधिकारमें रखा है और कृषकोंको हमेशा शोषणका शिकार रहना पड़ा है। यह सामन्तीय व्यवस्था कुछ ऐसी थी जिसमें दुर्बल शक्तिमानोंकी सेवा करते थे तथा यह सशक्तके हितमें था कि वह दुर्बलोंकी रक्षा करे। इन सबके ऊपर सम्राट् था जो कृपानिधान, शरणागतवत्सल और समदर्शी पिता आदि होता था। इस सामन्ती व्यवस्थामें संघ और पंचायत, गण और साम्राज्य, सामन्त और सूबेदार, कृषक और ग़ुलाम, राजसभाओंके कवि और लोककवि, किसानी और व्यापार, राजसभाओंके प्रेम तथा राजसभाओं-का साहित्य, और लोकजीवनके प्रेम तथा लोकसभाओंका साहित्य इत्यादिकी दिशाएँ मिलती हैं। मुसलिम मध्यकालकी कुछ नयी विशेषताएँ भी मिलती हैं: जैसे लोकभाषाओंका विकास; व्यापारियों और कारीगरोंके वर्गोंका अभ्युदय, दक्षिणसे उभरकर उत्तरमें फैलते हुए भक्ति-आन्दोलनका जनजीवनमें प्रवेश,

मुसलमानों और इसलामकी सशक्त सांस्कृतिक चुनौती आदि। हिन्दू सामन्त-युगमें न तो लोकभाषाओंने साहित्यिक अस्तित्व प्राप्त किया था, और न ही व्यापारका इतना व्यापक अन्तर्राष्ट्रीयकरण हुआ था। उस युगमें धर्म राजशक्तिसे संलग्न था और मुसलिम-युगकी तरह वह जनजीवनके आन्दोलनके रूपमें नहीं प्रवाहित हो रहा था। इसलिए मुसलिम मध्यकाल शुरूमें कई अर्थोंमें व्यापक प्रजातान्त्रिक चेतना तथा सांस्कृतिक अन्तरावलम्बनका प्रसार करता है। इसी चरणमें हम तुलसीको पा जाते हैं। इस चरणमें सभ्यता और संस्कृतिका एक नया बृहत्तर पीठ मन्दिरों-मठों तथा लोकचित्तमें क़ायम हो गया था जो दरबारोंसे कहीं विराट् था। अतः मुसलिम मध्यकालमें सभ्यताकी परम्पराका प्रसार दरबारोंके द्वारा न होकर भक्ति-आन्दोलनके केन्द्र बिन्दुओं—आचार्य, मन्दिर, तीर्थ आदि—के द्वारा हुआ। जिस तरह पहले ऋषि, मुनि, सन्त आदिने साहित्य-रचना की जो बादमें कालिदास, भवभूति, भारवि, माघके हाथोंसे सँवारी गयी थी, उसी तरह मुसलिम मध्यकालमें पहले सन्तों भक्तों आदिने साहित्य रचा जो बादमें रीतिकालीन कवियों-द्वारा सँवारा गया। इस तरह भारतीय मध्यकालमें सामन्तीय संस्कृतिका चक्र दो बार पर्याप्त एक-जैसी ऐतिहासिक निश्चयता लेकर घूमा। इस चक्रने कला-इतिहासके रचना-अक्षमें पहले हमें रामवृत्त दिया जिसे मैं परित्यागका आदर्श कहूँगा, बादमें कृष्णवृत्त दिया जिसे मैं सुखोपभोगका आदर्श कहूँगा, और तीसरे पृथ्वीराज-रत्नसेन-वृत्त दिया जिसे मैं शूरनायकत्वका आदर्श कहूँगा। ये वृत्त क्रमशः पौराणिक चेतनासे ऐतिहासिक वास्तविकताकी ओर बढ़ रहे हैं। शौर्य-युगमें रोमांसका पल्लवन हुआ है तथा शीलयुगमें महाकाव्योंका। मध्ययुगमें शूरवीर और चरितनायक अर्थात् पुरुषोत्तम प्राप्त हुए हैं। राम 'मर्यादा-पुरुषोत्तम' हैं; कृष्ण 'लीला-पुरुषोत्तम'! क्यों?

ये तीन वृत्त मध्यकालीन आदर्शोंके सार्वभौम वृत्त हैं जो भारतके आरम्भिक मुसलिम मध्यकालमें एक साथ घुल-मिल गये : अर्थात् शक्ति, शील और सौन्दर्यका त्रित्व क़ायम हो गया।

सभ्यताके आरम्भिक कालोंमें ऐतिहासिक धारणाएँ मिथकशास्त्रीय अतिकल्पनाओं ( फ़ैंसीज ) की निर्मितियोंपर आधारित होती हैं जिनमें इतिहासकी तथ्यात्मकताका अभाव होता है। वे 'ऐतिहासिक आदर्शों' की प्रधानतावाली आदर्शपूर्ण अतीत बन जाती हैं। अतः उनमें इतिहास-बोध या वास्तविकके बजाय पौराणिक बोध या आदर्श जीवन प्रधान हो जाया करता है। इस जीवनमें ऐतिहासिक आदर्श मिथकीय होते हैं एवं अतीतकी सम्पूर्णताकी एक आम तसवीर खिंच-सी जाती है। जब मनुष्य सर्वोत्कृष्टता ( एक्सिलेंस ) की धारणाओंको काल-

विरहित अतीतमें प्रक्षेपित करता है तब वे ऐतिहासिक आदर्शोंकी भूमिका बन जाती हैं। मध्यकालीन समाजके मनुष्यके लिए संस्कृतिकी सम्पूर्णताको प्राप्त करना सम्भव नहीं था, और न ही सामाजिक परिस्थितियोंके आधारपर उसे संस्कृतिका क्रमिक विकास ज्ञात था; इसलिए एक आदर्शपूर्ण अतीत ही पहला युग हुआ, और पहला युग स्वर्ण युग हो गया। इन्हीं कारणोंसे ऐतिहासिक आदर्श 'विशुद्ध खुशहाली' ( हैपीनेस ) के रूपमें प्रतिष्ठित हुए। लेकिन मध्यकालीन अन्तर्विरोधों तथा सामाजिक अन्धकारके कारण पहले तो ये भौतिक इहलौकिक खुशहालीके आदर्श युगों-युगों पहलेके और दूर-सुदूर लोकोंके आदर्श बने; बादमें ये मात्र धारणा हो गये जिनकी प्राप्तिके लिए जीवनके बन्धनोंसे छुटकारा पाना ( मोक्ष ) और अमरत्व पाना ( स्वर्ग प्राप्ति ) लाजिमी हो गया। सारांशमें, इहलौकिक विषमता पारलौकिक खुशहालीमें भटक गयी। इसीके साथ रहस्य, पलायन, रूढ़ि, कर्मकाण्ड आदिकी मिथ्या चेतनाएँ भी उठ पड़ीं।

मध्यकालीन समाजकी व्यापक निराशापूर्ण जन-दशाओंमें यह विशुद्ध खुशहाली पारलौकिक खुशहालीमें बदल गयी। इसके लिए सम्पूर्ण 'त्याग' तथा सम्पूर्ण 'दान' ही धारणात्मक आदर्श हो गये। सारांशमें समाजकी दरिद्रताको ही आदर्श रूपमें प्रतिष्ठित कर दिया गया। सभी प्रकारके लौकिक बन्धनोंसे मुक्ति तथा सभी प्रकारकी आसक्तियोंसे विराग आदि इसी दरिद्रताके आदर्शीकरणके आध्यात्मिक पहलू हैं। त्याग और दानका पालन एक नितान्त कठिन, किन्तु सर्वोच्च, आदर्श हो गया जिसके प्रतीक सन्त, मुनि, भक्त, ऋषि आदिके चरित्र हुए। इस तरह वास्तविक खुशहालीका आदर्श सन्तोष तथा त्यागके आदर्शोंसे आच्छादित हो गया। इसी परित्यागकी असामाजिक परिणति गृहस्थी और नारीके निषेधमें भी हुई।

दूसरी दिशा चरवाही संस्कृतिकी रही। यह बहुत-कुछ व्यक्तिगत भी थी। इस आदर्शमें सहज सरलता और सत्यको चरम माना गया। इसमें सुख ( प्लेज़र ) तथा प्रकृति ( नेचर ) के लिए संस्कृतिकी सीमाओं, लोकमर्यादाओं आदिका परित्याग कर दिया जाता है। इस संस्कृतिमें क्रीड़ा तथा लीलाकी प्रधानता है। इसमें प्रेम और भोग-श्रृंगार, वंशियाँ और वनदेवियाँ आदि स्वर्गिक सुखोपभोगका लोक रचते हैं।

तीसरी दिशा शूरनायकोंके आदर्शकी है। जब मध्यकालमें भी शनैः-शनैः आदर्शात्मक अतीतके साथ-साथ वास्तविक अतीतकी स्मृतियाँ जुड़ने लगती हैं तब आदर्शोंको थोड़ा अधिक मूर्त और बोधगम्य होना पड़ता है। इस तरह सामान्य मानवीय आदर्शोंके साथ-साथ विशिष्ट ऐतिहासिक आदर्श भी जुड़ जाते

हैं। अतएव शूरवीरोंके निरूपणमें अपेक्षाकृत सर्वाधिक ऐतिहासिक सामग्री एवं वास्तविक अतीतके आधार होते हैं। शूरनायक संस्कृतिकी सम्पूर्णता ( अतीतकी सम्पूर्णताकी अपेक्षा ) को धारण करता है। वह जगत् और संस्कृतिकी सेवा तथा रक्षाके लिए प्रस्तुत होता है। वह खुशहाली तथा सुखोपभोगकी अपेक्षा दलितों और शरणागतोंकी रक्षा, या धर्म-विजयसे अधिक अनुप्राणित होता है। शूरवीर वैरागी भी होता है। वह अपने किसी आदर्शकी प्राप्तिके लिए प्रण करता है और प्रण बहुधा सुख-सुविधाओंका परित्याग करनेवाले होते हैं। कभी-कभी तो वह जगत्‌का भी परित्याग कर देता है। अतः वह आत्मत्यागी होता है। कई बार इस आत्मत्यागके केन्द्रमें प्रणयका कोई शौर्यपरक आदर्श ही होता है (जैसे जायसीका 'पद्मावत', दान्तेका 'वीतानुओवा' ) और प्रेमकी किसी प्रतिद्वन्द्विता ( स्वयंवर, अपहरण, वरण आदि ) में इसका उद्‌गम भी होता है। शूरनायक किसी शौर्यके करतबको प्रदर्शित करनेकी आकांक्षावश ही जानकी बाज़ी लगा सकता है। इस प्रकार शूरनायकत्वके आदर्श ही राजसभाओं-के जीवन, प्रणय-गीतोंकी अभिव्यंजना तथा ऐतिहासिक नायकोंके अंकन आदि प्रदान करते हैं। कीर्ति, सम्मान और प्रतिशोध, और इनके सहवर्ती शोभागुण एवं कर्तव्य, ही शौर्ययुगके चरम मूल्य हैं। शूरवीरमें परित्याग और सुखोपभोग दोनोंका संयोग होता है। इन कारणोंसे मध्यकालमें बहुधा शूरवीर ही राष्ट्रीय आदर्शों और ऐतिहासिक बिम्बको धारण करते हैं। शौर्य-संस्कृतिमें आदर्शीकरण-की प्रवृत्तिका चरमोत्कर्ष होता है। इस चरणमें आकर दैवीनायकोंकी मृत्यु हो जाती है तथा शूरनायकका जन्म होता है।

भारतीय मध्यकालके भक्तिसाहित्यमें देवता ही चरितनायक तथा शूरनायक हो गये हैं। इसलिए देवताओंकी आध्यात्मिकता और चरितनायकोंकी आदर्शात्म-कताका अनूठा संयोग हुआ है। अवतारवाद मध्यकालीन साहित्यकी महत्तम उपलब्धि है ( इसका विवेचन यथास्थान होगा ) भक्तिसाहित्य प्रधान मध्यकालीन चरणमें रामवृत्त और कृष्णवृत्त अवतारवादी प्रभामण्डलसे पूर्णतः आलोकित हो उठे। वे वृत्त क्रमशः प्रसार और स्थिति, साधना और सिद्धि, संघर्ष और उप-भोग, केन्द्रापसारी शक्ति ( सेण्ट्रीफ़्यूगल फ़ोर्स ) और केन्द्राभिसारी शक्ति ( सेण्ट्रीपीटल फ़ोर्स ), क्लैसिकता और रोमैण्टिकताके संकेतक हैं। जब-जब समाज या कवि अधिक बहिर्मुखी रहा है तब-तब संस्कृत और भाषा-काव्योंमें रामवृत्त, तथा जब-जब वे अधिक अन्तर्मुखी रहे हैं तब-तब कृष्णवृत्तका प्रसुमन हुआ है। जयदेवमें इन दोनों वृत्तोंकी सन्धि हुई है, किन्तु उनकी वृत्ति सुखोप-भोगवाली ही रही है। उन्होंने 'प्रसन्नराघव' एवं 'गीतगोविन्द' दोनों लिखे।

इन वृत्तोंकी विशेष दिशाओंका एक प्रमाण यह भी है कि दक्षिणपूर्व एशिया—सुमात्रा, कम्बोज, चम्पा, बाली, जावा, स्याम आदि—में बस गये भारतीयोंको कृष्णकी अपेक्षा दिग्विजयी रामने, और उनके साथ शिव एवं बुद्धने, सामाजिक दर्पण प्रदान किया। संघर्षमें 'सत्यके विजयी' राम, व्यवस्थाके प्रशान्त मंगल-प्रतीक शिव, तथा दिग्विजयके बाद शान्ति एवं करुणा एवं मैत्रीके प्रसारक बुद्धने मिलकर समाज-दर्शन प्रस्तुत किया। वहाँकी सामाजिक दशाओंमें राम-बुद्ध-शिवका त्रित्व क़ायम हुआ। आश्चर्य यही है कि 'बृहत्तर भारत'में कृष्ण उसी प्रकार भुलाये गये हैं जिस प्रकार भारतवर्षमें बुद्ध। इसमें क्या आश्चर्य है कि अकबर-जहाँगीर कालमें तुलसीने राम और शिव (वीरता और मंगल) का सम-न्वय किया। वीरताका आदर्श क्षत्रियोंके लिए, तथा संन्यास-प्रधान कल्याण (शिवत्व) का आदर्श ब्राह्मणोंके लिए प्रस्तुत हुआ। अतएव तुलसीने एक अलिखे इतिहासकी सांस्कृतिक आवश्यकताको कई सदियों बाद जोड़ा है। कृष्ण और शिव दोनों ही नृत्य तथा भोगके देवता हैं। पहला नटनागर है, दूसरा नटराज। दोनोंके साथ योग भी जुड़ा है। काव्योंमें कृष्णका योगी एवं भोगी रूप और शिवका योगी तथा सन्तोषी रूप उभरा है। तुलसीने – जिन्हें न भोग मिला, न प्रेम, न योग; जो कर्मयोगकी ही साधना करते रहे तथा एक भद्दे समाजमें यन्त्रणाएँ सहते रहे – रामको मर्यादा-पुरुषोत्तम, समाज-संस्थापक, सम्मिलित कुटुम्बको टूटनेसे बचानेवाले, एक-पत्नी-व्रत पतिके रूपमें उभारा है। किन्तु सामन्तयुगीन विलासी संस्कृतिकी कुलीनता तुलसीके अनुकूल नहीं थी। सर्वेक्षण करनेपर पता लगता है कि रामानुजाचार्यकी चौदहवीं पीढ़ीके शिष्य राघवा-नन्द थे। उनके चेले रामानन्द थे। ये दोनों वैरागी थे तथा निर्गुण-सगुण मार्गके सन्धिस्थलपर खड़े थे। इसीलिए रामानन्दके शिष्योंमें एक ओर कबीर-दादू आदि हुए तो दूसरी ओर नरहर्यानन्द भी। कहा जाता है कि तुलसी नरहर्यानन्दके चेले हैं। इस तरह तुलसीमें भी दार्शनिक अन्तर्विरोधोंका पुंज समाविष्ट हुआ। वे भी संन्यासियोंकी तरह घुमन्तू हैं। उनमें परिवारको नकारनेकी प्रवृत्ति है। उनमें शंकरका अद्वैतवाद भी है तो रामानुजाचार्यका विशिष्टाद्वैतवाद भी। वे शैवोंकी भी सहायता माँगते हैं। इसीलिए तुलसीमें दर्शनकी कोई तेज़ नुकीली धार नहीं है जिस तरह कि पुष्टिमार्गी कवियोंमें है। कबीरके निर्गुण राम तथा तुलसीके दाशरथि राम दोनों एक ही आचार्य-परम्परासे प्रस्फुटित हैं। लेकिन इससे अधिक आश्चर्य (समाजशास्त्रीय परिस्थितियोंकी दृष्टिसे नहीं) क्या होगा कि बादमें रामभक्ति-परम्परापर भी शृंगारिकता हावी हो गयी। इसका एक कलात्मक कारण यह भी हो सकता है कि सूरने समाजके धर्मोंको नहीं छुआ और तुलसीने

व्यक्तिके रतिराग-पक्षोंको नहीं लिया। बादके युगने तुलसीका अपने अनुसार परिवर्धन कर डाला। इसका दूसरा कारण मिथकोंकी व्याख्याकी विधियाँ भी हैं। बहुधा एक पीढ़ी किसी भी मिथकीय चरित्र-प्रतीकके विषयमें शंका करती है और दूसरी पीढ़ी, या दूसरा वर्ग, या बादकी पीढ़ी उसकी व्याख्या प्रस्तुत करती है। यही नहीं, मध्यकालमें यह व्याख्या तर्कके द्वारा नहीं, बल्कि एक और मिथकीय कथा तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण जोड़कर की जाती है जिसपर आस्था रखना पहली शर्त होती है। तुलसीके सन्दर्भको लें। पार्वतीके प्रश्नोंमें युग तथा वैष्णवता-विरोधी वर्गकी प्रच्छन्न शंका है। शिवमुखसे तुलसी इस शंकाके परिणाम (सती-दाह) तथा समाधान दोनों देते हैं अर्थात् राम नर नहीं, साक्षात् परब्रह्म हैं। भारतीय मिथकोंकी मध्यकालीन व्याख्यामें एक अद्भुत या अलौकिक पद्धति यह भी रही है कि उसमें पूर्वजन्मकी कथा और उसमें शाप या वरदानमूलक कार्य-कारण परम्परा जोड़कर किसी तकनीकी या धार्मिक प्रश्नको सुलझा दिया जाता है। इस वजहसे हम सन्त और भक्त कवियोंके काव्यमें मिथक काल ( मिथक टाइम ) की समस्याएँ पाते हैं। अवतारवाद इन्हें न्यायपरक रहस्यपूर्ण जीवनादर्श दे देता है—जैसे कर्म-सिद्धान्त, आवागमन-सिद्धान्त, त्रिलोक-कल्पना आदि।

इस विशेषताके बाद हम मध्यकालीन भक्तिसाहित्यमें आच्छादित रामवृत्त एवं कृष्णवृत्तकी सामाजिक गत्यात्मकताका सटीक दिग्दर्शन कर सकते हैं। इस संयोगमें पृथ्वीराज-रतनसेन-वृत्त नहीं लिया जा सकता क्योंकि वह आध्यात्मिक तथा पौराणिक नहीं है ( यद्यपि 'पद्मावत'में अन्यापदेश अर्थात् ऐलिगॅरी या कथा-रूपकत्व भी झिलमिलाता है )। सामाजिक गत्यात्मकतामें दो शक्तियाँ समानान्तर और सहभावसे सक्रिय रहती हैं : पहली है केन्द्रकी ओर अभिसार करनेवाली, दूसरी है केन्द्रसे अपसार करने अर्थात् फैलनेवाली। मध्यकालमें समाजका केन्द्र राज्य, समाज, सूबा नहीं रहा है; और न ही व्यक्ति रहा है। मध्यकालमें समाजकी लघुतम इकाई एक परिवार, और हमेशा एक 'सम्मिलित परिवार' रही है; तथा बृहत्तम इकाई 'ग्राम' रही है। उस समय राष्ट्र और राज्यका भाव एक आन्दोलक कार्य नहीं होता था; अधिकसे अधिक जाति और वर्ण, गोत्र और वंशका भाव ही जाग सकता था। अतः जनजीवनकी दृष्टिसे सामन्तीय व्यवस्थाकी आर्थिक-सामाजिक-राजनैतिक इकाई एक गाँव होती थी ( संगठित सामन्तवादमें तीर्थ और शहर भी )। यह ग्राम-इकाई प्रशासनकी भी इकाई थी। इसमें तीन विशेषताएँ थीं : पंचायत, वर्णव्यवस्था और परिवार। पंचायत सामन्तके माध्यमसे सम्राट्के शासनको लागू करती थी तथा भूमि-व्यवस्था,

करोंका नियामन करती थी। वर्णव्यवस्था सारे सामाजिक सम्बन्धोंका लघुरूप ( मिनिएचर ) होती थी। परिवार रोटी-बेटीवाले सारे सम्बन्धोंकी धुरी था। पंचायतें सेवक-सेव्य भावपर; वर्णाश्रम व्यवस्था लोकमर्यादा तथा वेद-मर्यादापर; और परिवार नाना प्रकारके मधुर, सख्य, वात्सल्य आदि भावोंपर आश्रित थे। मध्यकालीन संस्कृति, दर्शन, धर्मशास्त्र, कला और साहित्य नाना भाँतिसे इन्हीं तीन क्षेत्रोंके आदर्शमूलक और यथार्थमूलक, रामराज्य तथा वैकुण्ठमूलक, और कलिकाल तथा नरमूलक रूपायन करते रहे हैं। परिवारसे ग्रामकी ओर प्रसारित होनेवाली सामाजिक शक्ति ही केन्द्रापसारी है, तथा परिवारसे वैयक्तिक सम्बन्धों-की ओर अभिसार करनेवाली सामाजिक शक्ति ही केन्द्राभिसारी है। केन्द्रापसारी शक्तिका क्षेत्र पंचायत और वर्णाश्रम व्यवस्था है, तथा केन्द्राभिसारी शक्तिका क्षेत्र परिवार और उसके सदस्य : जैसे पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहिन, सास-बहू, सखी-सखा, माता-पुत्र, प्रिया-प्रिय इत्यादि।

ग्राम तथा परिवारको दो अंचलोंसे ज़बरदस्त चुनौतियाँ मिलीं। एक ओर नाथों-सिद्धों ( जिनकी परिधिमें लाकुल, शैव, कौल, भैरव, कापालिक आदि भी शामिल हैं ) ने वेदमर्यादा तथा साधनाको हेय बताया। उन्होंने वर्णाश्रम-व्यवस्था तथा परिवार-व्यवस्था दोनोंपर कसकर चोटें कीं। परिवारकी इकाईको खण्डित करके उन्होंने यौन सम्बन्धोंमें उच्छृंखलता ला दी और रागात्मक वृत्तिके कोमल तन्तु तोड़कर सौन्दर्य समाप्तप्राय कर दिया, तथा प्रेमके उदात्तीकरणका कोई रास्ता नहीं छोड़ा। उन्होंने वर्णाश्रम-व्यवस्थाका खण्डन करके सामाजिक अनुशासन ध्वस्त कर दिया। वे स्वयंको जनसमूहसे अलग समझते थे और जनता-की बोधगम्य भाषामें बातें नहीं करते थे। उनकी भूमिका ध्वंसात्मक रही। वे पंचायत, वर्ण तथा परिवारके स्थानपर कोई विकल्प नहीं दे पाये। किन्तु उनसे एक-दो फ़ायदे भी हुए : उन्होंने बादके निर्गुण साहित्यको बहुत अधिक प्रभावित किया और समाजकी रूढ़ियों और बाह्याडम्बरोंमें उलझनेका भी उग्र विरोध किया। दूसरी चुनौती इसलामकी थी। दसवीं शतीमें मुसलमान अपनी नयी संस्कृति, नया धर्म, नयी जीवन-पद्धति लेकर आये और उन्होंने एक क्रान्ति उपस्थित कर दी। शुरूमें तो उन्होंने भारतकी सामन्तीय व्यवस्थाका ढाँचा ही लड़खड़ा दिया था, लेकिन कालान्तरमें वे भी सूदख़ोर, शोषक, सामन्त और बड़े-बड़े ज़मींदार हो गये। उनकी चुनौती वर्णाश्रम-व्यवस्थाको थी। सामाजिक गत्यात्मकताने दो संस्कृतियोंका अन्तरावलम्बन शुरू करा दिया। कबीर और जायसीने क्रमशः निर्गुण मार्गमें भक्ति और इसलामकी कट्टरतामें सूफ़ी वेदान्तका मेल कराया। वे तत्कालसे जूझे। एक ओर उन्होंने सवर्णोंकी अहंमन्यताका विनाश किया, तो

दूसरी ओर मुसलमानोंके ढोंगोंको उघाड़ दिया। जायसीने जोगियोंको प्रेमयोगी बना दिया। जातीय जुल्मोंकी पीर तथा प्रेमकी पीरने अपमानित तथा शोषित, दलित तथा दमित, हिन्दू-मुसलमान कृषकोंको एक नयी सहज साधना और निर्मल रहनीके लिए महान् उदात्तीकरण प्रस्तुत किया। किन्तु सामन्तीय ढाँचा कहाँ बदला ? वह बदल कैसे सकता था ! अतः तुलसी और सूरके माध्यमसे सामाजिक शक्तियोंकी दिशाओंने कार्य शुरू किया। परिवार, वर्णाश्रम तथा पंचायत इन तीनोंका पौराणिकीकरण या मिथकीकरण तथा आदर्शीकरण हो गया। समाजके सारे सम्बन्ध – प्रिय, प्रिया, पति, पत्नी, पिता, माँ, सखा, स्वामी, सेवक आदि – परमात्मासे जुड़े गये। इन सम्बन्धोंके कारण ही ब्रह्म सगुण हो गया। अतः वह मानव भी हो गया। भक्तोंने इसकी व्याख्याएँ बारम्बार की हैं। मायाके सत्त्व-रज-तम नामक गुण निराकार-निर्विकार ब्रह्ममें निहित हो गये। फलस्वरूप भक्ति अविद्या न रही और स-गुण ब्रह्मको अपनेको अंश रूप जीवोंमें बिखरानेके लिए, कर्तृभावके लिए, 'सृष्टि'की ज़रूरत हुई। यही आत्मकृति 'अवतार' है। इस तरह लोकरंजन और लोकरक्षण स्वीकार्य हुआ – नये अर्थोंमें। सांसारिक पुरुषोंका प्रेमभाव भगवत्प्रेम अर्थात् 'प्रेमा'में रूपान्तरित हो गया, और सांसारिक ग़ुलामी दास्य भावमें आदर्शीकृत हो गयी। तो, केन्द्रापसारी शक्ति लोकरक्षण-मूलक हुई और केन्द्राभिसारी लोकरंजन-मूलक। लोक दोनोंमें संलग्न हो गया।

फलतः रामवृत्तके कवियोंने परिवारकी इकाईसे ग्राम इकाईकी ओर, वर्ण-व्यवस्थाकी ओर यात्रा की। इन कवियोंने परिवारके संगठनके लिए व्यक्तिगत सम्बन्धोंके आदर्श दिये – विशेष रूपसे पिता-पुत्र और पति-पत्नीके आदर्श। यह इनकी शुरूआत थी। ग्रामीण इकाइयोंके संगठनके लिए इन्होंने इन आदर्श सम्मिलित परिवारवाली इकाइयोंको ही आदर्श वर्ण-व्यवस्थाको रचनेके लिए अभिमन्त्रित किया। इस तरह एक आदर्श ग्राम्य व्यवस्था और एक आदर्श परिवार गठनके द्वारा इन्होंने तत्कालीन समाजको ऐसी यूतोपिया दी जहाँ लोक-मर्यादा एवं वेदमर्यादा ही सर्वोपरि है। ये कवि भी कोई विकल्प नहीं दे सके, केवल ऐतिहासिक वास्तविकताको पौराणिक आदर्शमें उदात्तीकृत कर सके। इन्होंने रक्षकको राजा, पिता और स्वामी बनाकर उसे संन्यास तथा शौर्य दोनोंसे परिपूर्ण किया। इस तरह सामाजिक केन्द्रापसारी शक्तिने परिवार और ग्रामकी बाह्य दुनियाको सांस्कृतिक और अनुशासनिक व्यवस्था दी। यहाँ 'दिव्य शील'की प्रधानता रही।

दूसरी ओर कृष्णवृत्तके कवियोंने परिवारकी इकाईसे आरम्भ करके

वैयक्तिक सम्बन्धोंकी ओर अभिसार किया। वे ग्राम ( सामाजिक इकाईके अर्थमें ) की ओर उन्मुख नहीं ही हुए। इन्होंने परिवारके अन्दर एक आन्तरिक स्वायत्त ( इण्टर्नल ऑटॅनमी ) को स्थापित किया। यह स्थापन काफ़ी रोमैण्टिक और भावकल्प-मूलक रहा है। अतः यहाँ लोकमर्यादा और वेदमर्यादाका त्याग विधेय है। प्राकृतिक अंचलोंका स्वच्छन्द जीवन, आभीर गोपोंकी निर्बन्ध चरवाही, चर्याएँ, तथा प्रेममें सभी कुण्ठाओंका परित्याग कृष्णवृत्तके प्रयोजन बने। नृत्य, भोग, रास, मिलन, विरह, प्रणयलीलाएँ आदिके द्वारा कृष्णभक्तिने रागमूलक प्रेमको निर्बाधित मुक्ति देकर वैयक्तिक मनस्तात्त्विक जीवनकी सेक्स ग्रन्थियोंको उदात्तीकृत किया। यहाँ परकीया प्रेम भी सहज हो गया, अभिसार और संभोग क्रीड़ाएँ हो गयीं। इस वृत्तके कवियोंने रंजकको प्रेमी, पति, सखा बनाकर उसे भोग और सौन्दर्य दोनोंसे परिपूर्ण किया। इस तरह केन्द्राभिसारी शक्तिने परिवार और वैयक्तिक जीवनकी अन्दरूनी दुनियाको रोमैण्टिक तथा भोगात्मक स्वच्छन्दता दी। यहाँ 'दिव्य सौन्दर्य' की प्रधानता रही।

अतः इस कालमें रामवृत्त और कृष्णवृत्तका पुनश्च एक समानान्तर विकास तत्कालीन समाजके अन्तर्विरोधोंका ही प्रतिबिम्ब है। समाजने सुरक्षा-मेकेनिज़्मके द्वारा नाथों-सिद्धों और मुसलमानोंकी चुनौतियोंका प्रतिबोधन किया। सामन्तीय व्यवस्थाकी सीमाओंके कारण ये कवि किसी अन्य समाजका विकल्पन (ऑल्टर्नेटिव) तो नहीं दे सके, किन्तु मर्यादा तथा उन्मुक्तिके बीच शील-संचालित एक सन्तुलन क़ायम करनेमें काफ़ी सफल हुए। अतः रामभक्ति शाखाने ग्राम-इकाइयों एवं परिवार-इकाइयोंको संगठित किया तो कृष्णभक्ति शाखाने परिवारके आन्तरिक सम्बन्धोंमें स्वच्छन्दता ला दी। भक्त होनेके कारण इन कवियोंने शूर-वीरोंके शक्ति-शील-सौन्दर्यके चारित्रिक मूल्योंके आगे दिव्य विशेषण लगा दिया क्योंकि इनके नायक पुरुषोत्तम थे। समाजशास्त्रीय दृष्टिसे शक्ति-शील-सौन्दर्यके मूल्योंका रूपान्तर कई नये तथ्य उद्घाटित करता है। सौन्दर्यको लें। कृष्णभक्ति काव्यमें नारियाँ रूप-लावण्य-शोभा संयुक्त हैं, जब कि रामभक्ति शाखामें पुरुष ही मदनको लजानेवाले हैं—सीता रामपर, शूर्पणखा लक्ष्मणपर, तारा बालिपर रीझती है। यहाँ नारियाँ देवियाँ हैं : देवी सीताकी सेविकाएँ तथा सखियाँ। कृष्णभक्ति शाखामें नारियाँ अभिसारिका, गोपियाँ, कामचतुरा दूतियाँ हैं। रामभक्ति काव्यमें नैतिकताके प्रबल आग्रहोंके कारण नारीका पूर्ण सौन्दर्य-चित्रण—विशेषतः नख-शिख, बारहमासा या षट्ऋतुके व्याजसे—लगभग नहीं हो पाया है ( दीपशिखा, सरस्वती आदिके रूपकको छोड़कर )। किन्तु कृष्णभक्ति काव्यमें नारी-सौन्दर्य ही छककर छलका है और क्रमशः मांसल एवं

भोग-प्रधान होता चला गया है। इसी क्रममें कृष्णभक्ति काव्यमें परकीया प्रेम प्रधान है तो रामभक्ति काव्यमें स्वकीया प्रेम; कृष्णभक्ति काव्यमें कृष्ण अनेक युवतियों ( जीवात्माओं ) के साथ रमण करते हैं, लेकिन रामभक्ति काव्यमें राम ज़रा-सी त्रुटिपर शूर्पणखाको अपौरुषपूर्ण दण्ड दिला देते हैं। कृष्णभक्ति काव्यमें राधाका, गोपियोंका विरह बाढ़ बन गया है जबकि रामभक्ति काव्यमें उर्मिला-विरह तथा सीता-विरहकी क्षीण तटरेखा तक ढूँढ़नी पड़ती है। शीलको लें। कृष्ण पूर्णावतार तथा योगी-भोगी गृहस्थ तथा निर्बन्ध होकर भी लीलापुरुष तथा भगवान् हैं। भक्ति साहित्यमें वे प्रधानतया किशोर वयके ही अंकित हुए हैं। बालक होनेपर यशोदा-नन्दके पास, थोड़ा बड़े होनेपर सखाओंके साथ, और किशोर होनेपर गोपियों एवं राधादिके साथ लीलाएँ करते हैं जो समाजकी मर्यादाओंकी भंजक हैं। किन्तु बालक रामकी लीलाएँ बहुत कम आ पायी हैं ('गीतावली' में थोड़ा विस्तार है)। युवक होते ही वे समाज मंगलके निमित्त तथा मर्यादाएँ क़ायम करनेके लिए त्याग तथा संघर्षका जीवन शुरू कर देते हैं। वे पूर्ण पुरुष नहीं, मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। बाल कृष्ण तो थोड़ा-बहुत राक्षसोंसे लड़ते भी हैं लेकिन परवर्ती कृष्ण प्रणयलीलाओंमें लिप्त-लीन हो जाते हैं। बाल राम प्रसन्नतापूर्वक अपना समय बिताते हैं किन्तु किशोर होते ही वे दानवों तथा दानवतासे जूझने लगते हैं। इसी तरह नारियोंमें राधा, गोपियाँ, दूतियाँ आदि समाजके लांछन नहीं झेलतीं। वे अभिसार, संयोग तथा रासके लिए आज़ाद हैं। किन्तु सीता, उर्मिला, कैकेयी आदि समाजके लांछनों तथा अत्याचारोंको झेलती हैं और मर्यादाकी तपस्यामें निरन्तर तपती हैं। इसी तरह शक्ति या शौर्यको लें। कृष्णभक्ति काव्यकी प्रधान नारियाँ जीवात्मासे अधिक कृष्णकी माला जपनेवाली मात्र वियोगिनी रमणियाँ हैं किन्तु रामभक्ति काव्यकी नायिकाएँ पतिकी पार्श्वशक्ति, मन्त्री हैं। वे जीवन तथा समाजकी आपदाओंको झेलती हैं। कृष्णभक्ति काव्यकी नारियाँ परकीयाएँ होकर भी लांछन तथा पीड़ाएँ नहीं झेलतीं, जब कि रामवृत्तकी नायिकाएँ स्वकीयाएँ होकर भी समाजके ग़लत दण्ड तथा पुरुष-सन्देहोंपर आत्मबलि करती हैं। कृष्ण नायक हैं, बाल रूपमें वीर हैं। राम किशोर रूपके बाद वीर तथा नेता दोनों है। कृष्ण बाल रूपमें ही वैदिक धर्मके प्रतीक इन्द्रको चुनौती देते हैं, किन्तु राम सभी देवताओंकी स्तुति करते हैं। कृष्णकी लीला किशोरावस्थाके बाद लगभग क्षीण हो जाती है, जब कि रामकी विविध लीलाएँ उत्तरोत्तर अग्रसर होती हैं। राम गृहस्थ और एकपत्नीव्रत हैं, जब कि कृष्ण गृहस्थ धर्मसे मुक्त तथा गोपीजन-वल्लभ हैं। राम अयोध्यासे लेकर लंका तककी दिग्विजय करते हैं जब कि कृष्ण मुख्यतः मथुरा

और गोकुलके हरकारे हैं ( भक्तिसाहित्यमें )। इस भाँति राम तथा कृष्ण चरित्रोंके माध्यमसे सामाजिक परिणामोंकी एक तुलनात्मक मीमांसा हो जाती है, यद्यपि इसका स्वरूप केवल चरित्रशिल्पपर ही केन्द्रित है। यूँ, हमारी सामाजिक दृष्टिसे यह तथ्य भी ओझल नहीं होना चाहिए कि आलोच्य मध्यकालके भक्ति-प्रधान चरणमें जो राम और कृष्णअवतारके रूपमें वन्दित हुए हैं, महाभारत तथा रामायणके पूर्व इतिहास कालमें उनसे विशिष्ट ऐतिहासिक आदर्श भी जुड़े हैं, और वहाँ वे चरितनायक हैं। कालकी लम्बी यात्रामें राष्ट्र अपने राष्ट्रीय आदर्शोंको मिथकीय चरित्रोंमें विकसित करते हैं और इस प्रकार सम्पूर्ण अतीतसे रिश्ता जोड़ लेते हैं। इसीलिए सामान्य मानवीय आदर्शोंके साथ विशिष्ट ऐतिहासिक आदर्श जुड़ जाया करते हैं। महाभारतके कृष्णका चरित्र बहुत व्यापक एवं विराट् है जो हमारे आलोच्य कालमें आकर नितान्त एकांगी हो गया है। पूर्व-इतिहासकालके राम और कृष्ण राष्ट्रीय आदर्श हैं। ( देशभक्ति-मूलक नहीं – क्योंकि यह चेतना राष्ट्रीय राज्योंका परिणाम होती है )। त्रेताके रामने देशकी उत्तर-दक्षिण धुरीको एक किया है। उन्होंने वानर, निषाद, भील, कोल, किरात, राक्षस आदि जातियोंको आर्य-संस्कृतिमें शामिल किया – पराजित करके या मित्रता करके। वे निरन्तर एक मर्यादासे बँधे रहे और निरन्तर मनुष्यसे देवता बननेकी कोशिशमें रहे। राम एक सुसंस्कृत युगके देवता-नेता हैं। राम कठोर कर्तव्योंसे बँधे हैं। राममें धनुर्वेदकी प्रधानता है। लेकिन द्वापर युग अर्थात् 'महाभारत के नायक कृष्ण सम्पूर्ण और निर्बाध मनुष्य हैं। वे निरन्तर देवतासे मनुष्य बननेकी कोशिशमें हैं। वे चक्रधर, गिरिधारी और मुरलीधर हैं। उन्होंने देशकी पूर्व-पश्चिम धुरीको एक किया है। कृष्णको रामसे ज्यादा संघर्ष और कूटनीति अपनानी पड़ी थी क्योंकि एक ही कुरुवंशमें अपने ही कौरव-पाण्डवोंके बीच न्याय-अन्यायके पक्ष बँट गये थे। अतएव कृष्णको राजनीति तथा कूटनीति दोनोंका इस्तेमाल करना पड़ा। पांचालों और पाण्डवोंकी सन्धि कराकर उन्होंने कुरु-पांचाल धुरी क़ायम की, और राजगिरिकी अन्यायी मगध-धुरीको विनष्ट कर दिया। कृष्ण-पक्षके नायक द्वारिका, हिमालय, मणिपुर, उपूसी आदिके छोर तक पहुँचते हैं। कृष्णके युगमें प्रखरता, कूटनीति, सन्धि-विग्रह और बौद्धिकताका बोलबाला था। महाभारतके नायक कृष्ण हैं और नायिका साँवली द्रौपदी। द्रौपदी राजवंशोंकी नैतिकता, पतियोंके ग़लत स्वामित्व तथा क्लीबताको प्रखर चुनौती देती है। इस तरह राम और कृष्ण भारतीय मिथकीय चरित्र तथा ऐतिहासिक आदर्श रहे हैं जिनके चरित्रोंकी व्याख्या प्रत्येक युगने अपनी विचार-

धारात्मक चेतनाकी पुकारपर की है। मुसलिम मध्यकालके भक्तिप्रधान चरणमें रामवृत्त तथा कृष्णवृत्तका जो स्वरूप उभरा, उसके विषयमें हम स्पष्टीकरण दे ही चुके हैं। उस कालमें पंचायत, वर्णव्यवस्था तथा परिवारकी पौराणिक संरचनाके द्वारा ग्राम इकाइयों – तथा उनके द्वारा जम्बूद्वीपके 'कलियुगी समाज' – को नये आदर्श प्रदान करनेकी वैष्णव दृष्टिकी पुकार मच रही थी। यह पुकार लोक-मुखकी थी। अतः भक्ति-साहित्य धर्मयुग तथा एकांगी युगधर्म, दोनों हुआ।

यहाँ एक नया सवाल उठता है कि मध्यकालके भक्ति-चरणमें आदर्श समाज और जीवनकी प्रेरणा देनेवाला कौन-सा युग था? क्या यह केवल कपोलकल्पना थी या इसे अनुप्राणित करनेवाला कोई ऐतिहासिक संस्मरण था जो कालान्तरमें इतिहास-बोधके विलुप्त होनेपर ऐतिहासिक आदर्श मात्र रह गया? हमारे अनुसार यह आदर्श समाज और जीवन शुंगों और गुप्तोंका काल था। पुष्यमित्र शुंग एक ब्राह्मण सम्राट् था। उसने मानव-धर्मशास्त्रोंका प्रणयन कराकर ब्राह्मणों-को पुनः 'भू-सुर'के पदपर प्रतिष्ठित किया; वर्णव्यवस्थाकी पुनः प्रतिष्ठा करके यज्ञादिको पुनरुज्जीवित किया, संस्कृतको राजभाषा-पद पुनः अर्पित किया और आक्रान्ता ग्रीक तथा यवनोंको पराजित किया। इसी भाँति गुप्त साम्राज्यमें ब्राह्मण-सिद्धान्तोंके आधारपर एक आदर्श राज्य रचनेकी चेष्टाएँ हुईं। समुद्रगुप्तने दिग्विजय की, अश्वमेध यज्ञ किये और गणतन्त्रोंको समाप्त करके एक केन्द्रीय राज्य क़ायम किया। समुद्रगुप्त 'असुरविजयी' थे। उन्होंने 'धर्म-विजयी' चरित्र प्राप्त किया तथा 'गौरूपी पृथ्वी'का उद्धार किया। उन्होंने क्षत्रिय और ब्राह्मणके सम्बन्धोंको सुदृढ़ करके कोशल (अयोध्या) पर धर्म-ध्वजा फहरायी। वे वर्णाश्रम-रक्षक थे और मनुके आदर्शोंके अनुकूल 'धर्ममय रथ'के संचालक थे। किन्तु गुप्तोंने गणोंको समाप्त करके और समाजको द्विज, क्षत्रिय तथा शूद्रोंकी स्थायी धुरीमें बाँटकर एक सामन्तीय अर्थतन्त्रकी उत्पीड़क नींव भी डाली। फिर भी, समग्र रूपमें गुप्त-साम्राज्य तथा समुद्रगुप्तकी दिग्विजय राष्ट्रके लिए वास्त-विक जीवन तथा आदर्श जीवनका मिलन-बिन्दु हो गयी। कालान्तरमें ये दोनों ऐतिहासिक तथ्य क्रमशः आदर्श, निजंधर [लीजेण्ड] और पुराण होते चले गये। यहाँ तक कि कालिदासने 'रघुवंश' में जो दिग्विजय-वर्णन और युद्ध वर्णन किया हैं वह प्रचुर रूपसे समुद्रगुप्तकी दिग्विजयका रूपायन है। तुलसीने जिस आदर्श समाज, राज्य और सम्राट्की कल्पना की है, वह शुंगों और गुप्तोंके युगसे परम्परा रूपमें अनुप्राणित है। तुलसीने ब्राह्मणोंको 'भू-सुर' कहा है, पृथ्वी गौके उद्धार-के हेतु अवतारकी चर्चा की है; श्रीरामको 'असुरविजयी' बताया है तथा रामके

धर्ममय रथका रूपक ( लंकाकाण्ड ) मनुके आदर्शोंके अनुरूप दिया है। उन्होंने 'वर्णाश्रम-धर्मकी रक्षा और प्रतिष्ठा'का सर्वोच्च लक्ष्य प्रतिपादित किया है तथा द्विज, क्षत्रिय और शूद्रके अमानवीय धर्मकी भी वकालत की है। इस भाँति तुलसीके लोकमंगलके आदर्शोंके स्रोत झिलमिला उठते हैं। लेकिन रावण और रावण-पक्षकी रचना कैसे हुई ? पहले स्रोत तो पौराणिक असुर और दानव हैं ही, दूसरे स्रोतके रूपसे पूर्ववर्ती मुसलमान हमलावरोंकी बर्बरताएँ हैं। अफ़ग़ान शासकोंने निरंकुश लूट-पाट, हिंसा, मन्दिरोंके विध्वंस, बन्दियोंके क़त्लेआम, जलते हुए शहरों और गाँवोंके खण्डहरों तथा भुखमरी, अकाल और धार्मिक अत्याचारोंसे भारतीय समाज और हिन्दू संस्कृतिको रौंद डाला था। लोक-चित्तमें वे बर्बरों और म्लेच्छोंके रूपमें भयपूर्वक प्रतिष्ठित हो चुके थे। इनके काफ़ी बाद तुलसीका जीवन अकबर ( वे अकबरसे दस वर्ष बड़े थे ) जहाँगीरके शासन-कालमें गुज़रा। यह आरम्भिक मुग़ल-युग शाहन्शाह अकबर महान्के आदर्शोंमें ढलकर द्वितीय भारतीय रिनेसाँ ( गुप्तोंके स्वर्णयुगके बाद ) होकर पल्लवित-पुष्पित हुआ। स्वयं अकबरने समुद्र-गुप्तके पौत्र विक्रमादित्यकी तरह नौ श्रेष्ठ मन्त्रियोंका नवरतन-मण्डल बनाया था। उन्होंने हिन्दू-मुसलमान संस्कृतिके मेलसे हिन्दुस्तानी संस्कृतिकी सुदृढ़ नींव डाली; इसलाम और सूफ़ी और ईसाई मतोंके मेलसे 'दीने इलाही' चलाया; बड़े पैमानेपर भूमि-सुधार लागू किये, जज़िया कर हटाया; हिन्दू राजकुमारियोंसे विवाह किया; अपने दरबारमें गंग, पुहकर, बीरबल, रहीम-जैसे कवियोंका सम्मान किया; रामायण तथा महाभारतके फ़ारसी अनुवाद कराये, इत्यादि। इस भाँति भारतमें हर्षवर्धनके बाद पुनः एक उदार और सुदृढ़ सम्राट् तथा साम्राज्य अभ्युदित हुआ। अकबरके शासनमें लूटपाट और धार्मिक अत्याचार लगभग बन्द हो गये, और किसानोंको अपनी उपजका दो-तिहाई भाग रखनेका अधिकार मिला। फलतः भारतमें शताब्दियोंकी ग़रीबी और अत्याचारोंसे थोड़ी राहत मिली। उदारताके इसी वातावरणमें तुलसीदासका जीवनकाल स्थित है। इसी-लिए तुलसीदासमें आशावादकी प्रधानता है। एक कट्टर ब्राह्मण होनेके नाते वे मुसलमानों तथा शूद्रों दोनोंके ही प्रति उदार नहीं हो सके, लेकिन उनके राक्षस और असुर, तथा उनके कार्य, बहुधा पूर्ववर्ती आक्रान्ताओंके प्रतिबिम्बित ज़ुल्म हैं। उस युगमें युद्धके चार आतंक थे :– आग, अकाल, मौत, लूटपाट। थोड़ा आश्चर्य इस बातपर अवश्य होता है कि लोकभाषाओंके सूर और तुलसी-जैसे महान् कवियोंने भी ख़िलजी और अफ़ग़ानोंके हमलोंकी कहीं भी प्रत्यक्ष चर्चा नहीं की। असुरोंकी माया तथा विध्वंस लीलाके रूपमें ये ऐतिहासिक संस्मरण भी अद्भुत

और मिथकीय बना दिये गये हैं। इस तरह हम रामराज्य और रावणके खलनाय-कत्वकी ऐसी संरचनाको मध्यकालके पौराणिकीकरणका पहला सर्वप्रधान तत्त्व मानते हैं। इसके अलावा उन्होंने आदर्श समाज ( ग्राम-इकाई ), आदर्श सन्त, आदर्श परिवार और आदर्श नीतिके जो प्रतिमान पेश किये हैं वे नानापुराण-निगमागम-सम्मत हैं। मध्यकालके पौराणिकीकरणका यह दूसरा प्रधान तत्त्व है। मध्यकालके पौराणिकीकरणका तीसरा प्रधान तत्त्व है मिथकीय कालका बोध। तुलसीने अपने वर्तमान समय तथा समाजके भविष्यको एक अतीत, एक निजंधरी ( लीजेण्डरी ) अतीतकी अनुकृति, स्वीकार करके घूमते हुए सांस्कृतिक चक्रकी उद्‌भावना की। यह चक्र प्रत्येक कल्प, युग और मन्वन्तरमें घूमता है ( जिस तरह कर्म-चक्र )। इस भाँति अतीत-वर्तमान-भविष्य, तीनों कालोंके बोधोंको तुलसी ऐतिहासिक अतीतसे भी युग-युग पूर्व एक मिथकीय अतीतमें ले गये। इसके कई परिणाम निकले जिन्होंने उनकी चेतना और कला-शिल्प दोनोंको प्रभावित किया। पहला नतीजा यह हुआ कि महा-कालका प्रथम युग ही स्वर्णयुग या सत्ययुगमें पर्यवसित हुआ, और इस कालके अक्षमें देवताओं-देवियोंकी लीलाएँ बार-बार प्रकट हुई हैं। फलस्वरूप उनके पूर्व जन्म और अगले जन्मको वर्तमान जन्मकी कथासे जोड़ दिया गया। पूर्व युगके पात्र अगले युगमें, या भविष्यके पात्र पिछले युगमें उपस्थित हो जाते हैं। उदाहरणके लिए पूर्वावतार परशुराम और परवर्ती अवतार श्रीराम, श्रीराम और उनके परवर्ती गायक ऋषि वाल्मीकि, राम और उनके परवर्ती दास 'तापस' तुलसी एक ही समयमें उपस्थित हो जाते हैं। ऐसे अन्य कई आध्यात्मिक विश्वास कला-शिल्पका भी निर्देशन करते हैं : जैसे, प्रत्येक कल्पमें रामरूप हरिका अवतार होता है और काकभुशुण्डि, नारद या मुनि लोग उसका गायन करते हैं; शिव रामजन्मोत्सवमें शामिल होते हैं ( मानस, १।१९५।२ ), राम बारातमें आते हैं ( मानस १।३१४।१ ), राम-रावण युद्ध देखते हैं ( मानस ६।८०।१ ), तथा रामका तिलक देखने आते हैं ( मानस, ६।११५ ); विजयी रामको देखने दिवं-गत दशरथ आते हैं ( मानस, ६।१११।१ ); नारद बराबर अयोध्या आया करते थे और वहाँ रामके नये-नये चरित्र देखकर ब्रह्मलोकमें गाया करते थे, नारद युद्धमें रामको नागपाशसे मुक्त करनेके लिए विष्णु-वाहन गरुड़को लंका भेजते हैं ( मानस, ६।७३।५ ); नारद विष्णुको शाप देते हैं कि वे नर-रूप होकर वानरों-के साथ विरहका दुःख भोगें; शची, सरस्वती, लक्ष्मी और पार्वती ( जो अभी-अभी राम-कथा सुन रही थीं ) कपटपूर्वक स्त्री-वेश बनाकर रनिवासमें दूलह रामको देखने जा मिलती हैं ( मानस, १।३१७।३-४ )। इसी तरह परवर्ती युग

भी मिथकीय है : जैसे, आज भी (तुलसीके समयमें) विभीषण अपने समाजसहित लंकाके राज्यपर आसीन हैं ( दोहावली, १६४ ), रामके दिव्य दरबारमें हनु-मान् और भरतके कहनेपर लक्ष्मण रामकी सेवामें तुलसीदासकी 'विनय-पत्रिका' अर्थात् अर्ज़ी पेश करते हैं और रघुनाथ तुलसीकी सच्ची सेवाके फल-स्वरूप उसपर सही कर देते हैं ( विनयपत्रिका, २७९ ); वनवासी रामको वाल्मीकि अपने आश्रममें लेने आते हैं ( मानस, २।१२४ )। इस चेतनामें काल-प्रवाहकी इकाई बहुत विराट् होती है। शिव सत्तासी हज़ार वर्ष बीतनेपर अपनी समाधि खोलते हैं ( मानस, १।४७।४ ), तपस्विनी पार्वतीने एक हज़ार वर्षों तक मूल और फल खाये तथा तीन हज़ार वर्षों तक सूखे बेलपत्र खाये, ( मानस, १।७३।१-२ )। मिथकीय कालका दूसरा नतीजा यह हुआ कि अपराध और दण्ड, पुण्य और पुरस्कारका विधान पूर्व-वर्तमान-पश्चात् तीनों जन्मोंमें प्रतिफलित होने लगा। पूर्व-जन्मके शाप पाये हुए पात्र इस जन्ममें राक्षस, पाषाणशिला, सम्पाती, काकभुशुण्डि आदि बनते हैं तथा राम-द्वारा उद्धारित होते हैं। पूर्वजन्मके पुण्योंके फलस्वरूप पात्र इस जन्मको भोगते हैं। इसी आध्यात्मिक न्यायसे अगले जन्मके निर्णय भी होते हैं। इसी प्रवृत्तिका चरमोदात्त रूप अवतारवाद है। स्वयं हरि पूर्ण, अंश, कला, विभूति, आवेश, लीला, युगल तथा रस इन नौ रूपोंमें अवतार लेते हैं। मिथकीय कालका तीसरा परिणाम यह निकला कि तथ्यात्मक ऐतिहासिक चेतनाकी उपेक्षा हुई। तुलसी इतिहाससे मिथककी ओर, तथा मिथकसे लोकतात्त्विक इतिहासकी ओर, आते-जाते रहे। रामके विवाहमें वैदिक तथा लौकिक ( अर्थात् मध्यकालीन ) दोनों रीतियोंका किया जाना ( मानस, १।३९।१ ), वनवासी रामका अवध राज्यके गाँवों तथा पुरवोंके बीचसे गुज़रना ( मानस, २।११२।१ ), वनवासी रामको देखने अल्पवयस तापस तुलसीका आना आदि मिथकसे लोकतात्त्विक इतिहासकी ओर प्रयाणके दृष्टान्त हैं। इसी भाँति शिव-द्वारा 'मानस'की रचना करना ( मानस, १।३३।५ ), तीर्थ-राज प्रयागका तत्कालीन चित्रण करते-करते तुलसी-द्वारा वहाँ याज्ञवल्क्य एवं भरद्वाजका बखान कर देना ( मानस, १।४४।१ ), चित्रकूटके भरतकूपके बाबत फैली लोककथाके आधारपर 'मानस'के भरतको उससे सम्बद्ध कर देना ( मानस, २।३०९।१–४ ) आदि लोककथाओंसे मिथककी ओर प्रयाणके दृष्टान्त हैं। मिथकीय कालकी चेतनासे युक्त इतिहास-लेखनकी विधा कैसी हो जाती है, इसके अनूठे नमूने तुलसीने पेश किये हैं। पहले तो मिथकीय चेतनावाला इतिहास-लेखक हमेशा रूपकों और अन्यापदेशों ( ऐलिगॅरी ) के द्वारा अपनी भावना व्यक्त करता है; दूसरे वह स्वयंको लेखक न मानकर किसी देवता, दैवी-प्रेरणा, गुरु-

कृपाको यह श्रेय दे देता है; तीसरे वह तमाम घटनाओंको सामाजिक शक्तियोंका परिणाम न मानकर कर्मफल-भोग मानता है; चौथे वह तीर्थ स्थानों, आश्रमों, नदी-तटों आदिपर ही जमता-रमता है; पाँचवें वह ऐतिहासिक तथ्योंकी बजाय पौराणिक गल्प पेश करता है और अन्ततः उसका काल-विभाजन चतुर्युगोंके आधारपर हुआ करता है। सन्त तुलसीके लिए तत्कालीन अवस्था साक्षात् नरक या कलिकाल होकर ऊहा हो जाती है ( मानस, विनय-पत्रिका, कवितावाली, गीतावली ) और जब वे तीर्थों, आश्रमों आदिका वर्णन करते हैं तब वे वैकुण्ठ हो जाते हैं। 'गीतावली'में चित्रकूट-वर्णन करते समय ( ४३–५२ ) उसकी प्राकृतिक सुन्दरतासे अधिक प्राकृतिक पावनता, ऋषि-मुनियों तथा स्वयं राम-सीता-लक्ष्मणके निवास, पवित्र मन्दाकिनीका माहात्म्य गाया है। सारी प्रकृतिका मानो आध्यात्मीकरण हो गया और इन अलौकिक पात्रोंके रहनेकी वजहसे उसकी शोभा दिन-दिन अधिकाधिक अधिकाती जाती है। यह सारा वर्णन रूपकोंके शोभा-भारसे झुका हुआ है। इसीके समानान्तर 'कवितावली'का काशी-वर्णन है जहाँ प्रकृतिका संयोग नहीं है ( १६९–१८३ )। इतिहासकी दृष्टिसे काशी ब्रह्माकी रची हुई विष्णुकी बसायी हुई और शंकरकी निवास-भूमि है। यहाँ परीक्षित-जैसे राजा भी रह चुके हैं ( जहाँगीर नहीं )। यहाँ देवता, देवी, देवनदी गंगा, सिद्ध और मुनि रहते हैं ( तत्कालीन समाज-चित्र कम ); यहाँके रहनेवाले पुरुष शंकर और स्त्रियाँ पार्वती हैं क्योंकि वेदोंने ऐसा कहा है। काशीमें महादेव-जैसे ठाकुर, उमा-जैसी ठकुराइन हैं, रुद्रके गण योद्धा हैं, काल-भैरव कोतवाल हैं, भैरव दण्डाधीश हैं, गणेश-जैसे सभासद् हैं अर्थात् वास्तविक राजा, रानी, सूबेदार, कोतवाल, मीरमुन्शी, मन्सबदारकी कोई सत्ता-महत्ता नहीं है। आज काशीरूपी कल्पलताको कलिरूप निष्ठुर किरात काट रहा है। महा-मारी फैली है। क्यों ? शहरी गन्दगीकी वजहसे नहीं, बल्कि उन लोगोंके पापके कारण जिन्होंने राहगीरों तथा ब्राह्मणोंको मारकर और कोटि कुमार्गोंसे धन इकट्ठा किया है। सम्पूर्ण काशी-वर्णन रूपकोंसे जड़ित है। इन उदाहरणोंके विश्लेषणसे हम 'मानस' आदिके ऐतिहासिक तथा मिथकीय विभाजनके गूढ़ रहस्य पा सकेंगे। मिथकीय कालकी चेतनाका चौथा परिणाम यह हुआ कि देवता, प्रकृति, पशु-पक्षी, मानव, राक्षस, अर्धमानव आदि सभी एक कार्यके अंग हो गये, सभीपर एक ही प्रकारका नैतिक और धार्मिक विधान लागू हुआ, सभी मानवोंकी भाषा-भावनावाले हो गये और सभीको उनके सुकृत्यों-कुकृत्योंका फल, उनकी शंकाओंका समाधान, उनके कार्योंके कारणोंका अभिज्ञान तुरन्त मिल गया क्योंकि मिथकीय जगत्‌में तीनों लोक तथा तीनों काल तथा तीनों प्राणी

एकत्र होकर पूर्ण ब्रह्माण्डको ही कथाभूमिमें बदल देते हैं। तुलसीने वैदिक देव-मण्डलके अन्तर्भूत इन्द्र, अग्नि, सरस्वती, यम, वरुण ( समुद्र ), रुद्र, सूर्य आदि-को लिया है ; तथा पौराणिक मण्डल ( ब्राह्मणकालीन ) के देवताओंके अन्तर्गत ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गौरी, गणेश, पार्वती आदिको लिया है; और अवतारवादके अन्तर्गत राममें परब्रह्मत्व स्थापित कर दिया है। पौराणिकीकरणमें आस्थाके कारण तुलसीने आकाशवासी वैदिक देवताओंका दरजा और कार्य बहुत गिरा दिया है। वे स्वार्थी, कपटी, कुचाली, डरपोंक, भोगी आदि चित्रित किये गये हैं। ज़ाहिर है कि उनका मध्यकाल इन वैदिक देवताओंके छल-कपट और सोम-पान-विलास आदिको बरदाश्त नहीं कर सकता था। विशेष रूपसे तुलसी तो और भी नहीं। यहाँ कबीर और तुलसी दो विरोधी दृष्टिकोणोंको रखते हुए भी मिल-से जाते हैं। किन्तु आगे तुलसी अवतारवाद-द्वारा इष्टदेवता और ईश्वरकी धारणा स्थापित कर जाते हैं तथा कबीर पौराणिक तथा सामन्तीय संस्कारोंको ललकारते चले जाते हैं।

अब हम मध्यकालके आभासित गुप्तयुगीन पौराणिकीकरणके निरूपणके बाद-की अगली कड़ी मध्यकालीनीकरण ( मेडीवियलाइज़ेशन ) का विवेचन करेंगे। ये दोनों प्रवृत्तियाँ मिलकर तुलसीदासकी ऐतिहासिक तथा तत्कालीन चेतनाका निर्धारण करती हैं।

कई शताब्दियोंकी धारावाहिक परम्पराओंने वाल्मीकिकी 'आदिरामायण'से लेकर तुलसीके 'रामचरितमानस' तक, तथा परमभागवत गुप्त सम्राटोंसे लेकर उत्तर भारतके वैष्णव आचार्यों एवं कवियों और दरबारी कवियों तक जो सांस्कृतिक रूपान्तर किया है वह वैदिक साधनासे पौराणिक पूजनमें, पौराणिक पूजनसे भक्तिमें और भक्तिसे लौकिक श्रृंगारमें परिणत हुआ है। इस भाँति मध्यकालीनीकरणकी एक बड़ी लम्बी तथा गहरी धारा है। मध्यकालीनीकरण-से हमारा आशय उन 'आदर्शों' ( आइडियल्स ) तथा 'धारणाओं' ( कॉन्सेप्ट्स ) की स्वीकृतिसे है जो पौराणिक चेतनासे विकसित होनेके बावजूद भी उनसे पृथक् तथा परवर्ती हैं; और जो 'तत्कालीन' समाजमें परिव्याप्त हैं। अपने निरूपणको अधिक आलोकित करनेके लिए हम अपने क्षेत्रको सीमित करते हुए केवल उन्हीं आधारोंका दिग्दर्शन करेंगे जो रामवृत्तसे सम्बद्ध होनेके कारण देवालयीय प्रतीकों ( देवमन्दिर, इहलोक, दिव्यलोक ) से काफ़ी असम्पृक्त हैं, जो तुलसी-जैसे एक भक्त कविको विशिष्ट दृष्टिसे प्रस्फुटित हुए हैं, जो वैष्णव-परम्पराकी सगुणोपासनाकी ही मीमांसा करते हैं, तथा अन्ततः जो समाजकी केन्द्रापसारी शक्तिकी परिधिमें हैं।

गुप्तोंके बादकी मध्यकालीन संस्कृतिकी रचनामें शनैः-शनैः लोकजीवनसे ज्ञान और कर्म तिरोहित होते चले गये; कुलीन सामन्तोंमें अतिरंजित अभिमान और विलास बढ़ता चला गया; समाज और जीवनके प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व और न्याय पानेका विश्वास उठता चला गया; वर्णों ( ब्राह्मणों-क्षत्रियों-शूद्रों ) तथा सम्प्रदायों ( बौद्धों-ब्राह्मणों, बौद्धों-जैनियों, नाथों-वैष्णवों ), और वर्गों (भूमिपति और भूमिदास, कृषक और व्यापारी) तथा स्वार्थोंमें संघर्ष तीव्रतर होते चले गये। भारतका सम्पर्क बाहरी दुनियासे टूटता गया और इसलामके आगमनने पूरे सामाजिक ढाँचेको लड़खड़ा-सा दिया। शताब्दियोंके इस लम्बे प्रवाहमें परिवारसे बाहर बस एक ही तरहके सम्बन्धकी प्रधानता रही—स्वामी और सेवकके सम्बन्धोंके अन्तर्गत कृषक स्वामीका पूरा गुलाम तो नहीं होता था किन्तु स्वामी उसे थोड़ी भूमि देता था। उसकी अपनी निजी भूमि भी होती थी। वह स्वामीके हित भी मेहनत करता था तथा अपने हित भी। उसका उत्पादन वस्तुओंके रूपमें होता था, धनके रूपमें नहीं। अतः वह भूमिपतिकी कृपा, करुणा, दान, क्षमा आदिका भिखारी था। सामन्तीय अर्थतन्त्रके ये सम्बन्ध अर्धाश्रित-अर्धस्वतन्त्र थे, किन्तु भूमि-स्वामीकी कृपा इनकी सबसे बड़ी गारण्टी थी। ऐसी अचल जड़ दशामें ज्ञान और कर्मके स्थानपर इच्छाको ही पूरी आज़ादी हो सकती है। इच्छा राग-प्रधान होती है। ऐसे समाज और जीवनमें पीढ़ी-दर-पीढ़ी कोई परिवर्तन नहीं आ पाया था। इसलिए सारा जनजीवन घोर निराशामें जकड़ा था। निराशाके साथ रहस्यवाद, अन्धविश्वास, तर्कका विरोध आदिका बोलबाला हो जाता है। इस वजहसे विश्वसंस्कृतिके सभी सामन्तीय युगोंमें भावोच्छ्वास-प्रधान जीवन भोग, स्वामी तथा महास्वामी प्रभुके प्रति पूर्ण, समर्पण, बौद्धिकता और क्रियाशीलताके अभावमें अन्धविश्वास तथा रूढ़िबद्धता, इस समाज और जीवनके प्रति आस्थालोपके कारण दिव्यलोक और अलौकिक जीवनकी धारणाओंमें पलायन, सहज और स्वाभाविक घटनाओंके स्थानपर कृत्रिम और अलौकिक घटनाओंकी स्वीकृति आदि मिलती है। समाज-चित्त इस दुनियासे जल्दीसे जल्दी छुटकारा पाना चाहता है। अतः वह मोक्ष, कैवल्य, भवसागर-सन्तरणकी ही कामना करता है। मध्यकालीन संस्कृति कला, दर्शन और धर्ममें इसी भाँति प्रतिबिम्बित होती है जिनमें गहरे अन्तर्विरोध होते हैं। आदर्श और यथार्थ, ज्ञान और कर्म, धर्म और व्यवहार सभीके बीच एक अलगाव तथा दुहरापन आ जाता है।

भारतमें इस मध्यकालीन संस्कृतिने अपनी विशिष्ट आदर्शों तथा धारणाओंकी धार्मिक निर्मितियों (कॉन्स्ट्रक्ट्स) को विकसित किया। समग्र रूपसे चरित्र और

चिन्तनके क्षेत्रमें इनसे स्वाभाविकता, सन्तुलन और इहलौकिक सहजताका लोप हुआ है। दो दृष्टिकोणोंने इन निर्मितियोंको निर्धारित किया है : पहला है, इस पराजित जीवन और इस क्रूर समाजको मिथ्या मानकर अलौकिक जीवन तथा दिव्य लोकको सत्य मान लेना; तथा दूसरा है, इस जीवन तथा समाजको भोगनेके लिए कुछ स्वच्छन्द, व्यक्तिगत और लिरिकल भावनाएँ तृप्त कर लेना। पहले दृष्टिकोणने अवतारवादकी परिव्याप्ति की और दूसरेने भक्तिकी। अतः भक्ति और अवतारवाद सम्पूर्ण संस्कृतिके मध्यकालीनीकरणकी दो धुरियाँ हैं। वैष्णवोपासनाके रामवृत्तमें संन्यासके आदर्शोंकी अधिकता होनेके कारण अलौकिक-लौकिक दोनों प्रकारकी शृंगारिकताका अभाव है तथा केन्द्रापसारी शक्तिकी प्रमुखता होनेके कारण नैतिक मर्यादाओंका प्राचुर्य है। भक्तिने इसी जीवन तथा समाजको मधुर बनानेकी कोशिश की है, जब कि अवतारवादने इस जीवन तथा समाजवादको बदलनेके अलौकिक-पारलौकिक विश्वास दिये हैं। भक्तिने एक साधारणसे साधारण मनुष्य तकको 'भक्त' का दरजा दिया तथा अवतारवादने परब्रह्मको मानव बनाकर युग-युगमें अतिमनुष्यताके नये आदर्श दिये हैं। भक्तने अपने युगके घोर सामाजिक असन्तोषको प्रकट करनेके लिए उसे कलिकाल कहा तो भगवान्ने इस युगके सामाजिक असन्तोषको मिटानेके लिए लीलाएँ कीं। भक्त और भगवान्, भक्ति और लीला; की मैत्री हुई। फलतः एक भक्तके प्रेमके वशमें होकर, या उसका अनुरंजन करनेके लिए, या उसके एक बार नाम लेते ही नारायण अवतार ले लेते हैं। भक्त इस देहको धारण करते हुए भी 'मुक्त' है, इस लोकमें रहते हुए भी उस 'दिव्य लोक' का उपासक है। भक्तको केवल अनन्य तथा दैन्य भावसे बस पूर्णरूपेण समर्पण करना होता है कि उसे सायुज्य, सारूप्य, सामीप्य या सालोक्य मुक्ति मिल सकती है। उपासना क्षेत्रमें सभी वर्ण, तथा भक्त और भगवान्, दोनों समान हैं। इस प्रकार मध्यकालीन संस्कृतिमें व्यक्तिका महत्तम आदर्श भक्त हुआ, और भक्तिका चरम मूल्य प्रेम हुआ। भक्तिके सारे सम्बन्ध तथा उपासनाएँ समाजके सम्बन्धों और व्यक्ति-रागोंके कोमलतम तथा उदात्तीकृत व्यक्तिगत रागात्मक रूप हैं। इसीलिए भक्तिका मूल प्रेम भगवत्-प्रेम होकर 'प्रेमा' (नपुंसक लिंग) हुआ; और भक्तके भगवान्से दास, पति, प्रिय, सखी, सखा, पिता, माता आदिके 'इष्ट' सम्बन्ध क़ायम हुए। इस भाँति भक्तकी धारणाने सामाजिक असमानता, असहायता, असमर्थता, नीरसताको दूर करके मनुष्यके अन्तर्लोकको सुन्दर बनाया। लेकिन इसके साथ ही एक निषेध-पक्ष भी फैलता चला गया। भक्तने सामाजिक आस्था, जीवनके वास्तविक प्रश्नों, अपनी सामाजिक विषमता और राष्ट्रीय समस्याओंसे मुँह मोड़ लिया। उसने इस जगत्

और समाजको माया तथा कलिकाल कहकर इससे छुट्टी पा ली। इस तरह सामाजिक और लौकिक जीवन अधिक बिखरता चला गया, सामाजिक न्याय एवं परिवर्तनके लिए ललकारके घोष शान्त हो गये, चारों ओर निर्वेद, निवेदन तथा समर्पण ही स्वीकृत हो गया। अतः रूढ़िबद्धता मज़बूत होती गयी और सामाजिक निराशावाद छाता गया।

इसके पूरक अवतारवादने एक उत्तम-पुरुष, एक मर्यादा-पुरुष, एक लीला-पुरुषपर बल दिया। यह सामाजिक सम्बन्धों तथा आदर्श जीवनका उदात्तीकृत, समष्टिमूलक सक्रिय रूप है। अवतारमें व्यक्तिके स्थानपर आदर्श मनुष्य, कलिकालके स्थानपर आदर्श युग, तथा पतित समाजके स्थानपर दिव्यलोकको संरचना हुई है। अवतारवादमें असुर-संहारक, भू-उद्धारक तथा देव-रक्षक पराक्रम हैं; और इसकी अनुवर्तिनी लीलाएँ भी। यही नहीं, अवतार सामूहिक भी होते हैं: अर्थात् पूरा देवमण्डल विष्णुके साथ अवतरित होता है। ('मानस'में देवतागण वानरके रूपमें अवतरित होते हैं); अवतार अंशरूप भी होते हैं अर्थात् विष्णु रामरूपमें, लक्ष्मण शेषरूपमें, भरत शंखरूपमें तथा शत्रुघ्न सुदर्शनरूपमें आते हैं; अवतार अर्चारूपमें भी होते हैं अर्थात् ईश्वर रामरूपमें, सीता माया या प्रकृतिरूपमें और लक्ष्मण जीवरूपमें अवतरित होते हैं; अवतार पूर्णरूपमें भी होते हैं अर्थात् परब्रह्म राम ही अवतरित होते हैं; अवतार लीलारूपमें भी होते हैं अर्थात् विष्णु क्रीड़ाएँ भी करते हैं; अवतार आवेशरूप भी होते हैं अर्थात् भक्त कवि तुलसी वाल्मीकिके आवेशावतार हैं, इत्यादि-इत्यादि। इस तरह स्पष्ट रूपसे अवतारवाद समाज और जीवनके मंगलके लिए भी है तथा व्यक्ति और भक्तके लिए भी। तुलसीके समय तक अवतार-वादके प्रयोजन थोड़े अधिक हो गये थे। उनके अन्तर्गत भक्तके प्रेमके वशीभूत हो जाना, गौ और ब्राह्मणकी रक्षा करना भी शामिल हो गया था। अब अवतार केवल असुर-संहारक ही नहीं रहा, असुर-उद्धारक भी हो गया। असुर-उद्धारक प्रयोजन आदर्शवादको बल देता है जिसकी वजहसे तुलसीमें आशावाद तथा एक आध्यात्मिक मानवतावादके स्वर भी मिल गये हैं जिससे नैतिक मर्यादाएँ खण्डित होकर पुनः-पुनः सँवर गयी हैं। अवतारवादमें लीलाएँ पुनश्च मनुष्य और समाज-के स्थानपर व्यक्ति और भक्तको ला खड़ा करती हैं। रामवृत्त तथा कृष्णवृत्तने मर्यादोपासक तथा मधुरोपासक लीलाओंका गुन्थन किया है। कृष्ण-लीलाओंमें उच्छलित हृदय मात्र है, तो राम-लीलाओं (तुलसीने ही रामके अयनको लीलाओंमें अनूदित कर डाला) में नैतिक मर्यादाओंके साक्ष्य। लीला माया भी है और लीलाके लिए ही राम मानव हुए हैं। अतः अवतारी ब्रह्म राम और

लीलापुरुष राम साथ-साथ रहते हैं अर्थात् वे अवतारी और अवतार दोनों रूपोंमें सहभावसे हैं। लीलामें कोमलता और मधुरता (कृष्ण), तथा करुण और रौद्र (राम), दोनोंका सामंजस्य है। सब कुछ होते हुए भी लीलामें अवतारी राम वास्तविक जीवन नहीं जीते, बल्कि 'ललित लीला' या 'मनुष्य लीला' करते हैं। इस भाँति लीला वास्तविक चरित न होकर अभिनय, क्रीड़ा, या कौतुक हो जाती है। इसका प्रयोजन अवतारकी दृष्टिसे आनन्द और क्रीड़ा, तथा भक्तकी दृष्टिसे भगवान्का गुण-कीर्तन मात्र रह जाता है। लीला कपट मानुषी या नटवत् मानी गयी है। इस तरह लीलाका प्रयोजन भक्त-रक्षण तथा भक्त-मोक्षदान हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि अवतारमें लीलाके जुड़ जानेसे साहित्य तथा चरित्रके स्थानपर धर्म और कृत्रिम दिखावों (चरित्रकी दृष्टिसे)की प्रधानता हो जाती है। सारांशमें, भक्तके साथ भक्ति और प्रेम, तथा भगवान्के साथ अवतार और लीला जुड़े। रामवृत्तकी दृष्टिसे पहले रामकथा पूर्ण रामचरितके रूपमें विकसित हुई। दूसरे चरणमें (१०वीं से १२ वीं शती ई० पू०) यह विष्णुकी अवतार-लीलामें परिणत हुई। इसमें भक्ति और उपासनाका समावेश हो चला और १४ वीं शती तक राम विष्णुके अंशावतार न होकर परब्रह्म विष्णुके पूर्णावतार हो गये। अतः कथाका आरम्भिक मध्यकालीनीकरण हुआ। तीसरे चरणमें आकर राम स्वयं भी परब्रह्म हो जाते हैं और रामकथा विष्णुकी अवतार-लीला मात्र न रहकर भक्तवत्सल भगवान् रामके गुण-कथनमें परिणत हो जाती है।[1] इस भाँति अवतारी राम और लीलापुरुष राम अर्थात् नररूप ईश्वर और नटवत् अभिनेता ईश्वर दोनोंका समवाय हो गया। फलस्वरूप साहित्यिक दृष्टिकोणके स्थानपर धार्मिक वातावरण, संघर्षशील विराट् आदर्शोंके स्थानपर अनुरंजक लघु कीर्तन, स्वाभाविकताके स्थानपर अद्भुतकी प्रधानता हो गयी। यद्यपि मौजूद दोनों ही दृष्टियाँ रहीं। क्योंकि अवतारवादके उपरान्त लीलाका बाहुल्य हुआ इसलिए हम यह कह सकते हैं कि अवतारवादके असुर-संहारक लक्ष्यको लीलाके भक्तरंजनवाले प्रयोजनने काफ़ी वैयक्तिक बना दिया; अवतारवादके संघर्ष और कठोर साधनावाले पक्षको लीलाने अभिनय तथा क्रीड़ामें दरका दिया; तथा अवतारवादके लोक-उद्धारक आदर्शको लीलाने भक्त-मोक्षदानमें बाँधकर जनको समाज तथा जगत्के प्रति उदासीन कर दिया।

इस तरह 'अवतारवाद' तथा 'भक्ति', ये मध्यकालीनीकरणको दो महत्तम विशेषताएँ ठहरती हैं। रामकथा-वृत्तमें अवतारी राम और नटवत् राम, ईश्वर

---

१. 'रामकथा', फ़ादर कामिल बुल्के, पृ० ७४२–७४३।

और पुरुष राम, मानवों और निशाचरों, पशु-पक्षी और देवता, समुद्र और नदियों, अंशावतारों और राक्षस वंश, ऋषियों और वेश बदलनेवाले प्राणियोंके समावेशसे अलौकिक घटनाओं तथा आश्चर्यपूर्ण अद्भुत वृत्तान्तोंकी बहुलता हो गयी है। फलत: १. लगभग सभी प्रमुख और गौण कथा-प्रसंगोंकी व्याख्यामें कोई-न-कोई अलौकिक या अद्भुत परिवेश जोड़ा गया; २. विरोधी पात्रोंके सभी कार्योंमें किसी अद्भुत छलका दोहरा हेतु गूँथा गया; ३. सभी पात्रोंको यह ज्ञात करा दिया गया कि आगामी घटनाका परिणाम शापवश या वरदानवश या पूर्वजन्मके कारण-निर्देशवश पूर्वनिश्चित है तथा राम या विरोधी पात्र तो केवल लीला कर रहे हैं; ४. अनुचित माने जानेवाले सभी कार्योंको पूर्वजन्मकी किसी कथाके साथ जोड़कर उचित ठहराया गया; और ५. अवतारी राम या अंशावतारके सभी सहज मानव-सुलभ भावों तथा कार्योंको वास्तविक न बनाकर ललित नर-लीला क़रार दिया गया। अलौकिक और अद्भुत परिवेशके द्वारा ही कथाओं-को नया रूप तथा कथाकी विचारवस्तुको नया दृष्टिकोण दिया गया। इस नये दृष्टिकोणमें वरदान और शाप, पूर्वजन्मके कार्य और वर्तमान जन्ममें उनके योग-का सर्वाधिक उपयोग हुआ है। अत: शाप, वर और पूर्वजन्मके कारण-निर्देशोंको मिलाकर रामावतार, रामवनवास, सीताहरण, रामवियोग, रावणवध, सीता-त्यागके उन अप्रकट कारणोंका उद्घाटन किया गया जो पूर्वजन्ममें घटित हुए थे और जिनका सम्बन्ध प्रकट लीलासे नहीं है। इस तरह मध्यकालीनीकरणका अलौकिक पक्ष पूर्ण विकसित हो जाता है। इसमें अतिशयोक्तियोंकी स्वीकृति है। अत: देवता और मनुष्य, तथा तीनों काल घुलमिल गये हैं।

संन्यासपरक रामवृत्तके मध्यकालीनीकरणकी दूसरी विशेषता नैतिक मर्यादाकी कठोरता और अनुशासन-प्रियता है। तुलसीने तो एक भक्त तथा संन्यासीकी दृष्टिसे इस मर्यादाकी व्याख्याको 'वज्रादपि कठोराणि' बना दिया है। यहाँ वे समाजकी आचरणमूलक रचनामें एक युगद्रष्टाकी तरह व्यस्त हैं तथा सबसे पहले एक भक्त, फिर एक सन्त, तदुपरान्त एक साधारण आस्थावान् गृहस्थको अपना उपदेश-केन्द्र बनाकर रामकथाका पूरा नीतिशास्त्र और आच-रणशास्त्र लिखते हैं जिसका चरम मूल्य मर्यादा है। उन्होंने पुनरुत्थानवाद, उदारतावाद तथा समन्वयवादके मेलसे अपने मर्यादाके आदर्शका विशिष्ट मध्यकालीनीकरण किया है। इसी त्रिकोणपर वे अपने समाजको वाल्मीकि, स्वयम्भू, भवभूति आदिके कालसे अलग करके अपने समसामयिक बोध, अपने वैराग्यपूर्ण दृष्टिकोण, अपने व्यापक उदारतावाद तथा संकीर्ण रूढ़िवादका इस्तग़ासा पेश करते हैं। बहुधा नैतिक पुनरुत्थानवादके अन्तर्गत तत्कालकी

भर्त्सना होती है, अतीतके आदर्श लोक या धार्मिक दृष्टिसे दिव्य लोकके प्रारूप (मॉडल) खींचे जाते हैं, और आचरण-पालनमें कठोरताका ताप दहक उठता है जिससे व्यक्तिगत निर्णयोंको अपराध समझा जाता है। नैतिक पुनरुत्थानवादी सन्त तुलसीदास 'भले कुल जन्मा' रूढ़ि-संस्थापक ब्राह्मण संन्यासी हैं, उदारवादी तुलसी साधारण इनसान हैं तथा समन्वयवादी तुलसी 'भली भारत भूमि में भले समाज' के दार्शनिक हैं। पुनरुत्थानवादके अन्तर्गत तुलसी नानापुराणनिगमागम-सम्मत वर्णाश्रम-व्यवस्थाके पालनको ही युग-युगीन आचरण तथा निर्विकल्प आदर्श मानते हैं। उनके अनुसार जाति-संस्कारों, कर्मकाण्डों तथा वर्णाश्रम-धर्मका पालन ही श्रेष्ठ धर्मशील समाज, राज्य, राजा और प्रजाका लक्षण है। वर्णाश्रम-धर्मकी व्याख्याओंमें तुलसी बेहद अनुदार और रूढ़िवादी हो जाते हैं। वे जायसी, कुतबन, मंझन, कबीर और दादू-जैसे लोकमुखी कवियों तथा सन्तोंके तत्कालीन बोधसे भी बिलकुल कट जाते हैं। यहाँ तक कि नारी-निन्दाकी रूढ़िमें आस्था रखनेके कारण वे कृष्णवृत्तके अष्टछाप कवियोंके नारी-सम्बन्धी सहज प्रेमाकुल मधुर भावसे भी विच्छिन्न हो जाते हैं। वैराग्यकी दशाओंमें, तथा दार्शनिक मान्यताओंमें भक्तों तथा सन्तोंने नारीको व्यक्तिमंगलकी साधना अर्थात् मोक्षमें बाधक माना है; उसे मोह-माया और जगत्में बाँधनेवाला माना है; तथा उसे काम-क्रोध-मद-लोभका आधार माना है। तत्कालीन सामाजिक निराशाके प्रक्षेपणके लिए एक 'अबला' नारीसे अधिक सुपात्र इन वैरागियोंको कौन मिल सकता था। इसी भाँति पुरानी श्रेष्ठता और महत्ताको प्रमाणित करनेके लिए ब्राह्मणोंके शूद्रसे अधिक कौन कलंक झेल सकता था, क्योंकि नीच कहे जानेवाले निर्गुण सन्त ही वर्णाश्रम तथा पौराणिक पाखण्डोंको चुनौती दे रहे थे। तुलसीने एक ओर तो विप्रवंशकी निरपेक्ष्य श्रेष्ठता घोषित की और दूसरी ओर तत्काल विद्रोहोंको नज़रमें रखते हुए शील तथा गुणहीन ब्राह्मणको पूजनेका, और गुण-ज्ञान प्रवीण शूद्रको तिरस्कृत करनेका नैतिक न्याय दिया (?)। उन्होंने ब्राह्मणोंको भू-देव घोषित किया और उसकी रक्षाके लिए भी अवतार-हेतु जोड़कर एक बदलते हुए सम्बन्धका पुनरुत्थान किया। इसी तरह सन्त तुलसीने वैराग्य, विज्ञान, ज्ञान, सन्तोषकी विमलता प्राप्तिके लिए रामवृत्तमें आद्योपान्त जिस धार्मिक दृष्टिकोण तथा वातावरणकी रचना की उसने कुछ विशिष्ट नारियोंको छोड़कर सामान्य नारी-जातिकी निन्दा की। उन्होंने नारियोंको केवल व्यक्तिमंगलमें ही बाधक नहीं माना, बल्कि लोकमंगलकी साधनामें भी बन्धन मान लिया। उन्होंने नारी और माया (धोखा, छल, कपट), नारी और दुर्गुण (दुस्साहस, अनृत, चपलता, माया, भय,

अविवेक, अशौच, दयाहीनता ), नारी और जडता ( अज्ञानता, ताड़न ) को एकधर्मा बना दिया। वैरागी सन्त तो व्यक्तिके पतन और संसार-बन्धनमें ही नारीको मूल कारण मानते थे, तुलसीने लोकमंगलके भी क्षयके मूल कारणोंमें-से नारीको भी एक बना दिया। वीरगाथा-कालके रासो काव्यों तथा तत्कालीन समाजके भोग-विलासों, और अपने जीवनके रत्नावली-प्रसंगसे तुलसीने यह सीखा होगा जिसे उन्होंने बहुत दूर तक ग़लत ढंगसे लागू किया। इसीलिए वे कैकेयी और मन्दोदरी, सीता और तारा, शूर्पणखा और शबरी, त्रिजटा और मन्थरा, अनसूया और कौशल्याके बीच सामाजिक न्याय तथा क़ानूनी दर्शनकी दृष्टिसे अन्तर नहीं कर पाये। उन्होंने एक ही असंगत स्पष्टीकरण किया : कि सभी सम्बन्ध रामके नातेसे तय होने चाहिए। नारी-निन्दा केवल पात्रोंने ही नहीं, स्वयं सन्त तुलसीने भी की है। उन्होंने नारीकी चरम सार्थकता पतिव्रत, चरम सम्बन्ध पुरुषदासी और चरम अधर्म माया तथा अपावनता माना है। एक संन्यासीकी जीवन-दृष्टिसे नारी सम्बन्धी धारणाके मध्यकालीनीकरणका यह उत्कर्ष है जो शूरवीर-वृत्तकी नारीसम्बन्धी श्रृंगारिकतासे बिलकुल विपरीत है। नैतिक पुनरुत्थानवाद-का तीसरा पहलू आचरणमूलक है। यहाँ पात्रोंके पूर्ववर्ती स्वाभाविक चरित्रमें दुराव किया गया है तथा उन्हें शीलके निश्चित दायरोंमें बाँध दिया गया है। पात्रोंसे सम्बन्धित 'मर्यादा-विपरीत' प्रसंगोंकी या तो सूचनामात्र दे दी गयी है या फिर उनका विशुद्धीकरण किया गया है। पात्रोंसे उनकी स्वाभाविकताका हरण करनेमें यहाँ तुलसी नैतिक ही नहीं, 'अध्यात्म रामायण'का अनुकरण करके आध्यात्मिक भी हो गये हैं। इस दृष्टिकोणके कारण भी उन्हें एक ही घटनामें वास्तविकता तथा लीलाकी समानान्तरता गूँथनी पड़ी, तथा साथ-साथ जनताके सभी सन्देहोंका निराकरण करना पड़ा। इसी वजहसे सभी प्रधान और गौण कथाओंकी चरित्रकी दृष्टिके बजाय भक्तिकी दृष्टिसे पुन-र्व्याख्याकी ज़रूरत पड़ी। यही कारण है कि भक्तों, बद्धजीवों और मर्यादाजीवोंको लीलाकी तरह यह जगत् भी मायानटीका रंगमंच मानना पड़ा। सारांशमें वाल्मीकिके ऐतिहासिक चरित्रोंपर पौराणिक नैतिकता, आचरण-शिष्टता और भक्तकी दिव्य उपासनाको आरोपित किया गया। इन दृष्टिकोणोंके कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं। विवाहोपरान्त शिव-पार्वतीके सम्भोगका वर्णन करना मर्यादाप्रतिकूल है अतः तुलसीने 'करहिं बिबिध बिधि भोग बिलास' कहकर सूचना दे दी; जब विभीषण अशोक वनसे सीताको लाकर रामके हवाले करता है तब 'रामायण'के राम सीता-चरित्रपर सन्देह करते हैं और कई कटूक्तियाँ करते हैं किन्तु 'मानस'के राम 'कहे कछुक दुर्वाद'; स्वर्णमृग प्रसंगमें 'रामायण' सीता

लक्ष्मणपर चारित्रिक आरोप करती है किन्तु तुलसी 'मरम वचन सीता जब बोली' कहकर मर्यादा बाँध देते हैं; अयोध्या छोड़नेके बाद लक्ष्मण सुमन्तको सुनाते हुए दशरथ-चरित्रको धिक्कारते हैं किन्तु 'मानस'में 'कही लखन कछु अनुचित बानी' कहकर सूचनामात्र दे दी जाती है। इसी भाँति 'रामायण'का जयन्त सीताके स्तनोंपर चोंचसे प्रहार करता है किन्तु 'मानस'में इसका विशुद्धीकरण हो गया है और वह 'सीता चरन चोंच हति भागा'; शुद्ध करुणा, वीरता, शृंगार आदिके प्रसंगोंको हटाकर या संक्षिप्त करके उनके स्थानपर भक्ति-साधक प्रसंग जोड़े गये हैं या उनकी परिणति भक्ति रसमें कर दी गयी है। विशुद्धीकरणकी इसी कड़ीमें रामके सम्पर्कमें आनेवाले, रामसे बैर करके उनके द्वारा मारे जानेवाले, रामकी सेवा करनेवाले, रावणपक्षके सभी पात्रादि भी पहलेसे ही रामके अवतार और अपनी गतिको पहचानते हैं। इसीलिए वे लीला करते, या लीलाका गुण-कीर्तन करते, अथवा अवसर पाते ही परब्रह्म रामकी स्तुति करते हैं। फलस्वरूप सन्तों और मुनियोंके चरित्रमें तो घोर एकरसता आ गयी है। रामकथाकी कुछ आध्यात्मिक व्याख्याएँ भी भक्ति भावके कारण ही हुईं। यह माना गया कि मोक्ष-प्राप्तिके लिए ही रावणने सीताका अपहरण किया था, तथा अन्य राक्षसोंने भी इसी तरह पूर्वजन्मके शापोंसे मुक्त होने तथा मोक्ष पानेके लिए रामका विरोध किया था। रामके नारायणत्वपर जहाँ कहीं भी आँच आ सकती थी ( और ब्रह्मका साक्षात् विरोधी होना तो एक प्रबल प्रश्न था ), उन सारे प्रसंगोंको पूर्वजन्मके कारण-निर्देशों या शापोंके फलसे जोड़कर आध्यात्मिक बना दिया गया। भक्त तथा सन्त, अध्यात्मरामायणकार तथा रामचरितमानसकार, की दृष्टिसे यह अनुचित तथा असम्भव, अनैतिक तथा असह्य था कि जगज्जननी सीता रावणके द्वारा हरी गयी हो। इसलिए उन्होंने यह नयी व्याख्या की कि हरण वास्तविक सीताका नहीं, छाया-सीताका हुआ। लंका-विजयपर अग्नि-परीक्षाके बाद छाया-सीता भस्म हो गयी तथा अग्निने शरीर धारण कर वास्तविक सीताको हाथ पकड़कर रामको समर्पित किया (मानस ३।२३।१; ६।१०८।छं० १, २) इस भाँति रामकी लीलाएँ प्रकट और अप्रकट, दोनों प्रकार हैं। एक तथ्यपर और ध्यान देना चाहिए कि राम-प्रभावकी परिणति वैराग्योदय या मोक्ष-प्राप्तिकी आकांक्षामें होती है।

मर्यादाकी दूसरी विशेषता उदारतावाद है। यह मुख्यतः उपासनाके क्षेत्रमें समानताकी घोषणा करती है किन्तु व्यावहारिक जीवनमें नहीं। यह सगुण भक्तोंका जबरदस्त अन्तर्विरोध है जिसकी ओर आचार्य शुक्लने भी इशारा किया था। इस उदारतावादको हम आध्यात्मिक मानवतावाद कह सकते हैं

क्योंकि तुलसीका अद्वैतवाद यहाँ केन्द्रीभूत हुआ है। ब्रह्म और जीव 'सहज संघाती' हैं क्योंकि जीव ब्रह्मका अंश है 'ईश्वर अंश जीव अविनासी। चेतन, अमल, सहज, सुखरासी ॥' इसलिए वह अमल चेतन, सुखराशि होता है। माया लीलासे जीवांशोंपर बन्धन पड़ जाते हैं तथा भक्ति (–लीला) से वे बन्धन कट जाते हैं। इस भाँति वे संसारको माया बना देते हैं जिसमें सभी वर्णोंके लोग फँसे हैं; और ब्रह्मको सत्य बना देते हैं जिसमें सभी वर्णके जीव समान हैं। यह एक सामाजिक विरोधाभास है कि एक ओर तुलसी समाजमें वर्णाश्रम भेदको आदर्श बताते हैं तो दूसरी ओर परलोकके समाजमें सभीको समान पद दे देते हैं। इसलिए राम अछूत निषादको गले लगानेवाले तथा भीलनीके जूठे बैर खानेवाले हैं। किन्तु वर्णाश्रम संस्थापक राम शम्बूक-जैसे वेदपाठी शूद्रों या साधारण निर्गुण भक्त-जैसे शूद्रोंका वध करनेवाले भी हैं। वे मानव देहको शरीरोंमें सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, जो बड़े भाग्यसे प्राप्त होती है ( मानस, ७।४२।४ )। यह मानव शरीर देवताओंको भी दुर्लभ है। इस शरीरको धारण करके जो दूसरोंको पीड़ाएँ देते हैं उन्हें बार-बार संसारमें जन्म-मृत्युके चक्रमें फँसकर पीड़ा सहनी पड़ती है। यदि मोहवश होकर मनुष्य इस शरीरके लिए अनेक पाप करता है तब उसका परलोक नष्ट हो जाता है। तुलसीके उदारतावादके ये धनात्मक पक्ष हैं। किन्तु इसीके साथ-साथ वे मध्यकालीन संकीर्णताको भी आस्था-बिम्बित कर उठते हैं। राम काकभुशुण्डिसे कहते हैं कि मेरे द्वारा उत्पन्न किये गये जीवोंमें मनुष्य मुझे सबसे अधिक भाते हैं, लेकिन उन मनुष्योंमें भी द्विज, द्विजोंमें भी श्रुतिधारी द्विज, श्रुतिधारी द्विजोंमें भी वेदधर्मका पालन करनेवाले, उनमें भी क्रमशः वैराग्यवान, ज्ञानी, विज्ञानी, और अन्ततः दास मुझे सर्वप्रिय हैं ( मानस ७।८५।२-४ )। स्पष्ट है कि तुलसी ब्राह्मणके जीवांशको अन्य जीवांशोंसे कुछ श्रेष्ठ बताते हैं। इसके बाद वे पूर्णतः आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रस्तुत कर देते हैं। वे इस मानव शरीरकी चरितार्थता इस जगत्को सँवारनेमें न मानकर परलोकको सँवारनेमें मानते हैं। मानव शरीर अलौकिक, पारलौकिक सिद्धियोंका साधन-धाममात्र रह जाता है। मानव शरीरके सहज धर्म तथा सामाजिक जागरूकता भी भवबन्धन बन जाते हैं। निर्वेद और वैराग्य मनुष्यके चरम आदर्श बन जाते हैं। सारांशमें संन्यास-चक्र पूरा घूम जाता है : विषयसे निर्वेद तक, निर्वेदसे वैराग्य तक, वैराग्यसे परलोक तक। इसी उदारतावादके चलते तुलसी दृढ़तापूर्वक यह भी प्रतिपादित करते हैं कि ईश्वरके सामने पूर्ण समर्पण कर देनेपर, और अपना पाप स्वीकार कर लेनेपर मनुष्य निर्मल हो जाता है; रामभक्ति करने, रामनाम लेने या राम-स्मरण करनेसे ही मनुष्यकी मुक्ति हो

जाती है; रामके हाथों मारे जानेपर बैरीको भी परमपद मिल जाता है; ईश्वर नर, वानर, राक्षस, पक्षी, पशु सभीकी भक्ति स्वीकार करता है, आदि-आदि। इस भाँति भक्त और नास्तिक, मित्र और शत्रु, सेवक और खलनायक 'सभी' ब्रह्मके जीवांश होनेके कारण अन्ततोगत्वा भक्ति और मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। मध्ययुगके भक्ति-आन्दोलनने एक ओर तो भक्त ( व्यक्ति ) तथा भगवान्‌के व्यक्तिगत सम्बन्ध क़ायम किये और दूसरी ओर भक्त तथा भगवान्‌को समान भी बताया। इन दोनोंके सम्बन्धोंका यह आधार मानवतावादी है क्योंकि भगवान् भी मनुष्य रूपमें, असुरोंका दलन करनेके लिए अवतरित होता है। इस भाँति मनुष्यरूप भक्तका ईश्वरत्वमें उद्धार हुआ; और भगवान्‌का मानवत्वमें अवतार हुआ। इस सम्बन्धकी मूल भावना तत्कालीन सामाजिक विषमता या सत्ताका आतंक न होकर प्रेम (–प्रेमा ) हुई। अतः भक्तकी परम सिद्धि एवं साधना मोक्षसे अधिक प्रिय भगवान्‌के साथ लीला हो गयी। इस भाँति हम देखते हैं कि सामन्तीय ढाँचेकी वास्तविक समाज-रचनाकी क्रूरताके कारण मध्ययुगीन उदारतावादमें एक धार्मिक द्वैत बरक़रार रहा। व्यवहारमें तो लोकमर्यादा ( सत्ययुग, त्रेता, द्वापर तककी धार्मिक शिष्टताएँ ) और वर्णाश्रम ही सर्वोच्च रहे, लेकिन उपासनामें इनका अनुशासन नामंज़ूर हुआ। युगका यह विरोधाभास तुलसीमें भी प्रतिबिम्बित हुआ।

समन्वयवाद मध्यकालीनीकरणका एक अन्य परिचालन है। इसके लिए जो सांस्कृतिक, दार्शनिक, सामाजिक तथा राजनैतिक भूमिकाएँ तैयार होती हैं उनकी प्रेरणा संस्कृतियोंका अन्तरावलम्बन हुआ करती है। जब विचारोंको तत्कालमें विज्ञापित किया जाता है; जब एक जीवन-दर्शनको जीवन-व्यवहार बनानेके लिए व्यापक जनसमूहमें उसका प्रसार किया जाता है; जब विभिन्न समूहोंकी नाना आस्थाओं तथा अन्धविश्वासों, रूढ़ियों और सामूहिक अवचेतनका आघाती खण्डन न करके उनके उदात्तीकरणका अधिक आग्रह किया जाता है; जब अपेक्षाकृत उदार सामाजिक व्यवस्थामें एक विशेष ढंगके मूल्य अधूरे, पुराने या अकेले पड़ जाते हैं और उन्हें पूरा, समसामयिक तथा संश्लिष्ट बनानेके लिए तत्कालीन समाजके सम्बन्धों-द्वारा प्रतिबिम्बित थोड़े दूसरे मूल्य भी सुन्दर अथवा उग्र बनाकर जोड़ दिये जाते हैं—तब, समन्वय होता है। बहुधा समन्वयमें एक क्रान्तधर्मी पक्षधरता, एक प्रतिबद्धता ( कमिटमेण्ट ), एक सुस्पष्ट दार्शनिक सूत्रबद्धताके बजाय सभी परम्पराओंकी शक्तियोंका आन्दोलनकारी संग्रह हुआ करता है। समन्वयवादके कई प्रयोजन हो सकते हैं। यह एक स्थितिके अकेलेपनको तत्कालकी इतिहास-प्रक्रियामें संजीवित करता है, या एक

दर्शनकी एकांगिताको विभिन्न दृष्टियोंसे संवर्धित करता है, या एक जीवनके अधूरेपनको समाजके अन्य पहलुओंसे जोड़ कर सम्पूर्ण करता है अथवा बासी हो चुके प्रतिमानोंमें कुछ जमा-बाक़ी करके उनके शाश्वत एवं सार्वजनीन होनेका मिथ्या दावा करता है। समन्वयमें व्यापकता और विविधता, भ्रान्ति और अन्तर्विरोधोंका समाहार होता है। विश्वके मध्यकालोंमें जब दो या अनेक असमान संस्कृतियोंका संगम हुआ है तब उनके समन्वयसे एक अधिक समृद्ध, सर्वांगीण, मूर्त्त एवं प्राचीन-नवीन संस्कृति ढलती है। मध्यकालमें इस समन्वयके दो कारण हुआ करते हैं : युद्ध और बरबादीके बाद विभिन्न संस्कृतियोंवाली विजेता तथा पराजित जातियोंका सम्मिलन; तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-द्वारा इनका संचरण। मध्यकालमें एकांगी जीवन, दुहरी नैतिकता, सामाजिक विषमता, तथा तत्कालीन परिस्थितियोंकी सच्ची या झूठी सभी प्रकारकी स्थितियोंकी व्याख्या अवश्य होती है। इस व्याख्यांके लिए विचारधारात्मक मोड़ या घुमाव ( आइडियॅलॉजिकल ट्विस्ट ) देना ज़रूरी है। इस मोड़के लिए बहुधा पुरानी जीवन-संरचनाओं और आध्यात्मिक आदर्शोंको ही साक्ष्यके रूपमें प्रस्तुत किया जाता है। इस भाँति एक लम्बे समय तक बहुमत सामाजिक समूहोंके अन्तर्विरोधोंका निराकरण नहीं हो पाता। पुनः विचारधारात्मक मोड़ आते हैं, और पुनः उन्हीं साक्ष्योंकी दुहाई दी जाती है। इस तरह तर्क और वास्तविकता, इतिहास और सत्यसे दूर चले जानेकी पलायनवादी, काल्पनिक, रहस्यवादी, निराशावादी वृत्तियाँ जकड़ती चली जाती हैं। समाज अज्ञान तथा निराशाकी अँधियारीमें डूबता चला जाता है; परलोक और दिव्य – लोककी अधिक परवाह की जाती है। भारतकी मुसलिम मध्यकालीन संस्कृतिमें सामाजिक एवं राजनैतिक समन्वय कबीर एवं अकबरने, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक समन्वय तुलसी और कबीर एवं जायसीने किया है। कट्टर तुलसी हिन्दू-मुसलमानों और सवर्णों-शूद्रोंके बीच तो (जायसी, कबीर तथा अकबरकी तरह) समन्वयकी गहरी दृष्टि नहीं प्रस्फुटित कर सके; लेकिन हिन्दुओंके दो सर्वाधिक शक्तिशाली धार्मिक समुदायों ( शैव और वैष्णव ), असंख्य कट्टर सम्प्रदायों ( शाक्त, कौल, नाथ, सिद्ध, योगी, अवधूत आदि ), दो दार्शनिक दृष्टियों ( अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत ), दो आध्यात्मिक दृष्टिकोणों (निर्गुण और सगुण), दो उपासना मार्गों (ज्ञान एवं भक्ति ) आदिमें काफ़ी दूर तक आस्थामूलक समन्वय करते हैं। शायद इस वजहसे भी सामन्तीय समाजके बहुविध भारतीय लोकचित्तपर क्रान्तिद्रष्टा कबीरकी अपेक्षा मर्यादावादी तुलसीका प्रभाव अगली शताब्दियोंमें क्रमशः बढ़ता रहा – जब तक कि सामन्तीय संस्कार समाजपर हावी रहे। तुलसी गुरु-शिष्य-

की परम्परावाले सम्प्रदाय, प्रस्थानत्रयीसे समर्थित साधना-मार्ग, और नाना-पुराणनिगमागम सम्मत जीवन-व्यवहारके धार्मिक-सामाजिक-भक्तकवि हैं। पर-वर्ती रामकथाओंपर शैव प्रभाव बढ़ने लगा था जो तुलसीमें उत्कर्ष तक पहुँच गया। तुलसीने रामकी शिवभक्ति तथा शिवकी रामभक्तिके बीच साधन-साध्य सम्बन्ध स्थापित किया। कालिदासकी तरह तुलसी शिवको विश्वास और पार्वती-को श्रद्धाका रूप बताते हुए इन्हें भक्तिमार्गमें गुरुका स्थान देते हैं। शिव स्वयं भी एक दैवी पारमार्थिक सत्ताके रूपमें स्वीकृत हुए हैं और दैवी पारमार्थिक सत्ता रामके एक प्रकट रूप-मात्र भी हैं : राम शिवलिंगकी स्थापना करते समय कहते हैं कि जो शंकर-विमुख होकर मेरी भक्ति चाहता है वह मूढ़, नारकीय और मन्दगतिवाला है; शंकर-द्रोही मेरा दास नहीं हो सकता; शंकर-भजनके बिना अयोध्यानिवासियोंको मेरी भक्ति नहीं मिलेगी। इसीके साथ शिव और ब्रह्मा रामके भक्त हैं ( विनयपत्रिका, ६१ ) और लक्ष्मीरूपा सीताकी कृपा चाहते हैं (वही, ६३ )। शिव सिय-पी रामके सेवक और सखा हैं। 'मानस' के परशुराम, विभीषण आदि शिवभक्त तथा रामभक्त दोनों हैं, रावण प्रकट रूपमें केवल शिवभक्त है, रामके सेवक हनुमान शिव या रुद्रके अवतार हैं तथा पूरा 'मानस' उमा-महेश्वर संवादके रूपमें शिवकी रामभक्तिका चित्रण है। अन्तमें तुलसी राम और शिवमें अभेद स्थापित करते हुए शिवको राम-रूपी रुद्र भी कहते हैं ( विनयपत्रिका, ११ )। शिवको गुरुमें मानकर भक्तजन, और स्वयं तुलसी ( गुरुं शंकररूपिणम् : बालकाण्ड, श्लो० ३ ) भी, उनकी कृपासे राम-भक्तिके गुप्त भेद जान जाते हैं। अतः पुराणोंके त्रिदेव शिव, आगमोंके योगी शिव और 'मानस' के वैष्णव शिव समन्वयका त्रित्व रचते हैं। निर्गुण-सगुणका द्वन्द्व भारतीय मध्यकालमें इहलोक तथा परलोकके सम्बन्धोंका अन्वेषण है। सगुण दृष्टिने इस जगत्के समाज तथा परिवारको ब्राह्म-परिवार ( कॉस्मिक फ़ैमिली ) का 'प्रतिबिम्ब' माना, तथा उसके 'अनुकरण' को सर्वश्रेष्ठ मानव समाजके रूपमें अभिषिक्त किया। प्रतिबिम्बमें आभास, मिथ्यात्व और भंगुरताका होना समी-चीन है; तथा अनुकरणमें परिपाटी-पालन, सार्वजनीनता और मूर्तताका होना अभिलषित है। इस भाँति सगुण ब्रह्म इस संसारकी अव्यवस्था (फेऑस) को दिव्य व्यवस्था ( कॉस्मॅस ) में रूपान्तरित करता है और इसलिए वह अवतार लेता है; मनुष्य बनता है; मनुष्यकी तरह रागों और गुणोंसे चरित्र रचता है; मनुष्यकी तरह राजा, पिता, पति, सखा, प्रिय आदिके वैयक्तिक एवं सामाजिक सम्बन्धोंको परिनिष्ठित करता है; और मनुष्यकी तरह ही जन्म-मरणके चक्रमें घूमता है। इस भाँति सगुण दृष्टिने दिव्यलोक तथा पृथ्वीलोकको मानव-सम्बन्धोंसे अनुस्यूत

कर दिया। लेकिन सगुण अवतार आखिरकार है तो ब्रह्म : परमात्मा, व्यापक ब्रह्म, परमेश्वर भी। अतः वह पूर्णतः इस लोकका नहीं बन सकता। वह इस जगत्में आता तो है किन्तु नटकी तरह, लीला करने, भक्तोंका अनुरंजन करने, समाजकी अव्यवस्थाका ख़ात्मा करने। अतः वह इस जगत्को अन्ततोगत्वा अपनी माया और क्रीड़ा ही बनाये रखता है। प्रतिबिम्बित जगत् भ्रम बना ही रहता है। सगुण दृष्टिका यह अन्तर्विरोध युगकी ही अधिकारिक विश्वास-दृष्टि है। लेकिन सगुण दृष्टिने परब्रह्मका प्रजातान्त्रिकीकरण किया। सगुण ब्रह्म सुर-हित और भूसुर-हित तो अवतरित होता ही है, वह किसानोंकी धरती और साधारण भक्तोंके लिए भी अवतार लेता है। वह ज्ञान और योगकी दुरूह तथा दुर्लभ क्रियाओंकी अपेक्षा भक्ति और प्रेम भावसे तुरन्त 'सभी' को मिल जाता है। वह लीलाधारी है और परमार्थरूप है। किन्तु सगुण ब्रह्म इस दुनियाका देवता, मानुषी देवता तथा इष्ट देवता है। अतः वह लौकिक संस्कारों, कर्मकाण्डों, रूढ़ियों और बाह्य प्रपंचोंके इन्द्रजालसे छूट नहीं पाता। परब्रह्मका इसके विपरीत और समानान्तर रूप है : निर्गुण अपने सगुण रूपके प्रवृत्ति-मूलक तथा विधेयसूचक स्वरूपकी अपेक्षा वह अपने निर्गुण स्वरूपमें निषेध-सूचकोंका पुंज ( निर्गुण, निरंजन, अरूप, अनाम, अव्यक्त, अजन्मा ) तथा निवृत्तिमूलक कार्योंका अधिष्ठाता है। यह निर्गुण मनुष्य-रूप नहीं है, इसके मानवीय सम्बन्ध नहीं हैं, यह सर्वव्यापक सर्वज्ञाता तो है किन्तु इस लोकके जीवन और समाजमें सक्रिय एवं सम्मूर्त भाग नहीं लेता। यह निराकार रहता है : केवल मायामें परदेके पीछेका सूत्रधार। यह नटकी तरह लीला नहीं कर सकता। यह भक्तोंको नहीं, अपितु योगियों-ज्ञानियोंको ही बड़ी तपस्याके बाद मिलता है। यह प्राकृत जनों, गृहस्थों, ग्रामजनोंकी पहुँचके बाहर है। इसे केवल ऋषि ही पा सकते हैं। यह इस दुनियाँमें नहीं आता, जीवन और जगत्से एकरूप नहीं होता; केवल आत्माओंको ही अपनेमें तिरोभूत-उद्भूत करता है। वह रागों तथा गुणोंसे विरहित एक अनन्त रहस्यमय निर्वैयक्तिक धारणा है जहाँ ज्ञान भी पराजित हो जाता है, जहाँ केवल ब्रह्मज्ञान ही मददगार होता है। सगुण लोकमुखी मूर्त धारणा है, निर्गुण रहस्य-समाधिकी अमूर्त धारणा। सूरने निर्गुण-सगुण संघर्षमें पक्षधर होकर 'भ्रमरगीत' के माध्यमसे मोरचा लिया है, नन्ददासने दार्शनिक धरातलपर इस संघर्षको तेज़ किया है, तथा तुलसीने लोक-मंगलके उद्देश्यसे इस संघर्षको समाप्त करके समन्वय कर डाला है, 'श्रीकृष्णगीतावली' (छन्द ३८-५१) में तो तुलसी गोपियोंके मुखसे निर्गुणपर व्यंग्य करते हैं, 'गीतावली' में ग्राम-वनिताओंके मुग्ध नयनोंसे सगुणकी प्रेमाभक्ति और विरह आदिका निरूपण

करते हैं ( छन्द १६-४२ ), तथा 'मानस' में दोनोंको अभिन्न बना देते हैं। इस अभिन्नताका प्रमाण मुनि, पुराण, पण्डित और वेद चारों देते हैं। पानी और ओलेकी तरहसे दोनों एक ही हैं ( मानस, १।११५, १-२ )। तुलसीकी यह अपनी विशेषता है। इसी भाँति निर्गुण परम्पराके कबीर भी भक्ति-रसको ग्रहण कर रामसे बहुरिया, पुत्र और सखा सम्बन्ध स्थापित कर ही लेते हैं। 'कृष्ण-गीतावली' में 'अष्टछाप' के कवियोंकी भाँति तुलसी भी सगुणको प्राकृत, ग्राम्यजनोंके लिए सुलभ करते हैं। उनके अनुसार निर्गुण-साधना मानो आकाशमें खोदे गये कुँएके जलसे स्नान है, बुद्धि-रूपी मटकीमें मृगतृष्णाजलको घृतके लिए मथनेकी तरह है, धानकी भूसी-जैसी है, आनन्द नहीं केवल कल्पना है, और सूक्ष्म साड़ीकी भाँति है जिसे ग्राम्य वनिताएँ नहीं केवल नागरी नारियाँ ही पहन सकती हैं। ( यह सूक्ष्म साड़ी कबीरकी झीनी चदरिया है )। 'मानस' में आकर वे ब्रह्मके दोनों रूपोंका समन्वय कर देते हैं। वेदोक्त राम ही कोशलपति हो जाते हैं। वे निर्गुण होकर भी गुणराशि हैं तथा निर्गुण-सगुण हैं ( दोनों रूपोंमें एक साथ )। इनके सगुण चरित्रका पूरा-पूरा रहस्य ज्ञात नहीं होता। इसीलिए पार्वती, गरुड़, भरद्वाज प्रश्नाकुल हो उठते हैं और इसीलिए निषाद, शबरी, हनुमान, जामवन्त, भोली ग्राम-युवतियाँ इन्हें पहचान भी लेती हैं। ब्रह्म 'भक्तके प्रेम' के वश, या 'भक्तके लिए, या 'भक्तिवश' अथवा 'प्रेमवश' सगुण हो जाता है। हाँ वह अनेक परमपावन चरित्र करता है। ये उसकी मोहविहीन नरलीलाएँ हैं—अभिनयकी भाँति, जहाँ नट सभीका अभिनय करके भी स्वयं पात्र नहीं हो जाता। वह लीलाके गुण और दोषोंसे पूर्ण नटवत् होता है। इसीलिए इस भ्रमपूर्ण ( प्रतिबिम्ब ) जगत्में भी अजन्मा, निर्गुण, अगोचर ब्रह्म ही राम हैं, राम ही दशरथपुत्र हैं, राजपुत्र राम ही ब्रह्म हैं, तथा स्त्रीविरहमें दशरथपुत्र ब्रह्म राम ही मतवाले होकर आर्तविलाप कर उठते हैं ( मानस, १।१०७।४ )। ये राम पहले भक्तोंके लिए 'राजा'का शरीर धारण करते हैं और फिर 'प्राकृत' अर्थात् साधारण मनुष्योंकी तरह चरित करते हैं। इस तरह राजा लोकचित्त रूपका प्रतीक पा जाता है। राजकुमार राम साधारण वनवासी मनुष्य होते हैं, फिर साधारण प्राणियोंके नेता होते हैं, और अन्तमें लोकचित्तके अधिष्ठातृ राजा होते हैं। सारांश यह है कि निर्गुण धारणामें ब्रह्म कालके अक्षसे त्रिकाल-मुक्त होकर कालातीत हो जाता है और देशके अक्षमें अमूर्त तथा मुक्त। सगुण धारणामें वह देश (स्पेस) में स्थित होकर पवित्र भूमिमें अवतार लेता है तथा काल ( टाइम ) अक्षके अन्तर्गत प्रत्येक युगमें विशिष्ट विकास-प्रतीकात्मक अवतार-स्वरूप धारण करता है। अतः काल-देशके सान्त-अनन्त सम्बन्ध स्थापित

हो जाते हैं।

भक्ति और ज्ञानका सम्बन्ध सत्यको पीनेके लिए व्यक्ति-द्वारा ( समाज-द्वारा नहीं ) जीवनकी दिशा चुननेसे है। तीसरे कर्ममार्गको इन मध्ययुगीन भक्तों-सन्तोंने अपेक्षित सामाजिक महत्ता नहीं दी। उस युगमें संघर्ष, क्रान्ति, शासन आदिके मार्गोंमें लोककी पहलक़दमी नहींके बराबर थी। ज्ञान और भक्तिके मार्ग ही सम्भव थे। इनकी भी सीमाएँ थीं। ज्ञान ब्रह्मज्ञानमें परिणत होता था और भक्ति प्रेममें। तार्किक 'कुशाखाओं' को बढ़ाना खल या नास्तिकोंका पेशा माना जाता था। ज्ञान और भक्ति दोनोंमें बुद्धिसे अधिक इलहाम, शंकासे अधिक विश्वास और स्वीकृति थी। ज्ञान और भक्ति दोनोंके लिए सांसारिक साक्ष्योंके बजाय पुराण, वेद, मुनि, सन्त और पण्डितके आप्तवाक्य अन्तिम माने जाते थे। जो इन्हें अस्वीकार करता था वह अविद्या, अज्ञान, भ्रम या मायाके प्रभावमें माना जाता था। उसे लोकचित्त और परम्परासे बहिष्कृत-सा कर दिया जाता था। इन सीमाओंमें भक्ति और ज्ञानकी श्रेणियाँ ( कैटेगॅरीज़ ) निर्मित हुई थीं। भक्तिको सगुण ब्रह्म तथा जीवन एवं समाजकी प्रवृत्तिसे, और ज्ञानको निर्गुण ब्रह्म तथा जीवन और समाजकी निवृत्तिसे संलग्न किया गया। तुलसीको यहाँ भी समन्वय करना पड़ा। उन्होंने भक्ति और ज्ञानमें कुछ भेद नहीं माना। दोनों ही संसारसे खेदका हरण करते हैं किन्तु भक्ति अधिक 'सरल' और 'उपादेय' है। ज्ञान, वैराग्य, योग, विज्ञान आदि पुरुष हैं; अतः प्रबल हैं। भक्ति और माया स्त्रीवर्गकी हैं। रघुवीरको भक्ति प्रिय ही नहीं, प्रिया है। माया केवल खल नर्तकी है। रघुनाथ भक्तिके सानुकूल हैं; अतः माया डरती है। तो, रूपकके द्वारा तुलसीने ज्ञानको प्रबल तथा पुरुष, और भक्तिको मधुर तथा स्त्री माना। ज्ञानमार्ग दुर्गम है तथा उसका साथ कठिन है। लेकिन भक्तिमार्ग इहलोक-परलोक दोनोंके लिए है, तथा वह सुखद एवं सुलभ है। भक्ति बालतन है। अतः उसमें रक्षाका भाव है। ज्ञान प्रौढ़तन है। अतः उसमें तेज है। भक्तिके प्रेमानन्दका माधुर्य अपूर्व होता है। यह प्रीतिके बिना नहीं होती ( और प्रीति ज्ञानके बादकी अवस्था है )। इससे राम 'तुरन्त' द्रवित होते हैं जिससे यह भक्तोंको सुखदायी हैं। माया-वेधनमें भक्ति स्वयंप्रकाश्य मणि-की तरह है, जब कि ज्ञान सचेष्ट दीपककी भाँति है। इस तरह भक्ति भावना, रक्षा, लोकहित, प्रेम, श्रद्धा-विश्वास आदि मूल्योंसे गूँथ दी गयी है। 'मानस'में इसीलिए मुनि और योगी और ज्ञानी भी रामकी भक्ति ही करते हैं।

तुलसीके समन्वयकी अन्तिम परिणति अद्वैतवादसे विशिष्टाद्वैतवादके प्रवर्तनमें होती है। यह उनके विशिष्ट मध्यकालीनीकरणकी आख़िरी धुरी है। तुलसी

स्मार्त होनेके कारण सेवक-सेव्य भावके, तथा श्री सम्प्रदायके रामानुजकी शिष्य-परम्पराके होनेके कारण विशिष्टाद्वैतवादके समर्थक हैं। यह दर्शनका क्षेत्र है। यहाँ शंकर, रामानुज, रामानन्द और तुलसीके ( अप्रौढ़ ) सिद्धान्तोंका चतुर्व्यूह क़ायम हो जाता है। अद्वैतवादकी भूमि एक चिन्तककी है तथा विशिष्टाद्वैतवादकी भूमि एक कविकी। शंकर और रामानुजके सिद्धान्तोंकी तुलना करनेपर हम पाते हैं कि अद्वैतवादी शंकर ब्रह्मके अलावा अन्य पदार्थको नहीं मानते। उनका ब्रह्म अखण्ड तथा त्रिविध जातिभेदोंसे शून्य है। रामानुज ब्रह्मको अद्वितीय तो मानते हैं किन्तु अंशरहित न मानकर अंशसहित। वे उसमें स्वगत जातिभेदकी सत्ता स्वीकार करते हैं क्योंकि उसके भीतर स्थित जगत् और जीव उससे उसी प्रकार भिन्न हैं जिस तरह 'नीले आकाश'में 'नीला' स्वयं आकाश नहीं है बल्कि 'आकाश'से भिन्न धर्म है। 'आकाश' विशेष्य तथा 'नीला' विशेषण है। अतः इसी भेदके कारण जीव उपासक हो सकता है, तथा ब्रह्म उपास्य। शंकर ब्रह्मको निर्गुण और निर्विशेष मानते हैं, जब कि रामानुज उसे सगुण तथा सविशेष मानते हैं; जिसकी वजहसे वह दया, आनन्द आदि विशेषणोंका मूल कोश होता है। शंकर अभेद भावमें ही मुक्ति मानते हैं। रामानुज भगवान् तथा जीवके बीच शेषशेषिभाव मानते हैं। शंकरसे इन मतभेदोंकी स्थापनाके बाद रामानुजका विशिष्टाद्वैत कुछ स्पष्ट हो जाता है। 'नीला आकाश'के विशेषण-विशेष्य सम्बन्धकी तरह ही 'सगुण ईश्वर' होता है। ईश्वर ( विशेष्य )के दो विशेषण हैं : चित् तथा अचित्। चित् जीवका आभ्यन्तरिक भाव-रूप है, और अचित् जीवके द्वारा अनुभूत सुख-दुःखपूर्ण जगत्। अतः जड़ जगत् और चेतन जीव दोनों शाश्वत सत्य हैं। ईश्वर जगत्का कार्यरूप तथा कारण रूप दोनों है। अतः वह सगुण रहता हुआ भी निर्गुण है। उसकी यह सगुणता-निर्गुणता नित्य रूपमें उसके साथ निवास करती है। यूँ तो अपनी अनन्तव्यापिनी शक्तिके कारण विष्णु 'अद्वैत' हैं, लेकिन जब वे सगुण अवतारोंमें अवतरित होते हैं तब 'विशिष्ट' हो जाते हैं। उनमें सगुणता-निर्गुणता शाश्वत रूपसे विराजती है। यही 'विशिष्टाद्वैत' है। तुलसीने इसीको 'निर्गुण-सगुण' कहलाया है। जनक, सुतीक्ष्ण, सनकादि, जामवन्त आदिके मुखसे इस क्रममें उन्होंने सेवक-सेव्यकी सिद्धिको ही मुक्ति माना है। अस्तु –

मध्यकालीनीकरणकी अवतारवाद तथा भक्ति नामक पहली विशेषता, और नैतिक मर्यादाके पुनरुत्थानवादी-उदारतावादी-समन्वयवादी वृत्तकी दूसरी विशेषताके बाद शूरनायकत्वका संचालन उसकी तीसरी विशेषता है। हम पहले इसे पृथ्वीराज-रत्नसेन वृत्त कह चुके हैं और इसकी कुछ प्रवृत्तियोंका उद्घाटन भी

कर चुके हैं। हमने तीन वृत्त माने हैं : रामवृत्त जिसमें परित्याग ( वैराग्य ) के आदर्श हैं, कृष्णवृत्त जिसमें सुख एवं उपभोगके आदर्श हैं, तथा पृथ्वीराज-रत्नसेन वृत्त जिसमें शूरनायकत्वके आदर्श हैं। हमने एक सूत्र भी दिया है : 'शौर्ययुगमें रोमांसका पल्लवन हुआ तथा शीलयुगमें महाकाव्योंका'। वास्तवमें इनमें काल-समयसे अधिक नायकत्वकी निर्मितियाँ हैं। रोमांसमें ( १ ) अलौकिक, अति-दैवीय, अतिप्राकृतिक तत्त्वोंकी प्रचुरता आ जाती हैं; ( २ ) जादू-टोना, कौतुक, वेष बदलना आदि एक आम प्रयोजन (मोटिफ़) हो जाते हैं; तथा ( ३ ) पात्रों-का विभाजन अतिमानवों और अतिदानवोंके बीच होता है। अपने अगले विकास-चरणमें जादू-टोना, कौतुक, वेश बदलना आदि अन्धविश्वास हो जाते है; अति-मानव अतिरोमांचक हो जाता है, विशेषकर प्रेम और शौर्यके क्षेत्रमें; तथा अति-दानव प्रबल-बर्बर संघर्षी हो जाता है। अपने विकासके तीसरे चरणमें रोमांस शीलसे उत्कीर्ण होने लगता है जो महाकाव्यकी भूमिका है। फलतः अन्धविश्वास ही जनजीवन तथा राजा-सामन्तोंकी परम्पराएँ हो जाते हैं; अतिरोमांचक पौरा-णिक आदर्शों तथा व्यक्तिगत शीलकी स्थापना करने लगता है, तथा अन्ततः प्रबल बर्बर संघर्ष सामाजिक चुनौतियों और असुरत्वमें तबदील हो जाता है। रोमांस शूरवीर नायकत्वका समय होता है, तो महाकाव्य संस्कृतिका समय। चूँकि रामवृत्तको भी सारे मध्यकालमें घूमना पड़ा है इसलिए उसमें भी कृष्णवृत्त तथा शूरनायकत्वके आदर्श आ गये हैं, यद्यपि उसका परित्यागका मूल आदर्श यथावत् रहा है। परित्यागके आदर्शके कारण रामवृत्तमें श्रृंगार नहीं आ सका है। जब परवर्ती मध्यकालमें रामभक्तिकी मधुरोपासनाकी भी परम्पराका विकास हुआ तब जाकर मधुराचार्यकी 'माधुर्यकेलि कादम्बिनी' तथा 'श्री सुन्दरमणि सन्दर्भ', नाभादासके 'रामाष्टयाम' तथा उनसे भी पहले महाकवि हनुमानके 'महानाटक', कुमारदासके 'जानकीहरण आनन्द रामायण' के विलास खण्ड, 'शुक संहिता' और 'लोमश संहिता' आदिमें सुखोपभोगके आदर्श भी आ गये हैं। फलतः रामका पर्यटक चरित्र खण्ड-खण्ड होकर लिरिकल भावचित्रोंमें छहर-छिटक गया है। राम अवतारी और मर्यादा-पुरुषोत्तम दोनों हैं। अतः उनमें शूरनायकत्वसे अधिक मर्यादा-पुरुषोत्तमके आदर्शकी स्थापना है। इसलिए शूर-नायकत्वकी धारणाएँ खलनायक रावण ( या रावण-पक्षके अन्य पात्रोंमें कहीं-कहीं ) तथा राम-पक्षके लक्ष्मण और अंगदमें प्रतिबिम्बित हुई हैं। शेषावतार माननेपर लक्ष्मणके और राक्षस माननेपर रावणके शूरवीरत्वको अतिमानव तथा अतिदानवकी धारणाओंसे रँगना पड़ा है। इससे दो विरोधी चरमान्त छोर तो क़ायम हो गये हैं, किन्तु रोमांसका अतिप्राकृतिक ( सुपरनैचुरल ) ही महाकाव्य-

की संस्कृतिपर आच्छादित हो जाता है। इस मध्यकालीनीकरणकी एक अन्य सीमा भी है। होना चाहिए था रामको शूरवीरत्वका आदर्श, किन्तु वे मर्यादा-पुरुषोत्तमके आदर्श हो गये हैं तथा परित्याग-चक्रको घुमाते हैं। तो फिर शूरनायकत्वका स्थानान्तरण लक्ष्मणपर होना चाहिए था। किन्तु लक्ष्मण भी अंशावतार तथा 'जीव' हैं और रामके सहयात्री वनवासी भी। अतः वे भी परित्याग-चक्रके घेरेमें आ जाते हैं। शेष रह जाता है रावण। यह 'रामायण' में एक विचित्र सामाजिक विरोधाभास हुआ है कि वह शूरनायकत्व और खलत्व, दोनों आदर्शोंको चरमोत्कर्षपर पहुँचाता है। एक आध्यात्मिक विरोधाभास यह भी है कि अप्रकट रूपमें रावण रामभक्त तथा रामके हाथों मरकर मोक्षकामी होता है, किन्तु प्रकट रूपमें एक प्रचण्ड खलनायकके रूपमें उभरता है। तीसरा सांस्कृतिक विरोधाभास यह है कि वह ब्राह्मण, ऋषिकुल-जन्मा और महान् शिवभक्त है। वाल्मीकिका ब्रह्माभक्त रावण परवर्ती रामकथाओंमें शिवभक्त हो जाता है; मानो इस कथाके द्वारा वैष्णव-जनता और शैव-जनताके संघर्षका साम्प्रदायिक प्रचार किया गया हो। 'मानस' में आकर यह संघर्ष लुप्त होता है। रावण रामभक्त भी हो जाता है तथा शिव रामके पक्षमें युद्ध देखने आते हैं ( जब कि 'कृत्तिवास रामायण' में दैवी शक्ति रावणको मदद करती है ) इन अन्तर्विरोधोंके आनेका कारण एक तो स्वयं रामवृत्तकी प्रकृति है, दूसरे, राम चरितनायक न होकर अवतारी हो जाते हैं, तीसरे, रामावतारको प्रस्तुत करनेवालोंमें बहुधा धार्मिक सम्प्रदाय तथा भक्त-कवि होते थे; तथा चौथे, तुलसीके युगमें शूरवीरोंका चरण समाप्त हो गया था और संस्कृतिका चरण अपनी 'रिनैसाँई' सम्पूर्णताको खोज रहा था। ध्यान देनेकी बात तो यह है कि भारतीय शूरनायकत्वके वृत्तमें शूरनायकका अन्त भी सुखान्त होता है, किन्तु 'रामायण' में इस वृत्तका खलनायकसे संयोग होनेके कारण इसका अन्त त्रासदीपूर्ण होता है। तो, राम अलौकिक वीर और शान्त हैं, रावणमें अतिप्राकृतिक शौर्य ( रौद्र ) और आश्चर्य (अद्भुत) है।

शूरवीरत्वके निषेधक तथा विधेयक तत्त्व रावणमें केन्द्रीभूत हैं। इनमें निषेधक तत्त्व अधिक हैं। शूरवीरतामें प्रतिशोध ( रिवेंज ) एक सर्वोच्च गुण तथा गौरव हो जाता है। रावण अपनी बहिन शूर्पणखाके अपमानका बदला लेनेके लिए ही रामकान्ता सीताका हरण करता है ( यद्यपि 'मानस' में वह रामके हाथों मोक्ष पानेके उद्देश्यसे सीताहरणको साधन बनाता है )। शूरवीर शत्रुसे प्रबल प्रतिहिंसाके साथ लड़ता है किन्तु आत्मसमर्पण करनेवाले शत्रुको अभय देता है। रावणमें प्रबल प्रतिहिंसाका निषेधात्मक पक्ष है और राममें आत्मसमर्पण करनेवाले शत्रु ( विभीषण ) को क्षमा देनेका विधेयक गुणधर्म।

इसलिए हनुमान और अंगद, मन्दोदरी और विभीषण सभी रावणसे आत्मसमर्पण-का अनुरोध करते हैं। शूरवीरके सारे सेनापतियों, मन्त्रियों तथा दूतोंके लिए वफ़ादारी अनिवार्य है। अपने स्वामीके प्रति पूर्ण श्रद्धा और बलिदान-भाव शूरवीरत्वका महत्तम नैतिक न्याय है। रामपक्षमें यह शुभ बन गया है कि रावणके सभी सेवक राम-सेवक होकर 'मुक्ति तथा भक्ति' प्राप्त कर लेते हैं। रावण ग़ैर-वफ़ादार विभीषण, माल्यवान्, दूत आदिको लात मारकर अपमानित करता हुआ बाहर निकाल देता है। शूरवीरत्वके दण्ड-विधानमें इसका नतीजा मृत्यु-दण्ड हुआ करता है। इसीलिए भागते हुए वानरों तथा राक्षसोंके लिए सुग्रीव और रावणके सेनापति मृत्युदण्डकी ही घोषणा करते हैं। शूरवीरत्वमें केवल शौर्य ही श्रेय हो जाता है, विजय नहीं। इसीलिए शूरवीर विजयकी परवाह न करके अपना शौर्य प्रदर्शित करता है, शौर्य-प्रदर्शनके लिए ही वह बलीसे बली व्यक्तिसे भी लोहा लेता है, और शौर्य-विधानोंके पालनके लिए वह विजयका भी उत्सर्ग कर सकता है। रावणको अपने बलका बड़ा घमण्ड है। अन्दरसे वह अपनी विजय-कथाओंका बखान करता है और पुनः एक और युद्ध-कौशलको प्रदर्शित करनेके लिए अपने शत्रु राम ( अप्रकट स्वामी ) से लोहा लेता है। वह आमने-सामने सभी भाँतिसे शौर्य-विधानोंका पालन करता हुआ अन्त तक युद्ध करता है। उसे अपने शौर्यगुणमें प्रबल विश्वास है। इसीलिए एक शूरकी भाँति वह निडर तथा घमण्डी है। वह घमण्डसे दर्पान्ध भी है। वह प्रकट रूपसे आद्यन्त अपने शत्रु रामको मात्र नर नहीं मानता, जब कि उसके पक्षके सभी योद्धा यह विश्वास कर लेते हैं कि वे विश्वरूप हैं। इस भाँति रावणमें शौर्यपूर्ण आचरणके निषेधक पक्षोंका सम्पुंजन हो जाता है। लेकिन शूरवीरताके आदर्शोंमें काफ़ी आत्म-प्रवंचना और जीवनका मिथ्याभास भी होता है। इसीलिए विशेष रूपसे ऐतिहासिक चेतनासे परिपूर्ण तुलसीके समयमें परशुराम-लक्ष्मण संवादमें, तथा रावण-अंगद-संवादमें क्रमशः परशुराम और रावणके माध्यमसे इस आत्मप्रवंचना और मिथ्याभासपर उपहासपूर्ण, व्यंग्यपूर्ण, करुणापूर्ण कठोर प्रहार करना सम्भव हुआ है।

शूरवीरत्वके वृत्तमें 'कुल'की चेतना सर्वाधिक होती है क्योंकि यह वास्तविक तथा मिथकीय दोनों अतीतोंमें मज़बूतीसे जमी रहती है। रामपक्ष-की 'रघुकुल रीति' सदासे चली आनेवाली है, रघुवंशमें अनेक रत्न और भूषण हुए हैं। कुम्भकरण विभीषणको 'कुलभूषण' कहता है। रावण-द्वारा विभीषणको 'कुलघाती' कहनेपर विभीषण सर्वाधिक अपमानित होता है। रावण अंगदको 'कुलघातक' कहता है और तुरन्त ही अंगद-रावणसंवादका

वातावरण बदल जाता है। अंगद इस लांछनको धोनेमें अपनी सारी तार्किक शक्ति लगा देते हैं और प्रतिशोधमें रावणको भी 'कुलघाती' कहकर सन्तोषकी साँस लेते हैं। इसी भाँति लक्ष्मण भी अपने रघुकुलकी शौर्य-परम्परासे गर्वित होकर परशुरामकी डींगोंके खोखलेपनको सिद्ध कर देते हैं। इसी भाँति क्षमाके प्रति शौर्यविधान बेहद जागरूक था। इसमें क्षमा नहीं माँगी जाती; केवल प्राणोत्सर्ग किया जाता है। व्यक्तिगत सम्मानके प्रभामण्डलमें घिरे शूरवीर शत्रुको हमेशा अपनेसे तुच्छ, हीन और दुर्बल मानकर कूटनीति तथा वास्तविकताके प्रति अदूरदर्शी रहे हैं। रावण रामको पहले तो नर मानता है, फिर पत्नी-विरह और निर्वासनके कारण क्षीणशक्ति; और फिर तपस्वी होनेके कारण मर्यादाभीरु। उसका विश्वास है कि वानरों-भालुओंकी सेना लेकर लड़नेवाला नर उसे पराजित ही नहीं कर सकता क्योंकि उसने तो महादेव, दिक्पालों, दिग्गजों, देवताओं, कुबेर आदि सभीको अपने भुजबलका प्रमाण दिया है। उसका विश्वास है कि राम-पक्षका बूढ़ा जामवन्त, युद्धकर्मसे अनभिज्ञ शिल्पी नल-नील, डरपोक विभीषण, कूलद्रुम अंगद-सुग्रीव आदि उससे लोहा ले ही नहीं सकते। अतः शूरवीर क्षमा माँग ही नहीं सकता — चाहे वह देवता हो अथवा दानव। शूरवीरत्वमें युद्ध-नीतियोंका पालन पूरी तरहसे होता है। लंकाकाण्डके 'माया' तथा 'शक्ति' के जादू-टोनोंके रोमांस चरणवाले प्रयोगोंको थोड़ी देरके लिए दूर करके देखनेपर हम पाते हैं कि रामपक्ष तथा रावणपक्षके बीच युद्धके बाद धोखाधड़ी नहीं होती। युद्ध केवल दिनमें होता है; रातमें नहीं। शौर्य-विधानके कारण ही मेघनाद शक्ति लगनेसे मूर्छित लक्ष्मणका वध नहीं करता, जनेऊसे बँध जानेपर हनुमान रावणके युद्ध-बन्दी हो जाते हैं, तथा रावण अंगद और हनुमान-जैसे दूत-मर्यादाओंके उल्लंघनकर्ताओंका भी वध नहीं करता।

शूरवीरत्व-वृत्तके अन्य धनात्मक तत्त्व राम-पक्षमें यत्र-तत्र बिखरे हैं। अकसर ही अज्ञात शूरवीर अकस्मात् उपस्थित होकर राक्षसके चंगुलमें जकड़ी युवतीका उद्धार किया करते हैं। यहाँ पक्षीके टोटेमवाली जातिके नेता जटायु सीताको रावणके चंगुलसे छुड़ानेमें अपने प्राणोंका बलिदान करते हैं। हनुमान भी राम-सेवक होकर अपनी स्वामिनीके लिए ऐसी ही जोखिम झेलते हैं। शूरवीर किसी लक्ष्यकी प्राप्ति न होने तक त्यागकी कुछ प्रतिज्ञाएँ करता है। रामका कुश-पल्लवशय्यापर सोना, तथा भरतका संन्यासी होकर राज्य चलाना ऐसी ही प्रतिज्ञाएँ हैं। शूरवीरत्वके वृत्तमें कोई-न-कोई श्रृंगार और प्रेमसे सम्बन्धित खेल-प्रतियोगिता हुआ करती है जिसके केन्द्रसे परित्याग, यात्राएँ, हरण-अपहरण, युद्ध आदि फूटते हुए पल्लवित होते हैं। यहाँ सीता स्वयंवर इसका दृष्टान्त है।

इस तरह रामवृत्तमें शौर्यके इस वैयक्तिक आदर्शपर सांस्कृतिक आदर्शोंका इन्द्र-धनुषी आवरण पड़ गया है, आध्यात्मिकताकी कई धारणाओंने अन्वीक्षा-दृष्टियाँ बदल दी हैं। फलस्वरूप यह शौर्यवृत्त लोकमंगलसे संचालित अन्याय-विरोध, तथा धार्मिक दृष्टियोंसे अनुप्राणित धर्म-संस्थापनमें रूपान्तरित हो गया है।

मध्यकालीनीकरणकी चौथी विशेषता है निजंधरी [ लीजेण्डरी ] और मिथकीय कथानकमें वास्तविक अतीतके वातावरणका मेल; तथा अधिकाधिक ऐतिहासिक सन्दर्भोंका समावेश। इस वजहसे भी तुलसीका 'मानस' पूर्ववर्ती रामायणोंकी परम्परामें होते हुए भी उनसे पृथक् हो जाता है। इस श्रेणीमें तत्कालीन समाजका भी समावेश होता है किन्तु हम इसे किसी अगले अनुच्छेदमें लेंगे। पहला पक्ष कथाके प्रयोजनका है। अपने युगकी मिथकीय धारणा अर्थात् कलियुगके निमित्त तुलसी रामकथाका प्रयोजन बदल देते हैं। तुलसीके संन्यासी दृष्टिकोणसे रामकथा काव्यसे अधिक आध्यात्मिक ग्रन्थ है। अतः इसमें रसानुभूति-के स्थानपर चतुर्वर्गमें-से धर्म और मोक्ष [ अर्थ और कामका त्याग ] पर बल दिया गया है। इसका प्रयोजन भक्तसम्मित उपदेश है जिससे भक्ति-रस प्राप्त हो। उन्होंने स्वयं कहा है कि रामकथा जीवोंको मुक्ति देनेके लिए काशी है तथा तुलसीके लिए 'हुलसी-सी हित करनेवाली है, कलियुगरूपी साँपके लिए मोरनी तथा भ्रमरूपी मेंढकके लिए भुजंगिनी है।'' अतः यह उस युगमें आध्यात्मिक दृष्टिसे फैले हुए सन्देह, अज्ञान और भ्रमका निवारण करनेवाली है। प्रत्येक काण्डका पाठ अपना अलग-अलग फल देने लगा : जैसे बालकाण्डका विवाह-प्रसंग सदा उछाह [उत्साह] को, अयोध्याकाण्डका भरत-चरित्र दास भक्ति तथा भवरससे विरतिको, अरण्यकाण्डके रामयशका गाना और सुनना भक्तिको; किष्किन्धाकाण्डकी रामलीला श्रवण-सुखको, सुन्दरकाण्डका रामगुण-गान सम्पूर्ण मंगलोंको, लंकाकाण्डका रघुनाथ नाम पापनिकेत कलियुगमें सुरक्षा-आधारको तथा सम्पूर्ण 'रामचरितमानस' पुण्य और मंगलको प्रदान करनेवाला है। अतएव तुलसीने षट्प्रयोजनी और रसानुभवके स्थानपर नाना भक्तिपरक लौकिक-पार-लौकिक सुफलों और मोक्षप्राप्तिका समावेश कर दिया। उन्होंने स्वयं ऐतिहासिक तथ्य देते हुए कहा अनन्त हरिकी अनन्त हरिकथाको ( कवियोंके बजाय ) मुनि और सन्त गाया करते हैं; मैंने भी अनेक पुराण, वेद, आगम, वाल्मीकि रामायण, तथा अन्यत्रसे उपलब्ध ग्रन्थोंके आधारपर इसे स्वान्तःसुखाय लिखा है—यशकृते और अर्थकृते नहीं। मैंने प्रबन्धमें इस 'विचित्र' अर्थात् चमत्कारपूर्ण, या काव्यकी रसान्वयी परम्परासे भिन्न रचना की है। इसे तुलसीदासने यथामति गाया और संवाद रूपसे बखाना है। अतः तत्कालमें रामकथा वाल्मीकि-प्रभाव तथा रसान्व-

यनसे हटती हुई साम्प्रदायिक प्रभावों तथा मोक्षान्वयनसे जुड़ती जा रही थी। वह काव्यकथाके बजाय प्रधानतया गेय धर्मगाथा बन गयी थी जिसका लक्ष्य आनन्द नहीं, भक्ति था। अतः इस कथाको विश्वास और श्रद्धाके साथ 'गाना' तथा 'सुनना' एवं 'कहना' तथा 'समझना' रसानन्दके स्थानपर हरिभक्ति प्रदान करता है। सारांशमें, यह भक्त सहृदयोंके लिए गाकर कही जानेवाली, तथा समझकर सुनी जानेवाली धर्मकथामें रूपायित हो गयी। इसे मध्यकालके ललित तथा वीरगाथा वृत्त, और राजकवियों, बन्दी-चारणोंके क्षेत्रसे हटाकर मध्यकालके ही अवतार तथा विचित्रगाथा-वृत्त और सन्तों-भक्तोंके क्षेत्रसे जोड़ दिया गया। यह एक ऐतिहासिक स्थानान्तरण है : काव्य-प्रयोजन तथा सहृदय-संवादकी दृष्टि-से। इसका 'ऐतिहासिक' प्रमाण देनेके लिए तुलसीने कहा कि रघुनाथ-गाथा कही रामसखा शिवके द्वारा गयी है, किन्तु 'कलियुग' में लिपिबद्ध रामदास तुलसी-द्वारा की गयी है।....वास्तविक अतीतके वातावरणके मेलकी दूसरी दिशा राजसभाओंके सन्दर्भमें हासिल होती है। जनकसभा शुरू होनेपर बन्दीजन ( भाट ) विरुदावली ( वंशकीर्ति ) गाते हुए आते हैं और फिर राजा जनकके प्रण, सभा बुलाये जानेके उद्देश्य तथा सीता स्वयंवर विचित्रताका फ़रमान पढ़ते हैं। प्रतियोगिता शुरू होती है और जनक राजाओंके वीरताभिमानपर व्यंग्य करते हैं। शूरवीरकी भाँति लक्ष्मण यह चुनौती स्वीकार करते हैं तथा राम शर्तें पूरी करते हैं। दर्पोन्मत्त सामन्त लोग जहाँ-तहाँ उठ-उठकर गाल बजाने लगते हैं और सीताका बलपूर्वक अपहरण कर लेने तथा दोनों राजकुमारोंको बाँधकर बन्दी बना लेने तथा इस अन्यायके बाधक जनकको भी पराजित कर देनेके षड्-यन्त्र करते हैं। ऐसे राजसमाजको देखकर 'साधुओं'को लज्जा आ गयी। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि रामकथाके नायक-खलनायक दोनों ही शूरवीर-वृत्तके नीति-विधानोंके अनुवर्ती हैं। ऐसा समाज पृथ्वीराज-जयचन्द्र तथा मुसलिम मध्यकालका ही परोक्ष दर्पण है। इसी सभामें आगे चलकर परशुराम आते हैं। वे इस वातावरणको गर्वोक्तियों, व्यंग्योक्तियों तथा कटूक्तियोंकी महफ़िलमें बदल देते हैं। सामन्तों और राजाओंके समाजमें परशुराम विदूषक-जैसे लगते हैं; और बूढ़े, ब्राह्मण, जनक-पूज्य परशुराम एक विद्रोही राजपुत्र लक्ष्मणके द्वारा ही ऐसी विदग्ध सभाओंके लिए अयोग्य सिद्ध कर दिये जाते हैं। ऐसी सभाओंके लिए अयोग्य तथा विदूषक दोनों ही सिद्ध होनेवाले वाल्मीकिके परशुराम या 'अध्यात्म रामायण' के परशुराम नहीं हैं, बल्कि 'मानस'के परशुराम ही हैं, किंवा स्वयं तुलसी हैं—ब्राह्मण तुलसी। 'द्विज देवता घरहि के बाढ़े'! अब रावण-सभा लें। पूर्ववर्ती रामकथाओंमें प्रधानतः विभीषण ही बन्धुद्रोही हुआ था। अब विभीषण ही

नहीं माल्यवान्, सुषेण, रावणदूत सभी रामपक्षसे मिल गये हैं (रामभक्त हो गये हैं)। कुम्भकर्ण तककी वफ़ादारी डगमगा गयी है। रावण-दरबार मानो सामन्तीय नैतिकताके षड्यन्त्रकारी होकर विनाशक होनेका सटीक उदाहरण है। वह जहाँगीरकी तरह प्रेममग्न होनेवाला, करोड़ों घड़े शराब तथा अनेक भैंसोंका भक्षण करनेवाला है ( मानस, ६।६३ )। यही नहीं, उन्होंने रावण-दरबारको प्रतीक बनाकर आगे भी अपने युगकी खिल्ली उड़ायी है। उस दरबारके मन्त्री मूर्ख हैं और केवल ठकुरसुहाती कहते अर्थात् चापलूसी करते हैं। उनमें दूरदर्शिताकी कमी है। इस भाँति यह दरबार एक मुग़लकालीन लालबुझक्कड़ी दरबारमें ढाल दिया गया है। ऐसी सभाका आलोचक विभीषण रामयुगका, तथा ऐसा दरबार और ऐसे मन्त्री मुग़लयुगके हो गये हैं।""राम तथा शिवके विवाह प्रसंग ( मानस, नहछू, जानकीमंगल, पार्वतीमंगल) भी मध्यकालीन ऐतिहासिक वातावरणमें बेहद रंग गये हैं। 'रामलला नहछू' में तुलसी एक युवक रसिक कविके रूपमें पहली और आख़िरी बार आये हैं। 'नहछू'के राम, दशरथ, कौशल्यादि विशुद्ध मानव-पात्र हैं। राजमहलमें मध्यकालीन लोहारिन, अहीरिन, नाउन, तम्बोलिन, दरज़िन, मोचिन, मालिन, बारिन आदि सामन्तीय समाजके विशिष्ट कार्योंका सम्पादन करती हैं। इसमें अवधपुरीमें ही स्त्रियाँ रामको स्पष्ट गाली देती हैं, दशरथ एक साधारण अहीरिनके जोबनके लोलुप हो जाते हैं, नारियोंकी मांसल और उन्मत्त श्रृंगार-विलास-चेष्टाएँ सामन्तीय कामपरकताका उद्‌घाटन करती हैं। 'पार्वतीमंगल' में योगी शिव तथा तपस्विनी पार्वतीका विवाह न होकर लौकिक रीतिसे नारद तथा सप्तर्षियोंकी बिचवानीवाला मध्यकालीन विवाह है। यहाँ क्षत्रियोंका ( 'जानकीमंगल' की भाँति ) स्वयंवर भी नहीं है। हिमवान पार्वतीकी प्रिय वस्तुएँ ( जिनमें धन, दास, दासियाँ भी हैं ) दहेजमें देते हैं, मैना लहकौरी ( छन्द १३४ ) रीति करती है, जुआ खिलाते समय सब स्त्रियाँ हिमाचल-पत्नी मैनाको गाली देती हैं ( छन्द, १३५ ), आदि-आदि। हमने राजा हिमवानके पक्षकी ही चर्चा की है। 'जानकीमंगल' में तो विवाहकी तीन प्रथाओंका मेल है : स्वयंवर, वैदिक और लौकिक प्रथाका। 'पार्वतीमंगल' में बारातका विचित्र कौतुक जगत् है, तो 'जानकीमंगल'में रनिवासकी नारियोंकी शोभा तथा हाव-लीलाकी अलका है ( छन्द, १३०–१४४ ), राजसभाओंके उपचार हैं। यहाँ स्वयंवर पौरुषेय, तथा लौकिक विवाह कोमल नारीत्वपूर्ण है। यहाँ बन्दीजन महाराज जनकके प्रणोंकी घोषणा करते हैं; सुहागिन नारियाँ गौरी-गणेश पूजन करती हैं; जुआ और गालीकी रश्म होती है; नट, भाट, मागध, सूत, याचकगण राजाके यश और प्रतापका वर्णन करते हैं,

और सामन्तीय सम्बन्धोंके अनुसार पाहुना ( दामाद ) बेहद प्रतिष्ठित होता है ( छन्द, १६८ )। 'नहछू' के बादके मंगल काव्योंमें तुलसीके आदर्शों तथा विचारोंके निर्माणकी झाँकियाँ हैं। 'मानस' के रामविवाहमें, पहलेकी तरह, स्वयंवर विवाहके बाद पुनः तत्कालीन लौकिक रीतिके अनुसार पक्का विवाह होता है। विवाहकी सामग्री ढोनेवालोंमें बहुत क़िस्मोंके खच्चर, ऊँट और बैल भी हैं, विवाहावसरपर सरस रागसे 'शहनाइयाँ' बज उठती हैं, याचकोंको बख्शीशें ( बकसीस ) दी जाती हैं, ससुरालमें रामकी 'पहुनाई' के सपने देखे जाने लगते हैं; जेवनारमें गाली-गानका दौर चलता है इत्यादि। इस प्रकार इन विवरणोंमें मिथक ( वैदिक रीति ) की इतिहास ( लौकिक रीति ) से रँगरेज़ी कर दी जाती है। 'विनयपत्रिका' में तो रामके दरबारमें अर्ज़ी देनेके तौर-तरीक़ों तथा अर्ज़ीकी इबारत और फ़रियादमें वे सोलहों आने मुग़लोंकी दरबारी तहज़ीबको ऐतिहासिक यथार्थतासे सजीव कर देते हैं। ज़रा मुलाहज़ा फ़रमाएँ! ग़ुलाम, ग़रीब और किंकर तुलसी राम-जैसे ग़रीब निवाज़ू साहेब सु-साहेबके बड़े दरबारमें कलिकालके ख़िलाफ़ अपनी अर्ज़ी ( विनयपत्रिका ) भेज रहा है। पहले तो वह स्मार्त परम्पराके अनुसार गणेश, सूर्य, शिव, देवीकी स्तुति करता है; फिर गंगा-यमुना तथा चित्रकूट-काशीकी स्तुति करता है। तदुपरान्त षट्कोणात्मक रामयन्त्रके अन्तर्गत सबसे पहले रामप्रिय तथा स्वसेवी हनुमानसे सहायताकी याचना करता है ( पद ३३ )। इसके बाद षट्कोणके अन्य अंगव्यूह देवता—जैसे लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न और सीताकी स्तुति करता है। दास तुलसी जगज्जननी महारानी सीतासे व्यक्तिगत सिफ़ारिश भी करता है कि कभी अवसर पाकर तुम कुछ करुणाकी कहानी चलाकर राजा रामचन्द्रको मेरी भी याद दिला देना जिससे मेरा काम बन ही जायेगा क्योंकि रानीने सिफ़ारिश की है! सिफ़ारिशकी अन्तिम और सर्वप्रधान कड़ी स्वयं राम हैं। ग़रीब किंकर रामका विरुद गाता है तथा रामराज्यकी दुहाई देता है। इसके बाद वह करुणा-विगलित होकर पदोंमें गा-गाकर अपनी दुःखभरी जीवनी, लोककी विपन्नता, कलिकालके अत्याचारोंका पूरा हवाला देकर अपना मुक़दमा मज़बूत करता है। उसे राम-जैसे सर्वज्ञ साहिबकी सेवाका इनाम पानेका यक़ीन है। वह अपने सम्पूर्ण दैन्यको नंगा करके उद्घाटित कर देता है। यह अर्ज़ी पेश करनेके बाद वह पुनः रामके अंगव्यूहों ( हनुमान, शत्रुघ्न, भरत, लक्ष्मण ) से फ़रियाद करता है कि वे इस दासका ख़याल रखें। गरचे राजकाजमें मशग़ूल रहनेके कारण मौक़ा कम मिलता है; किन्तु तुलसीको ज़रूर याद कर लें। आख़िर रामके दिव्य दरबारमें मरुतनन्दन और भरत उचित अवसर देखकर लक्ष्मणको तुलसीकी

बात छेड़नेका इशारा करते हैं। लक्ष्मण रुख देखकर प्रभुकी सेवामें सेवक तुलसी-की विनयपत्रिका पेश कर देते हैं। ग़रीबनिवाजको ग़ुलाम तुलसीकी भक्ति और प्रीति, दोनोंकी रीति, पर विश्वास हो जाता है। सारी सभा एकमतसे समर्थन करती है और तुलसीकी अर्ज़ीपर रघुनाथ राम अपने हाथसे 'सही' कर देते हैं। सारे तुलसी-वाङ्मयमें इतनी सही ऐतिहासिक तथ्यात्मकता ( तथ्य नहीं ) उपलब्ध नहीं है। तत्कालीन अर्ज़ियोंकी शैली भी आलंकारिक होती थी। अतः भक्तकविकी शैली पदमूलक तो होगी ही !

इसी तरह वास्तुकला, चित्रकला, शोभा-सज्जा, अस्त्र-शस्त्र तथा फुटकर वस्तुओं आदिकी दृष्टिसे भी मिथक वातावरणको ऐतिहासिक सन्दर्भोंसे प्रतिपादित किया गया है। सबसे पहले फुटकर प्रसंगोंको लें। 'मानस' में ये यथेष्ट हैं। घरोंके झरोखोंसे छिपकर लगी हुई युवतियाँ प्रेमपूर्वक रामको देख रही हैं (१।२१९।२); तिरहुतसे लौटनेपर अयोध्यावासी राजा रामकी जोहार ( सलामी-की तरह) करते हैं ( १।३४७।३); वानरोंकी सेनाके सब वानर बारी-बारीसे आकर ( मन्सबदारों-सिपहसालारोंकी तरह ) श्रीरामके चरणोंमें मस्तक नवाते हैं और श्रीमुखके दर्शन ( झरोखा-दर्शन ) करके कृतार्थ होते हैं ( ४।२१।१ ); अंगद रावणको मुग़लकालीन अपराधीकी फ़रियादका दूसरा ढंग बताते हुए कहते हैं कि "दाँतोंमें तिनका दबाकर और गलेमें कुठारी डालकर वह रामके सामने 'हे शरणागत-पालक रक्षा करो ! रक्षा करो !' की आर्त पुकार करे" ( ६।१९।४ ); रावणके 'बन्दीख़ाने' में लोकपाल तक क़ैदी हैं ( ६।८९।२ ); जब विभीषण सीताको एक रुचिर पालकीमें सजवाकर लिवा लाते हैं तब उसके चारों ओर बेतपानि ( हाथोंमें छड़ी लिये हुए ) रक्षक चल रहे थे ( ६।१०७।४-५ ); कहीं-कहीं खल राक्षस लोग भैंसों, मनुष्यों, 'गायों', गधों और 'बकरों' का भक्षण कर रहे थे ( ५।२।छन्द, ३ ); आदि। नख-शिखकी परम्पराओंके अन्तर्गत संस्कृत और अपभ्रंशके ललित साहित्यकी परम्पराओंका ही पालन हुआ है लेकिन कुछ आभूषण और वस्त्र-वसन मुग़लकालीन हैं। 'मानस' में दूलह राम सिरपर पीत चौतनी टोपी पहने हैं जिसके बीच कुसुम और कलियोंकी कढ़ाई ( चिकनका काम ) है ( १।२४२।४ ); गीतावली' के बाल रामके सीसपर लाल चौतनिया टोपी, ज़रीके कामकी पगिया है, कानोंमें कनककली या नगफनिया पड़ी है, उनकी कटिमें काछनी है। अन्य वसनाभूषणोंमें जड़ाऊ आभूषण 'नथुनिया' भी है। 'मानस' में पनही और मुंदरीका भी वर्णन है। 'कवितावली' में ( छन्द १७ ) सीताके नगकंगन अर्थात् आरसी-जड़े कंगन हैं। 'मानस' के वसनोंमें कम्बल, विचित्र पटोरे ( रेशमी कपड़े ) तथा झँगुली बार-बार आयी है।

सज्जादिके विवरणके अन्तर्गत मिथिलामें बने विवाह-वितानमें मानो मुग़ल-महलकी पच्चीकारीका ही सूक्ष्म प्रतिबिम्ब है ( १।२८७।१-४, १।२८८।१-२ ); रामके घोड़ोंपर मोती-मनिमानिक लगी 'ज़ीन' जगमगाती है ( १।३१५।छन्द ); राम-ब्याहमें इत्र-फुलेल चलता है; श्रेष्ठ हाथियोंपर सुन्दर 'अम्बारियाँ' पड़ी हैं ( १।२९९।१ ); बारातके श्यामकर्ण जातिके घोड़े पाँवोंके घुँघुरू तथा ललित लगाम बाँधे हुए नाच करते हैं; आदि-आदि। रोज़के उपयोगकी चीज़ोंमें मध्य-कालीन वस्तुओंमें कड़ाह, बहँगियाँ, बोझ, काँवरि, दहीके कूँड़े, पानीका कठवता, भाँड़े ( भाजन ), कोपर आदि विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। कलश, थाल तथा परात सोनेकी भी हैं। भोजन तथा खाद्यकी परिगणना कविके तत्कालीन सीमित रसास्वादका मानदण्ड है। दाल-भात और गायका घी, तथा चना-चबेना राजाओं-की बारात तकमें चला दिया गया है। निर्धन तुलसीको और अकालग्रस्त भारतके जन-जनको उस समय यही छप्पन पकवान थे। मूली, पूप ( पूआ ), और एक जगह दूधका भी उल्लेख है। कन्द-मूल-फल ( बिना गिनाये हुए ) तो कई बार सूचित हैं। वाद्ययन्त्रोंके अन्तर्गत मध्यकालीन विशिष्ट वाद्योंमें शहनाई; निसान ( नगाड़े ), लड़ाईके जुझारू ढोल, पखावजका नाम आया है। वैसे तुलसीने झाँझ, मृदंग, शंख, भेरी, वीणा, दुन्दुभि, डिंडिभी ( डफली ), बाँसुरी, ताल आदिका भी परम्परागत नाम गिनाया है। अस्त्र-शस्त्रोंकी परिगणना 'मानस' से ही की जा सकती है। विशेष मध्यकालीन हथियार भाथियाँ ( छोटे-छोटे तर-कस ), सिरपर लोहेके टोप ( कूँड़ि ), बरछे, कृपाण, साँगी हैं। हथियारोंके अन्तर्गत तुलसीने वाल्मीकि रामायण तथा रासो-प्रबन्धोंकी परम्पराका निर्वाह किया है जिससे नाना भाँतिके हथियारोंके नाम ज़रूर मिल जाते हैं। वज्र, शक्तियाँ, ब्रह्मबाण, नागपाश, अग्निबाण आदि अलौकिक हथियार हैं; नख, दशन, शैल, महावृक्ष, वृक्ष-शाखाएँ आदि बर्बरोंके अस्त्र-शस्त्र हैं; कवच, अंकुश, फरसे, भाले, असि, दुधारी तलवार, बाण, चक्र, त्रिशूल, धनुष, भिन्दिपाल, तोमर, परसु, शूल, परिघि आदि सामान्य परम्परागत हथियार हैं। मुद्‌गर तथा गदा मल्लोंके हथियार हैं। कालकी एक चोखी चूक करते हुए तुलसी एक स्थानपर राक्षसोंसे विविध-विधि तोप गोले भी चलवा देते हैं ( मानस, ६।४८। छन्द )। रावणकी अपार अतिविचित्र-वाहिनी ( सेना ) का प्रयाण किसी वीर काव्यकी याद दिलानेवाला है। उसमें अनेक प्रकारके वाहन, रथ तथा सवारियाँ हैं, रंग-बिरंगे बाना धारण करनेवाले वीर-समूह हैं, 'नफ़ीरी' और 'शहनाई' बज रही हैं तथा मारू राग गूँज रहा है ( ६।७८।१-५ )। इस प्रकार इन सभी छोटे-छोटे ऐतिहासिक सन्दर्भोंमें केवल मुग़ल-युगकी ही नहीं, अपितु

परमारों, चन्देलों, चौहानों, गहडवारोंकी सामन्तीय-अवधियोंकी भी झाँकी मिल जाती है। कालकी दृष्टिसे पूरे मुग़ल-युग तक यह एक ही कड़ी है। अतः तुलसीने अपने मिथकीय वृत्तकी सीमामें इन्हें छुटपुट ढंगसे स्वीकारा है। इनमें 'काव्यों', 'रासोओं' तथा 'आईनों-नामाओं', तीनोंके युगोंकी परम्परा घुल-मिल गयी है।

वास्तुकला ( आर्किटेक्चर ) एवं नगरनिवेश (टाउन प्लैनिंग ) के सन्दर्भोंमें तुलसीने सीधे संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंशकी ललित काव्य-परम्पराके साथ अपने प्रत्यक्ष दर्शनका अनूठा विभावन किया है। उनके वास्तुकला और पुरनिवेश सम्बन्धी चित्रणोंमें हमें मुग़लकालीन राजधानी, व्यापारिक शहरों, तीर्थों तथा छावनियोंकी भी धुँधली झलक मिल सकती है। विशेष रूपसे इन चित्रणोंमें तुलसी चित्रकूट, काशी, इलाहाबाद और अवध ( अयोध्या ) के वास्तु तथा निवेशसे प्रेरित मालूम होते हैं; यद्यपि यह सम्भव है कि उन्होंने 'मानसार', 'समरांगण-सूत्रधार', 'राजतरंगिणी', 'पउमचरियं' ( विमलसूरि-कृत), 'चतुर्भाणी ( भाण-कृत )' आदिका भी अनुशीलन किया हो। भारतीय नगरनिवेश-शास्त्रकी एक समृद्ध परम्परा है जो अग्नि, गरुड़ और भविष्यादि पुराणों तकमें मिलती है। भोजके 'समरांगणसूत्रधार', भुवनदेवके 'अपराजितपृच्छा' आदिमें नगरनिवेश-सिद्धान्तों-प्रणयन हुआ है। व्यावहारिक पक्षमें इन्हीं सिद्धान्तोंका पालन है। भाणकी 'चतुर्भाणी' में कारीगरोंके औज़ारोंके शोरगुलसे भरी उज्जयिनी नगरीका वर्णन है। चन्द बरदाईने कन्नौज, बिल्हणने प्रवरकोट, बाणभट्टने उज्जयिनी, त्रिविक्रमने कुण्डिनपुर, विद्यापतिने जवानपुरका वर्णन किया है। चीनी यात्रियों तथा मुसलमान इतिहासकारों ( विशेष रूपसे फ़ाह्यान, ह्वेनत्सांग, अलबरूनी, अबुलफ़ज़ल आदि ) ने भी भारतीय शहरोंकी रचना तथा ज़िन्दगीका विवरण लिखा है। नगर-वर्णन, प्रासाद, मन्दिर, महल आदिके वर्णनकी एक काव्य-परिपाटी रही है। तुलसीने 'बाग़', सुमनवाटिकाका तथा तड़ाग ( सरोवर ) वर्णनमें तो बहुधा परिपाटी-पालन ही किया है; अयोध्याके साज-शृंगार और उल्लासमें 'रघुवंश' की भी झिलमिलाती छाया है; तथा महल और दुर्ग और नगर-रचनामें पर्याप्त मुग़ल-प्रभाव है। महलमें चित्रण तो ख़ासमहल ( कवितावली, ७।२३ ) अर्थात् दीवाने-ख़ास या अन्तःपुर, कोट, कंगूरे, रंगमहल, हवामहल, फ़र्श, दरवाज़ोंपर काँचके जड़ानेका भी वर्णन है। चार क्षेत्रोंको ध्यानमें रखकर निवेशका ज़िक्र है : नगर-निवेश, पुर-निवेश, ग्राम-निवेश, क्षेत्र ( खेड़ा अर्थात् शूद्रोंकी बस्ती ) निवेश ( मानस, २।२३५।१ )। नगरके बाहर भूचित्रावली ( लैण्डस्कैप ) का निवेश होता था। वनोंमें ऋषि-मुनियोंके आश्रम तथा कुटी आदि हुआ करते

थे। राजधानी ( अयोध्या, जनकपुर, हिमवानका नगर ) तथा तीर्थ ( प्रयाग, चित्रकूट ) का निवेश थोड़ा भिन्न है। तीर्थोंमें मन्दिरों तथा पवित्र स्थलों, पावन नदियोंकी योजनापर ध्यान दिया जाता था। नगर-निवेशके अन्तर्गत पहले तो नगरके चारों ओर अतिसुन्दर तथा दृढ़ परकोटा ( 'मानस'में लंका एवं अयोध्या ) होता था जिसपर सुन्दर रंग-बिरंगे कंगूरे बने होते थे। उसके अन्दर नगर होता था। जनकपुरमें बाज़ार (हाट), रास्ते (बाट), मन्दिर (घर), सुखवास ( देवालय ) तथा भूपबाग़ था (मानस, १।२८६।२)। इनको उपखण्डोंमें बाँटा गया था। ये बाट वीथियों, खौरियों, गलियों तथा चौहाट (चौरस्तों) में बँटे थे। बाज़ारकी दुकानें बज़ाज़ा ( कपड़े ), सराफ़ा (रुपये-पैसेका लेन-देन ) तथा बनिक ( व्यापारी ) खण्डोंमें बँटा था ( मानस, लंका० ७।२७।४, छन्द )। नगरमें राजद्वार, गलियों और चौराहोंपर भीड़ होती थी। यदि नगरके कोटके सुदृढ़ कंगूरे ध्यान आकर्षित करते थे ( कवितावली, ६।१० ), तो घर-रचनाकी वास्तुकला भी विशिष्ट थी। घर-घरमें हिंडोलने रचनेकी प्रथा थी ( गीतावली ७।१९ )। प्रत्येक घर ( महल ) के ऊपर कलश होता था। राजभवनोंके ऊपर कनककलश होते थे। घरोंमें अटारी तथा आँगनका ख़ास महत्त्व था। अटारियोंमें नारियाँ ही रहती थीं ( मानस, ५।२४।५, ७।३ ख )। उनमें नाना रंगोंके रुचिर ढाले हुए फ़र्श होते थे। आँगनोंमें बच्चे क्रीड़ा करते थे ( मानस, ७।७५।२ )। राजभवनोंके आँगन स्फटिकके होते थे। घरोंके अन्दर चित्रशालाएँ भी लिखी होती थीं तथा लोग सुमनवाटिकाएँ लगाते थे ( मानस, ७।२७।१ )। घरोंके सभी दरवाज़े ( पौरि ) मज़बूत और देहरियाँ सुन्दर होती थीं। राजप्रासादोंकी रचना-में तुलसीने मणियों तथा नवरत्नोंका ज़बानी जमा-खर्च बहुत किया है। लंकाका दुर्ग सुन्दर और बंकिम था जिसे असुर मय ( माया जातिके असीरियन इंजी-नियर अशोकके युगसे ही भारतमें भवन-रचना-कलाको संवर्धित करने लगे थे ) ने बनाया था। दुर्गकी बंकिम आकृतिके कारण ही राज्यका नाम भी लंका ) ( लंकाकी तरह बंकिम ) पड़ा। दुर्गके चारों ओर अत्यन्त गहरी खाई थी ( आगरेके क़िलेसे तुलनीय )। दुर्गमें चार बड़े दरवाज़े थे ( आगरासे तुलनीय )। महलोंके ऊपर बड़े चमकीले कलश थे। भवनों ( महलों ) में कंचनके खम्भे होते थे। एक शिखरपर नाच-गानका अखाड़ा ( रंगमहल ) था जहाँ दरबारी कवि गाते और प्रवीण अप्सरा-नर्तकियाँ नाचती थीं। भवन कनक-खचित ( सोनेके पत्तरोंसे मढ़े ) होते थे तथा एक दुर्गमें ही कई भवन हुआ करते थे। महलोंकी वास्तुकलाके अन्तर्गत ही अयोध्याका महल है जहाँ अन्तःपुर अलग हुआ करता था। अन्तःपुरमें भी एक कोपभवन था जहाँ कैकेयीने दशरथसे वरदान माँगे थे।

दशरथके प्रासादमें सुन्दर मणियोंसे रचित झरोखे, मूँगोंकी बनी देहरियाँ, मणियों-से बने खम्भे, पन्नोंसे जड़ी सोनेकी दीवारें ( भीति ), प्रत्येक द्वारपर खरादे ( खचे ) हीरोंसे जड़े हुए कपाट, स्फटिककी दीवारें तथा उनपर विचित्र चहू ( परदे ), सोनेसे मढ़ी हुई डाँड़ियाँ और स्फटिक-भीतों एवं गृह-गृहमें जलते मणिदीप एवं कंचनदीप होते थे ( 'मानस' तथा 'गीतावली' )। एक ओर मन्दिरायतन सुन्दर तथा मनोहर होते थे तो दूसरी ओर महलोंमें चौबारे ( छतके ऊपरके बंगले या दुछत्ती ) होते थे। चौबारे, रागमहल थे। इसमें-से एकमें नवब्याहे राम-सीता काम और रतिकी तरहसे शरद रातोंमें सोया करते थे ( संस्कृत काव्योंके हिमगृहसे तुलनीय )। प्रासादके नभचुम्बित उज्ज्वलधाम ( सौध ) होते थे। राजमहलके कपाटोंपर अधीन भूपों, नटों, मागधों और भाटोंकी भीड़ रहती थी। बड़ी-बड़ी घुड़सालें और गज-शालाएँ ( फ़ीलख़ाने ) थीं। फ़र्श स्फटिकके या अनेक रंगोंके काँचोंके बनाये गये थे। यहाँ हम पाते हैं कि कलश और आँगन और अटारी रचनामें तो भारतीय; तथा कंगूरे, फ़र्श, दुर्ग, खाई आदिकी रचनामें तुर्की वास्तुका मेल है। रंग-बिरंगे रत्नोंकी खराद (खचि), तथा खम्भों, दीवारों, फ़र्शों, देहरियों, आदिपर नाना भाँतिके पशु-पक्षियों, लता-सुमनोंकी पच्चीकारी [ पचि ]—दोनों ही प्रगाढ़ लौकिक मुग़ल प्रभावकी देन हैं। गृह-सज्जा तथा गृहान्तर-सज्जा [ इण्टीरियर डिकोरेशन ] के भी रोमैण्टिक चित्र मिल जाते हैं जिनसे एक नागरक विलास तथा दिनचर्याका अनुमान लगाया जा सकता है। रामराज्य भोगती हुई अयोध्यामें लोग घरोंके चारों ओर सुमनवाटिकाएँ लगाते हैं जिनमें अनेक जातियोंकी लताओंके फूल भरे होते हैं। मोर, सारस, हंस, 'कबूतर' घरोंके ऊपर बड़ी ही शोभा पाते हैं। ये कूजन करते, उड़ते और नृत्य करते रहते हैं। घरोंके अन्दर लोग तोता-मैना पालते हैं जिन्हें बच्चे पढ़ाया करते हैं। भीतोंके ऊपर सुनहले दीवे बाले जाते। द्वार ( पोरि ) तथा दरवाज़े ( पगार ) मनोहर और मज़बूत होते हैं। मंगल अवसरोंपर देहरियोंपर चौक पूरे जाते हैं, रंग-बिरंगे कलश सजाये जाते हैं। चौबारोंकी गृहान्तर-सज्जा विलक्षण होती थी। वहाँ मंजुल पलंग, मणिदीप, सभी भाँतिके आराम, भोग पदार्थ और फूलोंकी सुगन्ध भरी होती थी तथा क्षीरफेनकी भाँति उजले अनेक वस्त्र, तकिये ( उपधान ) और गद्दे ( तुराई ) होते थे जहाँ नव विवाहित प्रेमी-युगल क्रीड़ा शयन करते थे ( मानस, २।८९।४,२।९०।१ )। घरोंमें सुन्दर चित्रशालाएँ होती थीं। विरत तुलसी कल्पनामें इतनी जीवन्त वास्तुरचनाका मिल जाना एक ताज्जुब है। प्रसंगोंको शुक्रिया मिलना चाहिए कि तुलसीका अवचेतन यहाँ टुक

अबाध हो गया। गृह-सज्जाकी भाँति नगर और बाज़ार-सज्जाके चित्रण 'मानस' 'गीतावली', 'कवितावली', दोनों 'मंगलों' में मिलते हैं। नगर-सज्जाके चित्र रामविवाहोत्सवसे जुड़े हैं। 'मानस' में रामविवाहके मौक़ेपर राजद्वार, चौराहे, गलियाँ और बाज़ार सुन्दर ढंगसे सजाये गये हैं। चौहट ( चौराहे ) तथा गलियाँ सुगन्ध व चतुरसमसे सींची गयी हैं ( १।२।१२।१-२ ), लोगोंने सोनेके कलश, तोरण, मणियोंकी झालरों, हल्दी-दूब-दही-अक्षत-मालाओंसे अपने घर सजाये हैं, राजविवाहके अवसरपर बाज़ार विशेष रूपसे ध्वजा, पताका, परदों तथा सुन्दर चँवरोंसे सजाया गया है। 'गीतावली' में अयोध्या नगर कलशों और दीपावलीसे सजा है ( १।५ ), चौकें पूरनेवालोंने उनमें अपना-अपना नाम भी लिख दिया है ( १।६ ), गणेश-गौरी-शिवकी पूजा हुई है और गायोंको दुहा गया है ( १।६ )। नगरमें कोलाहल हो गया है, समस्त स्त्री-पुरुष आनन्दित हो गये हैं तथा सुहागिनी स्त्रियाँ सोलहों श्रृंगार करके झुण्ड-की-झुण्ड गाती फिर रही हैं। शहरमें सजे हाथियों, श्यामकर्ण घोड़ों, 'खच्चर', पैदल और सज्जित रथोंके समूह हैं, अत्यन्त बलवती सेना है तथा अनेक प्रकारके गहागह बाजे बज रहे हैं ( जानकीमंगल, १८२ )। इसी भाँति वधू-पक्षके नगरोंकी शोभाकी कुछ विशेषताएँ है। 'पार्वतीमंगल' में हिमवानके नगरमें कुशल कारीगर मण्डप बनाते हैं ( ८६ ), बाज़ारको पटोरों अर्थात् रेशमी वस्त्रोंसे छाकर बीच-बीचमें फलसे लदे वृक्ष भी रोपे गये हैं ( ८७ )। 'मानस' में जनकपुरमें पहले तो धनुषयज्ञके लिए बनी रंगभूमि, अतिविस्तृत पक्के आँगन तथा उसके चारों ओर सोनेके बड़े-बड़े मंचों और मचानोंका वर्णन मिलता है। इसके बाद विवाहमण्डप-रचनाका शान-शौक़तवाला वर्णन है ( १।२८७।१-४, १।२८८।१-३ )। जनकपुरके माध्यम-से हम नगर-रचनाका अधिक पूरा चित्र पा जाते हैं। वहाँ अनेक वापियाँ ( बावलियाँ ), कुएँ, नदी और तालाब हैं, पुष्पवाटिका और वन हैं। तालाबोंमें सीढ़ियाँ हैं, और वन तथा बाग़ोंमें विपुल पक्षियोंका बसेरा है। राजाका अपना 'भूप बाग़' या शाही बाग़ भी है जहाँ राजकुमारी सीता अपनी सहेलियोंके साथ फूल चुनने आती है। भूप बाग़में नाना मनोहर वृक्ष लगे हैं, रंग-बिरंगी उत्तम लताओंके मण्डप हैं, फलोंसे युक्त वृक्ष हैं तथा चारों ओर पपीहे, कोयल, तोते, चकोर आदि मीठी बोली बोल रहे हैं। सुबह मुर्ग़ा भी बाँग देता है ( मानस, ( १।२२१।१-४ )। बाग़में आमोंका कुंज था। बाग़के ही बीचमें सरोवर था जिसके समीप गिरिजाका मन्दिर था जहाँ सीता अपनी सखियोंके साथ पूजा करने आती हैं। सरोवरमें विचित्र ढंगसे सीढ़ियाँ बनी हैं। उसका जल निर्मल है, उसमें अनेक रंगके कमल खिल रहे हैं, जलपक्षी कूजन तथा भ्रमर गुंजन करते

हैं। बाग़ोंमें घने कुंजों तथा लताभवनोंमें ही प्रेमलीला होती है। बाग़ोंमें कोयल आदि पक्षियोंकी बोलियाँ बटोहियोंको रोकती-टोकती हैं। नगरमें भी अन्य तालाब हैं जिनका सौन्दर्य भी वैसा ही है। तालाबोंकी सुन्दर सीढ़ियों और कुँओंका मधुर जल मनोहर होता है। नगरके बाहर भी वन, उपवन, बावलियों, कुंजों और तालाबोंकी शोभा मिलती है। अयोध्यामें सरयू नदीके घाटोंका जीवन भी मुग़ल-युगको चित्रोपम बनाता है। सरयू नदीमें मनोहर घाट बँधे हैं जिससे किनारेपर ज़रा भी कीचड़ नहीं है। एक ओर वह घाट है जहाँ मनोहर घोड़ों तथा हाथियोंके ठट्ठके ठट्ठ जल पिया करते हैं। पानी भरनेके लिए बहुत-से ज़नाने-घाट ( पनिघट ) हैं जो बहुत मनोहर हैं और जहाँपर पुरुष स्नान नहीं कर सकते ( मुग़ल-समाज )। सर्वसुन्दर राजघाट है जहाँ 'चारों' वर्णोंके पुरुष स्नान करते हैं। सरयू नदीके किनारे-किनारे देवताओंके मन्दिर हैं जिनके चारों ओर सुन्दर उपवन हैं। कहीं-कहीं नदी-तीरपर उदासीन, ज्ञानरत मुनि और संन्यासी रहते हैं जिन्होंने तीर-तीर झुण्डके झुण्ड तुलसी बिरवे लगा रखे हैं ( मानस, ७।२८।२-४)। तुलसीके नगर-वर्णनोंमें एक दुःखद कमी यह है कि इनमें कारीगरों तथा उनके शिल्प-कर्मोंके शोर नहीं मिलते।

मूर्ति-शिल्प तथा मन्दिरोंके वास्तुपर तुलसीने कुछ महत्त्वपूर्ण नहीं कहा। मूर्तियोंके विषयमें भी वे लगभग मौन हैं। अशोकवनमें सीताने जिस राममन्दिर-की स्थापना की थी वह रामके आयुध चिह्नों ( धनुष-बाण ) से अंकित था और वहाँ नये-नये तुलसी वृक्ष लगे थे ( मानस, ५।५ )। प्रयागके वेणीमाधव मन्दिरका नाम लिया गया है ( मानस, २।१०४।१-४ ) तथा वैष्णव काशीके बिन्दुमाधव तथा उनके दायीं ओर लक्ष्मीकी मूर्तिका अष्टयामपरक शृंगार वर्णित हुआ है। बिन्दुमाधव-लक्ष्मीकी युगल मूर्तिमें बिन्दुमाधवकी मूर्ति श्याम पत्थरकी थी, उसके वक्षपर मंजरियोंकी विशाल बनमाला खुदी थी तथा श्रीवत्सका चिह्न उट्टंकित था। मस्तक, कान, भाल, नासिका, चरण आदिके आभूषण गुप्तकालीन शिल्प-परम्परासे पूर्ण थे ( विनयपत्रिका, ६१ ), इस प्रसंगमें यह ध्यान रखना चाहिए कि तुलसीकी मृत्यु जहाँगीरके शासन कालमें हुई थी और मूर्ति-भंजनका दूसरा दौर प्रधानतः औरंगज़ेबसे शुरू हुआ था।

ऐतिहासिक सन्दर्भोंकी भवनके प्रसंगमें अन्तिम चर्चा चित्रकलाकी रह जाती है। अकबर-जहाँगीरका काल चित्रकलाका एक नवलतर रिनैसाँ था जिसने राजस्थानी और ईरानी क़लमोंका मिलाप किया था। तुलसीमें चित्रकला या चित्रात्मक शब्द-फलक, भीतिचित्र और फलकचित्रोंके थोड़े संकेत हैं। संस्कृतके काव्य नाटकोंमें तो चित्रकला, चित्रांकन, चित्रवीथियोंके कई ललित दृष्टान्त भरे

हैं। मुग़लकालमें भित्तिचित्रों ( फ्रेस्कोज़ ) की शैली खत्म हो चुकी थी और उसका स्थान सूक्ष्म लघुचित्रों ( मिनियेचर्स ) ने ले लिया था। घरोंकी दीवारोंपर चित्र-अवरेखनकी लोक-परम्परा चली आ रही थी जो आज भी काशी, जयपुर, पटना, अयोध्या आदिमें दृष्टिगोचर होती है। तुलसीने भित्ति-चित्रोंके रूपकोंमें प्रसंग दिये हैं। 'गीतावली' में एक सखी दूसरीसे कहती है कि तू अपनी चित्त-भीतिपर सुप्रीति 'रंगों'से रामकी शोभाको 'अवरेखित' कर ले ( ७।९ )। 'मानस'में सीता परमप्रेमकी कोमल 'स्याही' से चारु चित्त-भीतिपर साँवले राम-की छवि 'लिख' लेती हैं ( १।२३४।२ )। इन उदाहरणोंसे संकेत मिलता है कि चित्रोंको काली रेखाओंसे या कई रंगोंसे, हृदयानुरक्तिके साथ, 'लिखा' जाता था। 'मानस' में सूक्ष्म लघुचित्रोंके कई संकेत हैं। 'दीपशिखा जनु बरई'की तरह सीता एक फलककी ही आकृति हो गयी है, यद्यपि यहाँ कालिदासकी इन्दुमतीके स्वयंवरकी भी याद हो आती है। 'कवितावली' में वनवासी साँवले राम, गोरे लक्ष्मण और धौरी सीताको देखकर नर-नारी उन्हें चित्रकारके चितेरे ( चित्र ) समझ लेते हैं ( २।१४ )। 'मानस'में घरोंमें चित्रशालाएँ होती हैं जिनमें राम-चरित ( प्रतिलिखित ) बनाया होता था जो मुनियों तकके चित्त चुरा लेती थीं। एक स्थानपर सीता चित्रलिखित वानरको देखकर डर जाती हैं ( २।५९।२ )। ये क्रमशः बिद्ध-चित्र और रसचित्रके उदाहरण हैं। रसचित्रका एक अन्य उदा-हरण है : जब हनुमान वियोगिनी सीताको देखते हैं तब उनके चित्र-से नयन, गढ़े-से चरण व हाथ, तथा मढ़े हुए-से कान थे। वे पुकारनेपर भी नहीं सुनती थीं ( गीतावली ५।१८ )। तुलसीके युगमें शाहन्शाह अकबर 'रामायण' का फ़ारसी अनुवाद तथा चित्रांकन करवा रहे थे। तुलसीने भी रामकथाकी एक ऐसी सूक्ष्म लघु चित्रावलीकी शब्द रचना की है : पुष्पक विमानसे राम सीता-लक्ष्मणादि सहित वापस आ रहे हैं और सीताको पिछले स्थान दिखाते चल रहे हैं। मेघ-नाद-वध स्थल, अन्य राक्षस-वध स्थल, सेतुबन्ध स्थान, दण्डकवन, चित्रकूट, यमुना, गंगा, त्रिवेणी आदिके चित्र झिलमिलाते हैं ( मानस, ६।११८, ६।११९ )। यहाँ 'उत्तररामचरितम्' की चित्रवीथीसे भी प्रेरणा मिली है। इसी कोटिके एक और भावचित्रका शब्द-चित्रण है : "सुवेल पर्वतकी एक शय्यापर आसीन राम सुग्रीव-की गोदमें अपना सिर रखे हैं; बायीं ओर धनुष तथा दायीं ओर तरकश रखा है, विभीषण कानोंसे लगकर सलाह कर रहे हैं, अंगद-हनुमान चरण दाब रहे हैं तथा लक्ष्मण वीरासनसे पीछे सुशोभित हैं। तुलसीकी टिप्पणी है कि इस ध्यानमें रूप-रसिक लौ लगाये रहते हैं ( ६।१०।१-४ )। चित्रकलाके प्रभावोंको लेकर तो कई रूपक हैं जो उस युगकी चित्र-समृद्धिका प्रमाण हैं। पुष्पवाटिकामें सीता पास

जाकर रामकी छवि देखती हैं और मानो 'चित्रमें अवरेखित-सी' रह गयीं ( मानस, १।२६३।२ ); भरतके साथ आये लोग 'चित्र-लिखे-से' रामको देखते हैं ( २।३०२।२); रावणकी मायाके वशीभूत वानर-भालू-लक्ष्मण कई राम-लक्ष्मणोंको 'चित्र-लिखे से' देख रहे हैं; इत्यादि। इस भाँति चित्रका सबसे गहरा प्रभाव मायावरण (इल्यूज़न), संज्ञाशून्यता तथा चमत्कृति ही थी। चित्र रसिकता तथा सुख प्रदान करते थे। चित्रोंका यथावत् होना मायावरण उत्पन्न करता है। मायावरणकी भावनाको तुलसीने बिना रंगोंवाले संसार-रूपी चित्र तथा निराकार केशव-रूपी चित्रकारपर ढाल दिया है जो शून्य दीवारपर चित्र रचता है। ऐसा चित्र सुखद नहीं, भयानक है; तथा संकल्प-शून्य भी ( विनयपत्रिका, १११)। सारांश यह है कि चित्र समाधि तथा मायावरण दोनों दशाओंके उत्तम उपमान हो गये हैं।

मध्यकालीनीकरणकी चौथी विशेषताके सारांशके रूपमें हम यही कहेंगे कि इसमें केवल मुग़ल-युग ही नहीं, पूर्ववर्ती राजपूत भूपालोंका युग भी पूरक हुआ है। इसमें वास्तविक अतीतका वातावरण तथा ऐतिहासिक सन्दर्भ दोनों शामिल हैं। इस विशेषतामें काव्य-परम्पराओं तथा रूढ़ियोंका भी समाहार हुआ है। एक आश्चर्य—और रेखांकन-योग्य खोज—तो यह है कि तुलसीने ग्राम्य निवेश, गाँवोंके घरों, खेड़ों ( 'मानसार' के अनुसार 'शूद्रालयसमन्वितम्' ) का अंकन नहीं किया, जब कि उन्होंने शताब्दियोंसे चली आती हुई रामकथाका 'ग्राम्यीकरण' ( रूरेलाइज़ेशन ) कर डाला है। इसके कई कारण हैं। पहला, वे परम्परागत कथावस्तुमें अपनी तरफ़से कुछ नहीं जोड़ते; दूसरा, उनके राम नगरके बाद सीधे वनोंके वासी हो जाते हैं; तथा; तीसरा, उन्होंने कुटियों-आश्रमोंका तो वर्णन किया ही है। इसकी क्षतिपूर्ति उन्होंने की है अयोध्याके बाद ग्राम्य-वधुओं, आदिवासी जातियों, पशुओं-पक्षियोंमें त्रिकोणमय रामव्यूहको खींचकर।

यहाँ तक हमने रामवृत्तके उन दो रूपान्तरों—मिथकीयकरण या पौराणिकीकरण ( मिथिकेलाइज़ेशन ) तथा मध्यकालीनीकरण ( मेडीवियलाइज़ेशन ) की मीमांसा की है जिन्हें तुलसीने अपने विशिष्ट ढंगसे प्रवर्तित किया है, और मिथकीय तथा ऐतिहासिक कालमें सभी आयामोंका भी दिग्दर्शन किया है। अब, अन्तमें, हम तुलसीके रामवृत्तके तीसरे सर्वाधिक विशिष्ट रूपान्तर—'ग्राम्यीकरण' ( रूरेलाइज़ेशन ) की मीमांसा करेंगे जो ऐतिहासिक समयके लोकमुखी प्रजातान्त्रिक आयामोंको खोलता है।

ग्रामीण समाजशास्त्र ( रूरल सोश्यॉलॅजी ) की दृष्टिसे पहले कुछ बातोंका खुलासा होना चाहिए। मध्यकालीन गठनमें तुलसीने 'ग्रामीण' का दायरा केवल

परिभाषेय ग्राम ही नहीं लिया है, बल्कि उसके अन्तर्गत क़बीले ( ट्राइब्ज़ ), लोकजन ( फ़ोक ) तथा प्राकृतजन या ग्रामजन ( विलेजर्स ) को भी शामिल किया है जब कि समाजशास्त्रकी दृष्टिसे ये तीन विभिन्न किन्तु अपृथक् श्रेणियाँ हैं। इसलिए उन्होंने ग्रामका दायरा ग्रामके बाहरके अंचल, वन, वन-संस्कृति और वन-जातियों तक प्रसारित कर दिया है। इसके कारण हैं। पहला, तुलसीके राम वनवास-कालमें नगरमें न रहनेका प्रण करते हैं ( इसीलिए वे निषादराजके श्रृंगवेरपुर तथा सुग्रीवके किष्किन्धा नगरमें नहीं जाते ); और दूसरा, तुलसी भी वैष्णव नगरों या नगरोंकी वैष्णव ज़िन्दगीके अलावा रजवाड़ोंकी ज़िन्दगीमें नहीं जानेका संकल्प करते हैं। इस दृष्टिसे हम क़बीले, लोकजन तथा प्राकृतजनकी बाबत थोड़ी चर्चा करेंगे। क़बीला ऐसे कई वंश—गोत्रों ( सिब्स ) तथा गाँवोंका एक सामाजिक् समूह या उपसमूह होता है, जिनकी एक बोली या उपबोलियाँ, एक एकरूप तथा विभेदक संस्कृति, एक ऐक्यपूर्ण राजनैतिक गठन या कमसे कम 'बाहरी लोगों' के विरुद्ध एक आम संघटन हुआ करता है। बहुधा इन क़बीलोंका ( सिब ) या गोत्र नाम किसी वृक्ष, पशुपक्षी ( गरुड़, काग, वानर, रीछ, गिलहरी आदि ) से गृहीत होता है जिन्हें 'टोटेम' कहते हैं। इस टोटेमके प्रति क़बीले विशिष्ट सम्बन्ध और वृत्तिका प्रदर्शन करते हैं। 'राम यण' में बालि-सुग्रीव-अंगद-नल-नीलका एक क़बीला ( वानर टोटेमवाला ), जाम्बवानका एक क़बीला ( रीछ टोटेमवाला ), जटायु और सम्पातीका एक क़बीला ( पक्षी टोटेमवाला ) प्रधान हैं। क़बीलेमें एक नेता, एक पूर्वज तथा एक संरक्षक देव भी हुआ करता है। रामकथामें 'मानस' में आकर तो राम इसके संरक्षक देव ही नहीं एक सांस्कृतिक नेता भी हो गये हैं। यहाँ राम इन क़बीलोंको मैत्री-सन्धि अथवा युद्ध आदिके द्वारा आर्य-संस्कृतिमें भी समाहित कर लेते हैं। रामकथामें पहले ये पशु-पक्षी कथाओंके चरण ( फ़ेबल-फ़ेज़ ) का भी समावेश कर चुके हैं। 'मानस' में इनके द्वारा कथा-चरणकी चेतनाका ही आभास उत्पन्न किया गया है। 'मानस' में इस चेतनाको सर्वचेतनावाद ( पैन्थीज़्म ) में भी प्रसारित किया गया है; क्योंकि समुद्र, पर्वत, नदियाँ, जलचर आदि परमात्मा रामकी स्तुति करते हैं। रामकथामें इसका तीसरा विकास भी हुआ है: वेश बदलनेमें। मारीच, जयन्त, हनुमान आदि पशु-पक्षियों, मानवों आदिके वेश धारण करते हैं। यहाँ ऐन्द्रजालिक चेतना ( मैजिकल कॉन्शसनेस ) का भी योग है।

लोकजन ( फ़ोक ) परवर्ती क़बीलाई सामाजिक संगठनवाले समुदाय ( कॅम्यूनिटी ) होते हैं। इनकी संस्कृति विशिष्ट होकर भी क़बीलाई संस्कृतिके असदृश, समयके अनुसार परिवर्तमान भी होती है क्योंकि ये ग्राम्य संस्कृतिसे जुड़ते चले

जाते हैं। लोकजन ( फ़ोक ) कई विशेषताओंवाले होते हैं। वे संस्कृतिके वाहक, जाति ( रेस ) के विकल्प ( सब्स्टीटचूट ), आदिमके बजाय सार्वजनीन, राज्यके विपरीत स्वायत्तशील, तथा सभ्यताके विपरीत प्रकृत संस्कृतिवाले हुआ करते हैं। वे राज्य और शहरी समाजके स्थानपर लोक और प्रकृत समाजकी धुरीमें होते हैं। ग्राम्य संस्कृतिमें लीन होनेपर लोकजनका आशय बदलकर 'सामाजिक सोपानके निचले वर्ग' या 'साधारण जन' हो जाता है। 'मानस' के निषाद, शबरी, भील, किरात, कोल आदि लोकजनका दरजा पा सकते हैं। 'मानस'में इनके माध्यमसे, और इनपर आरोपित करते हुए, ग्राम्य संस्कृतिका उपाख्यान हुआ है।

ग्राम्यजन ( विलेजर्स ) ग्राम इकाई, कृषि-व्यवसाय तथा सामूहिक जीवनके त्रिकोणमें अवरेखित होते हैं। ग्रामीण समुदायोंमें आमने-सामनेके रिश्ते होते हैं। इनके परिषदोंमें व्यक्तिगत या पृथक् हितोंकी सम्भावना नहीं होती क्योंकि विभिन्न पेशे और संगठन अन्योन्याश्रित होते हैं। आश्रयका आधार कृषि होती है। कृषि अर्थतन्त्रमें ग्राम्य जनोंकी बहुसंख्या उन बहुसंख्यक सुविधाओं-सेवाओंका इस्तेमाल करती है जो उनके सामूहिक जीवनके लिए आवश्यक हैं। ग्राम्यजनोंके घर एक छोटे-से क्षेत्रफलमें होते हैं। इनमें स्थानीयता और आंचलिकता होती है। इनके आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक संगठन तथा संस्थाएँ उन किसानी करनेवाले परिवारोंपर आश्रित होती हैं जो चारों ओरकी भूमिका इस्तेमाल करते हैं। ग्राम्य-अर्थतन्त्रकी पंचायत, वर्णव्यवस्था, संस्कृति, नैतिकता, पेशे आदि किसानी तथा वस्तुओं ( पैसा नहीं ) के विनिमयपर टिकी हैं। समाज-शास्त्री ग्रामोंके तीन भेद करते हैं : निष्क्रमण करनेवाले गाँव जो कुछ माहों तक टिकते हैं, अर्ध-स्थायी गाँव जो कुछ वर्षों तक टिकते हैं, तथा स्थायी गाँव। 'मानस' में सारा नैतिक तथा सांस्कृतिक परिगठन ( सुपरस्ट्रक्चर ), सम्मिलित कुटुम्ब, पंचायत, कृषि और वर्ण व्यवस्थाके 'है-पन' तथा 'चाहिए-पन' से परि-पूर्ण है। 'मानस'के मुनि, भक्त, गृहस्थ, परिवारके सदस्य, संन्यासी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि ग्राम्य-नरनारी, ग्राम्यवधुएँ, ग्राम्यवनिताएँ, सेवक मिल-कर साधारण जन या प्राकृत जन या ग्राम्यजनकी रचना करते हैं। इसी वजहसे तुलसीके राम पहले राजा दशरथके मानव पुत्र होते हैं, फिर साधारण या प्राकृत जन होकर नरलीला करते हैं। इसी वजहसे अयोध्याकाण्डके उत्तरार्धसे लंका-काण्डका राम-पर्यटन ग्रामीण जन-जीवन तथा संस्कृतिमें घिरा होता है। लंका-काण्डसे पुनः रावणकी राजसभा और लंकाका शहरी परिवेश शुरू हो जाता है। किन्तु तुलसीने रावण सभा तथा रावणके दुर्गको छोड़कर मानो सारी लंकाको

एक कौतुकपूर्ण महाग्राम बना दिया है। बालकाण्डमें भी अयोध्या तथा जनकपुर, रामजन्म तथा स्वयंवर-विवाहके प्रसंगोंको छोड़कर सर्वत्र एक ग्रामीण समाजका ही आदर्शीकरण लगता है। स्वयं तुलसीने संस्कृत काव्योंमें राजवंशों तथा राजसंस्कृतिको पढ़ने तथा लोकमुखसे सुननेके अलावा राजवंश और दरबारी संस्कृतिका कौन-सा अनुभव किया था ! इस तरह तुलसीने 'मानस'में ग्राम्यीकरणकी तीन सामाजिक दिशाएँ दीं : ( क ) सभी राजवंशी वृत्तोंको कृषक-वृत्तोंकी संस्कृतिमें ढालनेकी कोशिश; ( ख ) कृषक जीवनका क़बीलाई जीवन तथा प्रकृतिकी ओर प्रयाण; और ( ग ) अपने अनुभवोंके चुम्बकीय क्षेत्रका ही अंकन।

इस पृष्ठभूमिके बाद हम 'ग्राम्यीकरण' की समाजशास्त्रीय परिभाषा देते हुए बतायेंगे कि मध्यकालीन संस्कृति और तुलसीके अध्ययनके लिए इसमें कौन-सी तब्दीलियाँ होनी चाहिए। हम यह भी स्पष्ट करेंगे कि तुलसी-कृत ग्राम्यीकरणकी कौन-कौन-सी विशेषताएँ रही हैं और उनके क्या कारण हैं।

"ग्राम्यीकरण समस्याओंका एक सामाजिक निदान है जिसके द्वारा ग्रामीण मनोवृत्तियों तथा आचरणादि ( ऐटीटचूड्स ऐण्ड प्रैक्टिसेज़ ) को शहरी व्यवहारों तक खींच लिया जाता है" ( तथा शहरी व्यवहारोंका भी ग्रामीण मनोवृत्तियों और आचरणोंमें रूपायन कर दिया जाता है )। तुलसीने अयोध्या-जनकपुर राजमहल-राजसभासे क्रमशः ग्राम्यजनों, लोकजनों और क़बीलोंके समाज-संस्कृति, राज्य तथा भूमिमें राम-लक्ष्मण-सीता त्रिकोणकी यात्राएँ करायी हैं, उनके समाज, संस्कृति, राज्य तथा भूमिमें आर्य संस्कृतिका प्रसार कराया है, रामको उनका संरक्षक, देवता तथा नेता बनाया है तथा ग्रामीण परिवार और चतुर्वर्णकी नैतिकता और पारस्परिक सम्बन्धोंको लागू करते हुए उनमें-से ही अपने सखा (सुग्रीव), भक्त ( जटायु, केवट, शबरी ), सेवक (हनुमान, अंगद), मन्त्री ( जाम्बवान ), शरणागत राजा ( विभीषण ) के सम्बन्धोंका सूत्रपात किया है। अतः यह क़बीलों तथा लोकोंकी संस्कृतिका एक क्रान्तिकारी रूपान्तरण हो गया है। तुलसी क़बीले, लोक तथा ग्राम्यजनमें भेद नहीं कर पाये हैं। उन्होंने वन, शैल, ग्रामादि सभीको ग्रामीणताकी आंचलिकता प्रदान कर दी है। इस तरह तुलसीने रामवृत्तमें ( सीताहरणके बाद तो और भी ) अकेले राम-लक्ष्मणको वीरगाथा कालके वातावरणसे आज़ाद करके ग्रामीण वातावरणमें संचरणशील कर दिया है। उनके पूर्व वाल्मीकि, आनन्द, अध्यात्म, भुशुण्डि, कृत्तिवास आदि रामायणोंमें रामके वनवासी-चरणका वन्यीकरण या आध्यात्मिकीकरण हुआ था, ग्राम्यीकरण नहीं। उनकी यह उपलब्धि, अपनी अच्छाइयों-बुराइयोंके साथ, लाल रेखासे अंकित की जानी चाहिए। कलाकी

दुनियामें तो ग्राम्यीकरणका कमल खूब लहलहा उठा है। वे काव्य-परिपाटियों-की परम्पराके तो भावगंगाधर बने हैं ही, उन परम्पराओंका भी उन्होंने ग्राम्यीकरण कर दिया है। रूढ़ियोंकी दिशा बदलकर सौन्दर्यबोध शास्त्र ( एस्थेटिक्स ) का यह रूपान्तर लोकमुखी कवियोंकी सबसे बड़ी क्रान्ति है जो लोक-भाषा तथा लोकाश्रयके कारण मुमकिन हो सकी ( इसका विवेचन यथास्थान होगा )। यदि कालिदासने प्रकृति और कान्त रमणियोंसे अपनी उपमाएँ सजायी हैं, तो तुलसीके लिए कविकल्पनाके बजाय लोकानुभव ही उत्प्रेक्षा उपनामादि बन गये हैं। यही नहीं, तुलसीने सम्पूर्ण कलाबोधको संस्कृतकी 'कुलीनता', नागरिकता ( शहरीपन ), विलासिता ( कामकलाकी परिपाटी तथा राजसभाकी बारीकियोंसे निकालकर ग्राम्य अनुभवों, ग्राम्य सभाओं, ग्राम्य इकाइयोंके सामूहिक तथा लौकिक आचरणमें ढाल दिया है। इसके साथ कमज़ोरियाँ भी आयीं : (१) कबीरकी तरह तत्कालके विद्रोही आलोचकके बजाय सौम्य और रोऊ भोगी होनेके कारण तुलसीने लोकके अन्धविश्वासों, प्रपंचों तकका उदात्तीकरण किया है वे खण्डन करनेकी द्रोही जागरूकता ही नहीं रखते हैं, (२) 'मानस' का लक्ष्य काव्यानन्द न होकर ब्रह्मानन्द, तथा प्रयोजन कान्ता-सम्मित उपदेश न होकर संन्यासीसम्मित विरतिमूलक पलायनवादी उपदेश हो गया, और (३) रामकथा-आस्वादक जगत् तथा जीवनमें लिपटा एक साधारण नर न होकर रामगुण-गानकर्त्ता भक्त हो गया। अतः सौन्दर्यशास्त्रका परम्परागत नैतिक दृष्टिकोण ही आदेशक हो गया।

तुलसीके विशिष्ट ग्राम्यीकरणके कारणोंका विश्लेषण करनेपर कुछ अन्य बातें मिलती हैं। महान् साहित्यिक प्रतिभाओंको एक छोटा रसिकमण्डल मिलता है। यदि तुलसीके जैसा विशाल श्रोतामण्डल मिल जाये ( और वह भी मध्यकालीन समाजका ) तब कुछ समाजशास्त्रीय समस्याएँ उभरती हैं। कविको जनचित्तको साथ लेकर चलना पड़ता है, तत्कालीन वर्तमान समाजके सभी सम्बन्धोंको पुनर्मर्यादा देनी पड़ती है, जनचित्तको आघात पहुँचानेके बजाय उसे उदात्तीकृत करना होता है, समाजके सभी वर्गों तथा समूहोंके झूठेपनको दिखाकर तत्कालीन निराशाको दिव्य धरातलपर उठाना पड़ता है अर्थात् उसे व्याख्याता भी बनना पड़ता है, समाजके जो वर्ग कविकी निरीक्षण-धुरीके बाहर हैं ( जैसे : राजा, रजवाड़े, राजसभाएँ, सामन्त ) उन्हें भी अपने अनुभव-क्षेत्रके अनुसार चरित्रांकित संशोधित करना पड़ता हैं, और स्वयं भी उन आदर्शोंका पालनकर्ता होकर विरत निरीक्षक बनना पड़ता है। सामन्तीय समाजमें मनुष्य हमेशा समूहकी नैतिकता तथा गठनमें ही उड़-उड़कर लौटता है। वह आत्मकेन्द्रित नहीं रह पाता।

इस वजहसे तुलसीको ( अन्य भक्त कवियोंकी तरह ) एक नये, एक विलक्षण, और एक अद्वितीय अनुभवका एहसास हुआ जिसका नाम देनेकी, जिसका विवरण देनेकी, उनमें एक व्याकुलता भर गयी। उन्होंने नाम दिया परब्रह्म सगुण रामका, तथा विवरण दिया राम-चरणोंकी भक्तिका। इस नयी संज्ञा और क्रियाने ही तत्कालीन मनस्तात्त्विक ( साइकिक ), सामाजिक तथा सांस्कृतिक शक्तियोंका विज्ञापन किया। कुल मिलाकर, मानवीय रंगमंचसे विश्राम लेनेके लिए दैवी रंगमंच तथा प्राकृतिक जगत् झिलमिला उठा। दोनों रंगमंचोंकी तुलनाके द्वारा तुलसीने निम्नवर्गों तथा समूहोंके अधिकार और कर्तव्यों, प्रेम तथा शत्रुओंके हेतुओं, और धर्म तथा साहित्यके लक्ष्योंको अपनी सर्जनात्मकताके अनुसार प्रस्तुत किया। अतः तुलसीके ग्राम्यीकरणके अनुभव-क्षेत्रोंको तीन शीर्षकोंमें रखा जा सकता है : 'वर्ग' ( बे-खेतिहर ग्रामीण पुरुष ), 'वर्ण' ( उप-सामाजिक समूह : ब्राह्मण तथा संन्यासी ), और 'आश्रयदाता' ( स्वयं अवतारी भगवान् )। तुलसीमें अपनी वर्ण-चेतना तथा वर्ग-चेतनाके बीच ज़बरदस्त अन्तर्विरोध रहे हैं। कभी इनका समन्वय हुआ है, कभी विरोध प्रबल हो गये हैं। जब-जब उन्होंने अपनी दुःखद, कष्टपूर्ण और दरिद्र ज़िन्दगीकी ( 'विनयपत्रिका', 'हनुमानबाहुक' 'कवितावली' में मुख्य रूपसे ) कहानी कही है तब-तब वे वर्गीय चेतनाको प्रकाशित करते हैं; और जब-जब वे कलियुग तथा रामराज्यके लोकोंके निरीक्षक बनते हैं तब-तब अपनी ब्राह्मणवादी और संन्यासपरक वर्ण-चेतनाकी पुनरुत्थान-वादी रूढ़ियोंकी गुहार मचाते हैं। इसलिए वर्ण-चेतना और वर्ग-चेतनाके अन्तर्विरोधोंमें स्वयं कवि ही नहीं, पूरा सामन्तयुग विभक्त है। तुलसीकी कमी यह रही कि उन्होंने अपनी वर्ग-चेतनाको समाज-आलोचनामें बहुत कम रूपान्तरित किया, जब कि कबीर आदि निर्गुण सन्तोंने वर्ग-चेतनाकी ज़मीनपर तत्कालीन समाजकी क्रान्तिकारी आलोचना की और वर्णचेतना ( शूद्र वर्गकी ) को भी वर्ग-चेतनाकी परम्परा-भंजक अलमस्ती प्रदान की। तुलसीने विद्रोही क्रान्ति नहीं, नैतिक संक्रान्ति करके समाजकी आदर्शवादी रचना की है। अनुभव-क्षेत्रके आश्रयदाता शीर्षकने तुलसीमें भी क्रान्तिदर्शी दिशाएँ दीं। इसी बिन्दुपर वे वीरगाथा-काल तथा रामकथा-युगसे पृथक् हो जाते हैं। तुलसीने स्वयं कहा है कि राजाओंसे याचना कौन करे और क्यों कोई देश-देशके नरेशोंसे याचना करता फिरे ( कवितावली, २५, १६२ )। उनके आश्रयदाता रजवाड़े नहीं रहे; उनकी वफ़ादारी प्राकृत नरपतियोंके प्रति नहीं रही। वे दरबारोंमें नहीं घिघियाये और न ही उन्होंने दरबारी प्रेमके कवित्त-सवैये-दूहे लिखे। उन्होंने अपना आश्रयदाता साधारण जन-समुदाय माना, उनकी वफ़ादारी परब्रह्म राजारामके प्रति रही,

वे श्रद्धा और विश्वासके साथ राम-नाम, गुण; कथादि कीर्तन करते रहे। उन्होंने विद्रोह किया है कवियोंकी चारण-भाट-बन्दी परम्परासे; उन्होंने क्रान्ति की है अन्तःपुरोंके प्रेम-शौर्यकी व्यक्तिवादी प्रशस्तियोंके स्थानपर रामके शील-संस्थान तथा लोकमंगलपूर्ण समाजका आदर्श देकर। उन्होंने घोषणा की कि ऐसे विलासी और व्यक्तिगत दर्पवाले राजाओंका गुणगान करनेपर तो वाग्देवी सिर धुनकर पछताती है—"कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछताना।" तत्कालीन वीरगाथा तथा रामकथाकी धुरीकी तुलना करनेपर हम तुलसीके नव्य ग्राम्यीकरणकी क्रान्तिका अन्दाज़ा लगा सकते हैं। वीरगाथा परम्परामें वीरनायक ( खुमान, पृथ्वीराज, विजयपाल, बीसलदेव आदि ) किसी नायिकाके रूप-लावण्यपर मुग्ध होता है और व्यक्तिगत विजय पाता है। यदि कोई ऐतिहासिक कामिनी नहीं हुई तो कल्पित कामिनी ( पृथ्वीराज रासोमें यवन कामिनी ऐसी ही है ) की अवतारणा कर ली जाती है। 'रामचरितमानस' में शीलनायक किसी महत् लक्ष्यके लिए उत्सर्ग करता है और लोकमंगलकी साधना करता है। वीरगाथामें शत्रुकन्या-हरण, पराक्रम एवं दर्प होता है; 'मानस' में नारी-हरणपर दण्ड ( बालि, रावण ), अलौकिक कार्य एवं सौम्यता है। वीरगाथामें शौर्य-प्रदर्शन ही लक्ष्य होता है; 'मानस' में शील-स्थापन है। वीरगाथामें जात्यभिमान और शौर्योन्मेष होता है; 'मानस' में संस्कृति-अभिमान और शीलोन्मेष है। वीरगाथामें समर-वर्णन, सैन्य-प्रस्थान और प्रशस्तियोंकी भरमार होती है; 'मानस' में लीला-वर्णन, रामके पर्यटन और स्तुतियोंकी प्रधानता है। वीरगाथामें बहुधा व्यक्तिचरित्र समाजसे ऊपर और ऊँचे होता है; 'मानस' में वह समाज चरित्रकी मर्यादा हो गया है। वीरगाथामें सन्तरित ( फ़्लोटिंग ) परम्पराएँ तथा लोकभाषाएँ ( डिंगल, ) होती हैं; 'मानस' में निर्धारित परम्परा-स्थैर्य तथा लोक-भाषा है। वीरगाथा सेना, राजसभा और अन्तःपुरके समाजके लिए होती है; 'मानस' श्रद्धाभीरु किसानों, साधारण गृहस्थों तथा भक्त समाजके लिए है। वीरगाथा परम्परामें कविगण राजाके दरबारी, भाट, बन्दी, चारण आदि होते हैं; भक्ति-साहित्य परम्परा ( और 'मानस'में ) कवि राजसी दुनियासे अलग और संसारसे विरत भक्त होता है। वीरगाथामें ऐतिहासिक आभास छाया रहता है; भक्ति-परम्परामें पौराणिक विश्वास नियन्त्रण रखता है। अन्तमें, वीरगाथा-परम्परामें ऐसे विलासी तथा दर्पोन्मत्त भूपतियोंका विरुद होता है जब कि 'रामचरितमानस' में ऐसे 'परब्रह्म' लोकनायक रामका ऐसे निर्मल-चित्त भक्तकवि-द्वारा कथागान है। सारांश यह, कि तुलसीने मध्य-कालके अपने पूर्ववर्ती शौर्यवृत्तकी परम्पराको छिन्न-भिन्न करके समवर्ती

शीलवृत्तको प्रधानता दी, और 'सम्पूर्ण' कथानकको चेतनाका ग्राम्यीकरण कर डाला। व्यापक रूपसे (१) रामकी पन्थ-यात्राओं, (२) वनवास, (३) पात्रोंके आचार-व्यवहार, (४) उपमानोंके संचय, (५) दृष्टान्तोंके प्रकाशन, (६) अन्योक्तियोंके उद्घाटन आदिमें ग्राम्यीकरणकी प्रक्रिया 'मानस'को महाग्रामका वातावरण दे देती है (बालकाण्ड, आधे अयोध्याकाण्ड, लंकाकाण्डमें यह प्रक्रिया कुलीन परिवेशमें घटती है)।

हम कुछ उदाहरण देकर इसे स्पष्ट करेंगे। पहले क़बीलाई (ट्राइबल) समाज और उसके सांस्कृतिक रूपाकार (कल्चरल पैटर्न) को लें। आध्यात्मिकताकी दृष्टिसे वानर देवताओंके, जामवन्त ब्रह्माके, रावण-खर-दूषण-कुम्भकरण आदि पूर्वजन्मके सम्राटों आदिके अवतार माने गये हैं; पशुकथा-चरणकी दृष्टिसे वे कथानकके मानव समाजके उस दौरमें भी गढ़े जानेका प्रमाण हैं; किन्तु सामाजिक दृष्टिसे (जिसमें संस्कृति और समाज दोनों शामिल हैं) वहाँ आदिम व पहाड़ी क़बीलोंकी दुनिया हैं जिनके अपने पूज्य टोटेम हैं। नृवंशशास्त्रीय दृष्टिसे कान्तारों-गुफाओंमें रहनेवाले नर और वानरोंके क़बीले एक विकासवादी वैज्ञानिक तथ्यके भी सूचक हैं। यही नहीं, आदिम मनुष्यके कुछ जादुई विश्वास भी ('मानस'में) राम तकमें घटा दिये गये हैं: जैसे राम रावणके हृदयमें इसलिए बाण नहीं मारते कि उसमें जानकी बसती हैं (मानस, ६।९८।७)। इन क़बीलाई समाजोंकी भौतिक उन्नतिकी दशा भी पिछड़ी हुई थी। इसलिए ये पाषाण-युगके शिला, पहाड़, वृक्ष, परशु, लकड़ीके मुगदर आदि हथियारोंका प्रयोग करते हैं तथा विशेष रूपसे मल्लयुद्ध, मुष्टियुद्ध ही करते हैं। तुलसीने इन युद्धोंको भी ग्रामीण अखाड़ों-जैसा बना दिया है। इनमें 'किरातार्जुनीयम्' जैसा उदात्त सौन्दर्य नहीं है। इन क़बीलोंकी नैतिकता बड़ी सुदृढ़ और विशिष्ट है जिसमें प्रतिशोध तथा वफ़ादारी सर्वोच्च है। स्त्री शूर्पणखाको कुरूप बनानेका बदला लेने आये हुए खर-दूषणका कथन है: राम भी अपनी स्त्रीको मेरे हवाले कर दें (मानस, ३।१८।३)। जब राक्षस सेना पीठ दिखाकर भागती है तब खर-दूषण घोषणा करते हैं कि जो रणसे भागकर जायेगा उसका वध हम अपने हाथों कर देंगे (मानस, ३।१९।२-३)। इसी भाँति लंका-युद्धमें भागते हुए वानरोंको सुग्रीव भी चेतावनी देते हैं और सीताकी खोज करनेवाले वानरोंको सूचना भिजवाते हैं कि जो एक पखवाड़ेमें नहीं आ जायेगा उसका मेरे हाथों वध होगा (मानस, ४।१८।३)। क़बीलोंमें किसी बाहरी पुरुषके घुस आनेपर बड़ा प्रतिबन्ध होता है। उनके क्षेत्रोंमें आते हुए राम-त्रिकोणको देखने और परखनेके लिए सुग्रीव हनुमानको एक सभ्य समाजके मनुष्य (ब्राह्मण) का वेश बदलवाकर

भेजते हैं। शूर्पणखा रावणसे कहती है कि राम धरतीको निशाचरोंसे विहीन कर देंगे। राम इन क़बीलोंको आर्य संस्कृतिके अनुबन्धमें बाँधते हैं। प्रतिशोधकी भावनासे उग्र खर-दूषणको राम उत्तर देते हैं कि हम मनुष्य ( सभ्य समाजके ) हैं, तुम सरीखे दुष्ट पशुओंको ढूँढ़ते फिरते हैं; हम क्षत्रिय हैं और वनमें मृगया करते हैं; हम मुनियोंके पालक तथा दनुजकुल-घालक हैं। बालिके वधके समयमें भी राम उसे उत्तर देते हैं कि तुमने छोटे भाईकी स्त्रीको बुरी नज़रसे देखा है, तुममें अत्यन्त अभिमान है, तुमने मेरे आश्रित सुग्रीवको मारना चाहा तथा तुमने अपनी पत्नीकी सीखपर भी कान नहीं दिया। इस तरह राम क़बीलाई समाजपर आर्य संस्कृतिके पैटर्नको लागू करते हैं। बालिकी क़बीलाई नैतिकताकी दृष्टिसे सही सवालोंको राम टाल जाते हैं। बालि पूछता है कि 'धर्महेतु अवतारी' रामने मुझे व्याधकी तरह छिपकर क्यों मारा ? मुझमें और सुग्रीवमें विभेद क्यों किया ? राम परायी स्त्री, पराया धन, परायी निन्दाको अपराध मानते हैं जब कि क़बीलाई संस्कृति अधिक स्वतन्त्र और कुण्ठामुक्त है। शूर्पणखाका सहज प्रकृत वासना-प्रकाशन इसका ही दृष्टान्त है।

लोक (फ़ोक) संस्कृतिके चित्र भील, कोल और किरात जातियोंमें सजाये गये हैं। इनका समाज क़बीलाई समाजसे आगे किन्तु ग्राम्य-समाजसे पीछे है। इनकी व्यापार वस्तुएँ शहद, कन्द, मूल, फल अंकुर आदिकी जूड़ियाँ ( पटसन ) हैं ( मानस, २।२४९।१ )। इनकी सम्पत्ति केवल ईंधन और पत्ते हैं। न तो इनकी कमरमें कपड़ा और न ही पेटमें भोजन होता है। ग़रीबीने इन्हें नीची जातिका, मूर्ख और हृदयहीन बना दिया है (मानस, २।२५०।१-४)। किन्तु ये बड़े बहादुर हैं। बीहड़ वन, पहाड़, गुफाओं और दर्रोंके चप्पे-चप्पेसे परिचित, तथा हाथियों, सिंहों, साँपों और बाघोंके शिकारी हैं ( मानस, २।१३५।३ ) इनकी लड़कियाँ भोली किन्तु चट्टानकी तरह कठोर हैं जिन्हें कभी भौतिक सुख भोगनेका मौक़ा ही नहीं मिलता। इस तरह पिछड़े अर्थतन्त्रका चित्र मिलता है।

ग्राम्य समाजकी कई दिशाओंका उद्‌घाटन हुआ है। गाँवोंका प्रसार वन तक माना गया है जहाँ तापस और तापस-पत्नियाँ त्यागपूर्ण जीवन बिताते हैं। ग्रामीण कुतूहल, कौतुक तथा अनुरागके प्रतीक रूपमें केवट, निषादोंका शृंगवेरपुर, यमुना-तीरके गाँवोंके नर-नारी तथा ग्रामवधुएँ हैं। इधर अलबेले केवटको रामकी पगधूलिके प्रभावका मधुर भय समाया है ( कवितावाली, ६, ७; मानस २। ९९। ); और उधर राम-सीता-लक्ष्मण रास्तेमें बसे गाँवों तथा पुरोंको अपने चरणोंसे परम सुहावन करते चलते हैं। जब वे किसी गाँवके नज़दीक आते हैं तब उनका आना सुनकर बाल, वृद्ध, नर, नारी सब

अपने घरका कामकाज बिसारकर तुरन्त उन्हें देखने चल देते हैं ( मानस, २।११३।१ ) तथा नाना भाँतिसे तीनोंकी सेवा करते हैं ( वही, २।११४।१ )। रामयात्रापर गाँव-गाँवमें आनन्द होता है। घुँघटा काढ़े ग्राम्य युवतियोंकी चहारदीवारीकी जेल टूट जाती है। वे तीनोंकी मनोहरता, मोहकता तथा सुन्दरताकी चर्चाएँ चलाती हैं। ( कवितावली, २।१४–२५ ) और सीतासे पूछती हैं : "कहौ साँवरे-से सखि रावरे को हैं ?" वे सीताके अति समीप जाती हैं; बार-बार पाँव पड़ती हुई स्नेह-संकोचवश पूछती हैं : "कोटि मनोज लजावन हारे, सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे ?" और सीता भी कोरमकोर पुरसे निकलनेवाली एक ग्रामीण बधू बन जाती हैं। रूप-शोभाके उत्सवमें मुग्ध ग्रामवनिताओंके नलिन नयन विकसित हो जाते हैं ( गीतावली, २।१६ ) । उनके जानेपर रघुनाथ-बटोहीकी पन्थ-कथाएँ चलती रहती हैं ( गीतावली, २।८९ )। सारी रामकथा में केवल ये ही राम-त्रिकोणके पूर्णतः देवी या अवताररूपको नहीं जानतीं। इनमें कान्तासक्ति और सहज मधुरता है। ग्राम्य कौतुकका दूसरा जीवन्त चित्र 'मानस' तथा 'पार्वतीमंगल' में शिव-बारातका है। 'बावरे' तथा 'भूतनाथ' शिवके चारों ओर ही सारा ग्रामीण परिहास केन्द्रित है। शिव-बारातके नगरके निकट आनेपर हाथी-घोड़े भागे, घबड़ाकर बच्चे भटक गये व घरकी ओर भागे; तथा शिव-बारातकी चर्चा गाँवोंमें फैल गयी : "जस दूलह तस बनी बराता।" ( पार्वतीमंगल, १०४–१०८ )। ग्राम्म कौतुकका तीसरा चित्र है हनुमान्‌की पूँछमें कपड़े बाँधनेके मौक़ेका। बच्चे किलकारी मारकर ताली बजा-बजाकर गाली देते हुए पीछे लगे हैं : ( कवितावली, ३ ) फिर आगका त्रासद आतंक है। मानो लंका नहीं, कोई गाँव जल रहा है ( कवितावली ५।११, १३, १६ )। तुलसीने शिवको पूरी तरहसे एक ग्राम्यदेवतामें रूपान्तरित कर डाला है। चरित्रकी दृष्टिसे राम एक ग्रामीण भी हो गये हैं। ग्रामीणकी तरह ही उनकी पर्णकुटी, भोजन, साँथरी, बेश, पनहीहीन पाँव हैं। 'पार्वतीमंगल' की मैना एक ग्रामीण माँ हो गयी है। सासु कौशल्या ( सुन्दर वधूको अपने साथ सुलानेवाली ), माता कौशल्या, सती और पार्वती भी प्राकृत जन-जैसी हो गयी हैं। राम और शिव दोनोंके विवाहोंकी लौकिक रीतियाँ राजमहलों या देवलोकोंकी न होकर गाँवोंकी ही परम्पराएँ हैं। इन दोनोंके विवाह ग्रामीण संस्कारों और उत्सवोंसे प्रचुर हैं। इसी तरह सत्संग सभाएँ, सभा-समाज, कीर्तन-गोष्ठियाँ, कथावाचनके आश्रम स्थान ( शिव, काकभुशुण्डि, याज्ञवल्क्य ) आदि ग्राम्यीकरणकी ही शैलियों के स्वरूप हैं। इस प्रकार तुलसीने करुण रामकथाको ग्राम्य महोत्सव तथा चौपाल-चर्चाओंसे भाव-विभोर कर दिया है। सारांशमें,

अरण्यकाण्ड तथा सुन्दरकाण्डके अन्तर्गत क़बीलाई समाज; और अयोध्याकाण्ड तथा बालकाण्डके अन्तर्गत लोकसमाज तथा ग्राम्यसमाजका संयोजन हुआ है। इन तीनों समाजोंका संयोग ग्राम्यीकरणपर तुलसीकी अपनी छाप भी लगा देता है। अस्तु।

इस पहली गोष्ठीमें हमने मध्यकालके तीन वृत्तोंकी स्थापना की और उसके बाद रामवृत्तके मिथकीयकरण एवं मध्यकालीनीकरण एवं ग्राम्यीकरणकी मीमांसा की। ये दोनों आधार मिथकीयकाल तथा ऐतिहासिक कालके कई आयामोंके अन्वेषक साबित हुए।

अब दूसरी गोष्ठीमें हम समाजके मुग़ल-रंगमंच तथा तुलसीके रामवृत्तके राज-नैतिक दर्शनकी स्थापना करेंगे।

■

# दूसरी गोष्ठी

•

"'रामायन' अनुहरत सिख जग भयो 'भारत' रीति" : अर्थात् तुलसीने समाजका मुग़ल-रंगमंच कैसा पाया, राज्य-संचालनके क्या प्रतिमान बनाये, तथा राजनैतिक दर्शनके कौन-से स्वप्न देखे !

हिन्दू मध्यकालीन पौराणिक इतिहासवादका यह यक़ीन था कि जो सोता रहे वह 'कलिकाल' है और जो संचरणशील होकर चलने लगे वह 'सतयुग' है। बीचमें अँगड़ानेवाला 'द्वापर', तथा उठ खड़ा होनेवाला 'त्रेता' युग है। तो, एक सोते युग और गतिशाली युगकी धारणाओंको तुलसीने भी अपने समाजके यथार्थ और आदर्शके रंगमें रँग दिया। उनके अनुभवों तथा स्वप्नोंका समाज 'कलिकाल' और 'रामराज्य' दोनोंमें ही अपनी छतनार छाँह फैलाये हैं, दोनों ही विवरणोंमें अतिशयोक्ति लिये हैं। अत: इनके अन्तरालसे तत्कालीन समाज और सामाजिक दर्शनको अवरेखित करना एक जटिल समस्या है। यूँ तत्कालीन समाज मध्यकालीनीकरणका ही एक अंग है। तुलसीकी दृष्टिसे यह समसामयिक एवं वर्तमान है जिसे उन्होंने एक वैष्णव भक्तकी अपनी नज़रसे देखा है। यह फ़िरिश्ता, निज़ामुद्दीन मुहम्मद, अब्दुल क़ादिर बदायूँनी और अबुल फ़ज़्लकी क़लमका दरबारी करिश्मा न होकर लोकमुखसे लिखा गया लोकजनका अ-तथ्यात्मक और भावात्मक, तथा ब्राह्मण-आदर्शोंवाला एक इतिहासरूप है। यह समाज रामवृत्तके मिथकीय परिवेशसे सजा होनेपर भी मध्यकालीन आयामोंसे अधिक गुँथा है।

'समाज' क्या है ? मुग़ल-युगका पूर्ववर्ती समाज और संस्कृति कैसी थी ? मुग़ल-युग कैसा था ? इनको जाननेके बाद ही हम समाजके उस मुग़ल-रंगमंचपर अवतीर्ण हो सकते हैं जिसके एक नट और सूत्रधार तुलसी भी हैं।

समाजशास्त्रके अनुसार समाज मनुष्योंका एक समूह है, कई समूहोंका एक बृहद् समुदाय है। समाज एक मनुष्यके अन्य मनुष्योंके साथ 'जटिल' सम्बन्धोंका पुंज है। समाज एक अकेली जीवन-अवधिसे बहुत लम्बा होता है : इसलिए उसमें

सामाजिक विरासत भी होती है। बुनियादी रूपसे समाज मानवकी जटिल सम्बन्धताओं ( कॉम्प्लेक्स रिलेशनशिप ) का पुंज है। यह बृहद् मानव-समुदाय निष्क्रिय नहीं, सक्रिय और परिवर्तनशील होता है, जिसमें मनुष्य अन्तर्सम्बन्धित और अन्तर्क्रियान्वित होते हैं, और अपने प्रधान हितोंकी खोज करते हैं। प्रधान हित कई तरहके होते हैं, किन्तु आत्मविस्तार, आत्मसंरक्षण और आत्मोपार्जन इनमें भी प्रमुख माने जाते हैं। मानव-समूहोंके कई उपसमूह होते हैं: जैसे व्यक्ति, परिवार, समूह ( ग्रूप ), वर्ग ( क्लास ), समुदाय ( कॅम्यूनिटी ), सम्प्रदाय ( सेक्ट ) और अन्ततः, राज्य ( स्टेट ) आदि। लेकिन इन सबके मूलमें जटिल मानवीय सम्बन्धता होती है जो 'कार्यों' ( ऐक्शन्स ) के माध्यमसे संवर्धित होती है। कार्यके कारण ही मानव-समूह सक्रिय होते हैं। मानवीय सम्बन्धताएँ सक्रियताकी वजहसे ही 'साधन' और 'साध्य'की नयी सम्बन्धतामें ढलती हैं। मानवीय सम्बन्धताका साधन-साध्यकी सम्बन्धतामें रूपायनके कारण ही हम 'मूल्य' तथा 'प्रतीक' प्राप्त करते हैं। ये मानवीय सम्बन्धताएँ अनेक बातोंके अलावा भौतिक तथा आत्मिक संस्कृतिसे भी संक्रमित होती हैं। इसीलिए ये संस्कृतिसे प्रभावित भी होती हैं और उसकी रचना भी करती हैं। ये संस्कृतिको 'प्रतीक' में केन्द्रीभूत कर देती हैं। वैज्ञानिक ज्ञान तथा तकनीक, कलात्मक अभिव्यंजना, चिन्तनकी आध्यात्मिक तथा नैतिक व्यवस्थादि मानव-सम्बन्धताओंको प्रभावित करती हैं।

जब हम समाजके मूल्य और संस्कृतिके प्रतीक पा जाते हैं तब ये दोनों मिलकर यह निश्चित करते हैं कि हमारे अभिलषित कौन-कौन-से हैं। ये मूल्य तथा प्रतीक यह भी निश्चित करते हैं कि हमारे कार्य ( अभिप्रेतोंके कारण ) किस ढंगसे प्रभावित हुए हैं। अभिलषित या अभिप्रेत-द्वारा कार्योंको प्रभावित करनेकी विशेष विधियाँ हैं। समाजशास्त्रमें ये प्रभावक विधियाँ तीन हैं : ( क ) जब चरम लक्ष्य ही कार्यके तत्काल लक्ष्योंकी रचना करते हैं; ( ख ) जब सक्रिय व्यवहारोंसे हटकर कार्य स्वयं चरम ( या अन्तिम ) मूल्योंकी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति हो जाते हैं तब साधन ही ( लक्ष्यसे विमुख होकर ) प्रतीक बन जाते हैं, जैसे : कर्मकाण्ड, भक्ति, नाम, धन, शक्ति आदि; और ( ग ) जब चरम लक्ष्य निर्धारक मर्यादामानों ( नॉर्म्स ) की भी रचना करते हैं। ये मर्यादामान मिलकर एक रूपाकार ( पैटर्न ) बनाते हैं जिसे संस्था ( इन्स्टीट्यूशन ) कहा जाता है। एक समाजमें विभिन्न वर्गों और उसके अन्दर समूहोंकी कई संस्थाएँ होती हैं जो तत्काल लक्ष्योंके अन्वेषी कार्योंको निर्देशित करती हैं, व्यवस्थित सम्बन्धता बरक़रार रखती हैं, तथा उपयोगितावादी कार्यों एवं समुदायके चरम मूल्य-चक्रके बीच भी समंजस क़ायम रखती हैं। लेकिन क्योंकि ये संस्थाएँ एक समुदायसे

दूसरे समुदायमें, एक वर्गसे दूसरे वर्गमें ( कार्यों तथा लक्ष्योंकी विविधता, बहु-लता, पूरकता, विरोधादिके कारण ) भिन्न-भिन्न होती हैं, इसलिए संस्कृतिमें इनकी भूमिकाएँ बदल जाती हैं। ये संस्थाएँ ही बहिर्मुखी सामाजिक स्वरूपगठनकी नींव हैं और व्यक्तिसे सम्बन्धको लेकर होती हैं। सम्प्रदाय, समूह, समुदाय, वर्ग और राज्य मानव-समूहोंके वर्गीकरण हैं। इन समूहोंकी संस्थाएँ संगठनों (ऑर्गेनाइ-जेशंस ) में मूर्तकार्य होती हैं। संस्थाएँ ही समाजके विभिन्न तन्तुओंका ताना-बाना बुनती हैं। हम मध्यकालके सन्दर्भमें कुछ प्रमुख संस्थाओं और उनके संगठनोंका वर्गीकरण कर सकते हैं : ( १ ) आध्यात्मिक संस्थाएँ, ( २ ) आर्थिक संस्थाएँ ( ३ ) नैतिक तथा धार्मिक संस्थाएँ, (४) राजनैतिक संस्थाएँ, (५) उपयोगिता-वादी तथा मनोरंजनवादी संस्थाएँ आदि। इस भाँति समाजके विभिन्न वर्गोंकी 'सामाजिक अन्तर्क्रियाएँ और सामाजिक कार्यधर्मों (फ़ंकशंस)' में विभिन्नता तथा विरोध भी अन्तर्निहित रहता है जिसकी वजहसे द्वन्द्व और प्रतियोगिता, सहयोग और संघर्षमें तो अन्तर्क्रियाएँ मुखर होती हैं, तथा सामाजिक कार्यधर्मोंके अनुसार आध्यात्मिक, आर्थिक, नैतिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक संस्थाएँ आदि दिशाएँ पाती हैं। संगठित मानवसमूह-वर्ग तथा व्यक्तिकी आवश्यकताओंकी पूर्ति सामाजिक कार्यधर्मोंसे ही होती है। प्रमुख सामाजिक कार्यधर्म भौतिक परिपालन, बौद्धिक जागरूकता, नैतिक नियन्त्रण और सौन्दर्यात्मक परिशंसा हैं। सामाजिक अन्तर्क्रिया ग्रामीण व शहरी समुदाय, भीड़ व जनता, समुदाय और समूह, वर्ग और जाति, व्यक्ति और परिवार आदिके बीच होती है। सामाजिक कार्यधर्म तथा सामाजिक अन्तर्क्रिया मिलकर सामाजिक 'जागरूकता और सामाजिक परिवर्तन' का उन्मेष करती हैं। सामाजिक परिवर्तन सामाजिक आन्दोलनका परिणाम होता है। यह स्थायी या अस्थायी, सुनियोजित या अव्यवस्थित, प्रगतिगामी या प्रतिगामी, उपयोगी या हानिकारक, एकदिक् या अनेकदिक् हो सकता है। सारांशमें, किसी विशिष्ट समयके विशिष्ट समाजकी सामाजिक अन्तर्क्रियाओं, सामाजिक कार्यधर्मों तथा सामाजिक परिवर्तनोंका स्वरूप 'संस्थाओं' में प्रकट होता है। संस्थाएँ हमारे कार्योंको प्रभावित करती हैं, कार्य अभिप्रेतसे निश्चित होते हैं, और अभिप्रेत या अभिलषित समाजके चरम लक्ष्यों या मूल्यों-द्वारा व्याकुल हो उठते हैं। तुलसी आदिने साधनोंको ही प्रतीकमें रूपान्तरित कर दिया है, आध्यात्मिक और धार्मिक संस्थाओंपर ही बल दिया है, वर्गके स्थानपर वर्णके कार्यधर्मोंको परिनिष्ठता दी है, और चरम मूल्यके रूपमें मोक्ष, निर्वाण, मुक्तिको प्रतिष्ठित किया है। इनके सामाजिक मूल्यचक्रमें अर्थ, और कामको सबसे नीचा दर्जा दिया गया है, धर्मका पौराणिक उद्धार हुआ है तथा मोक्ष हिन्दू संस्कृतिका चरम

'प्रतीक' हो गया है।

इस पृष्ठभूमिके बाद हम मुग़ल-युगके पूर्ववर्ती समाज तथा संस्कृतिकी मूल विशेषताओंको बतायेंगे।

हर्षवर्द्धनकी मृत्युके बादसे पृथ्वीराजके पतन ( ६४७-११९२ ई० पू० ) तकका भारत राजनैतिक दृष्टिसे खण्ड विदीर्ण हो चुका था। इस कालमें पाटली-पुत्र, उज्जयनी, कान्यकुब्ज-जैसा भारतीय संस्कृतिका कोई केन्द्र नहीं रहा, और देश निरन्तर युद्धरत राजवंशोंमें बिखर गया। इनमें-से कोई भी भारतीय एकताका सूत्र नहीं गूँथ पाये। उस समय पालों, प्रतिहारों तथा राष्ट्रकूटोंके बीच देशके अधिनायकत्वकी होड़ शुरू हुई जिसकी परिणति प्रतिहारोंका विनाश थी। प्रतिहारोंके विनाशसे मध्य एशियासे मुसलमानोंके हमलोंके रास्ते निष्कण्टक हो गये। प्रतिहारोंके बाद परमार वाक्पति मुंज तथा चन्देल धंगके पास शक्ति चली गयी। इनके बाद भोज और विद्याधर आये। फिर गाहड़वार आये और कलचुरि साम्राज्यको ध्वस्त करने लगे। ११८६ में मुहम्मद ग़ोरीने लाहौर जीतकर हिन्दू शक्ति एवं स्वतन्त्रताको ज़बरदस्त धक्का दिया। केवल कुछ घुड़सवारोंके साथ मुहम्मद बिन-बख्तियारने नदिया तक हमला किया और हिन्दू संगठनको ख़त्म कर दिया। अब मुसलमान राजवंश स्थापित हुए और तुलसीके समयमें मुग़ल साम्राज्यके दूसरे ( हुमायूँ ), तीसरे ( अक़बर ) और चौथे ( जहाँगीर ) शाहन्शाहकी परम्परा स्थापित हो गयी थी। अब वे हमलावर विदेशी नहीं, विदेशी इसलाम धर्मके बन्दे भारतवासी सम्राट् थे जो हिन्दू संस्कृतिसे प्रभावित भी थे। यह एक बड़ा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन था। दो समाजों तथा दो संस्कृतियों—हिन्दू-मुसलमान तथा इसलाम-पौराणिक—की समाजशास्त्रीय अन्तर्क्रिया तथा सामाजिक परिवर्तन शुरू हुआ। इतिहास राजवंशोंके उत्थान-पतन और घटनाओं-की बातें गिनकर निरुत्तरित हो जाता था। लेकिन इस परिवर्तनको जनताने किस तरह झेला? दरबारोंकी धुरीके बाहरके समाजपर इनका क्या असर हुआ?

हम कह आये हैं कि मध्यकाल शौर्यवृत्तसे संचारित रहा है। शौर्यवृत्तमें शौर्य ( शिवेल्री ) और स्पर्धा ( राइवेल्री ) दोनों होती हैं जो बहुधा सामन्तों, उपसामन्तों तथा ठाकुरोंके साथ जुड़ती हैं। इससे राष्ट्रीय ( देशभक्तिपरक नहीं ) संगठनकी नींव नहीं पड़ पाती, और राजाओंकी आपसी स्पर्धाओं-ईर्ष्याओंमें शक्ति तथा लक्ष्मी बिखर जाती है। इससे सामन्तों और ठाकुरों तथा किसानों और व्यापारियोंके बीचमें भी खाई गहरी होती जाती है और वे भी साम्प्रदायिक स्पर्धाओं ( जैन-बौद्ध, ब्राह्मण-शाक्त, हिन्दू मुसलमान ) तथा जातीय ईर्ष्याओं ( ब्राह्मण-क्षत्रिय, ब्राह्मण-शूद्र, वैश्य-क्षत्रिय ) में बिखरते चले जाते हैं। इस भाँति

सम्राटों और जनता दोनोंमें ही प्रबल संघर्ष ईर्ष्या-स्पर्धा परिव्याप्त हो जाती है। आंचलिक युद्धोंके उद्देश्यसे जनचित्त अलग होता है क्योंकि वे राजाओंके स्वार्थ और दर्पकी भी देन होते हैं। किन्तु इन युद्धोंका परिणाम जनताको भोगना होता है। गाँव और शहरमें लूटपाट और हत्या बरबादीका ताण्डव होता है; घरों तथा खेतोंको आग लगा दी जाती हैं; गुलामों और नारियोंका अपहरण होता है; तथा धोखा, छल, प्रपंच, पतनका दौर शुरू हो जाता है। अकाल और सामाजिक पतन युद्धके परिणाम होते हैं। ऐसी सामाजिक व्यवस्थामें सामाजिक समूहोंके द्वन्द्व, ईर्ष्याएँ, अयोग्यताएँ आदि मिलकर अस्थिरता उत्पन्न करती हैं। युद्ध और अस्थिरताके ऐसे वातावरणमें शासनके पदाधिकारी निरकुंश, भ्रष्टाचारी और क्रूर हो जाते हैं। वे किसानोंका कोरमकोर शोषण करते हैं क्योंकि सम्राट्को सामन्तों-जागीरदारोंसे एक-तिहाई कर लेना ही है, सामन्तों और ठाकुरोंको भी अपने महलोंकी शान-शौकतके लिए आय चाहिए ही, पदाधिकारियोंको भी सामन्तोंकी तरह विलासपूर्ण जीवनके लिए साधन चाहिए ही। और इन तीनोंके स्रोत हैं—किसान! किसानोंका अकेला स्रोत है—भूमि! इसलिए सामन्तीय व्यवस्थाकी धुरी है—भूमि-व्यवस्था! इसलिए सामन्तों, 'राजाओं' (बड़े सामन्त), ठाकुरों आदिने भूमिपर स्वामित्व अपना रखा, अस्थायी अधिकार किसानोंको दिया। गृहस्थ किसान कृषिदास भी हो गये। स्वामी-सेवकके सम्बन्ध ही सामाजिक सम्बन्धोंके प्रधान आदर्श माने गये। सामन्त अन्नदाता, किन्तु कंगाल किसानोंकी सत्ताके बलपर अन्नदाता, हो गया। इस भूमि-व्यवस्थाकी भी विशिष्ट सीढ़ियाँ थीं। सम्राट् राज्यका सबसे बड़ा स्वामी, सर्वप्रमुख भूमि स्वामी, होता था। उसके नीचे बड़े सामन्त होते थे जो अपने मातहत छोटे भूमिपतियों अर्थात् 'ठाकुरों' की नियुक्ति करते थे। सम्राट् बड़े-बड़े सेनापतियों और विश्वासपात्र दरबारियोंको भूमिदान ( जागीर ) दिया करता था, और बदलेमें उनसे युद्धके समय सेना तथा शान्तिके समय कर लेता था। ये सामन्त तथा ठाकुर अपने इलाक़ोंमें शासनके लिए पूर्णतः निरंकुश थे। सिपाही वेतनभोगी ग़रीब किसान होते थे और करदाता शोषित किसान-मज़दूर! वे गुलामों, दासों, बेगार करनेवाले मजदूरोंके द्वारा खेती कराते थे। खेतोंकी उपज तथा आमदनी उधर तो पदाधिकारियों, सामन्तों तथा सम्राट्के पास जाती थी और इधर साहूकारों, सूदखोरों, पुरोहितोंका भी परोपजीवन चलता था। सामन्तको अधिकार था कि वह किसानकी ज़मीन ज़ब्त कर ले या उसे बटाईपर उठा दे। फलस्वरूप राजा और जनता, दोनोंके विघटन, पतन और सुप्तावस्था ( कलियुग ) के मूलमें है—भूमि-व्यवस्था! इनकी अभिव्यक्ति क्रमशः सामन्तीय युद्धों और

सामन्तीय संस्कृति, तथा जनताकी व्यथा-भरी दरिद्रता और लोकसंस्कृतिके दिव्यलोकके पलायनवादी स्वप्नोंमें हुई है। धनवान और दरिद्रके बीच आकाश-पातालका अन्तर था। क्षेमेन्द्र, कल्हण, बब्बर, पुष्पदन्त आदिने देशके इस दरिद्रता सिन्धुका भी चित्रण किया है, किन्तु उन्होंने 'कलियुग'का प्रतीक नहीं लिया, न ही किसी स्वर्णयुगसे इसकी तुलना की है। ऐसी परिस्थितियोंमें हिन्दू जनताके बीच धर्मकी जो माया फैली थी उसकी वजहसे लोगोंको बाहुबलकी अपेक्षा तन्त्र-मन्त्रपर अधिक विश्वास था। प्रजा सिद्धों-योगियोंकी श्रद्धा नहीं करती थी, बल्कि उनसे डरती थी। सारे समाजमें तन्त्र-मन्त्र-जन्त्रमूलक साधनाएँ फैली थीं जो व्यक्तिगत हित या व्यक्तिगत मोक्षपर ही बल देती थीं। अतः समष्टिगत चित्त और स्वस्थ मनका अभाव हो गया था। अलौकिक चमत्कारों, सिद्धियों, तन्त्र-मन्त्र-शकुनों, अवश भाग्यवाद, साधुओं आदिके प्रति गहरे अन्धविश्वास फैल गये थे। सिद्धों-नाथोंने गृहस्थ-धर्म तथा सती नारीकी महत्ताको लुप्त-सा कर दिया था। लोगोंके विचारों और आचरणों, कथनी और करनी, में गहरी खाई हो गयी थी। धार्मिक सम्प्रदायोंके संघर्ष प्रबल हो गये थे और वे विदेशी शक्तियोंसे सुलह भी करते थे। इसलिए सहज जीवन, समष्टि चित्त और सांस्कृतिक गौरव, इन तीनोंके अवतारके लिए सामाजिक कार्यधर्म ( सोशल ऐक्शन ) गतिशील हो उठा था। गृहस्थ धर्म और सती नारीकी महत्ताके लिए आन्दोलन चल पड़े थे। सिद्ध-रसके बजाय प्रेम-रस, मठोंके बजाय गृहस्थ गृह, दर्पोन्मत्त सम्राटोंके बजाय श्रीराम-जैसे स्वामी सम्राट् ईश्वर, तथा वैयक्तिक स्वार्थोंके बजाय सेवाभाव — इन 'चारों' अनिवार्यताओंका अभिषेक करनेके लिए नये समाज-दर्शन तथा धार्मिक और आध्यात्मिक आन्दोलन चल पड़े थे। दक्षिणसे आविर्भूत रागपूर्ण और जात-पाँत बन्धनोंसे रहित भक्तिधारा सामाजिक आवश्यकता होकर फूटी और देखते-देखते वृन्दावन, ब्रजमण्डल, जगन्नाथपुरी; नदिया, पाली, मणिपुर, द्वारका तकको अपनी मानव-सुलभता, विश्वास-श्रद्धा तथा अनुराग-मधुरतामें बहा ले गयी। भक्तिके चारों सम्प्रदायोंने साधारण मनुष्यकी चारों अनिवार्यताओंको भावों, विचारों तथा सौन्दर्य-दृष्टियोंसे भर दिया। अब नये स्वामी तथा सम्राटोंका अभिषेक हुआ : अवन्ती के सम्राट् महाकाल हुए, काशीके सम्राट् शिव, पुरीके जगन्नाथ, अयोध्याके राम, और मथुराके कृष्ण! प्रजाने वे दरबार, वे स्वामी, सखा, वे राजा कल्पित कर लिये जो दिव्यलोक, देवमन्दिर और सम्पूर्ण पृथ्वीके थे, जो ईश्वर होकर भी पृथ्वीपर मानवावतार धारण करते थे। जनताको राम-रावण युद्धके रूपमें युद्धका एक नया आदर्श मिला जहाँ वह स्वयं भी सेवक या सेना थी; और राधा-कृष्ण प्रेमके रूपमें प्रेमका एक आदर्श मिला जो आत्म-

विभोर है, जहाँ शरीर तथा वासनाके बन्धन नहीं हैं, जहाँ नारी कामयष्टि न होकर प्रेमी पुरुषकी प्रिया है, उसके बराबर है। इस भाँति सामाजिक परिवर्तन-में असमर्थ प्रजाने कमसे कम एक आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन कर ही डाला। किन्तु रूसने अपने वर्तमानको 'कलियुग' कहकर इस जगत्को ही मिथ्या माननेकी पुनः भयंकर ग़लती कर डाली; और फलस्वरूप उसका यह आन्दोलन यथार्थकी चट्टानपर छहरा गया। सम्राटोंकी रीतिकला पुनः आ गयी। रीति-काल : अर्थात् सामन्तीय संस्कृतिका विलास-शृंगार, दर्प और पतन! तो, सामा-जिक सम्बन्धों, सामाजिक अन्तर्क्रियाओं तथा सामाजिक कार्यधर्मोंकी दृष्टिसे जनता-का समाजशास्त्र इस भाँति चुनौतियोंका मुक़ाबला और समस्याओंका समाधान कर रहा था। तुलसीने 'कलिकाल'के प्रतीकको लेकर अपने समयके समाजकी सभी संस्थाओंके पतनका अतिरंजित वर्णन किया है। इसी तरह 'सतयुग' के प्रतीक-द्वारा अपने पौराणिक आदर्शों तथा तत्कालीन जीवनकी अच्छी बातों ( जिन्हें वे भी अच्छा समझते थे ) का स्वप्न देखा है। कलिकाल अर्थात् तत्कालीन समाजमें यदि एक ओर घोर आर्थिक दरिद्रता, शोषण-छल-कपट और नैतिक पतन था, तो दूसरी ओर वैदिक परम्पराएँ लुप्त हो चुकी थीं और तन्त्र-मन्त्र-जन्त्रका प्रसार हो गया था। अतएव कलिकाल – रामराज्यके प्रतीकों-द्वारा तत्कालीन समाजका अन्तर्भूत और परोक्ष और अतिरंजित प्रतिबिम्ब खींचा गया है।[१] सारांश यही है कि मुसलमानोंके हमलों या हिन्दू राजाओंकी पराजयके कारण मुसलिम-युगमें ही भक्ति आन्दोलन नहीं उठा, बल्कि पृथ्वीराजके बादकी भूमिव्यवस्था, वर्णव्यवस्था, सामन्तीय शोषण और विलासके कारण यह सारे अन्तर्विरोधोंको निहित करता हुआ संचरणशील हुआ। हिन्दू सम्प्रदायवादी दृष्टिसे देखनेपर तो सारे समाज और आन्दोलनका स्वरूप ही अनैतिहासिक हो जाता है। इस आन्दोलनका सम्बन्ध हिन्दू राजाओंके पतन और मुसलमानोंके हमलोंसे नहीं है, यद्यपि इन दोनोंने इसे प्रभावित ज़रूर किया है। इस प्रभावके फल-स्वरूप संस्कृतिका जो नया 'प्रतीक' बना वह अधिक समृद्ध, प्रचुर समन्वयवादी, स्वस्थ और बहुजनव्यापी था।

संस्कृतिके इस नये प्रतीककी रचनामें समाजका मुग़ल 'रंगमंच' सबसे महत्त्वपूर्ण है जिसने तुलसी ही नहीं, परमानन्द, मीरा, रहीम, सूर और उनसे

---

१. यह अनुच्छेद डॉ० बुद्धप्रकाशके शोधपत्र 'सम ऐस्पेक्ट्स ऑव इण्डियन कल्चर ऑन द ईव ऑव मुस्लिम इन्वेज़न' तथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीके चारुकथा लेख 'चारुचन्द्रलेख' पर भी आधारित है।

पहले कबीर-जायसीके प्रादुर्भावके लिए 'सामाजिक' समाज प्रस्तुत किया। महान् अकबरके शासनमें तीन सामाजिक परिवर्तन हुए : (१) आर्थिक भूमि-सुधार, (२) राजनैतिक स्थिरता और फलस्वरूप मुसलमानों तथा राजपूतोंकी मैत्री, तथा (३) सांस्कृतिक उदारतावाद। इस प्रसंगमें हमारा आशय यह क़तई नहीं है कि प्रजाकी ग़रीबी दूर हो गयी थी, या जागीरदारों-द्वारा शोषण समाप्त हो गया था, अथवा धार्मिक कट्टरता मिट गयी थी। इस समयमें कुछ आर्थिक सुधारोंकी वजहसे ग़रीबी और शोषणमें थोड़ी कमी हुई थी; सांस्कृतिक उदारताकी वजहसे हिन्दुस्तानी संस्कृति, कला, संगीत आदिका सूत्रपात हुआ था; और अकबरकी प्रजावत्सलताके कारण आशावादका संचार भी हुआ था। तुलसी (१५३२-१६२३ ई०) अकबर (१५४२-१६०५) से दस वर्ष बड़े थे और उन्होंने जहाँगीर शासन कालके भी दस वर्ष देखे थे। उनके समयमें डचों और अँगरेज़ोंका आवागमन नहीं बढ़ा था। हुमायूँ-द्वारा भिश्तीको एक दिनका सुलतान बनाने तथा उसके द्वारा चमड़ेके सिक्के चलवानेकी घटना तुलसीको याद थी (नामु राम, रावरो तो चाम की चलाई है' कवितावली, ७।७४)। किसी एक गंगारामके लिए उन्होंने 'रामाज्ञा प्रश्न' भी लिखा था। काशीकी महामारी तथा चित्रकूटकी दावाग्नि (कवितावली) के अलावा उन्होंने किसी अन्य ऐतिहासिक घटनाका प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं किया है; लेकिन परोक्ष उल्लेखों, तथा तत्कालीन समाज-वर्णनोंसे तुलसीवृत्त पर्याप्त है। इसीलिए उनके (हि·दू वैष्णव) समाजके प्रत्यक्ष चित्र अर्थात् मुग़ल-रंगमंच (मुग़ल समाज नहीं) को प्रस्तुत करना वांछनीय है।

बादशाह अकबरके समयमें हिन्दू राजाओं, दिल्ली सल्तनत, शेरशाह सूरी आदिके परिणामोंकी सामाजिक चुनौतियोंका स्वीकरण (क्रिस्टेलाइज़ेशन) हो गया था। सबसे पहले ग़रीब एवं ग़ुलाम किसानों, तथा असन्तुष्ट एवं भगोड़े सिपाहियोंकी दशा सुधारनेकी ज़रूरत थी जिसके लिए भूमि-सुधार और फ़ौजका पुनर्गठन किया गया। फिर, विद्रोही और वफ़ादार सामन्तों, रजवाड़ों तथा सूबेदारोंको अधीन रखनेकी ज़रूरत थी जिसके लिए केन्द्रीय शासनकी दिशामें सुधार हुए। अन्तमें पराजित हिन्दू राजशक्तियोंको शत्रुसे मित्र बनानेकी ज़रूरत थी जिसके कारण एक नयी कूटनीतिक एवं सांस्कृतिक दरबारी परम्पराओं एवं लोकलोचनाका संगम हुआ। तत्कालीन सामन्तीय सम्बन्धोंके अलावा साधारण प्रजापर भी इन आवश्यकताओंका दूरगामी असर पड़ा। कुल मिलाकर एक खण्डविदीर्ण सामन्तीय समाजको सुदृढ़ और परिणामतः नवोन्मेषित मध्ययुगीन साम्राज्यशाही व्यवस्थामें परिवर्तित करनेका

यह एक शक्ति एवं उदारतापूर्ण सफल अनुष्ठान ठहरता है। तुलसी अकबर-जहाँगीरकी सुदृढ़ एवं नवोन्मेषित साम्राज्यशाही व्यवस्थाके ही एक प्रजाजन थे; लेकिन दरबारी समूहसे अलग थे।

अकबरके शासनकालमें प्रजा ग़रीब थी, अकाल पड़ना आम बात थी : सन् १५५६ में उत्तर भारत, १५७३-'७४ में गुजरात, और १५९५-९८ में समूचे भारतमें अकाल पड़े। आख़िरी अकालमें तो आदमी आदमी तकको खा डालते थे। किन्तु इस दरिद्रताके कीचड़के बीच भी सामन्तोंकी क़िलों, गढ़ियों, हरमों, अन्तः-पुरों, दरबारोंवाली संस्कृति शान-शौकतसे खिली थी। तुलसीने इस भयानक ग़रीबीको 'भोगा' तथा 'देखा' था। सारे भक्तों और सन्तोंमें से अकेले तुलसी ही ऐसे हैं जिन्होंने घोर ग़रीबी झेली तथा भोगी है और इसके सबसे भयंकर 'कोढ़' अर्थात् अकालका आतंक सर्वाधिक पेश किया है ( विनयपत्रिका, २१९ )। जब अकाल राक्षसकी तरह छाता है तब सारे देशको जकड़ लेता है ( मानस, ६।६९।२ )। अकालकी भयानक यादको वे 'मानस' में काकभुशुण्डिके एक पूर्वजन्म वृत्तान्त-द्वारा भी पेश कर देते हैं। अकालमें दीन, मलिन, दरिद्र और दुखी लोगोंके झुण्ड बिललाते हुए देश-विदेशमें भटकते थे ( मानस, ७।१०४ ) तुलसीने ग़रीबीको कभी भी आदर्श नहीं माना। सारे 'मानस' में सुख, प्रसन्नता कामनाकी अभिव्यक्तिके लिए "जैसे ग़रीबको सम्पत्ति मिल जाय" जैसे वाक्यकी सैकड़ों बार आवृत्ति की है। अकबरने किसानोंको काफ़ी राहत दिलायी। मध्यकालके प्रसिद्ध अर्थशास्त्री उनके वित्तमन्त्री टोडरमलने नया बन्दोबस्त लागू किया। इसका दुहरा उद्देश्य था : किसानोंपर कर-भार और शोषणका बोझ न लादा जाये; तथा किसानों और जागीरदारों दोनोंसे ही शासन-कार्यके लिए पर्याप्त और नियमित धन मिलता रहे। सारी ज़मीनकी पैमाइश करायी गयी और शेरशाहकी व्यवस्थामें संशोधन किया गया। बंजर तथा चाँचर ज़मीनके कर-सम्बन्धी उचित नियम बनाये गये; बाढ़-सूखा और अकालमें किसानोंकी मालगुज़ारी माफ़ की गयी, सरकारी मदद दी गयी तथा किसानोंकी तकलीफ़ोंका ध्यान रखा गया। पैमाइशके बाद सारे गाँव और प्रत्येक किसानकी अलग-अलग मालगुज़ारी मुक़र्रर की गयी। आमिलगुज़ार निश्चित समयपर किसानोंको कर देनेके लिए प्रोत्साहित करता था, तहसीलदार कर वसूल करता था, क़ानूनगो अनुमान-पत्र तैयार करता था, और वितिक्ची ( मुनीम ) हर किसान तथा हर गाँवका अलग-अलग कर निश्चित करता था। इसके फलस्वरूप बीचके अफ़सरों और जागीरदारोंका हड़कम्पी शोषण-उत्पीड़न काफ़ी कम हो गया। सम्राट्ने जागीरदारोंकी जागीरें भी ज़ब्त कीं जिससे वे सम्राट्के दण्डके अधीन रहे और

नृशंस लूट-खसोट करनेसे सहम गये। इसी वजहसे 'मानस' में राजकुमार राम केवटकी नावपर चढ़नेकी खेवाई (मजूरी) देनेकी एक हल्की-सी भौतिक बात याद तो रखते हैं। अबुलफ़ज्लने गेहूँ, जौ, मसूर, अलसी, मूँग, सरसों, ज्वार, कोदों, साँवाँ, मकई आदिकी फ़सलें ख़ास मानी हैं। तुलसी ग़रीबोंके साथ कोदों, साँवाँ आदिको 'मानस' तकमें ले आये हैं। सम्राट्ने शहरोंमें 'कारखानों' की स्थापना करायी जहाँ आध-आध मनके गोले, सुन्दर तोपें, मज़बूत मंगोली-ईरानी दरियाँ बनती थीं ( तुलसीने भी 'मानस' के लंकाकाण्डमें एक जगह तोपके गोले दग़वा दिये हैं )। उस युगमें कश्मीर दुशालों तथा 'कम्बल' के लिए प्रसिद्ध था, पाटन, बुरहानपुर और बनारस सूती-रेशमी कपड़ोंके मरक़ज थे। तुलसी पटोरों ( रेशमी वस्त्रों ) और कम्बलको नहीं भूले। इसी कड़ीमें जहाँगीरने भी जागीरदारोंपर प्रतिबन्ध लगाये। वे किसीके घरपर दखल नहीं कर सकते थे, वे किसीकी सम्पत्ति भी ज़ब्त नहीं कर सकते। यह क़ानून 'घस्बी' कहलाता है।

निस्सन्देह भारतीय इतिहासमें अशोक, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त, हर्षके बाद अकबर महापुरुष और महान् सम्राट्के रूपमें देशके गौरव माने गये हैं। उन्होंने तैमूरिया रक्तसे कला-प्रेम, प्रकृति-प्रेम और साहित्य-प्रेम पाया था। वे भारतमें जनमे और मृत्युको प्राप्त हुए। अतः उन्होंने ईरान तथा मध्य एशियाकी संस्कृतिको भारतकी हिन्दू-संस्कृतिमें मिलानेके अनूठे प्रयास किये। भारतीय और भारतके मुसलमान सम्राटोंमें वे प्रथम शाहंशाह थे जिन्होंने उधर बग़दादके खलीफ़ा हारूँ-अल-रशीदके आदर्शोंको, और इधर सम्राट् विक्रमादित्यके नवरत्नोंकी परम्परा-को चलाया। उनके जीवनकी महत्त्वाकांक्षा 'सुलह कुल' ( सबके साथ मेल ) थी। संगीतमें तानसेन, स्थापत्यमें फ़तहपुर सीकरी, चित्रकलामें राजपूत-मुग़ल क़लम, और साहित्यमें रहीम उनकी देन हैं। धार्मिक दृष्टिसे वे बेहद उदार थे। उन्होंने 'दीन इलाही' की स्थापना भी की थी जिसमें इसलाम, ईसाई, वेदान्त, जैन और बौद्ध तथा सूफ़ी धर्मके मानवतावादी सिद्धान्तोंका संयोग था। उनके दरबारमें दशहरा, दिवाली, शिवरात्रि और राखीके त्यौहार ईद तथा रमज़ानके साथ-साथ मनाये जाते थे। उनका पहनावा भी हिन्दू वेश-भूषासे समन्वित था। उन्होंने हिन्दू समाजमें कई सुधार किये। जज़िया कर समाप्त कर दिया गया, गोवध बन्द कर दिया गया, सती-प्रथा ग़ैरक़ानूनी घोषित कर दी गयी तथा विधवा-विवाह क़ानूनी हो गया। सती-प्रथा कितनी प्रबल रही होगी इसका अनुमान 'मानस' में पौराणिक शिव-सतीके प्रसंगके समावेशसे लगाया जा सकता है। अकबरकी राजधानी आगरा और उनका क़िला भी, सामन्तीय संस्कृति तथा जीवनके पल्लवन-प्रसुमनका केन्द्र हो गया था। उनके दरबारी कवियोंमें

नरहरि, गंग, सूरदास, मदनमोहन, तानसेन, टोडरमल, मनोहर कवि, बीरबल, रहीम खानखाना आदि थे। इन्होंने नीति और लौकिक काव्यकी रसधारा बहायी। अकबरके दरबारमें होलराय, कुम्भनदास, केशवदास, करनेस, दुरसा आदि सम्मानित हुए थे। दरबारी दुनियासे बाहर लोकमें भी नीति और अलौकिक काव्यकी भक्तिधारा प्रवाहित हो रही थी जिसमें तुलसी, परमानन्द, मीरा, सूर आदि प्रधान थे। यह भी कहा जाता है कि स्वयं अकबर महान् अपने राजसी वैभव तथा पद-प्रतिष्ठाको छोड़कर इन भक्त कवियोंके पास स्वयं मिलने आये। यह भी कहा जाता है कि बरवै छन्दके जादूगर नीतिवादी रहीम कवि, और दोहा-चौपाइयोंके चितेरे सन्त तुलसीमें मित्रता थी। ये बातें एक उदार सम्राट् और नव-जागृत संस्कृतिके अभावमें नहीं हो सकतीं। कुछ कट्टर हिन्दू इनमें कुचाल या छलका अप्रामाणिक अनुमान ठूँसनेके आदी हो गये हैं। किन्तु इस समाजमें भी अछूतोंकी दुर्दशा थी। ये गाँव तथा नगरके भीतर नहीं रह सकते थे। इनके आठ समुदाय थे: धोबी, मोची, जुलाहे, टोकरे और ढाल बनानेवाले, मछेरे, धींवर, ब्याध और रिगर। इनमें भी नीचे थे: हाड़ी, डोम, चाण्डाल आदि।

अकबरके समयमें 'समन्वय' ही संस्कृतिका प्रतीक हो गया। इस समयके सभी समाजोन्मुख संस्कृति-निर्माताओंको समन्वय करना पड़ा। सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रमें अकबरने, तथा धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्रमें तुलसीने यह समन्वय किया। यही नहीं, इस युगमें समाज अपेक्षाकृत यथार्थोन्मुखी था। अकबरकी राजसभामें अंकुरित हुई मुग़ल शैलीमें वास्तविक दृश्यों तथा वास्तविक लोगोंके अंकनकी प्रवृत्ति ज़्यादा है। इसी भाँति तुलसीने रहस्य और गूढ़ताके स्थानपर वास्तविक मानव-सुलभ जीवनके कटु-मधु, लौकिक तथा आदर्शोन्मुख यथार्थपरक इतिवृत्त भी दिये हैं। तथापि अकबर और तुलसीकी उदारता सम्बन्धी, समन्वय सम्बन्धी, सामाजिक साध्यों सम्बन्धी दृष्टियों और दायरोंमें बहुत फ़र्क़ है। यह फ़र्क़ एक सम्राट् और सन्त, एक दीने-इलाहीके अनुयायी तथा स्मार्त वैष्णव-परम्पराके भक्त, एक व्यावहारिक प्रशासक और आदर्शवादी स्वप्न-द्रष्टा, एक सामन्तीय स्वामी और बे-घरबार ग़रीब ग्रामीण ब्राह्मणके बीचका है जिसके शुक्ल-पक्ष तथा कृष्ण-पक्ष दोनों हैं। फिर, इन दोनोंके अपने-अपने वर्गीय चरित्र भी हैं जिनमें मज़हब या वर्णकी छाप भी लगी है। अकबरका दरबार सामन्तीय संस्कृति तथा जीवनकी धुरी था; और तुलसीका संसार लोक-जीवनकी दारुण गाथा तथा रामकथाकी आध्यात्मिक संस्कृतिका हृदय था। अकबरका दरबार तो इतिहासका केवल छोटा-सा रंगमंच था। वास्तविक और विराट् समाज महाकार होकर कराह रहा था। तुलसीने इस साम्राज्यके उपर्युक्त रंग-

मंचमें 'काल' की दृष्टिसे भाग लिया। लेकिन 'देश'की दृष्टिसे उन्होंने हिन्दू प्रजाके समाजका वह इतिहास लिखा जो धार्मिक, आर्थिक, नैतिक, आध्यात्मिक संस्थाओं-में मुखर हो रहा था।

तुलसीकी कृतियोंके आधारपर तत्कालीन समाजकी रचनाकी अपनी सीमाएँ हैं: (१) तुलसीने सांगोपांग रामवृत्तको तथा आद्यन्त राममयताको लिया है जिसकी वजहसे उनका समकालीन समाज प्रच्छन्न तथा प्रतीक तथा संकेत तथा उपमान रूपमें आया है; (२) तुलसीने पूरे भारतीय समाजको न लेकर केवल हिन्दू समाज तथा संस्कृतिको लिया है; (३) तुलसीने इस समाजका तटस्थ विवरण नहीं दिया, बल्कि अपने भक्त, अपने ब्राह्मण, और अपने संन्यासीके एकांगी दृष्टि-कोणसे सामाजिक आलोचना भी की है; (४) तुलसीने 'रामराज्य' तथा 'कलियुग'-के प्रतीकोंमें अपने समाजके यथार्थ, मर्यादामान तथा आदर्शको अतिरंजित शैलीमें प्रस्तुत किया है; और (५) तुलसीने समाजके अपने चित्रणमें आदिम समाज तथा कृषक समाज दोनोंका मेल करा दिया है। इसे लोकसमाज ( फ़ोक सोसायटी ) कहा जा सकता है ( आचार्य शुक्ल भी 'लोकमंगल' के सन्दर्भमें लोकका ऐसा ही व्यापक अर्थ करते हैं )। तुलसीकी कृतियोंमें शहरी तथा ग्रामीण (लोक) समाज, दोनों ही आये हैं।

जिस तरहका लोकसमाज तुलसीने प्रस्तुत किया है उसके ( मध्यकालके सन्दर्भमें ) विशिष्ट सामाजिक कार्यधर्म तथा मूल्य हैं। 'विधेयात्मक दृष्टिसे' ऐसे समाजमें कार्य स्वयं चरम मूल्योंकी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति हो जाते हैं अर्थात् कर्मकाण्ड ( रिचुअल ) भी पवित्र हो जाते हैं, और फलस्वरूप खाद्य वस्तुएँ ( कन्द, मूल, फल, सात्त्विक भोजन, पवित्र भोजन ) तथा जीविकोपार्जक कर्म ( भिक्षा, वेदपाठ, पुरोहिती आदि ) भी पुनीत हो जाया करते हैं। तुलसीमें समाजके अभिप्रेतको, तथा कार्योंको, प्रभावित करनेवाली इस विधिकी प्रधानता पायी जाती है, वहाँ साधन और साध्यमें सामरस्य हो गया है। इस समाजके सदस्योंका आचरण एक टाइप या मर्यादामान ( नॉर्म ) की अनुगामितावाला होता है अर्थात् इनमें संस्थाएँ समूहगत सुदृढ़ताका हेतु होती हैं। इसलिए ऐसे समाजमें परम्परागत संस्कृतिका प्रभाव रूढ़ियोंके रूपमें व्याप्त होता है; और प्रथाएँ ( कस्टम्स ) सभी चीज़ोंको अचल-सा बना देती हैं। इसी अचलताके अन्तरालसे प्रतिद्वन्द्विता और प्रतियोगिता, संघर्ष और सहयोगका उद्घाटन होता है; और समाजके विभिन्न मानव-समूहोंकी भूमिकाएँ भिन्न-भिन्न हो जाती हैं। 'सहकारिता' और 'संगठन' ( सुदृढ़ता एवं सूत्रबद्धता ) पर आधारित ऐसे लोकसमाजोंमें 'कार्य'-की दूरगामी पहल होती है क्योंकि वे लक्ष्योंके आमने-सामने होते हैं। इसीलिए

एक भी व्यक्तिके उल्लंघन अथवा मर्यादा-पालनपर पूरीकी पूरी संस्कृति मानो झकझोरित तथा जागरूक हो जाती है। इसी समाजके 'निषेधात्मक पक्ष' भी होते हैं जब कोई व्यक्ति, या समुदाय, किसी अन्य समूहके साथ संघर्षरत हो जाता है। वर्ण तथा जातिमें बँटे समाजमें ये संघर्ष बहुत विषम तथा निरन्तर होते हैं। भू-आधिपत्यवाले परिवार सबसे अधिक लाभ और शक्तिकी स्थितिमें होते हैं तथा अन्य वर्गोंमें धरतीकी भूख तथा पेटकी भूख धधक उठती है। फलस्वरूप शोषण, दमन, नृशंसता, हिंसादिके अलावा यातना, रोग, आर्थिक अधोगति, राजनैतिक छल-कपट और व्यक्तित्वका विकृतीकरण भी समाजमें फैल जाते हैं। वर्णमूलक समाज बुनियादी तौरपर विघटक तथा प्रतियोगितावाले होते हैं। अतः तुलसीने समाजके इन दोनों पहलुओंको ( एक मिथकीय परिवेशमें तथा स्वतन्त्र रूपसे भी ) लिया है ; लेकिन मुख्यरूपसे धार्मिक तथा आध्यात्मिक संस्थाओंके परिवेशमें यह ग्रहण हुआ है।

समग्र रूपसे तुलसीने तत्कालीन समाजके यथार्थके प्रति एक निराशावादी इतिहासकी दृष्टिको प्रमुखता दी है। तुलसीने कलियुग-वर्णनमें जिस सामाजिक यथार्थताको अतिशयोक्ति और शोकके साथ चित्रित किया है उससे सामाजिक स्वरूप-गठनका जो चित्र मिलता है उसकी कई विशिष्टताएँ हैं : पहले तो उन्होंने कलि-वर्णनकी एक पौराणिक तथा धार्मिक परिपाटीका पालन किया है जिसमें वर्ण, आश्रम तथा वेद तीनोंके लोपके फलस्वरूप ह्रासकी विभीषिका बतायी गयी है; दूसरे, उन्होंने अपने कुसाज समाजके भी रंग भरे हैं जिनमें सामन्तीय युगके अन्तर्विरोध उग्र और कटु और कुचाली हो उठे हैं; तीसरे, उन्होंने केवल हिन्दू समाज, उसमें विशेष रूपसे ग्राम्य ( व थोड़ा नगर ) समाज, और उसमें भी विशेष रूपसे सन्तों, साधुओं, ब्राह्मणोंकी दृष्टिसे परखा गया, समाज लक्षित हुआ है; चौथे, उन्होंने सामाजिक परिवर्तनके प्रधान रूपसे वे द्वन्द्व, वे प्रतियोगिताएँ ली हैं जो संस्थाओंके मर्यादामानों ( नॉर्म्स ) को ढहाती जा रही हैं; पाँचवें, उन्होंने प्रशासनिक परिवर्तनोंपर कम कहा है; छठे, उन्होंने कलियुगका मूल्यांकन वेदवर्ण-आश्रम, काल-कर्म-स्वभाव, सत्त्व-रज-तम, इन तीन त्रिकोणोंके द्वन्द्वात्मक आधार-पर किया है और कलियुगके सामाजिक कार्यधर्मकी तब्दीलियाँ स्वीकार की हैं; तथा सातवें, उन्होंने तत्कालके समाजके घोर भौतिक यथार्थका प्रतीक जो मनुष्य माना है वह खल ( दुष्ट या असाधु ) है। यह मनुष्य मानो तत्कालीन समाजमें मनुष्यका एक अन्धकारपूर्ण बिम्ब है। इसकी टक्करमें उन्होंने मनुष्योंमें सन्त तथा भक्त ( जटायु, भरत और सनकादि भी शामिल हैं ), और उनमें भी सर्वोच्च आदर्श श्रीरामको लिया है। कलियुगका नायक रावणके बजाय खल ही अधिक

मालूम होता है । इन 'सातों' बातोंको ध्यानमें रखकर हम पहले तुलसीके अनुसार उनके वास्तविक समाजका यथातथ्य पेश करेंगे, फिर संस्थागत उस समाजकी बारीकीमें आयेंगे ।

तुलसीके अनुसार उनका समाज 'घोर' कलियुगमें स्थित है, यद्यपि हिन्दू मस्तिष्कमें कलियुग-धारणा गुप्तकालके बादसे ही जड़ जमा चुकी थी । उनके अनुसार सत्ययुगके समाजमें ध्यान, त्रेताके समाजमें यज्ञ, द्वापरके समाजमें पूजन, तथा कलियुगके समाजमें नाम ही चरम लक्ष्यका साधन हैं । तुलसीने 'अपने' समाज-में नामको चरम साधन बनाया । उन्होंने अपने समाजकी नैतिक तथा पारिवारिक मान्यताएँ प्राकृत जनगुण-गानमें नहीं, हरिगुण-कथाओंके गानमें प्रतिष्ठित कीं । इस समाजकी चरम आस्था है ईश्वर-भक्ति ! इसके उठनेपर मनुष्य भाँड़ या बहु-रूपियेकी तरह नाना झूठे और दुहरे और बदले हुए जीवन अपनानेको विवश है (बरवै, ६६) । तुलसीने अपने समाजके लिए परम्परागत औचित्य-अनौचित्यके द्वन्द्वात्मक श्रेणी-युगल भी बनाये हैं जिनके बीच समूह और व्यक्ति काल, स्वभाव तथा कर्मकी प्रबलता,(सामाजिक, वैयक्तिक और वर्गीय आवश्यकता) के आधारपर चुनाव करते हैं । ये द्वन्द्वात्मक श्रेणी युगल हैं : जीव, ईश्वर, अनुराग-वैराग्य, पाप-पुण्य, माया-ब्रह्म, दुःख-सुख, विष-अमृत, नरक-स्वर्ग, मगध-काशी (विलासपुरी और तीर्थ), कर्मनाशा-गंगा, कुजाति-सुजाति, दानव-देवता, क़साई-ब्राह्मण, राजा-रंक, दरिद्रता-लक्ष्मी । व्यक्तिको इन गुण-दोषवाले श्रेणी युगलमें चुनाव करना होता है । जो गुणको चुनता है वह सन्त है, जो दोष चुनता है वह खल (मानस १।५।३-५, १।६।१) । अपने समयके समाजमें वे तीन तरहके मनुष्य मानते हैं : पाटलकी तरहसे फूल देनेवाले, आमकी तरहसे फूल और फल दोनों देनेवाले, तथा कटहलकी तरहसे केवल फल देनेवाले । इसी तरह समाजमें कुछ मनुष्य केवल कहते हैं ( करते नहीं ), दूसरे करते और कहते भी हैं और तीसरे केवल करते हैं पर वाणीसे कहते नहीं (मानस, ६।८९। छन्द) । अपने धार्मिक समाजमें वे विषयी, साधक और सिद्ध तीन तरहके मनुष्य मानते हैं । विभिन्न सामाजिक समूहोंके अन्तर्गत वे साधक, सिद्ध, विमुक्त, उदासी, कवि, विद्वान्. कर्मज्ञाता, संन्यासी, जोगी, शूरवीर, बड़े तपस्वी, ज्ञानी, धर्मपरायण, पण्डित और विज्ञानी ( मानस, ७।१२३।३ ) मानते हैं जो व्यष्टि और समष्टिके उभयाधार लिये हैं । इन समूहोंका वे और विभाजन करते हुए इनके अन्तर्गत ब्राह्मण, राजा, वैश्य, शूद्र, स्त्री, गृहस्थ, वानप्रस्थ (वैखानस)को भी शामिल करते हैं । समाजके प्रमुख पेशों तथा कार्यधर्मोंके अन्तर्गत वे खेती, मज़दूरी, विद्या, बनिज (वाणिज्य-व्यापार और लेन-देन ) , सेवा तथा कारीगरीको गिनाते हैं । इनकी संख्यामें राजकार्य, मणि,

घोड़े, रस, गोरस, खेती, विप्रकार्य, साज-सजावट, व्यापार, विद्या, वस्त्रकार्य, गृहकार्य, यज्ञ, विवाह, उत्सव, व्रत, यन्त्र, मन्त्र, ओषधि, ज्योतिष, लोहेका व्यापार, भैंसका व्यापार, हाथीका व्यापार आदि भी शामिल हैं ( रामाज्ञाप्रश्न, ७।१।२ )। 'मानस' के अनुशीलनसे उस समाजकी विभिन्न सेवामूलक, शिल्पमूलक, सज्जामूलक क्रियाएँ भी प्राप्त होती हैं : बाजा बजानेवाले, मंगल गानेवाले, सुआसिनियाँ, मागध, सूत, गवैये, चतुर नट, श्रेष्ठ धनी-व्यापारी, भाट, मण्डप बनानेवाले शिल्पी, काँवर ढोने तथा मछलियाँ लानेवाले कहार, पट्टेबाज़, मसखरे, नाई, बारी, दर्ज़ी, तेली, समुद्री मार्गोंके व्यापारी, रेशमी कीड़े पालनेवाले ( दोहावली ३७० ), मकान बनानेवाले थपति, बढ़ई, तपस्वी, मल्ल, इन्द्रजाल करनेवाले जादूगर, सर्राफ़, बज़ाज़ आदि। इनमें-से कुछ पेशे बड़े मुखर हैं : ब्राह्मण गण पुरोहिती, ज्योतिष कर्म, विद्यादान, कथापाठ, गुरुधर्म, दान-ग्रहण, तथा संस्कार-कर्म करते हैं; बन्दीजन राजवंशोंकी विरुदावली गाते हैं; भिखारी भीख माँगते हैं; और नट लोग पुरके नर-नारियोंका मनोरंजन करते हैं। वर्ण-विभक्त समाजमें ये पेशे भी वर्णोंकी श्रेणीके अनुसार पवित्र-निकृष्ट, श्रेष्ठ और साधारण हो जाते हैं। नट, मल्ल, भाट, भाँड और जादूगर आदि गाँवोंके लोगोंको ठगते हैं। ये गाँवोंके आम ठग थे और अपने पेटके पिटारे भरनेके लिए करोड़ों कौतुकोंका ठाठ करते थे ( कवितावली, ७।८६ ) इन्हें समाजमें छोटा दर्जा दिया गया ( मानस, ६।२८।५ )। इस भाँति तुलसी अपने समयके सामन्तीय समाज-स्वरूपका पर्याप्त सर्वेक्षण करते हैं; और इसके पश्चात् हिन्दुओंके समाजशास्त्रको पेश करते हैं।

ज़ाहिरके सामाजिक सम्बन्धों तथा सामाजिक अन्तर्क्रियाओंकी वजहसे नाना भाँतिके सामाजिक परिवर्तन होंगे, प्रतिद्वन्द्विताएँ, संघर्ष और विषमताएँ बढ़ेंगी, तथा पुराने परम्परागत ढाँचेमें सत्ताधारी सामन्त वर्ग अपनी शक्ति और सत्ताको मज़बूत करेगा। हम पहले ही कह चुके हैं कि शूरवृत्तके सामन्त, तथा अकबरके पूर्ववर्ती समयका समाज युद्ध, जात्यभिमान, शृंगारिकता, दुस्साहसिक शौर्य, भूमिगत शोषण आदिके शिकार थे। वासनाविलास, नारी-भोग, यौनाचार आदिकी प्रबलताकी वजहसे दरबारी संस्कृतिका चरित्र नारीमय ( फ़ेमिनिन ) हो गया था; तथा युद्धोंकी विभीषिकाओंके कारण चालाकी, छल, फ़रेब, झूठ, लोभ, नैतिक पतन, शोषण और दरिद्रता और अकाल सारे समाजको जकड़े हुए थे। नैतिक शब्दावलीमें ह्रासोन्मुख सामाजिक परिवर्तनके कारण 'पाप' बढ़ गया है, वर्ण चला गया है, आश्रम चले गये हैं, और राजा-रंक, रागी-विरागी, महाभाग-अभागे सभी तृष्णासे भरे हैं; वेद-पुराणके सुमार्ग छोड़ दिये गये हैं, तथा इस

धरतीके कामोंमें चतुरता और परमार्थके कामोंमें पाखण्ड भर गया है (कवितावली, ७।८०-८५)। वास्तवमें पाप और पुण्यकी धारणाएँ मध्यकालीन समाज (प्रशासन नहीं) की पुरस्कार तथा दण्ड संहिताएँ हैं; और वर्ण-आश्रम-श्रुति कसौटीके रूपमें तत्कालीन समाजकी निर्मिति (सोशल कॉन्स्ट्रक्ट)। पापके साथ-साथ सामाजिक यातना और यन्त्रणाको 'ताप' माना गया है जिसके कारणोंकी छानबीनमें अलौकिकता, भाग्य और कर्मफल आये हैं। यह तत्कालीन सामाजिक विश्लेषणकी सीमा है। तापको तपस्यासे और पापको भक्तिसे हटानेका विधान (कार्यके सक्रिय व्यवहारोंसे हट जानेके कारण) तुलसीके हिन्दू समाजकी सामूहिक-वैयक्तिक चेतना थी। इसीके समानान्तर तुलसीने उच्चवर्गीय साध्यरूपान्तरित साधनोंका भी एक दुःखद मसविदा लिखा है। राज-समाज करोड़ों कुचालोंसे भर गया है, वह नीति नहीं जानता, प्रजा उसे प्राण-समान प्रिय नहीं है। यह वर्ग परस्त्री-सेवन, परधन-भोग, पर-अपवाद या निन्दा, परबैरमें रत हो गया है। राज-समाज प्रजाको खा डालनेवाला है। अतः यह बड़ा ही छली है (कवितावली ७।८५, विनयपत्रिका २०१, मानस ७।९७।१)। इस वर्गके छल और कुचालोंकी वजहसे अन्य वर्ग भी भ्रष्ट और पतित हो गये हैं। 'लोभ' और 'झूठ' और 'दुष्टता'से सारे सामाजिक कार्यों तथा सम्बन्धोंमें एक छल, चतुरता, स्वार्थ, दिखावा आ गया है। मृदुभाषी साधु और सहज मनुष्य दोनों ही लोभ तथा तृष्णाके शिकार हैं; अर्थात् वे अब भौतिक सुरक्षा और अपने अस्तित्वकी रक्षाके लिए उच्च वर्गकी विचारधाराका अनुकरण करने लगे हैं। सारांशमें, उनमें दिखावा और दुहरापन आ गया है। सर्वभक्षक परमार्थी हो गये हैं, पाखण्डी सन्मार्गी हो गये हैं, बटमार नट हो गये हैं, खुशामदी भाँड व भाव-भंगिमा बनानेवाले भँडुए (कामिनियोंके एजेण्ट ?) मालिकोंके प्रिय हो गये हैं, अशुभ वेश-भूषण धारण करनेवाले, भक्ष्याभक्ष्यका ध्यान न रखनेवाले ही योगी, सिद्ध तथा पूज्य हो गये हैं, आचरणसे अपकारी मान्य-गौरवशाली तथा मन-वचन-कर्मसे झूठे वक्ता हो गये हैं, (दोहावली, ५४९,५५०,५५१), वेदपथ-त्यागी ही वैरागी बन गये हैं, बड़े-बड़े नख और विशाल जटाएँ रखनेवाले तपस्वी हो गये हैं, दम्भी आचारी कहलाने लगे हैं, झूठे और मसखरे गुणवन्त माने जाने लगे हैं, दूसरोंका धन हरनेवाले बुद्धिमान् कहलाये जाते हैं, डींग मारनेवाले पण्डित हैं, दम्भ तथा मिथ्यामें डूबे सन्त हैं (मानस, ७।९७,९८,९९)। यही 'पाखण्ड' है। निश्चित ही यहाँ सन्त तुलसी अतिशयोक्ति और नैतिक निराशासे भी प्रभावित हैं। किन्तु कबीरकी उग्रता और विद्रोही मस्तीकी अपेक्षा पाखण्ड-उद्घाटनकी उनकी शैली सुधारवादी, प्रलापपूर्ण है। पाखण्डके उद्घाटनके

साथ-साथ तुलसीने इस ह्रासोन्मुख समाजके वर्ण तथा आश्रमके ढाँचेमें जो परिवर्तन देखे हैं उनमें-से वे अच्छे-बुरेके बीच भेद करनेमें पूर्णतः असमर्थ रहे हैं। उनके सामने वर्ण-आश्रम-श्रुति-सम्मत एक समाजका चित्र था जिसकी कसौटीपर उन्होंने अपने समाजको कसा। इसलिए उनमें इन सामाजिक परिवर्तनोंके प्रति शोक और रोष है। इधर ब्राह्मणोंकी उपेक्षा और उनके कार्यों तथा पदोंके प्रति अनास्थापर वे शोक-विलाप करते हैं तथा उधर शूद्रोंकी सामाजिक क्रान्तिके प्रति वे रोष प्रकट करते हैं। उन्होंने इसी शोक और रोषकी अभिव्यक्तिका मूल्य-मीमांसक प्रसार सारे सामाजिक परिवर्तनोंमें किया है जो वर्ण-आश्रम-श्रुतिके कई मानदण्डोंको असंगत एवं अपूर्ण सिद्ध करते हैं। वेद न जाननेवाले तथा विषय भोगमें लीन ब्राह्मणके प्रति; नीति न जाननेवाले तथा प्रजासे प्यार न करनेवाले क्षत्रिय राजाके प्रति; कंजूस और अतिथि-सत्कार तथा शिवभक्तिमें अकुशल वैश्यके प्रति; ब्राह्मणोंका अपमान करनेवाले, वाचाल, मानप्रिय, ज्ञानगुमानी शूद्रके प्रति; कर्ममार्ग त्यागनेवाले गृहस्थके प्रति; ज्ञान-वैराग्यविहीन तथा प्रपंचरत संन्यासीके प्रति तुलसीको शोक है ( मानस, २।१७१।१-४ )। उनका विशेष रोष शूद्रोंके प्रति ही प्रकट हुआ है क्योंकि शूद्र कहे जानेवाले लोगोंको इसलामने आज़ादी और इन्सानियतका बोध दिया था तथा इसी वर्गसे अनेक दार्शनिक निर्गुण सन्त उभरकर वर्णाश्रम-धर्मकी धज्जी उड़ा रहे थे। शूद्रोंने घोषणा की कि "जो ब्रह्मको जानता है वही श्रेष्ठ ब्राह्मण है" ( दोहावली ५५३ )। शूद्रोंमें नीच तेली, कुम्हार, चाण्डाल, भील, कोल और कलवार अर्थात् निर्गुण-मार्गी सन्त सम्पत्ति नष्ट हो जानेपर ( खेतोंसे ब्राह्मणों-ठाकुरों-द्वारा बेदख़ल कर दिये जाने-पर ) संन्यासी हो जाते हैं और अपनेको ब्राह्मणोंसे पुजवाते हैं (मानस ७।९९।३)। यह वर्णोंकी जातिगत श्रेष्ठताको प्रचण्ड चुनौती थी जिसके प्रतिरोधमें ग़रीब और साधारण तुलसी भी प्रचण्ड ब्राह्मणवादी हो गये हैं। तुलसी गोरखपर भी रुष्ट हैं कि उन्होंने जोग जगाकर लोगोंको भक्तिसे विमुख कर दिया ( कवितावली ७।८४ )। वे वाममार्गियोंपर भी रुष्ट हैं कि उन्होंने स्त्री-पूजाका व्यभिचार फैलाया; अतः वे जीवित होकर भी मृतकके समान हैं ( ६।३०।१ 'मानस' )। उन्हें और कई बातोंपर रोष है कि ब्राह्मण अज्ञानी, कामी, क्रोधी, लोभी, घमण्डी ( विनयपत्रिका, १३९ ) मूर्ख और नीची जातिकी स्त्रियोंके स्वामी हो गये हैं ( मानस, ७।९९।५ ); देवमन्दिरों, तीर्थों, पवित्र पुरियोंमें निपट भ्रष्टाचार और भ्रष्ट वातावरण फैल गया है ( दोहावली ५५८ ); शरीर-सुखभोगी व वासना छिपानेवाले रामोपासक हो गये हैं ( तत्कालीन अयोध्या तथा काशीका वातावरण ); लोग विरति-विवेकयुक्त हरिमार्ग छोड़कर अनेक पन्थोंकी ( दीन-

इलाही भी ) कल्पना करते हैं ( दोहावली, ५५५,५५८ ) । इस भाँति चारों ओर चतुरता और पाखण्ड ही साधन हो गये हैं । वैदिक अनुशासनके हटनेसे और सामन्त युगके शौर्य-विलास, शोषण-स्वेच्छाचारके फैलनेसे व्यापक समाज भी अधोमुख हुआ था । तुलसीने एक धार्मिक द्रष्टाकी तरह सारांश दिया है कि लोक और वेद दोनोंकी मर्यादा चली गयी है, प्रजा अवनत होकर पाखण्डमें लिप्त है, कपट बढ़ गया है, धन ( टेढ़ापन पैदा करनेवाला ) और प्रभुता ( लोक-दशाको अनसुना करनेवाली ) तथा कामुकता ( मृगनयनीके लोचनोंसे घायल होनेवाली ) अर्थात् 'धन' और 'शक्ति' और 'काम' समाजके अभिलषित हो गये हैं ( विनयपत्रिका १३९ ) ।

कृषिपर आधारित ऐसे सामन्तीय समाजमें 'धरती' 'धन' और 'घर' इन तीनोंको सारे समाजहितसे भी अधिक व्यक्ति-केन्द्रित हो जाना पड़ता है ( कवितावली ७।१२४ ) । इन्हें प्राप्त करनेकी जरूरत तथा सुरक्षित रखनेका लालच मनुष्यसे सब-कुछ करवाता है । चतुरता तथा पाखण्ड इन्हीं आर्थिक और पारिवारिक संस्थाओंकी रक्षाके लिए वे साधन हैं जिन्हें उच्च वर्ग तथा विघटन-कारी समाज साधारण लोगोंपर थोपता है । फलस्वरूप सारे समाजका कु-मानवीकरण ( डी-ह्यूमनाइज़ेशन ) हो जाता है । तुलसीने ऐसे समाजका प्रतीक खल ( असाधु या दुष्ट ) माना है । यह नामकरण उनके नैतिक आदर्शोंकी रोष-पूर्ण अभिव्यक्ति होनेके साथ-साथ बहुत सर्वसाधारण भी है, लेकिन इससे तत्कालीन सामाजिक अन्तर्क्रियाओंका पूरा उद्घाटन हो जाता है । हाँ, हमें धरती ( कृषि ), धन ( वैभव ) और घर ( काम ) को ध्यानमें रखना होगा । इनके लिए ही गुरु शिष्यका धन हड़प जाते हैं ( मानस ७।९९ ), लोग कौड़ियोंके लिए ब्राह्मण तथा गुरुकी हत्या कर डालते हैं ( यहाँ मठोंकी सम्पत्तिके झगड़ोंका अनुभव है ), मृदुभाषी साधुओंके हृदयसे भी धन-धरती-घरकी तृष्णा दूर नहीं होती ( कविता-वली ७।८० ), संन्यासी बहुत धन लगाकर अपने घरोंको सजाते हैं और विषयोंके वशमें हैं ( मानस ७।१००।१-५ ) । ऐसे समाजके तत्कालीन कार्य चरम लक्ष्यों और संस्कृति-प्रतीकको पोत देते हैं और केवल अभिप्रेतमें बँध जाते हैं—धन, धरती और घरके अभिप्रेतमें । ये अभिप्रेत सामन्तोंके लिए कृषकोंके शोषण, भूमि-विजयों और विलासी महलोंमें महारूप धारण कर लेते हैं । तुलसीने इस समाजके प्रतिनिधि खलकी वन्दना की है कि अब वे ही सर्वसमर्थ हो गये हैं । उन्हें परहित-की हानिमें ही लाभ, परदोषके वर्णनमें ही आदर्श, तथा परदोष-दर्शनमें ही हित मिलता है ( मानस, १।३।१–६ ) । ये खल अर्थात् तत्कालीन समाजके संगठित स्वार्थोंवाले समुदाय, समूह, व्यक्ति, सम्प्रदाय आदि परद्रोही, परनिन्दक, पर-

अपवादमें रत, पर-सम्पत्ति देखकर सदा जलनेवाले, अकारण वैर करनेवाले, पर-धन लूटनेमें रत, परदारके लिए व्याकुल हैं। सारांशमें ये 'शिश्नोदरी' ( आहार-मैथुनके स्तरवाले हैं ), स्वार्थ-रत हैं, निर्दयी हैं, कपटी हैं, परधन-स्वामी हैं। लोभ ही इनका ओढ़ना-बिछाना है, तथा झूठ ही इनका लेना-देना-भोजन है ( मानस, ७।३९।१-४ )। ऐसे विलासी शोषक एवं स्वार्थी खलसमाजमें लोग नारीके वशमें हैं। परकीयाएँ अर्थात् अभागिनी स्त्रियाँ पर-पुरुष सेवन करती हैं ( सामन्तों और जागीरदारों-द्वारा परकीया-प्रलोभन तथा नारी-हरण ) तथा विधवाओंके नित्य नये-नये श्रृंगार होते हैं ( अकबरके विधवा-विवाह विषयक सुधारपर भी व्यंग्य। लेकिन ऐसा खल समाज कौन-सा है ? क्या साधारण गृहस्थ, किसान, भिखारी, सेवक ( किसान, मज़दूर ) अर्थात् देशके ९०% जन खल हैं ? खल वे हैं जो परधन-स्वामी हैं, परदार-भोगी हैं, पर-अपवादमें रत हैं, परद्रोही हैं। निश्चित ही ये खल हैं। बड़े-बड़े विलासी जागीदार, कोतवाल, ठाकुर, छोटे-छोटे दर्पोन्मत्त बड़े ज़मींदार कुल, भोग और सम्पत्तिमें लिपटे संन्यासियोंके मठ, पाखण्डो साधु-मुनि-सन्त आदि। हाँ, साधारण लोकजनपर इतना घातक और निर्दयी प्रभाव अवश्य पड़ा है जिसकी वजहसे उन्हें भी चतुर, चुगलख़ोर, चापलूस, कपटी, स्वार्थी बनना पड़ा। सेवकों ( जागीरदारोंके किसान-मज़दूरों ), भिखारियों ( बेखेतिहर दरिद्र लोगों ) को क्रमशः सुख और सम्मान पाना आकाशसे दूध दुहनेके समान था। यहाँ इस तथ्यका ध्यान रखना होगा कि समाजका यह निरूपण विरत, 'जनमंगल' के उपासक तुलसीकी नैतिक मर्यादाओंकी दृष्टिसे हुआ है। निष्कर्ष यह है कि तत्कालीन सामन्तीय समाजके सत्ताधारी बर्ग और स्वार्थी समूहोंकी सामान्य प्रवृत्तियोंको खल या दुष्ट या असाधुके नये चरित्रमें केन्द्रीभूत किया गया है। सम्पूर्ण तत्कालीन समाजको एक चरित्र-प्रतीक प्रदान करनेकी दृष्टिसे तुलसीकी यह एक महत्तम देन है जिसके चारों ओर हमारा समाजशास्त्रीय परिमापन ( सोशियोमेट्रिक्स ) तथा भीरु आस्थावाले साधारण जनोंका रोष-शोक, याचना-यन्त्रणा केन्द्रीभूत हुई है। इसी सांस्कृतिक चरित्र-प्रतीककी टक्करमें तुलसीने मर्यादा-पुरुषोत्तम ( किन्तु अवतार भी ) राम, सन्त, राम परिवार और रामराज्यका अभिषेक किया है। दोनों ही पूरक तथा विरोधी सांस्कृतिक चरित्र-प्रतीकोंमें एक व्याकुलता, लोक मंगलकी एक विराट्ता, एक छटपटाहट परिव्याप्त है।

क्या तुलसी इस सामन्तीय महापतन अर्थात् 'कलिकुचाल' के कारणकी खोज कर सके हैं ? उत्तर बहुत बंकिम होगा। अपने रचना-क्रममें आरम्भमें जब वे संसारको मिथ्या, माया, भ्रम आदि मानते हैं ( मानस, वैराग्य सन्दीपनी,

विनयपत्रिकादि ), तब तो वे 'पाप' और 'भाग्य' के जंजालमें फँसे हैं; तब उन्हें कलिकाल पीड़ित करता है। लेकिन जब वे समाजके पूरे रंगमंचको देखते-देखते तथा भोगते-भोगते यथार्थवादी एवं व्यावहारिक भी हो जाते हैं ( दोहावली, कवितावली, हनुमानबाहुकादि ) तब वे कलिकालकी गरदन मरोड़ देते हैं। अपने जीवनके परवर्ती चरणमें तुलसी आध्यात्मिक और स्वप्नद्रष्टाके बजाय क्रमशः धार्मिक और यथार्थद्रष्टा हुए हैं। उन्होंने अन्ततः घोषित ही किया कि सारे समाजतन्त्रका आधार 'पेट' अर्थात् आर्थिक शक्ति है ( कवितावली, ७।९६ )। 'यह उनके समाजदर्शनकी महत्तम सिद्धि' है जो उन्हें कबीर तकसे बहुत आगे ले जा सकती है। आर्थिक दरिद्रताको इतना भोगने, समझनेवाला मनुष्य, दरिद्रताके सामाजिक परिणामोंको इतना सटीक विश्लेषित करनेवाला समाजपुरुष, और दरिद्रतासे इतनी प्रगाढ़ नफ़रत करनेवाला लोककवि तुलसीके अलावा सारे मुसलिम मध्यकालमें कोई दूजा नहीं है। मध्यकालकी केवल एक ही अवस्था थी: लक्ष्मीपति सामन्त लोग और दारिद्र्य तथा तज्जन्य दुःख भोगनेवाले लोकजन। और इसके मूलमें थी—भूमि-व्यवस्था। भूमिसे ही सामन्तोंका विलास तथा धन, लोकजनोंका शोषण तथा अकाल उद्भूत होता था। इस भूमि-व्यवस्थाके कारण ही राजा और रंककी, ऐश्वर्य और अकालोंकी, चतुरता और पाखण्डकी, अन्ध-विश्वासों और निराशाकी काली छायाएँ शताब्दियों तक फैली रहीं। मध्यकालीन साहित्यमें समाजके आर्थिक आधारको केवल तुलसी ही छू सके हैं—'सन्त' तुलसी! तुलसीने कहा है कि देशमें किसबी ( मजदूर ), गृहस्थ ( किसान-परिवार ) व्यापारी, भिखारी, भाट, चाकर ( दास ), चपल नट, चोर, चार ( दूत-दूती ) और चेटकी ( बाज़ीगर ) जैसे साधारण नब्बे प्रतिशतसे अधिक लोग 'मात्र पेट भरनेके लिए' पढ़ते, गुन गढ़ते, पहाड़ चढ़ते, तथा मृगयाकी खोजमें दुर्गम वनोंमें भटकते हैं ( कवितावली ७।९६ ); पेटके लिए ही लोग ऊँचे-नीचे कर्म, धरम-अधरम करते हैं, यहाँ तक कि बेटा और बेटकी ( बिटिया ) तक बेच देते हैं। यह पेटकी आग दावाग्निसे भी बड़ी है (कवितावली, ७।९६)। जीविकासे विहीन लोग दुःख और शोक-भरे हैं, उनके सामने कोई रास्ता नहीं है, भिखारीको भीख नहीं है, बनियेका व्यापार नहीं चलता तथा नौकरको चाकरी नहीं मिलती ( कवितावली, ७।९७ )। दारिद्र्य-रूपी रावणने दुनिया दबा ली है 'जिसके कारण हो' पापकी ज्वालाका हाहाकार फैल गया है। दिनों-दिन दरिद्रता, दुर्भिक्ष, दुःख, पाप और कुराज्यको दूना देखकर 'सुख' और 'सुकृत' संकुचित हो रहे हैं। ऐसेमें ज़ोर-ज़बरदस्तीसे ही अपना हक़ पाया जा सकता है। मनुष्यका शरीर दरिद्रता और दुःखके कारण जलता रहा है ( कवितावली,

७।८१, ७।२४ )। ऐसे समय ( कलिकाल ) में कोढ़में खाजकी तरह अकाल पड़ते हैं ( विनयपत्रिका, २१९ )। ऐसे समय ( अकबरके शासन-काल ) में बार-बार अकाल पड़ते हैं ( मानस, ७।१००।५ ) और अन्नके बिना 'सब' लोग (केवल 'खल' नहीं—रेखांकित करने योग्य तथ्य) दुःखी होकर मरते हैं और कोई बहिन-बेटीका भी विचार नहीं करता। तुलसीके इस आर्थिक इतिहास-लेखनसे स्पष्ट है कि भूमि-व्यवस्था और अन्य सहवर्ती कारणोंसे ग़रीबी, बेरोज़गारी, शोषण, अराजकता ( कुराज्य ); नैतिक पतन ( पाप ) और अन्ततः अकालका भोगना ही लोकजनके हिस्सेमें पड़ा था। इसलिए दरिद्रताके सहयोगी 'दुःख' और 'पाप' उन्हें जकड़े रहते थे। किसबी और गृहस्थोंके खेत दख़ल हो जानेपर, तथा अन्य छोटे जनोंके जीविका-विहीन हो जानेपर, उनके सामने देश-देश भटकने और जाति-कुजाति सभी छोड़कर भीख माँगनेके अलावा दूसरा रास्ता नहीं था ( मानस, ७।१००।४ ) क्योंकि उत्पादनके साधन सीमित तथा भूमिपालोंके हाथमें थे। इसीलिए कवियोंके झुण्डके झुण्ड आश्रयदाता-विहीन हो गये थे, उदार ( आश्रयदाता) सुनाई नहीं पड़ते थे और गृहस्थ सुहागिनें आभूषण-रहित, और गृहस्थ दरिद्र हो गये थे ( मानस, ७।९८।३, ७।१००।५ )। इस ग़रीब भारतीय जनका शोषण केवल सामन्त ही नहीं, ब्राह्मण-तपस्वी और संन्यासी भी करते थे। तपसी धनवान हो गये थे, संन्यासी धन लगाकर घरको सजाते थे (मानस ७।१००।५)। धनकी शक्तिके कारण 'नीच' जातिके लोग भी कुलीन माने जाते थे, अर्थात् समाजको प्रतिष्ठाका आधार वर्णके स्थानपर वर्ग, कुलके स्थानपर अर्थ हो रहा था। धनकी पूरी शक्तिका अनुभव करनेके बाद ही तुलसीने कहा है कि दान, दया, यज्ञ, कर्म और उत्तम कर्म सब धनके अधीन हैं ( कवितावली, ७।८७ )। इस तरह तुलसीने ग़रीबी अर्थात् भूमिके साथ पाप और दुःखको जोड़ा है, तथा धन और उससे उत्पन्न सत्ताके साथ चतुरता और नैतिक प्रभुत्वको ( कवितावली ७।८७ )। टोडरमलने देशके आर्थिक इतिहासका प्रशासकीय पक्ष दिया है, और तुलसीदासने उसका सामाजिक अन्तर्क्रियाओंवाला। ये दोनों मिलकर ही उस युगका पूरा फलक बनाते हैं और जिस एकमेव तथ्यको उद्घाटित करते हैं वह भूमि-व्यवस्था है। तुलसीदासके भूमि और धन सम्बन्धी ये निष्कर्ष भारतीय मध्यकालीन समाजशास्त्रके अध्ययनकी सुव्यवस्थित भूमिका भी हैं। इन्हीं दोनों निष्कर्षोंको उनके संवेदनशील मनुष्य तथा भक्तने आध्यात्मिक धारणाओंमें रूपान्तरित कर डाला है, अर्थात् अपने समयके समाजके सबसे प्रधान 'दैहिक ताप' के रूपमें दारिद्र्य, 'भौतिक ताप' के रूपमें दुःख, और 'दैविक ताप' के रूपमें पापकी घोषणा करके उन्होंने कलियुग-वर्णनको अपने समाज-विश्लेषणका ठोस

कैनवास दे डाला ( विनयपत्रिका, १३९ ) । अतः उस समाजकी तीन सबसे बड़ी कुरीतियाँ सामन्तीय भूमि-व्यवस्थासे उत्पन्न 'दरिद्रता' और उससे उत्पन्न 'दुःख' और उसके कारण लोक मंगल विरोधी 'कार्य' ( पाप ) सिद्ध होती हैं जो आर्थिक, सामाजिक और आध्यात्मिक त्रयीको एक परिधिमें बाँध लेती हैं।

पापको दैविक तापके रूपमें प्रतिष्ठित करके तुलसीने तत्कालीन भौतिक और और आध्यात्मिक अन्तःसम्बन्धोंका रहस्य भी खोल दिया है। उस समाजके अन्धविश्वासों, अलौकिक विश्वासों आदिका एक बिन्दु इस धारणामें भी है। पापके भोग और पापके निवारणके लिए, पुण्यकी प्राप्ति और पुण्यके भविष्य-कथनके लिए नाना भाँतिके तन्त्र-मन्त्र, अभिचार, माया, शकुन, शुभलक्षण, सौभाग्य आदिपर विश्वास ही उस युगकी निराशा और बौद्धिक सीमाकी देन हैं। भाग्य अथवा नियति और अन्धविश्वास अथवा जादू प्रबल मध्यकालीन विश्वास थे जो चमत्कार, आश्चर्य, रहस्य, आध्यात्मिकता, अलौकिकता आदिके गूढ़ हेतुओं और अज्ञात कार्य-कारण परम्परासे अव्याख्येयकी व्याख्या करते थे। 'मानस'में रामपक्षके कथानकमें शकुनोंका, और रावणपक्षके कथानकमें अपशकुनोंका उदय-अस्त होता है। 'रामाज्ञाप्रश्न' तो शकुनों, लक्षणों, ज्योतिषका ही एक संकलन है जिसमें रामकथाकी प्रमुख घटनाओंके परिणामोंको सभी मनुष्योंके सौभाग्य-दुर्भाग्यसे जोड़ दिया गया है। शकुन-लक्षण आदि कुछ समयके लिए प्रकट होते हैं और संकेत देकर पुनः विलीन हो जाते हैं। शकुन मानव शरीर, पशुओं, पक्षियों, वृक्षों, नक्षत्रों आदिसे इंगित होते हैं। इनके आधारपर अनुष्ठान और कृत्य किये जाते हैं ( इन्हें टालने या सफल बनानेके लिए भी )। 'कृष्ण-गीतावली' तथा 'गीतावली' में झाड़-फूँक, जादू-टोनेके प्रसंग आये हैं। कुब्जा चन्दन रूपी बाघजुड़ानी-जड़ी सुँघाकर योगिराज कृष्णको वशमें कर लेती है ( कृष्णगीतावली ४७ ); अनमने रामकी अवस्था दूर करनेके लिए कुलगुरु आकर कुशसे नृसिंह मन्त्र पढ़ते हैं ( गीतावली, १।१२ ) और झाड़-फूँक करते हैं। राम-द्वारा धनुर्भंगके लिए स्त्रियाँ कनसुई लेती फिरती हैं तथा पुरुष ज्योतिषियोंसे शकुन पूछते हैं ( गीतावली, ७० )। लोग विष्णु और शिवको छोड़कर भूतोंको भी पूजते थे ( दोहावली, ६५ )। इसके अलावा वह समाज अन्धविश्वासोंमें जकड़ा हुआ था। ज्योतिष और शकुन-विचारको लेकर ये अन्धविश्वास प्रचलित थे ( दोहावली ४५३-४६१ )। स्त्रियों-द्वारा दीवारपर ऐपन ( चावल तथा हल्दीका घोल ) के अपने ही छापे पूजनेसे मनोकामनाओंका पूरा हो जाना ( दोहावली, ४५४ ), दीपावलीके अगले दिन सूप बजानेसे दरिद्रताका भाग जाना, दैहिक पीड़ाका पापोंका परिणाम अथवा जन्त्र-मन्त्रका फल होना, और पीड़ाको दूर

करनेके लिए टोटके करना ( हनुमानबाहुक, २६, ३०, ३७ ), आदि कुछ उदाहरण हैं। 'कवि-समय' अन्धविश्वासोंका ललित विश्वासोंमें रूपान्तरण होते हैं और तुलसीमें ये भी प्रचुर हैं। अलौकिकके साथ थोड़े लौकिक आधारोंपर स्थिर होकर अन्धविश्वास भी रूढ़ि तथा विश्वास बन जाया करते हैं, और एक परम्परामें जुड़ जाते हैं। तुलसीने मध्यकालका सर्वप्रमुख विश्वास माना है शम्भु-आराधना जो करोड़ों कल्पवृक्षोंके समान सिद्धिदायक है ( पार्वतीमंगल, २१ ) और शिव-निन्दा करनेवाला नीच तथा सुननेवाला बड़ा पातकी होता है ( वही ६६।८ )। उनकी यह धारणा 'मानस'में चहुँव्यापी है। इसी तरह अन्य प्रमुख आस्थाएँ हैं : संसारकी थाह पा लेनेवाले सन्त भी कहते हैं कि यह जगत् झूठा है, सारा वैभव दो दिनका सपना है ( तत्कालीन निराशा और आध्यात्मिक पलायनकी अभिव्यक्ति····कवितावली ७।३९, ४१ ); मृत्युके समय कोई भी सम्बन्धी सहायक नहीं होगा ( कवितावली ७।५१ ); जिसका जिसपर सच्चा स्नेह है वह उसे निस्सन्देह मिलता है ( मानस १।२५८।३ ); जन्म-मरण, सुख-दुःख, हानि-लाभ, प्रियका मिलन–विछोह आदि काल तथा कर्मके अधीन हैं ( मानस २।१४९।३ ); जो रामने रच रखा है वही होगा फिर क्यों कोई तर्कमें फँसे; सब अपने किये हुए कर्मोंका फल भोगते हैं ( २।९१।२ ); सत्संगके बिना हरिकथा सुननेको नहीं मिलती ( मानस, ७।६१ ), आदि-आदि। बहुधा इन विश्वासोंमें निराशाकी प्रतिक्रिया अधिक है।

इस भाँति हम देखते हैं कि तुलसीने कलिकालका वर्णन ( 'मानस' तथा 'कवितावली' ) रावणकी मृत्यु के बाद किया है। इस तथ्यसे यह स्पष्ट होता है कि कलिकालका समाज राक्षस रावणका 'आर्येतर' समाज न होकर वर्ण-आश्रम-श्रुतिकी मर्यादासे गिरा स्वार्थी हिन्दू समाज ही है। इसीलिए हम इस वर्णनमें समाजका मुग़ल-रंगमंच अर्थात् तत्कालीन समाजका एक खण्ड भी पाते हैं। 'विनयपत्रिका' का कलिकाल-वर्णन भी इसी भाँति रामराज्य और राम-दरबारके बाद ही आया है। राक्षसोंका समाज तो कौतुक, माया, चमत्कार, तामसिकतासे संचालित है, और आर्योंके जातीय अवचेतनका अवशेष है। 'मानस' का कलिकाल-वर्णन अपेक्षाकृत परम्परागत है, जब कि 'कवितावली' का वर्णन तत्कालीन समाजका प्रखर दर्पण है।

इन चित्रोंके अलावा तुलसीने तत्कालीन भीड़ ( मॉब ) की अनुपम झाँकियाँ दी हैं। 'जानकीमंगल' में सुहागिन नारियोंके समूहका राग-मंदिर अंकन है। रामविवाहमें कोकिलबैनी नारियाँ परिहास करती हुई गा रही हैं, प्रेममदमें छकी हुई अपने तनको सम्भाल नहीं पातीं और रामकी शोभा निहारती हैं, कुँवर राम

तथा कुँवरि सीताके लिए गौरी-गणेश पुजवाती हैं ( छंद १३०, १३२, १३६, १४३ )। प्रेममुग्ध नारी-समूहके ऐसे ही चित्रणका कुछ अधिक अनुशासित प्रसार 'मानस' में हुआ है। 'मानस', 'गीतावली' तथा 'कवितावली' के अयोध्या-काण्डमें नीले मेघ-जैसे राम, गोरे लक्ष्मण और कनक-वर्ण सीताकी शोभा तथा प्रेमसे मन्त्रमुग्ध ग्राम-वधुओंके हाव-भाव, स्वभाव और वार्तालाप तो तुलसी-काव्यकी लावण्यमयी छायाएँ हैं। भील, किरात, कोल नरनारियोंकी सेवा-श्रद्धा ग्रामीण समाजकी सरलता और आतिथ्यका प्रतिनिधित्व करते हैं, वनवासी राम त्रिकोणको बिदा देनेके लिए सारी प्रजाका साथ-साथ चला आना एक अनुगामी समूह-आचरणका मनोवैज्ञानिक तथ्य है।[1] इसी तरह तुलसीने लंकाके अग्निदाह ( कवितावली, ५।१३-१८ ), चित्रकूटकी दावाग्नि ( वही, ७।१४३ ) का भी लोक-विवरण लिखा है। अपने समयमें वे दो व्यक्तियोंके प्रति बहुत जागरूक रहे। पहले थे गोरख जिन्हें वे लोगोंको भक्तिसे विमुख करनेवाला जोगी मानते थे, दूसरे थे कबीर जिनकी निन्दा प्रच्छन्न रूपसे 'मानस' में कई बार की गयी है ( ७।९९।४, दोहावली ५५३ )। कबीरपर ही व्यंग्य करते हुए उन्होंने कह डाला है कि वे 'साखी' और 'सबद' कहकर भक्तिका निरूपण और वेद-पुराणोंकी निन्दा करते हैं ( दोहावली, ५५४ )। इसी क्रममें वे कुतबन, मंझन, जायसी आदि प्रेमाख्यानक कवियोंपर व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि वे भी कहानी और उपखान ( उपाख्यान ) कहकर विरति-विवेकयुक्त हरिभक्तिको छोड़कर अनेक पंथोंकी कल्पना करते हैं ( दोहावली, ५५५ )। इसी भाँति राम-रावण युद्धमें वानरों-द्वारा राक्षसोंको घेरकर नचाना और दाँतोंसे उनके नाक-कान काटना काशीके 'नककटैया' स्वांगका प्रतिबिम्ब है। उन्होंने मुग़ल-समाजका भी सांकेतिक चित्रण एक-दो स्थानपर किया है। कैकेयीके सौतिया डाहको जगाती हुई मंथरा उससे कहती है कि भरत तो बन्दीगृहका सेवन करेंगे और लक्ष्मण रामके नायब ( नेब ) होंगे, कौशल्या तुमसे पुत्रसहित चाकरी बजवायेगी ( मानस २।१९, २।१८।३ )। कैकेयी दशरथके सामने अपने कुमत-रूपी दुष्ट पक्षी बाज़की कुलही ( आँखोंपर-की टोपी ) खोल दे ( वही, २।२६।४ )। यहाँकी तर्क और षड्यन्त्र पद्धति मुग़लोंके आम रिवाज़से मेल खाती लगती है। इसके अलावा भी 'मानस' के एकाध राजप्रसंगोंमें मुग़ल-दरबारके आचरणकी झलक है। सीताको खोजने निकले अंगद सोचते हैं कि पिता ( बालि ) के वध होनेपर मुझे सुग्रीव ( चाचा ) मार ही डालते किन्तु श्रीरामने रक्षा की। अत: सुग्रीवका निहोरा नहीं है

१. एक अन्य उदाहरण—बहराइच दरगाहका उदाहरण लेकर वे लोगोंके भेड़िया-धसानकी खिल्ली उड़ाते हैं ( दोहावली, ४६६ )।

( मानस, ४।२८।३ )। एक स्थानपर सम्राट् अकबर महान्‌की प्रशंसा करते हुए संकेत रूपमें तुलसी कहते हैं कि साधु, बुद्धिमान, सुशील, कृपालु राजा ही अमीर-ग़रीब, गँवार-शहरी, पण्डित-मूढ़, बदनाम-उजागर, सुकवि-कुकवि, नर-नारी आदि सबकी सराहना सुनकर तथा उनकी वाणी, भक्ति, विनय और चालको पहचानकर सुन्दर वाणीसे सबका यथायोग्य सम्मान करता है। यह 'लोक प्रसिद्ध' प्राकृत महिपालका स्वभाव है ( मानस, १।२७।३-४ )। उन्होंने प्राकृत सम्राट्की यह पहली और आखिरी प्रशंसा की है।

तत्कालीन हिन्दू समाजके इस तुलसीकृत समग्र निरूपणके बाद अब हम पृथक्-पृथक् सामाजिक संस्थाओंका अध्ययन करेंगे। रामनरेश वर्मा मध्यकालमें चतुर्विध धार्मिक समाजोंको बताते हैं। "पहला समाज चारण या श्रौत परम्पराका अभिमानी था....जिसका नेतृत्व विद्वान् ब्राह्मण करते थे। इस वर्गके राज्याश्रित विद्वान् सामाजिक क्षेत्रमें ऐतिहासिक काव्योंकी परम्परा—'विलास' 'चरित', 'प्रशस्ति' आदि—की अवतारणा कर रहे थे।....दूसरे प्रकारका समाज देवालय परम्परासे सम्बद्ध देवपूजकोंका मतानुयायी था। इसके दो वर्ग हो गये थे : आचार्य भक्त और केवल भक्त। यह वैष्णव भक्त-समाज था। इस वर्गकी जीवन-वृत्ति ब्राह्मण वर्गकी भाँति कर्मकाण्डके आश्रित न होकर भक्तिके अधीन थी। तीसरे प्रकारका समाज मठ-परम्परानुवर्ती उन संन्यासपरक शैव तपस्वियोंसे नियन्त्रित था जिसमें शैवागमों, शिवशाक्तागमों और तदनुकूल शास्त्रोंकी पूर्ण प्रतिष्ठा थी।....इनकी दो परम्पराएँ हैं : वैदिक और आगमिक। इनकी मठ-अखाड़ा परम्परा भक्त-वैरागियोंकी परम्परासे भिन्न है।....चौथे प्रकारका समाज वेदशास्त्र-विरोधी योग-प्रमुख समाज था। पूर्व-मध्ययुगके नाथ-सिद्ध तथा उत्तर-मध्ययुगके निर्गुणिया सन्त इस समाजसे सम्बद्ध हैं।....इनके जीवनकी साधिका इन्हींकी अलौकिक चमत्कार-विधायिनी यौगिक शक्तियाँ थीं।....इसीलिए इन्होंने वेदशास्त्रोंका खण्डन किया, सगुण ईश्वर या अर्चा-विग्रहोंकी खिल्लियाँ उड़ायीं, कान फूँकनेवाले गुरुओंको जमकर फटकारा।[1] तुलसी वैष्णव समाजके वृत्तके हैं। उस समय सारे देशका समाज शिया-सुन्नी मुसलमान, हिन्दू-मुसलमान, जैन-बौद्ध, शैव-शाक्त, निर्गुण-सगुण, शैव-वैष्णव, नाथ-सिद्ध आदि नाना धार्मिक समाजोंके स्तरोंवाला था। तुलसीने वैष्णव और शैव सम्प्रदायोंका विशिष्ट समन्वय किया, तथा निर्गुण और नाथ-सिद्धोंकी निन्दा की। तुलसी जैन समाजके बाबत तो खामोश-से हैं लेकिन

---

१. 'हिन्दी सगुण काव्यकी सांस्कृतिक भूमिका', पृ० १८९–१९२।

बौद्धों और उनके अनुवर्ती नाथों-सिद्धोंके विषयमें मुखर हैं। वेदकी निन्दा करनेके कारण बुद्धावतार निन्दित हो गया ( दोहावली, ४६४ )। शैव-वैष्णवोंकी मैत्रीकी चर्चा पहली गोष्ठीमें तथा नाथों-सिद्धोंकी निन्दाकी मीमांसा इसी गोष्ठीमें हो चुकी है। तुलसी वेद-विरोधियोंके प्रति आद्योपान्त असहिष्णु रहे हैं। वे शिव और विष्णुके निन्दककी जीभ काटने तकका सन्देश देते हैं ( मानस, १।६३।२ ), और निर्गुण सन्तोंपर कटु-कठोर प्रहार करते हैं ( मानस, ७।९९।३–४ )। अपने समाजके सर्वप्रमुख धार्मिक अन्तर्विरोधका उद्घाटन करके वे कहते हैं कि लोगोंको सीख तो यह दी जाती है कि 'रामायण' का अनुकरण करो ( स्वार्थ-त्याग करके भाई-भाईमें, समाज मंगलमें प्रेम रखो ), परन्तु समाजमें चलती है, 'महाभारत' की रीति ( स्वार्थवश आपसी कलह )-'रामायण अनुहरत सिख जग भयो भारत रीति'। धार्मिक संस्थाओंका पतन हो गया है; देवताओंके सदनों, तीर्थों, पवित्र पुरियोंमें निपट कुचाल-कुसाज फैल गया है ( दोहावली, ५५८ ), पुराण, सद्ग्रन्थ, धातुवाद, देवताओंका प्रत्यक्ष दर्शन दुर्लभ हो गया है; ब्राह्मण वेदोंको बेचनेवाले, राजा प्रजाका शोषण कर डालनेवाले हैं ( मानस, ७।९७।१ ); दम्भ-रत सन्त, डींग मारनेवाले पण्डित, वेदमार्ग-विमुख वैराग्यवान, विशाल नख और जटाएँ रखनेवाले तपस्वी बन गये हैं (मानस, ७।९७।१–४)। आगे तुलसी कहते हैं कि योग, संयम और समाधिको कलिरोग लग गया है ( विनयपत्रिका, ६६ ); पर-स्त्रियोंको निरखनेसे नेत्र, विषय-लिप्त रहनेसे मन, वासना-मान-मदसे हृदय, सहज सुख त्यागनेसे जीव, परनिन्दा तथा परदोष कथनसे वचन—ये सभी मलिन हो गये है ( विनय-पत्रिका, ८२ ); लोग न तो सन्तोंका संग करते हैं और न ही उन्हें रामकथा प्यारी लगती है ( विनयपत्रिका, १४० ); कहनी और रहनी सभी खोटी हो गयी हैं तथा कपट-भरे करोड़ों कुमार्ग चल पड़े हैं ( वही, १८४ ); वर्ण और आश्रम-धर्म केवल पोथियों और पुराणोंमें लिखे पाये जाते हैं, उनके अनुसार कर्तव्य कोई नहीं करता ( वही, १९२ ), इत्यादि। अतः ऐसे बदलते हुए धार्मिक समाजमें अब योगियों और ज्ञानियोंकी आवश्यकता नहीं रही, अब तो केवल हृदय-हितकी ज़रूरत है ( बरवै ४८ )। ऐसे समाजमें इन्द्र, ब्रह्मा, देवता, नर और मुनिगणमें दीन जनके लिए पीर नहीं बची ( वही, ७५ )। ऐसे समाजमें भक्ति विमुख लोग खर, कूकर और सूकरकी तरह वृथा जी रहे हैं। सारांशमें वैष्णव वैरागी तुलसीकी दृष्टिसे धार्मिक संस्थाओंके 'ह्रास' की दशा ही कलिकाल-की है। इसके प्रतिकारके लिए वे दो रूढ़ियोंका सहारा लेते हैं : पहली है नारी-निन्दाकी रूढ़ि, दूसरी है जगत्को मिथ्या माननेका दर्शन। ये दोनों प्रतिकार

धर्मशास्त्रीय परम्पराके अनुमोदन होनेके साथ-साथ तुलसीके जबरदस्त अन्तर्विरोध हैं जहाँ तुलसी क्रमशः प्रतिक्रियावादी और निराशावाद-ग्रस्त पलायनवादीके रूपमें प्रकट होते हैं। ये अन्तर्विरोध उनके कट्टर ब्राह्मणत्व, पौराणिक पुनरुत्थानवाद तथा आध्यात्मिक विरति-विवेककी देन हैं। एक ही अमूर्त श्रेणीके निषेधने दूसरे निषेधोंको जन्म दिया। सामन्तीय व्यवस्थामें नारी भोग्य वस्तु और लूटका माल बना दी गयी थी, और समाजमें घोर निराशा-दरिद्रता-अन्यायका बोलबाला था। इसके निषेधमें दिव्यलोककी खुशहाली, कामजयी वैराग्य, और ब्राह्मणों ( भूसुरों ) का आध्यात्मिक नेतृत्व आदि उभरे। फिर इनका भी निषेध नारी-निन्दा, षड्रिपु दमन, कलिकाल, मिथ्या जगत् आदिकी धारणाओंके रूपमें हुआ। समाजकी विषमता और सामाजिक सम्बन्धोंके शोषणसे १८०° का मोड़ लेकर आध्यात्मिक चिन्तनमें इन्हें त्याज्य तथा माया बनाकर मानो यथार्थको ही झूठ माननेकी भ्रान्ति ( इल्यूज़न ) विकसित कर ली। नारी-निन्दाकी भाँति शूद्र-ताड़नपर भी तुलसी एक प्रतिक्रियावादी अर्थात् सामाजिक परिवर्तन ( जो सामाजिक आन्दोलनका परिणाम होता है ) के स्थायी, अव्यवस्थित, उपयोगी, प्रगतिवादी स्वरूपके प्रति प्रतिक्रिया प्रकट करके इसे स्थायी, हानिकारक, प्रतिगामी मान लेते हैं। इस बिन्दुपर वे कबीरके सामाजिक बोध और क्रान्तिदर्शनकी तुलनामें बहुत पीछे ढकेल दिये जाते हैं। इसी बिन्दुपर वे सामाजिक और अनैतिक अन्यायका समर्थन करते हैं—"शील और गुण-विहीन भी ब्राह्मण पूजो; लेकिन गुण, गणों तथा ज्ञानमें निपुण शूद्र नहीं" ( मानस ३।३३।१ )। और यह सन्देश वे मर्यादा-पुरुषोत्तम रामके माध्यमसे देते हैं! आगे वे कहते हैं कि शूद्रको विद्यादान मानो साँपको दूध पिलाना है। ज़ाहिर है कि उस समयमें सबसे अधिक शोषित, विद्रोही ब्राह्मण-सत्ताको ललकारनेवाले, वर्णाश्रम व्यवस्थाके भंजक शूद्र ही थे जो वर्ण और वर्गके सक्रिय सम्मिश्रित संघर्षके वाहक थे। ब्राह्मण-चेतना शूद्रोंको गँवार, अभागा, तथा छोटी जातिका मानती थी ( "सो निगोड़ी छोटी जाति पाँति" कवितावली, ७।१८ )। इसीके टक्करमें वे मानो ब्राह्मणोंके धार्मिक और आध्यात्मिक नेतृत्व ( भूसुर, गुरु, विप्र, द्विज ) तथा प्रतिष्ठाकी बारम्बार घोषणा करते हैं। तुलसीने तत्कालीन सामाजिक द्वन्द्वको ब्राह्मण–शूद्र प्रतिद्वन्द्वितामें प्रक्षेपित-सा किया है। तत्कालीन समाजमें आश्रम-व्यवस्थाको प्रबल धक्के लग रहे थे—नाथों, सिद्धों, सूफ़ियों, निर्गुण सन्तों, शास्त्रवादी भक्तों, मुसलमानोंके द्वारा। तुलसीको वर्णाश्रम-व्यवस्थाके टूटनेपर गहरी यन्त्रणा थी जो कलिकाल-निरूपणमें अभिव्यक्त हुई है। नारी, शूद्र और मिथ्या जगत्-सम्बन्धी मान्यताएँ मध्यकालीन नैतिकताके अन्तर्विरोध तथा न्यायादर्शके संकटको प्रकट करते हैं जहाँ

प्रभुता और अबलताके आधारपर न्याय-विभाजन होता है। रामभक्तिके आवेशमें तुलसी इन नैतिक संकटों एवं मध्यकालीन न्यायके दुहरेपनकी व्याख्या करनेके लिए क्रमशः रामके ब्रह्मत्व एवं रामके नाते ही प्रेम-बैर-निर्णयका संविधान रचते हैं। कुछ उदाहरणोंसे बात स्पष्ट हो जायेगी। शिवसे पार्वती-द्वारा निर्गुण परब्रह्म बनाम दाशरथ मानव राम-विषयक पूछे गये सवाल नैतिक और आध्यात्मिक संकटके ही सारांश हैं जिनके स्पष्टीकरणके लिए पूरे 'मानस' में कोशिश हुई है। तुलसी रामके नैतिक संकटोंको व्यवस्था नटवत् 'लीला' के व्याजसे, तथा आध्यात्मिक प्रश्नोंका समाधान माया अथवा ब्रह्मत्वके आधारपर करते हैं। जिस पापके कारण राम छिपकर बालिका बध करते हैं, वैसी ही कुचाल जब सुग्रीव तथा विभीषण करते हैं तो राम स्वप्नमें भी उसका मनमें विचार नहीं करते ( मानस, १।२८।३-४ )। इसी तरह जिन वैदिक यज्ञोंकी रक्षाके लिए राम अर्पित हैं, वैसे ही मेघनाद और रावण-द्वारा रचाये गये यज्ञोंके ध्वंसकी वे आज्ञा देते हैं ( मानस, ६।७४।४, ६।८४।२ )। इसी तरह सतीको लेकर शिवके नैतिक संकटका उद्घाटन हुआ है ( मानस, १।५५।३-४,-१।५६ ); पर जहाँ भी लक्ष्मण या सीताने 'नैतिक मर्यादा' भंग की है वहाँ इस संकट-मोचनके लिए तुलसी कटुवचन बोलनेकी सूचना मात्र देकर आगे बढ़ जाते हैं; प्रभुत्व-न्यायके अनुसार तत्कालीन नैतिकतामें पतिके वचनोंको झूठ मानना ही नारीको पति-परित्यक्ता तक बना सकता था ( मानस १।५८, १।५९ ); वृद्ध, निर्धन, बहरा, अन्धा, रोगी, दीन पति भी नारीके लिए पूज्य है और उनका एकमात्र धर्म-व्रत-नियम पतिचरण-अनुराग है ( वही, ४।४।४-५ ), इत्यादि। जब समाजमें ऐसे अन्तर्विरोधोंका निराकरण नहीं हो पाता, तब संघर्ष अधिक तीव्र होते हैं, मूल्योंमें अधिक ह्रास आता है और रूढ़ समाजोंका अधःपतन हो जाता है। तुलसीके धार्मिक समाजमें नारी, शूद्र और संसार-सम्बन्धी धारणाओंमें ऐसे ही तीव्र 'व्यावहारिक' अन्तर्विरोध हैं। इनके पार्श्वमें नैतिक-व्यवस्थाका एक विशाल आदर्श-पटल मानसमें खिंचा है और वह निषेध नहीं, पुनरुत्थानवादी 'व्यावहारिक' विधेय है।

तत्कालीन समाजके—और स्वयं कवि अभिलषितार्थ—सर्वप्रधान सम्बन्धोंमें स्वामी-सेवकका सम्बन्ध है। धार्मिक धरातलपर भी तुलसीमें इस सम्बन्धके बड़े स्पष्ट प्रतिमान अवरेखित हैं: स्वामीकी पूर्ण शरणागत-वत्सलता, तथा सेवकका समग्र भावसे पूर्ण समर्पण। इसका आदर्शीकृत रूप दास्य भावकी भक्ति है, लेकिन यह शक्ति एवं सत्ताके आधारवाली सामाजिक सम्बन्धताका भी संकेत करती है। भक्तिके क्षेत्रमें तो 'सुस्वामी' राम तथा 'कुसेवक' भक्तकी मानलीला

चलती है क्योंकि स्वामी दयानिधि है, पालनकर्ता है, तथा सेवक कृपाभाजन। इसलिए भक्तकी चरम रुचि है—कपट, स्वार्थ और चतुर्वर्गको छोड़कर सहज स्नेहसे स्वामीकी सेवा ( मानस, २।३००।२ )।

धार्मिक और नैतिक संस्थाओंकी परिणति आध्यात्मिक मूल्योंमें होती है। अचल और अवनतिशील समाजमें नैतिक मूल्य आध्यात्मिक निर्विकल्पों ( ऐब्सो-ल्यूट्स ) में छायान्तरित हो जाते हैं, और 'परलोक' के जीवन तथा सुखके लिए इस जगत्के जीवन और सुख-दुःखको मिथ्या, माया, क्षणभंगुर आदि मान लिया जाता है। यहाँ एक 'अन्य समाज'की परिकल्पना होती है जिसके सदस्य गृहस्थ, लौकिक जन, नर-नारी आदि न होकर मुनि, सन्त, संन्यासी, योगी, महात्मा, पुरोहित आदि होते हैं जो विरति-विवेक विज्ञानादिसे अनुप्राणित रहते हैं। भक्त बहुत-कुछ इहलोक-परलोकके बीचमें होता है। विश्वके मध्यकालोंके रहस्यवादी चिन्तनोंमें ये बातें पायी जाती हैं। तुलसीने एक अध्यात्मवादीकी तरह जगत्के बारेमें कहा है कि जो देखने-सुनने तथा मनमें गुननेमें आते हैं उनका मूल मोह है, परमार्थ नहीं। इस दृष्टिसे यह जगत् एक दृश्य-प्रपंच, मोह और स्वार्थ प्रमाणित हो जाता है, तथा इस जगत्के मनुष्य मोह-रूपी रात्रिमें सोनेवाले अर्थात् अज्ञानी हो जाते हैं ( मानस, २।९१।४ )। अतः सम्पूर्ण भोग-विलासोंसे वैराग्य ही जागरण है। यह विवेक प्रदान करता है, विवेकसे प्रीति होती है और ईश्वरके प्रति यह प्रीति परमार्थ है ( वही, २।९२।१-३ )। सारांशमें 'जगत्' मोह, प्रपंच और अज्ञान ठहरता है; तथा 'वैराग्य' ज्ञान, हरि-प्रीति और परमार्थ है। सांसारिक पदार्थ क्षण-क्षणमें दिखनेवाले और मिटनेवाले भ्रमोत्पादक हैं ( विनयपत्रिका, ६६ ), संसाररूपी भयानक चित्र मायारूपी दीवारपर बना है और भ्रम-जनित है। इसके जड़-चेतन तत्त्वोंको कालरूपी मकर खा लेता है तथा विषय-सुखोंके पीछे दौड़नेवाले प्राणी मृगतृष्णामें मर जाते हैं ( विनयपत्रिका १११ )। निःसन्देह तुलसीके इस जगत्-टाइपको 'विशुद्ध' तर्कज्ञान ( रीज़न ) का अभिज्ञान कह सकते हैं जो अध्यात्म ( मेटेफ़िज़िक्स ) का क्षेत्र है। इन इन्द्रियोंसे परे, इन विषयोंसे परे, इस प्राकृतिकतासे परे, अर्थात् बहिर्गत यथार्थ और सापेक्ष्य ज्ञानसे परे, अतिप्राकृतिक और अतिबोधात्मकका 'ज्ञान' प्राप्त करना ही 'परमार्थ' अर्थात् आध्यात्मिक लक्ष्य होता है। ज़ाहिर है कि हम यथार्थकी सापेक्ष्यतावादी खोज अन्तर्बाह्य दोनोंके ही माध्यमसे करते हैं, और इस जगत्की क्षणभंगुरता और जीवनके राग-विरागोंको तबतक भोगते हैं जबतक हम 'सशरीर जीवित' हैं। आध्यात्मिक जगत् इस क्षणभंगुर जगत्, इस बहिर्मुखी यथार्थ और जीवनके राग-विरागोंका क्रमशः संयम, दमन, परित्याग करनेका उपदेश देता हुआ इस क्षण-

भंगुर जगत्‌के माध्यमसे एक निर्विकल्प अथवा शाश्वतकी गूढ़ खोज करता है; बहिर्मुखी यथार्थका ( माया, मोह, भ्रमादि कहकर ) तिरस्कार करता हुआ अन्तरतलसे ही सत्य या विवेक प्राप्त करता है; और अन्तमें जीवनके लौकिक कार्योंको विकार, रिपु और बन्धन बता देता है (जब कि इनका असन्तुलन बन्धन है )। आध्यात्मिक जगत्‌में शाश्वत जगत् और शाश्वत जीवनकी, ब्रह्म और आत्माकी खोज ही चरम लक्ष्य हो जाती है। इन सोपानोंपर पहुँचकर भक्तोंमें रहस्यवाद ( मिस्टिसिज़्म ) का भी सन्निवेश हो जाता है। रहस्यवादकी अन्तिम परिणति वैयक्तिक रहस्यवादमें होती है जहाँ पहुँचकर यथार्थताकी स्वयंप्रकाश्य ( इण्टुइटिव ) और भावाभावात्मक ( इमोटिव ) सिद्धि होती है, 'वैयक्तिक' तथा आत्मापरक मूल्योंकी संरचना होती है, तथा ईश्वरसे अनुरागपूर्ण 'वैयक्तिक' आदान-प्रदान होता है। फलस्वरूप, ऐसे गूढ़ हर्ष और गूढ़ अनुभवोंकी अभिव्यक्ति भी अनिर्वचनीय तथा सूक्ष्म प्रतीकोंसे भर जाया करती है। कबीरकी तरह वैयक्तिक रहस्यवादी न होनेके कारण तुलसी वैयक्तिक स्वयंप्रकाश्य ज्ञान, ईश्वरसे वैयक्तिक आदान-प्रदान, और वैयक्तिक आत्मापरक मूल्योंके प्रतिपादक नहीं हुए। इसीलिए कहीं भी उनके हर्ष और अनुभवोंमें गूढ़ता, या नाथों-सिद्धोंका रहस्यपरक प्रतीककोश नहीं मिलता। उनका रहस्यवाद व्यावहारिक है जिसके अन्तर्गत ज्ञानके बजाय प्रेमके द्वारा आत्मोत्सर्गवाली सेवा की जाती है और ऐसी वैयक्तिकताकी भरती नहीं हो पाती। उसमें प्रेम और भक्तिके समावेशकी वजहसे ध्यान-समाधि ( कॉण्टेम्प्लेशन ) तो अवश्य होती है, किन्तु योग-समाधि नहीं। भक्तिके रहस्यवादमें प्रेमको सर्वोच्चता प्रदान की जाती है, विनय और विनम्रतामें सम्मानकी प्रतिष्ठा की जाती है, तथा सेवामें ही हर्ष प्राप्त किया जाता है। इस तरह आध्यात्मिक समाज संस्था इस जगत्‌के सामाजिक कार्यधर्मोंको नये तथा यथार्थविमुख सूक्ष्म अर्थ-प्रतीक दे देती है जिसमें अध्यात्मवाद और रहस्यवादकी सन्धि होती है। ऐसी संस्थाके समूह भी पृथक् होते हैं : जैसे मुनि, सन्त, संन्यासी, योगी, महात्मा, पुरोहित आदि। ये ध्यान-समाधिवाले टाइपके अन्तर्गत होते हैं और सेवा, प्रेम, त्याग आदिके द्वारा ईश्वर-प्राप्ति ( मोक्ष, मुक्ति ) आदिको ही अपने व्यक्ति तथा समाजके चरम मूल्य मान लेते हैं। इसीलिए परित्यागके आदर्शवाले रामवृत्तमें इन सामाजिक, किन्तु व्यक्तिपरक, समूहोंकी भी एक समानान्तर दुनिया होती है—लौकिक समाजके समानान्तर और सहवर्ती। इन व्यक्तिपरक समूहोंमें भेदके स्थानपर एक ही आदर्शकी विभिन्न अवस्थाएँ या श्रेणियाँ होती हैं। इनमें भी तुलसीने मध्यकालीनीकरण घटित करते हुए ध्यान करनेवाले मुनियों ( त्रेता दशा ) और ऋषियों, तथा पूजन करनेवाले

साधकों ( द्वापर दशा ), दोनोंको ही भक्त और दास्यभावके भक्त ( कलियुग दशा ) बना डाला है ( 'मानस' 'कवितावली' आदिमें ); तथा परित्यागके आदर्शवाले रामवृत्तमें प्रीतिकी अधिकाई कर दी है। यह तुलसीका वैशिष्ट्य है। उनकी 'वैराग्य सन्दीपनी' आध्यात्मिक समाजके नायक 'साधु' या 'सन्त' का निरूपण करती है, जिस भाँति कलिकाल समाज अपने प्रतिनिधि नायक 'खल'का उद्‌घाटन और रामराज्य अपने नायक 'मर्यादा-पुरुषोत्तम' का अभिषेक करता है। 'मुनि' वनमें रहते हैं ( किसीसे कुछ प्रयोजन नहीं रखते ), तपस्वी होते हैं ( किसीकी मुँह-देखी नहीं कहते ), उदासीन होते हैं ( किसीका पक्ष नहीं करते ) और झूठ नहीं कहते हैं ( मानस, २।२०८।२ )। ऋषि-मुनियोंकी ही भाँति होते हैं किन्तु वे गृहस्थ होकर भी गुरु, मन्त्रद्रष्टा तथा संन्यासी होते हैं (अत्रि-अनसूया) और यज्ञादि करते-कराते हैं ( शृंगी, विश्वामित्र )। 'सन्त' छह विकारोंसे रहित, धर्म और ज्ञानके आचरणमें अत्यन्त निपुण, सांसारिक दुःखोंसे रहित, विगत-सन्देह, सम और शीतल और सुखदायक, परहितकारी, लीला-गायक होते हैं ( मानस, ३।४५।१-४ )। वे जगत्‌को मृगतृष्णाके समान जानते हैं ( वैराग्य सन्दीपनी, १४ ) तथा उनमें अहंकार, भेद, और अशान्ति नहीं होती ( वही ३०, ३१ )। उनके तीन पद हैं: अमल पद, शीतल पद, और कामनाहीन पद ( व्यापक विवरणके लिए पूरीकी पूरी 'वैराग्य सन्दीपनी' पठनीय )। सारांशमें, ये प्रशान्ति और सन्तुलनके मर्यादामान तथा प्रतिमान ( नॉर्म ऐण्ड मॉडेल ) हैं। 'संन्यासी' गृहत्यागी होते हैं। उनके विशिष्ट वेश, वट-वृक्षके दूधसे बनी जटाएँ या मुण्डित शिर होते हैं ( मानस, २।८३।२; दोहावली ६३ )। उनके लिए वैराग्य अनिवार्य था। इनका अन्य नाम यति भी था। 'जोगी'के अन्तर्गत निर्गुण शैव, शाक्त, वामाचारी, कौलाचारी, नाथ, सिद्ध, तान्त्रिक, जंगम ( लिंगायती ) आदि सम्प्रदाय तथा समुदाय ( मण्डली बनाकर रहनेवाले साधु भी ) शामिल हैं। वाममार्गी 'सेवड़ा' ( साधक ) शराबका सेवन करते थे ( दोहावली, ३२६ ), जोगी और सिद्ध अशुभ वेश धारण करते और भक्ष्याभक्ष्य खाते थे ( दोहावली, ५५० )। बहुधा ये निर्गुणोपासना, तन्त्र-मन्त्र-यन्त्रकी साधनाओंके जाल फैलाया करते थे। 'महात्मा' साधुका श्रेष्ठतम एवं वरिष्ठ रूप है। 'पुरोहित' ब्राह्मणका ऋग्वेद-कालीन रूप है। वह यज्ञ कराता, वेदमन्त्र गाता और धार्मिक अनुष्ठानोंका नेतृत्व करता था। मध्यकालमें यज्ञोंकी महत्ता खत्म-सी हो गयी थी। यहाँ हमने आध्यात्मिक संस्थाके इन प्रमुख साम्प्रदायिक समूहोंका सामाजिक महत्त्वकी दृष्टि-से ही रेखांकन किया है।

अब हम आर्थिक संस्थाओंको लें। भूमि-व्यवस्था, भूमि ( कृषि ), धन

( वेल्थ ) एवं घर ( परिवार-इकाई ) की चर्चा तो हमने कलि-समाजके विश्लेषण-के प्रसंगमें की है। इसी क्षेत्रमें तुलसी सर्वाधिक यथार्थोन्मुख रहे हैं। उनके समय ज़मींदार–जागीरदार, कृषक और व्यापारी वर्गमें समाज बँटा था। कृषकोंके कई स्तर थे : भिखारी, किसबी ( गृहस्थ किसान ), मज़दूर ( किसान ), कृषिदास ( गुलाम ), बेगार करनेवाले कृषक आदि। इन्हींके साथ कुटीर उद्योगके द्वारा जीविकोपार्जन करनेवाले कारीगर या 'शिल्पी' थे। व्यापारियोंके दो उपवर्ग थे : बड़ा वाणिज्य तथा व्यापार करनेवाले साहूकार, और थोड़ी-मोड़ी बनिकी कर पेट भरनेवाले छोटे दुकानदार। कुटीर उद्योगों तथा लघु उद्योगोंमें वस्तुओंकी क़िस्में और कोटि दोनों दक्षताके स्तरपर थीं। कारीगरोंका व्यक्तिगत श्रम ही नहीं कारखानोंमें सामूहिक श्रम भी होता था; और कम मज़दूरी देकर उनका अतिरिक्त-मूल्य ज़मींदारोंके शोषणको अर्पित था। खानोंसे धातु और धातुओं-की वस्तुएँ; खेतोंसे कपास, पटसन, रेशम-कीड़े और वस्त्रादि; फ़ौजके लिए तोप, तोप-गोले, हथियार आदि; तथा विकासके लिए नाना वस्तुओंका निर्माण होता था। इस भाँति ग्रामीण अर्थतन्त्रपर आश्रित एक शहरी अर्थतन्त्र भी विकसित हो रहा है। साधारण जनताकी क्रयशक्ति नहींके बराबर थी, धनके बजाय मालका विनिमय था क्योंकि धन सामन्तवर्गके पास केन्द्रित था। इसलिए किसान खेतोंसे बेदखल होकर कृषिदास या भिखारी हो जाते थे। लगातार अकालोंसे देश क्षत-विक्षत था। देशके विशाल ग्राम्य-फलककी तसवीर यही थी। अकाल, बेरोज़गारी और बेदख़लीकी वजहसे किसान और भिखारी दुबले शरीरके ( कृसगात ) रोटीके लिए बिलबिलाते ( ललात ) फिरते थे। उनकी सारी पूँजी ( कैपिटल ) झोपड़ीमें एक खुरपा और घास बाँधनेकी जाली ही थी ( कवितावली, ७।४६ )। वह नंगे पैर ( उबेने पाय ) पेट खलाये और मुँह बाये देश-देशका तिरस्कार सहन करता फिरता था। उसकी ग़रीबी दुःसह-दुःखद और दयावह थी। वह घासफूसकी शय्या ( साथरी ) पर सोता था और झीने खेसका ओढ़ना ओढ़ता था ( कवितावली, ७।१२५ )। ऐसी परिस्थितिमें राजाओंके राजा महेश्वर, या रामकी दास्य भक्ति ही एकमात्र आधार हो सकती थी। ऐसी आर्थिक दशामें भिखारी-हो-भिखारी हो गये थे जो कुत्ते कहलाकर खानेके कौर माँगते थे ( कवितावली, ७।२६ ), कुत्तेकी तरह द्वार-द्वार पेट खलाये हुए घूमते थे ( विनयपत्रिका, १६८ )। ऐसी दशामें ज़रा-सा आशावादी होना ही ज़रा-सा सुधारका लोभ करना ही, सबकी गुलामी हो जातो थी ( वही ) इसीलिए सारे मध्यकालमें धनिकों-द्वारा दान-पुण्य बताया तथा माना गया है। दास-दासियाँ राजमहलों, अन्तःपुरों और खेतोंमें सेवारत

थीं। खेतोंके दास कृषिदास थे। वे मालिकके टुकड़े खाकर रहते थे। बिना मोल बिक जाते थे, उनके उतरे वस्त्र पहनते थे या बची जूठन खाते थे ( गीतावली, ५।३० ); दासोंको खरीदा और बेचा जाता था ( कवितावली, ७।१२; विनय-पत्रिका, ७१ )। अच्छे दासोंको कड़े दामपर चढ़ाया जाता था तथा खोटोंके लिए एक कौड़ी भी नहीं मिलती थी। दासपर मालिकका पूर्ण स्वामित्व था ( विनय-पत्रिका, १४६ )। दास स्वामीके पाँवोंकी जूतियोंको ही सबसे बड़ा सहारा मानता था ( विनयपत्रिका, २०९ ) और अपनी खाल तक खिंचवाकर स्वामीके पाँवोंकी जूतियाँ बनानेका प्रतीक उसका मानदण्ड था ( गीतावली, २।७२ )। बुरे गुलामके लक्षण थे नमकहरामी और छल ( विनयपत्रिका, १५० )। ऐसा गुलाम इस हाथसे उस हाथ बिकता फिरता था ( विनयपत्रिका, १५१ )। कुछ शूद्र जातिवश और संस्कारवश ही सेवाभावसे अनुप्राणित थे—'मानसमें केवट और निषादराज; गावोंके कहार, बारी, मोची आदि इसके उदाहरण हैं। ये 'भले' सेवक थे ( दास या गुलाम नहीं )। गुलाम और किसान जब सामन्तोंकी बेगारमें पड़ जाते थे तब कठिनाईसे छूट पाते थे ( विनयपत्रिका १८९ )। ऐसे किसानों, बेखेतिहर मजूरों, गुलामों, बेगारमें फँसे लोगोंके मालिक या स्वामी बहुधा निर्दय राजा और क्रूर स्वामी ( कुसाहेब ) होते थे (कवितावली, ७।१२)। ये साहेब दासका अपराध सुनते ही आग-बबूला हो जाते थे (दोहावली, ४७)। अतः साहेब और स्वामीके आदर्श माने गये कि वह प्रेम और सेवाकी पहचान करनेवाला हो ( विनयपत्रिका, ७१ ), सेवकके अपराधोंको क्षमा करनेवाला हो, उसे सभी सेवक प्यारे लगें ( मानस, ७।१५।४ ) अच्छा स्वामी तो विनय सुनते ही प्रीति पहचान लेता है ( मानस, १।२७।३ )। इसलिए तुलसीने आदर्श सेवक-स्वामी सम्बन्ध राम-हनुमान्का प्रस्तुत किया जो सामन्तीय सम्बन्धतामें मानवतावादी संवेदना भरनेकी आकांक्षा कही जा सकती है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकारका जीवन तुलसी जिये, तथा जिस प्रकारके कृषक समाजमें रहे, उसमें दास्य-भावकी भक्ति और राजा-साहेबके स्थानपर परब्रह्म स्वामी रामका स्वामित्व ही विकसित हो सकता था। साहूकारोंकी स्थिति ठगोंकी-सी थी। वे मीठी बोली बोलकर वाणिज्यादि अनेक उपायोंसे सब प्रकारसे कल-बल-छल करके एक-एकको ठगा ( डहका ) करते थे ( दोहावली, ५४७ )। वे बहुत कंजूस होते थे जिसके लिए तुलसीने बारम्बार उनकी भर्त्सना की है। वे दग़ाबाज़ीका सौदासूत चलाते थे, स्वार्थकृपण थे ( विनयपत्रिका २६४ )। गृहस्थ ( हल जोतनेवाला कृषक परिवार ) पर और भी बोझ था। पुरोहितसे लगाकर पटवारी तक, साहेबसे लगाकर बाज़ीगर तक, साधुसे लगाकर चोर तक

उसके कन्धोंपर एक साथ सवार थे। वे अतिदीन और अति दुःखी थे; अतिवर्षा या अनवर्षामें व्याकुल होकर नर-नारी समेत ये समूह दैवको गालियाँ देकर दिशाहारेकी तरह घबड़ाये रहते थे ( विनयपत्रिका ३४ )। ऐसी स्थितिमें जगत् और अधिक माया तथा मिथ्या लगता था। इनकी नारियोंकी दशा घरमें टहलिनियों-जैसी थी। हाराटूका थका-माँदा पुरुष कृषक नारीकी सारी स्वतन्त्रता छीन लेता था। सुख तो उन्हें सपनेमें भी नहीं मिलता था ( मानस १।१०१।३)।

कुल मिलाकर घोर ऐश्वर्य और दारिद्रचका सह-अस्तित्व उस युगका यथार्थ आश्चर्य था। नीच जाति, किसान आदि छोटे-छोटे बच्चोंको जिलाने-भरके लिए खेती मजूरी करते थे, उन्हें पढ़ा नहीं पाते थे ( कवितावली, २।६, ८ )। किसानी, भीख, व्यापार, चाकरी, जीविका कुछ भी मिलना दुर्लभ था ( वही, ७।९६–९७ ); शिव और अन्नपूर्णा तक मानो दरिद्रोंके देवता हो गये थे ( वही, ७।१५३–१५९ ); और चारों ओर कई बार अकाल पड़ते थे। इसके विपरीत राजाओं और साहेबोंके द्वारपर ज़ंजीरोंसे जड़े अनेक मातंग झूमते थे, पासमें तीखे तुरंग थे, सुन्दर तिय थीं। यही वर्ग विरोधी था जो बहुत मन्द-मन्थर गतिसे सुगबुगा रहा था और कबीरादिने धार्मिक क्षेत्रमें इसका समयसे पहले विस्फोट कर दिया था। तुलसीको इसका गहरा 'पद' मिल गया था। जो 'पदार्थ' उन्होंने दिया वह परिवर्तनका नहीं, सुधारका था; भविष्यका नहीं, पुनरुत्थानका था; वह प्रधानतः आध्यात्मिक और नैतिक लोकमंगलका था।

क्रीड़ा, मनोरंजन, उपयोगितावादी उद्यमोंकी संस्थाओंके बारेमें हम पर्याप्त कह चुके हैं। प्रत्येक कर्मकाण्ड, षोडश संस्कार, उत्सव, पर्व आदि क्रीड़ा-मनोरंजनसे जुड़े होते थे। 'गीतावली' में होली, सावनी तीजके झूलने, दीवाली आदिके आनन्द-उल्लास-हर्ष-भरे मदिर-मधुर-मांसल चित्र हैं ( उत्तरकाण्डमें )। 'पार्वती-मंगल', 'जानकीमंगल' तथा 'मानस' में राम-विवाह और शिव-विवाहके उत्सव-मुग्ध लोकचित्र हैं। 'मानस' में रामके तथा 'कृष्णगीतावली'में कृष्णके संस्कार-कर्मोंके चित्र हैं। खेलोंमें चौगान, गोली, भौंरा, लट्टू-डोरीका भी वर्णन है ( मानस', व गीतावली', १।४३ )। बाज़ पक्षी-द्वारा चिड़ियोंका शिकार भी इस युगका मनोरंजन था। इनमें-से यह और चौगान मुग़ल-समाजकी भी देन है।

अन्तमें समाजके अन्तर्गत हम परिवार और विवाहकी मीमांसा करेंगे। विवाहमें वैदिक तथा लोक, दोनों रीतियोंका मेल हो गया था। स्वयंवर तथा बिचानीवाले विवाह होते थे। स्वयंवरकी प्रथा क्षत्रिय राजाओंमें थी ( जानकी-मंगल, मानस )। विवाहके पाँच आधार थे : रूप, शील, अवस्था, वय, वंश

और गुणमें समता होना भी अनिवार्य थी ( रामाज्ञा प्रश्न, १।७।४ )। लोक-प्रथाओंसे राम और शिवके विवाह लोकोत्सव-से हो गये हैं। लोक-रीति, वेद-रीति और कुल-रीति तीनोंका पालन होता था। पाहुने ( वर ) की मध्यकालीन समाजमें अत्यन्त प्रतिष्ठा थी; वह पूरे कन्यापक्ष, उसके ग्राम ( पुर और पुरजन और परिवारजन ) तथा ग्रामवासियोंका पूज्य हो जाता था ( जानकीमंगल, १६८ )। लोक-रीतिके विवाहके पहले वधू गौरी-गणेशका पूजन करती थी। इसके साथ अन्य लौकिक प्रथाएँ भी शामिल हो गयी थीं; जैसे जुआ और गाली, कलश थापना, तेल चढ़ाना, भेंट पठाना, न्यौछावर करना, ओहार ( परदा ) हटाकर नववधूको देखना, पहिरावनी देना ( जानकीमंगल, ११५, १२५, १८६, १९१ ), आरती आदि करना ( मानस', दोनों मंगलकाव्य )। बहुधा वधुएँ लरकिनी उमरकी होती थीं ( मानस, १।३५४।४ )। गाँवोंके असंगत विवाहोंपर बावले शिव तथा सुन्दरी पार्वतीके विवाहके मिस छींटाकसी हुई है ( पार्वतीमंगल, मानस )। विवाहोंमें लड़कियोंको विवाह-निर्णयका अधिकार नहीं था। वे पिताके अधीन होती थीं ( पार्वतीमंगल : जनायो आपु बाप अधिनता )। मिथिलामें सामूहिक विवाह-प्रथा थी ( जो आज भी है ) जिससे राम-समेत सभी भाइयोंका सीता-समेत सभी बहनोंसे ब्याह हो गया था। वधू-शिक्षा एक महत्त्व-पूर्ण आवश्यकता थी। उसे पतिप्रिया, अचल सोहागवती, सास-ससुर-गुरु सेविका, स्त्रीधर्म जाननेवाली, पति-आज्ञाकारिणी होनेका आशीष-उपदेश दिया जाता था ( मानस, १।३३३।२-४ ) अनुसूया तो सीताको पूरे स्त्रीधर्मकी ही शिक्षा देती हैं जिसमें पातिव्रत धर्म चरमादर्श है ( मानस, ३।४।४-१० )।

तुलसीमें मध्यकालीन 'परिवार' का एकाधिक बहुविध खाका मिलता है। एक ओर ऋषि-मुनियोंके परिवार हैं जहाँ गृहस्थाश्रम है; दूसरी ओर भरत, राम, विभीषणके परिवार हैं जहाँ संन्यास भी है। छोटे-छोटे लोगोंके परिवारोंका सच्चा प्रतीक केवट-परिवार है। छोटे परिवारकी जीविका पेट-पोंछी होती थी, लड़के-बच्चोंके जिलानेवाली। ऐसे परिवारमें नारी उग्र होती थी और अपने अधिकारोंका हनन होते देखकर पतिको नंगा नाच भी नचा सकती थी ( कविता-वली, २।६-८; बरवै, २४ )। दूसरे परिवार आदिम जातियों ( सुग्रीव-बालि, खर-दूषण ) आदिके हैं जहाँ भाईकी पत्नीसे विवाह कर लेना या उसे रख लेना एक आम प्रथा थी। साधारण परिवारोंके काम-धाम निश्चित थे। जीविकोपार्जनके बाद वहाँ रामनाम स्मरण, और साधु-सन्तोंकी सेवा करना अन्य कार्य थे। इन तीनों कार्योंका धर्म था : इस अपार संसार-सागरके पार उतर जाना ( बरवै, ६१ )। परिवारके सदस्योंमें सास, ससुर, माता और

पिता आज्ञा देनेवाले; तथा पुत्र, दामाद, बहू, कन्या, आज्ञा माननेवाले होते थे। परिवारके बाह्यवृत्तमें गुरु और स्वामी थे जो परिवारके अन्तर्वृत्तमें शिष्य और सेवकोंका विधान करते थे। इस प्रकार परिवार वर्ण और वर्गसे भी सम्बद्ध होकर एक ग्रामीण आर्थिक इकाई हो जाता था ( दोहावली, ३९१ )। परिवारका क़िला या महल तो घर था जो मंगल लक्षणों और सुरक्षाका धाम था ( दोहावली, ४५४ )। आदर्श गृहपतिके लिए धार्मिक कर्मोंको करने, रामकथा सुनने, ब्राह्मण, सन्तोंकी सेवा करने तथा सज्जनोंके साथ सत्संग करनेमें अपनी दिनचर्या बाँटनेका आदर्श है ( मानस, ७।२५।१-४ )। परिवारके लिए 'सुख' और 'सम्पदा' दो सर्वोच्च मूल्य हैं। परिवारके बूढ़े सदस्योंको हरि-गुण कथासे विशेष लगाव था ( मानस, ७।६२।२ ) किन्तु मध्यकालीन सामाजिक शोषणों एवं उत्पीड़नोंने परिवारसे सुख और शान्ति ही छीन ली; गृह-कलह बढ़ने लगे; तथा परिवारके सबसे अबल समूह नारियोंपर ही सारी निराशा, पराजय, उदासी, दुःख-दारिद्रय, छल-कपटका मनोवैज्ञानिक प्रक्षेपण हो गया। नारियोंके अलावा तत्कालीन सामाजिक निराशा और आतंकने गृह तथा गृहसम्बन्धोंमें भी सामाजिक निषेधात्मकता ला दी। अतः परिवार और परिवारके सदस्यों, परिवारमें रहनेपर सभी राग, विराग, चतुरता, चेष्टादिको भी जगत्की ही भाँति क्षण-भंगुर बताया गया (विनयपत्रिका, ७३)। यहाँतक कहा गया कि स्त्री, और पुत्र किसीके नहीं हुए, अर्थात् ये मरते समय साथ नहीं गये ( ख़ूब ! ); और इन सबके प्रेममें केवल कपट भरा है ( विनयपत्रिका, २०० )। भगोड़े लोग पत्नियोंको त्याग कर संन्यासी होने लगे, और दरिद्र-दुःखी मनुष्य सचमुच शरीरके प्रेम ( जो उन्हें शोषणके पाटोंमें पीस रहा था ) तथा जगत्के भयानक जुल्मों ( जो उन्हें डुबाते चले जा रहे थे ) की तरह घर-कुटुम्बकी क्षण-भंगुर इकाईको भी मोक्षमें बाधा मान बैठे। निराशा, पराजय और पलायनकी इस आध्यात्मिक क्षतिपूर्तिने तत्काकीन सामाजिक चेतना और यथार्थोन्मुखताके सक्रिय विकासका क्रूर दमन कर दिया। परिवारका यह सारा निषेधीकरण ( निगेशन ) नारीपर भाले-जैसा चुभा। उधर सामन्तोंके विलासमें वह काम-छड़ी थी, और इधर वह आठ अवगुणोंकी लड़ी हो गयी। नारीको भी यह विश्वास-सा हो गया था कि संसारमें नारी-जन्म ही वृथा है ( पार्वतीमंगल, १४४ )। नारी सहज अपावन मानी गयी ( दोहावली, ५४२; मानस ३।५ )। 'मानस'में तुलसी एक प्रचण्ड नारी-निन्दकके रूपमें आये हैं। पहले वे नारीको सहज रूपमें लेते थे; और 'मानस'के बाद उनका नारी निन्दक दृष्टिकोण समाप्त होने लगता है। 'मानस'के बाद वे नारीकी नहीं, सारे भ्रष्ट समाज और आर्थिक ग़रीबी और क्रूर जगत्की

निन्दाका बोध जगा लेते हैं। 'मानस'में मन्थरा 'नारी चरित' करके झूठे आँसू बहाती है; कवि सत्य ही कहते हैं कि "नारि-स्वभाव अगह, अगाध तथा दुराव-पूर्ण" होता है ( २।४६ : ४ ); भरत कहते हैं कि स्त्रियोंके हृदयकी गति विधाता भी नहीं जानता ( २।१६१।२ ); शूर्पणखा-प्रसंगको लेकर काकभुशुण्डि कहते हैं कि सुन्दर पुरुष देखकर नारी विकल हो जाती है : चाहे वह भाई, पिता या पुत्र ही हो ( ३।१६।३ ); शबरी रामसे कहती है कि नारी अति अधमसे भी अधम है तिसपर मैं तो मतिमन्द भी हूँ ( ३।३४।२ ); राम लक्ष्मणसे कहते हैं कि स्त्रीको चाहे हृदयमें ही क्यों न रखा जाये पर युवती स्त्री किसीके वशमें नहीं रहती ( ३।३६।५ ); राम नारदको उपदेश देते हैं कि मोहरूपी वनके लिए स्त्री वसन्त-ऋतुके समान है : वह काम, क्रोध, मद और मत्सरको बढ़ाती है। धर्मरूपी कमलवृन्दोंको हिम ऋतु-सी जला डालती है और पापोंको सुख देती है ( ३।४३।१-४ ); रावण कहता है कि स्त्रीका स्वभाव सचमुच डरपोक होता है ( ५।३६।१ ), और उसमें आठ अवगुण ( साहस, झूठ, चंचलता, छल, भय, मूर्खता, अपवित्रता, निर्दयता ) सदा ही रहते हैं ( ६।१५।२ ), शूद्र, पशु और नारी तीनों ही ताड़नके अधिकारी हैं। यहाँ हम उन पात्रोंके वचनों या उन चारित्रिक परिस्थितियोंको छोड़ देते हैं जो शूर्पणखा, अहल्या, मन्थरा और रावणसे सन्नद्ध हैं। लेकिन स्वयं श्रीराम, काकभुशुण्डि, स्वयं कवि, शबरी आदिके विचार तो तुलसीके या तुलसी-द्वारा अनुमोदित तत्कालीन अधोमुखी समाजके ही हैं जहाँ शूद्र और नारी समुदाय उत्पीड़ित रहे हैं। तत्कालीन परिवार और हिन्दू समाजमें सामन्तीय भोग-विलास, वर्णाश्रम व्यवस्थाकी अराजकता, घोर आर्थिक विपन्नता, पारि-वारिक दरिद्रता और दुःखके प्रति यह प्रतिक्रिया नारीको भी अपना आघातक लक्ष्य बना गयी। अतः शूद्र और नारीके विषयमें विश्वकी मध्यकालीन संस्कृतियाँ इसी तरह अनुदार और कट्टर रही हैं। ब्राह्मणवादी तुलसीने उनमें दूसरा रंग भी चढ़ा दिया। इस अन्यायका अनुभव नारियाँ करती थीं किन्तु धर्मशास्त्रने उन्हें दूसरे ही धर्म सिखाये थे। ऐसे समाजमें विधवा नारियाँ बहुधा सती हो जाया करती थीं, या जब उन्हें ज़बरदस्ती सती बनाया जाता था ( सम्पत्ति हड़-पनेके लिए, या परिवारके खेतोंका बँटवारा रोकनेके लिए ) तब वे चितासे ज़िन्दा अधजली निकलकर भी भागती थीं ( दोहावली, २५३ )। हिन्दुओंके इस सामूहिक नारी-वधको दैवी बनानेकी सती-प्रथाको अकबरने ग़ैर-क़ानूनी घोषित किया था। आध्यात्मिक अर्थोंमें ( माया सीताके नाशके लिए ) सीताको भी अग्नि-परीक्षा ही देकर पवित्रताका प्रमाण देना पड़ता है। 'अबला' नारीका इससे 'सबल' विद्रोह हो ही क्या सकता था?

पूर्ववर्ती सभी कारणोंसे समाजमें राग-द्वेष-विहीन 'मनुष्य' ही सर्वोत्तम माना गया। अन्यायके सामूहिक प्रतिकारकी धारणाका विकास न होनेके कारण राग-द्वेष विहीनता ही चरम सामाजिक मूल्य हो गयी। जो राग-द्वेष-हीन हो गया वही पण्डित, पारखी, चतुर, शूर, सन्त, सुभट, ज्ञानी, गुणी, दाता आदि सभी कुछ है ( वैराग्य सन्दीपनी, ५८, ५९ )। इसी भाँति सम्पत्ति, माता-पिता, पुत्र-भाई, घर-सुख आदिको वैराग्य तथा ईश्वर-प्रेमके पारमार्थिक मूल्यके लिए गिराया ही नहीं गया, परित्यक्त किये जानेका सन्देश तक दिया गया। तुलसीने सारे ज्ञानका निचोड़ रामपद-पंकज-प्रीति प्रतिपादित की। उस समाजका सत्तावाला यथार्थ था : लक्ष्मी, प्रभुता और कामवासना; ग़रीबोंका यथार्थ था : दुःख, दरिद्रता और निराशा। तुलसीने जो चरम मूल्य प्रतिष्ठित किये वे हैं : वैराग्य, करुणा और मर्यादा।

अब हम तत्कालीन प्रशासन और तुलसीके राजनैतिक दर्शनका विवेचन करेंगे।

इस प्रसंगमें यह याद रखना लाज़िम होगा कि तुलसी न तो राजनैतिक सिद्धान्त-रचयिता थे न ही व्यावहारिक राज्यविद्, दूसरे उनकी बौद्धिक चेतना नीतिपरक थी, तीसरे वे मध्य युगके एक संन्यासी लोक-नागरिक थे, और चौथे उनका आदर्शीकृत पौराणिक बोध था। मध्ययुगमें किसी राजनैतिक घटनाकी व्याख्या करनेमें अति-प्राकृतिक तत्त्वों ( सुपरनैचुरल एलिमेंण्ट्स ) का समावेश किया जाता है। और, यदि समाज-द्रष्टा कवि तथा सन्त हो तब तो उसकी राजनैतिक व्याख्यामें आधिभौतिक तथा पौराणिक आस्था ही सर्वोपरि हो जाती है। एक व्यावहारिक राजवेत्ता सिद्धान्त और ज्ञानको, राजनैतिक शक्तिकी उपयोगिताकी दृष्टिसे तत्काल लागू करता है। इसके विपरीत राजनैतिक सिद्धान्त-रचयिताके लिए किसी विचारका महत्त्व उसके निरपेक्ष प्रकृत मूल्यके रूपमें होता है। वह मानवीय कार्योंमें उस विचारके प्रचार-पक्षसे कम अनुप्राणित होता है। उसके लिए राजनैतिक विचार बौद्धिक निर्मितियाँ होते हैं जो राजनैतिक क्षेत्रकी 'तात्कालिक' तब्दीलियोंके बावजूद भी सार्थक और स्वयंसिद्ध हुआ करते हैं। कौटिल्य तथा मैकियावेली व्यावहारिक राजवेत्ता थे, मनु और वशिष्ठ राजनैतिक सिद्धान्त रचयिता। कवि और सन्तोंमें दान्ते ( 'डि-मोनार्किया' ), सन्त ऑगस्ताइन, और बहुत-बहुत सीमित सन्दर्भोंमें तुलसी राजनैतिक विचारक भी थे। तुलसीमें राजनैतिक विचारोंकी जो छायाएँ मिलती हैं उनमें पौराणिक-नैतिक दृष्टिकी प्रधानता, 'मर्यादा' का नैतिक प्रमापन, तथा राज्यकी आध्यात्मिक

निर्मिति है। वे श्रुति-स्मृति-पुराणकी परम्पराके हैं। अतः यथार्थकताकी जटिलताएँ उभर नहीं सकी हैं।

एक प्रत्यक्ष या परोक्ष राज्य-सिद्धान्तके बिना राजनीति–विज्ञानकी परिकल्पना नामुमकिन है। राजनीति विज्ञानका चरम मूल्य या लक्ष्य एक आदर्श राज्यकी संरचना है। कौटिल्यने राज्यकी सार्वभौमिकताके सप्तांग माने हैं: स्वामी ( सम्राट् ), अमात्य ( सचिव ), जनपद, दुर्ग ( गढ़ ), बल ( सेना ), कोश ( राज्यलक्ष्मी ), और राष्ट्र ( भौगोलिक सीमा )। आधुनिक शब्दावलियोंमें राज्य, क़ानून, राज्यसत्ता, संविधान, विधान परिषदें, जनता और दल, सीमा आदिका परिगणन होता है। आज सरकार और विधिनिर्माण, प्रशासन और विधि ( क़ानून ) की व्याख्याकी समस्याएँ प्रधान हैं जो राजनैतिक शक्तिके बँटवारेकी शतरंज हैं। हम अपनेको भारतीय मध्यकालमें ही सीमित करेंगे।

मध्यकालमें भी सामन्तों और ग़ैर-सामन्तों, तथा अमीरों और ग़रीबोंके बीच राजनैतिक-आर्थिक संघर्ष था। इसीकी अभिव्यक्ति राजनैतिक शक्ति, नागरिक मर्यादा, नैतिक दर्शन, ऐतिहासिक आधिभौतिकता, क़ानूनी सिद्धान्त और व्यवहारके रूपमें पुष्पित होती थी। उस कालमें जाति ( वर्ग ) के आधारपर शक्तिको संस्थागत बना दिया गया था; और धर्म ही बहुधा 'लोकमत' को वाणी देता था। तुलसी जिस कालमें हुए उसमें महाभारतके भारद्वाज और युधिष्ठिर, मनु, शुक्र, धर्मशास्त्रकार और कौटिल्य आदिके राजनीति-सिद्धान्त अपनी व्यावहारिक अन्विति खो चुके थे, तथा समाजके वर्ण-विभाजन एवं आश्रमधर्म लड़खड़ा चुके थे। मुग़ल कूटनीति और सरकार धर्म, सम्राट्, समाज एवं शासनके नये आधारोंपर मज़बूत हो गयी थी। इसलिए स्वाभाविक था कि रामके पौराणिक वृत्तको अपनानेवाले तुलसीके राजनैतिक विचारोंमें पौराणिक पुनरुत्थानवाद तथा अस्पष्टताका मेल हो, और सन्त होनेके नाते वे व्यावहारिक कूटनीतिको महत्त्व न दें। इसके अलावा तुलसीको राजतन्त्र तथा राजसभाओंका निजी अनुभव भी नहीं था। फलस्वरूप उन्होंने तत्कालीन यथार्थताके स्थानपर बहुत राजनैतिक सिद्धान्तोंके निरपेक्ष या परम्परागत मूल्योंका ही यशोगान किया है, और अपना समस्त विवेचन हिन्दू समाजकी वर्णाश्रम-व्यवस्थाको ही आधार मानकर किया है। उन्होंने चतुरान्त राज्यकी सत्ताका उपयोग राज्यको पूर्णतः एक 'आध्यात्मिक' सृष्टिमें रूपान्तरित करनेमें किया। हिन्दू सम्राट्तन्त्र ( मोनार्की ) से संचालित राज्यको उन्होंने कूटनीति अथवा सेनाप्रधान न बनाकर मूलतः एक लोकराज्यमें परिणत किया। उन्होंने 'रामराज्य' के रूपमें एक सर्वोत्तम आदर्श राज्य-व्यवस्थाकी काफ़ी मौलिक कल्पना की है जो हमें प्लेटोंके 'गणतन्त्र' की याद दिलाती है।

उन्होंने सम्राट्-सत्ता और लोकमतकी सत्ताके नये सम्बन्ध ढूँढ़े हैं, राजनीतिसे दण्ड और भेदके दो अंग लगभग हटा दिये हैं, राज्यके आदर्शमें 'सुख' और 'सम्पत्ति' को चरम मूल्य माना है। किन्तु इसके साथ ही दण्डनीतिपर आधारित 'पुरुषार्थ'के स्थानपर साम तथा दान-नीतिपर आधारित 'परमार्थ'को ही प्रधानता दी है। वस्तुतः यह सब राज्यका आध्यात्मिकीकरण है। यदि तुलसी स्वयं कहीं वशिष्ठके पदपर हुए होते तो हमें राजनीतिका एक नया शास्त्र प्राप्त होता। कौटिल्यने मानव जीवनमें त्रयी—आन्वीक्षिकी, वार्ता और दण्डके महत्त्वका विश्लेषण किया है क्योंकि ये एक ओर महत् कार्योंके प्रकाशक हैं तो दूसरी ओर जीवनमें सद्गुणोंके स्रोत। एक ओर धर्म और न्याय है, दूसरी ओर अधर्म और अन्याय। कौटिल्यने वर्णाश्रमको सामाजिक व्यवस्थाकी नींव मानकर ही अपने 'अर्थशास्त्र' का निर्माण किया है। उन्होंने राज्यमें 'धर्म', 'नियम' और 'स्वामी'—इन तीनोंको सर्वोपरि घोषित किया है। उन्होंने राज्य-सत्ताके सप्तांगोंमें-से स्वामी और अमात्य (जिनमें कर्मचारी भी शामिल हैं) को केन्द्रीय सरकार माना है, दुर्ग और बलको राज्य-सत्ता और रक्षाका हेतु माना है, तथा कोशको आर्थिक हेतु माना है। कुल मिलाकर दुर्ग, बल, और कोश राज्यके स्रोत ठहरते हैं। इन सबके संयोजनमें उन्होंने धर्मको ही परम प्रयोजन माना है, और यह धर्म दण्डनीतिके पुरुषार्थपर आश्रित है। यदि दण्डधर शक्तिमान् है तभी राज्यमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष क़ायम रहते हैं। दण्डनीति राजाकी सत्ता तथा वर्णाश्रम-धर्मके लिए अनिवार्य है। अर्थ और काम सभ्यता एवं संस्कृतिके आधार हैं। यों तो कौटिल्यने राजनीतिके चार अंग माने हैं: साम, दान, दण्ड और भेद। लेकिन वे व्यावहारिक थे। उन्होंने गौतम बुद्धके 'धर्मचक्र' अर्थात् धर्मके साम्राज्य-की धारणाको पहले 'चक्रवर्ती-व्यवस्था' अर्थात् सुदृढ़ साम्राज्य-गठनमें संयोजित किया था। तुलसीने इन मूलभूत धारणाओंमें काफ़ी समन्वय तथा रद्दोबदल किये हैं जिसे हम आगे स्पष्ट करेंगे।

तुलसीने तत्कालीन समाजपर जितना अधिक विचार किया है उतना ही कम तत्कालीन प्रशासनपर लिखा है। राजनैतिक विचार तो पात्रों और घटनाओंमें भी गुँथे हुए मिल जाते हैं। पहले हम तत्कालीन परिवेशको लेंगे।

उस समय नागरिक असुरक्षा विद्यमान थी। बाहर चलते समय लोग घरकी रखवाली करनेके लिए किसीको नियुक्त करते थे।[१] तुलसीको यह सोच था कि गोंड-गँवार राजा हो रहे थे और यवन सम्राट्। इनकी राजनीतिमें साम, दान और

---

१. देखिए, रामसे मिलनेके लिए अयोध्यावासियोंका जाना।

भेदका प्रयोग न होकर केवल कराल दण्डका प्रयोग होता था (दोहावली, ५५९); नगर-व्यवस्थाके लिए कोतवाल, दण्डपाल और अन्य कर्मचारी होते थे (कवितावली, ७।१७१)। सम्राट् विश्वासपात्र कर्मचारियोंको ही नगर सौंपकर बाहर जाता था (मानस, १।१८७)। महामारी और अकाल-जैसी व्याधियोंके समय राजा और सामन्त लोग हठपूर्वक सब-कुछ देखकर भी पीठ फेर लेते थे (कवितावली,७।१७५)। ऐसी अराजकतामें रोज़ नये अन्याय बढ़ते थे (कवितावली ७।१७६), भूमिके लुटेरे और चोर ज़मींदार भूप हो जाते थे (वही, ७।१७७)। समाजमें हिन्दू-मुसलमान संघर्षों तथा वैमनस्यका जो खाका क्रान्तिकारी कबीरने खींचा है उसकी क्षीण छाया ही तुलसीने दी है। क़साई लोग गायोंका वध करते थे (कवितावली ७।१८१); लुटेरे ब्राह्मणोंकी हत्या कर देते थे। सत्ताधारी और अराजक लोग करोड़ों अन्यायपूर्ण मार्गोंसे धन लूटते थे (कवितावली, ७।१७९)। हिन्दू समाज पतित हो चुका था : तीर्थोंमें भी अन्याय और पापका बोलबाला था (कवितावली, ७।१७४) क्योंकि निपट दरिद्रता फैली हुई थी। अत्याचारी गोशाला और ब्राह्मणोंके टोले जला देते थे (मानस, १।१६६। ३)। मित्र और राजाको ज़हर देना तो मुसलमान शासकोंका आम रिवाज़ था (मानस, १।१६६।३)। अन्धविश्वासी जनता भयानक भूत-प्रेतोंको भजती थी, लोग वेद-निन्दक तथा धर्म-विहीन हो गये थे, वे पराये धन और परायी स्त्रीकी ताकमें रहते थे। यद्यपि जगह-जगह थाने थे किन्तु अन्याय जारी थे (मानस,७।११७।६)। तुलसीके अनुसार उनका समय बड़ा कराल है, नृपाल कृपाल नहीं है, राज समाज (मन्त्री, कर्मचारी) बड़ा ही छली है। न वर्ण-विभाजन रहा, न आश्रम-धर्म बचा (कवितावली, ७।८५)। राजकाज-रूपी कुपथ्य तथा भोग-रूपी कुसमाज जुड़ गया है (कवितावली, ७।९८)। राजा बहुत ज़्यादा राज्य-कर लेते हैं। ये सब स्वार्थ-साधक और मरेको ही मारनेवाले हैं (दोहावली, ३४९)। पृथ्वीके राजाओंके बड़े दरबारमें जापक और और पूजक बड़ा भारी अपमान सहते देखे जाते हैं (दोहावली, ३९३)। राज्यचक्र भी सरल स्वभावके साधुओंको दण्ड देता है (दोहावली ५३७)। सारांशमें, उदार और कृपालु सम्राट् अकबरकी नीतियोंपर उनके कर्मचारी स्वार्थ और क्रूरतावश धब्बा लगाया करते थे। अतः सन्त तुलसी ऐसे राजाका सोच करते हैं जो वर्णाश्रम-नीति नहीं जानता, ऐसे ब्राह्मणका सोच करते हैं जो वेद नहीं जानता और अपना धर्म छोड़कर विषय-भोगमें लीन रहता है, ऐसे शूद्रका सोच करते हैं जो ब्राह्मणोंका अपमान करनेवाला और ज्ञानका घमण्ड रखनेवाला है, तथा ऐसे संन्यासीका सोच करते हैं जो दुनियाके प्रपंचमें फँसा

हुआ है ( मानस १।१७१।२–४ )। तुलसीने तत्कालीन प्रशासन, समाज और धर्मके इस कृष्ण-पक्षके संकेतोंको 'कलियुग'के रूपमें ( 'मानस' तथा 'कवितावली' के उत्तरकाण्डमें ) प्रस्तुत करके समाज तथा राज्यकी आलोचना की है। इसीके 'कण्ट्रास्ट'में उन्होंने अपने रामराज्यकी यूतोपिया रची है जिसमें आध्यात्मिकताकी प्रधानताके बावजूद भी लोकमतमें पल्लवित-पुष्पित राज्यकी एक सामान्य इच्छा ( रूसो-कृत 'जनरल बिल' जैसी ) होगी जहाँ दण्ड और भेद-नीति नहीं होगी, जहाँ राजा और समाजकी एक कसौटी अर्थात् मर्यादा होगी, जहाँ ग़रीबीके बजाय सम्पत्ति तथा दुःखोंके बजाय सुख होगा, जहाँ करोंका भयानक शोषण नहीं होगा और प्रजापर मंगल वर्षा होगी। किन्तु यह सब होगा वर्णाश्रम-व्यवस्थाके आधारपर ही (!)।

राजा या स्वामीको भारतीय नीतिशास्त्र जन-रक्षक ( नरपति ) और पृथ्वी-रक्षक ( भूमिपति ) और ईश्वरका अंश मानता है। राजाको धर्मशील होना चाहिए, ( चाहिअ धरमशील नरनाहूँ ); उसे राजनीतिकी रक्षा करनी चाहिए; उसे शक्ति, नीति, ऐश्वर्य तथा धर्म, प्रताप, शीलका निकेतन होना चाहिए और उसे वेदनीतिसे प्रजाका संरक्षक होना चाहिए। राजाके प्रजावत्सलतारूपी चारेको चरकर पृथ्वी-रूपी गौ दुग्धवती होती है, जिससे प्रजा-रूपी सुन्दर बछड़ा पोषित होता है ( दोहावली ५१२ )। इसके विपरीत तोप-रूपी पृथ्वीमें अनीतिरूपी बारूद और पाप-रूपी पलीता भर जानेपर कुकाल-रूपी तोपची राजा-रूपी गोलेसे सब विनष्ट कर देता है ( दोहावली, ५१५ )। उनका समय सामन्तीय पतनका था। अतः प्रजाके भाग्यके ही किसान और मालीकी तरह कभी-कभी नीति-निपुण नरपाल होते थे वरना प्रभुता पाकर उनमें राजमद हो जाया करता था। कर उगाहकर समयपर उसी धनसे प्रजाका हित करनेवाला सम्राट् प्रजाके सौभाग्यसे ही मिलता है ( दोहावली, ५०८ )। इन व्यावहारिक अनुभवोंके आधारपर तुलसीने नीति-निपुण और प्रजावत्सल राजाको ही मंगल-मूर्ति माना है। उनके अनुसार राजाकी भलाईसे ही वेद ( नीति ) और लोक ( प्रजा ) दोनोंका भला है ( मानस, १।३१४।२ ); अच्छे राजाको पाकर प्रजा सुखी होती है ( सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा ) और बढ़ती है ( प्रजा बाढ़ि जिमि पाइ सुराजा ) राजको राज्यके सब अंगों ( स्वामी, अमात्य, कोश, दुर्ग, बल, राष्ट्र, जनपद ) से पूर्ण होना चाहिए। पवित्र 'देश' हो, विवेकी 'राजा हो, वैरागी मन्त्री हो, 'योद्धा' हों, 'राजधानी' हो। राजाके उरमें राजनीतिके साम-दान-दण्ड-भेद नामक चार अंग बसते हैं ( मानस, ६।३७।५ ) अतः राजाको राजनीति और चतुर्वर्ग ( धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ) के अनुसार शासन एवं

व्यवहार करना चाहिए। जिस राजाको प्रजा प्राणके समान प्रिय नहीं है वह नीति नहीं जानता, और जिस राजाके राज्यमें प्रिय प्रजा दुःखी होती है वह नरकका भागी होता है। नीतिके बिना राज्य, और कुमन्त्रणासे राजा, शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। साधु, सुजान, सुशील और ईश्वरांशोत्पन्न राजा सबकी सुनकर और उनकी वाणी, भक्ति, विनय, चालको पहचानकर सुन्दर वाणीसे सबका यथायोग्य सम्मान करते हैं (मानस, १।२७।४-५)। वे विद्वानों तथा मन्त्रियोंसे विचार-विमर्श करते हैं। पृथ्वी तथा प्रजाका पालन एवं रक्षण ही उनका राज-धर्म है ( राम-द्वारा भरतको उपदेश )। इस भाँति भारतीय राजनीति-चिन्तनमें राजा ईश्वरांश और सार्वभौम 'धर्म'का प्रतिनिधि हो गया है। इस चिन्तनमें राज्यकी अपेक्षा राजा ही एकता और केन्द्रीकरणकी शक्ति है। कौटिल्यकी मान्यता है कि स्वामीको राष्ट्रकी एकता और सुदृढ़ता सम्पन्न करनी चाहिए। मन्त्रि-परिषद्के द्वारा यह एकता पूर्ण होती है, कोशके द्वारा राष्ट्रकी समृद्धि होती है, दण्डके द्वारा राज्यकी रक्षा होती है, दुर्गके द्वारा राज्यमें शान्ति रहती है, तथा मित्रके द्वारा राज्य दीर्घजीवी होता है। विजिगीषुको 'मित्र राज्यमण्डल' का निर्माण करना चाहिए जिसके अन्तर्गत सभी राजा उसकी सत्ता स्वीकार करें। तुलसीने रामको स्वयं ईश्वरावतार मानकर उनके प्रत्येक आचार तथा आचरण-को मर्यादाका मानदण्ड बना दिया है। राम पहले चक्रवर्ती-जैसे हैं, बादमें धर्म-चक्र-राज्यके संस्थापक, उन्होंने निषादराज, सुग्रीव, बालि, विभीषण आदिके साथ राजनीति और वेदनीति दोनोंके अंगोंका साथ-साथ प्रतिपादन किया है और अपनी मौलिक स्थापनाएँ की हैं। यद्यपि उन्होंने रामको ब्रह्म और जगदिच्छा माना है, लेकिन मनुष्य-रूपमें उनके सारे कार्य समाजके कार्य बना दिये हैं। मनुष्य-रूपमें वे एक राष्ट्रीय आर्य जन-नेता हैं जो अपनी व्यक्तिगत इच्छा और सामाजिक इच्छाको एकतान कर देते हैं। राम 'लोकमत' और 'लोकमन'के प्रतीक हो जाते हैं। इस भाँति वे ब्रह्म, सम्राट् और लोकमत तीनोंके प्रतीक हैं। राजनीतिके स्तरपर वे निर्णायक लोकमत हैं। राम स्वयं भी अपने पिता दशरथ-पर रानी कैकेयीकी कुमन्त्रणाका प्रभाव झेलते हैं। वे एक नीतिवादी निर्वासित सम्राट् हैं जो भरतको राज्य सौंपकर अपना वचन पूरा कर रहे हैं। अन्तरराज्य-सम्बन्धोंकी दृष्टिसे वे 'राज्यमण्डल'की धुरीमें विजिगीषु हैं : रावण उनका 'अरि' है, खर-दूषण 'अरिमित्र' हैं, सुग्रीव और निषादराज 'मित्रप्रकृति' हैं, जटायु-सम्पाती 'मित्रामित्र' हैं, विभीषण 'आक्रन्द' ( पृष्ठभूमिका मित्र ) है तथा बालि, जनक, शबरी आदि 'माध्यम' हैं। रामवृत्तमें इस 'राज्यमण्डल' में कोई भी उदा-सीन नहीं है। राज्यमण्डलकी इस धारणाके द्वारा हिन्दू चक्रवर्ती-व्यवस्था और

राजनीति स्पष्ट होती है। विजिगीषु साम, दान, दण्ड और भेद-द्वारा मण्डलके अरिपक्षको विघटित करके और अपने पक्षको संघटित करके विजयी होता है। 'मानस'में रावणको छोड़कर सशक्त अरिमण्डल नहीं बन पाया है; क्योंकि मन्दोदरी, कुम्भकर्ण, माल्यवान्, त्रिजटा, विभीषण, मारीच, दूतादि सभी परब्रह्म रामके भक्त हैं जिससे राजनीतिकी संघर्षशीलता एक दिखावा बनकर रह जाती है। बहरहाल, निषादराज एक यूथपतिकी हैसियत रखते हैं जो रामकी सत्ता स्वीकार करते हैं और राम उनसे साम-नीति बरतते हैं। बालिके साथ दण्ड-नीति और सुग्रीवके साथ साम-नीतिका प्रयोग करके राम राजनैतिक सन्धि तथा विग्रहका परिचय देते हैं। वे बालि-सुग्रीवके भेदमें सुग्रीवका पक्ष लेकर और बालिपुत्र अंगदको युवराज बनाकर अपना मित्रमण्डल मज़बूत कर लेते हैं। जब राज्य, कोश, नगर और स्त्री पाकर सुग्रीव रामको दिये गये अपने वचन भुला देता है तब स्वयं राम पहले तो दण्ड-नीतिके अनुसार उसका वध करनेका निश्चय करते हैं लेकिन बादमें हनुमान्‌के द्वारा साम-नीतिका उपयोग करते हैं। विभीषणके साथ वे दान-नीतिका उपयोग करते हैं। यदि हम रामभक्तिकी महिमासे परे हटकर विचार करें तो सुग्रीव-बालि तथा विभीषण-रावणके आपसी मतभेदोंके फलस्वरूप राम इनमें-से अपने अनुकूल मित्र चुनकर उनका राजतिलक कर देते हैं। इन राजाओंमें सुग्रीव यूथपति है जो वानर दलोंपर भय, प्रीति तथा नीतिसे शासन करता है अर्थात् उसका राज्यतन्त्र क़बीलाई है। वनवासी राम शरणागत-वत्सल, करुणासिन्धु, कृपालु और आदर्श स्वामीके रूपमें उभरे हैं। उनका प्रजावत्सल और अन्य रूप तो अयोध्यामें उभरा है। लंकाकाण्ड तक वे चक्रवर्तीके रूपमें रहते हैं, तदुपरान्त वे धर्मचक्रके शासक हो जाते हैं। 'यहाँ तक' वे साधनावस्थामें हैं। 'बादमें' सिद्धावस्था प्राप्त होती है। 'मानस'में लक्ष्मण दण्ड-नीतिके प्रतिनिधि हैं। रावणके रूपमें हम एक ऐसा निरंकुश सम्राट् पाते हैं जो वेद, प्रजा और शील तीनोंसे विमुख है। वह वेद-विधिके अनुसार प्रजाका शासन नहीं करता; आर्य संस्कृति ( राम ) के वर्णाश्रम-धर्म, ब्राह्मण-तपस्वियोंको स्वीकार नहीं करता; काम, क्रोध, मद, लोभ, मोहसे ग्रस्त है; साम तथा दान नीतिको त्यागकर दण्ड ( विभीषण, माल्यवान्, दूत आदिके प्रसंगमें ) और भेद-नीति ( अंगद तथा सीताके प्रसंगमें ) का छल-कपटपूर्ण सहारा लेता है; यति-मुनि-ब्राह्मणादिको कष्ट देता है; केवल बाहुबलपर घमण्ड करता है; विद्वानों और मन्त्रियोंकी सलाह नहीं मानता; अपने ही हितके लिए शासन करता है और अशान्ति-हिंसा, घृणा-स्वार्थ आदिसे संचालित है। चारित्रिक दृष्टिसे तुलसीने रावणको एक मध्यकालीन सम्राट्‌के विद्रूपमें भी प्रस्तुत किया है। जनक एक

दार्शनिक तथा त्यागी सम्राट्के रूपमें आये हैं, बहुत कुछ ऋषि-जैसे।

अमात्यकी बाबत तुलसीकी दृष्टि लोकानुभव-प्रसूत है। यदि मन्त्री राजाकी अप्रसन्नताके भयसे या स्वार्थ-साधनकी आशासे केवल अनुकूल बातें ही करता है तो राज्य शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। सम्बन्धोंकी दृष्टिसे राजा पेट है, मन्त्री जीभ है, तथा दूसरे कर्मचारी दाँत हैं। ये तीनों मिलकर ही राज्य-शरीरको पुष्ट और सन्तुष्ट बनाते हैं (दोहावली, ५२४–५२५)। कौटिल्य सचिवको दृढ़चित्त, शीलवान, सम्प्रिय, प्राज्ञ, दक्ष और वाग्मी होना आवश्यक मानते हैं। मन्त्रिपरिषद्के निर्णय ही राजशासनकी नींव होते हैं। तुलसीने बुद्धिमान् तथा वैरागी मन्त्रीको सर्वाधिक महत्त्व दिया है। बहुधा ये मन्त्री कुलगुरु ब्राह्मण और मुनि-ऋषि आदि ही होते थे जो शासनको धर्म-धुरीसे संचालित करते थे। रामायणमें वशिष्ठ, विश्वामित्र, अत्रि आदि ऐसे ही गुरु-सचिव हैं। 'मानस' में रावणके चापलूस मन्त्रियोंके फलस्वरूप ही लंकाका विनाश हुआ दिखाया गया है। मध्यकालीन राज्यशासनपर यह तुलसीका अपना निर्णय है। उन्होंने नैतिक दृष्टिकोणके कारण मन्त्रियोंकी योग्यताका विस्तार करते हुए भरतके प्रसंगमें मुनि तथा माताओंको भी, जनकके प्रसंगमें विद्वानोंको भी, तथा वनवासी रामके प्रसंगमें सखाओंको भी मन्त्रणा और शिक्षा देनेके योग्य स्वीकार कर लिया है। युद्धके समय सेनापति प्रधान मन्त्रणाएँ देते हैं (जाम्बवान्, सुग्रीव आदि)। वास्तवमें ब्राह्मण पुरोहित-मन्त्रीका पद सर्वपूज्य था। यहाँ तुलसीने 'मनुस्मृति' की चेतनाको ही सुदृढ़ बनाया है। मन्त्री, स्वामी और कर्मचारी मिलकर ही शासन चलाते हैं। शासनकी विशिष्ट 'नीतियाँ' और नियम होते हैं। कौटिल्यने घटिया सम्राटोंके प्रति साम और दान नीतिका, शीलवान् सम्राटोंके प्रति सत्यसाम नीतिका विधान किया है। माया और इन्द्रजालको वे अन्तरराज्य नैतिकता और कूटनीतिमें नामंज़ूर करते हैं। उनके अनुसार दण्ड-नीति सुव्यवस्था लाती है। ये नीतियाँ ही 'नियम' का विधान करती हैं। वास्तवमें नियमों या क़ानूनोंका सम्बन्ध किसी युगकी संस्कृति, उसकी सामाजिक और क़ानूनी संस्थाओं, सामाजिक लक्ष्यों और हेतुओंसे होता है। 'मानस' में 'नियम' और 'धर्म' एकमेव हो गये हैं; और ये वर्णाश्रम-व्यवस्थाके विभेदक न्यायमानपर आधारित हैं जिसके अनुसार ब्राह्मण और शूद्रके अधिकार एवं कर्तव्य तथा उनको पुरस्कार एवं दण्डके विधान भी भिन्न-भिन्न हैं। नियमोंके आधार धर्मके साथ-साथ 'व्यवहार' तथा 'आचार' भी हैं। इसीलिए राजनीतिमें समान और बड़ी ताक़तोंके विरुद्ध भेद तथा दण्डनीतिका भी विधान है। राम भी रावण बालि आदिसे दण्ड नीतिके द्वारा ही पेश आते हैं। अशान्ति और हिंसाको समाप्त

करनेके लिए 'मानस' में विग्रहके बजाय सन्धिपर अधिक बल दिया गया है जो प्रेम-परोपकारका प्रसार करती है। इस भाँति तुलसी शैवों ( रावण भी राम-विमुख शैव था ) की अराजकता और स्वेच्छाचारिताके स्थानपर नव्य पौराणिकताके ऐसे व्याख्याता भी हो जाते हैं जो 'स्मृतियों'पर आधारित है। 'मानस' में जिन्हें राज्य-शासनका आदर्श माना गया है वे वनवासी तापस राम, सन्त भरत, विदेह जनक, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि हैं। ये सभी राग, द्वेष, परिग्रह आदिसे मुक्त हैं और धर्मानुकूल आचरण करते हैं। ऐसे 'शिष्ट' जनोंके अनुरूप ही 'मानस' में शिष्टाचारके मानदण्ड क़ायम हुए हैं। वेद-इतिहास-न्याय-पुराणादिके साथ शिष्ट जनोंके उपदेश भी धर्मके अंग हैं। इस भाँति 'मानस' में राजनीति और राज्य-शासन 'जातिधर्म', 'श्रेणीधर्म' ( पेशोंके नियम ) और 'जनपदधर्म' ( स्थानीय रीतियाँ ) तीनोंसे गुँथ जाता है। फलस्वरूप राम और राममण्डल लोकमत तथा लोकमन भी हो जाता है। इसीलिए 'मानस' में नियमानुशासन बेहद परम्पराव्रती भी है। और इसीलिए 'मानस' में राजनीतिकी विभुता जनककी राजसभा, रावणकी राजसभासे अधिक तो चित्रकूटके 'महान् विवाद'में उपलब्ध होती है; या फिर अन्य संवादोंमें। इन विचारोंके समानान्तर तुलसी प्रशासनके प्रति थोड़ा व्यावहारिक थे। वे कहते हैं कि मालिककी अपेक्षा मालिकके कर्मचारी विशेष दुःखदायी होते हैं ( दोहावली, ५०१ )। इसलिए राजाको स्वयं अपनी प्रजाकी देखभाल करनी चाहिए। दुर्दिनमें अच्छे अधिकारी भी बुरा व्यवहार करने लगते हैं ( दोहावली, ४९९ )। यदि राजा एक प्रकार-से बुराई करता है तो अनुगामी तीन प्रकारसे ( दोहावली, ५०० )।

प्रशासन-परिषदोंके लिए 'मानस' में 'समाज', 'सभा' और 'दरबार' शब्द ही प्रधान रूपसे मिलते हैं। समाजमें प्रजा, राजा, राजकुल, मुनिकुल आदि इकट्ठे होकर गुरुसे शिक्षा लेते थे, सभामें वाद-विवाद होता था, और दरबार या राजसभामें विवाह, युद्ध, सन्धि, दूत आदिसे सम्बन्धित सन्देशोंके परिवहन या संवाद होते थे। 'राजसभा' और 'जातिसभा' दोनों ही नियमोंका अनुशासन करती थीं। राजसभामें राजाका परिवार भी शामिल होता था, किन्तु जनसभा या जातिसभामें जनता एकत्र रहती थी। जनपदसभाका स्रोत वेदकालीन उपनिषदें हैं। 'मानस' में अंगद-रावण संवाद, तथा परशुराम-लक्ष्मण संवादके अवसरपर क्रमशः रावण तथा जनककी राजसभाओंके जो चित्रण हुए हैं उनमें अनुभवपूर्ण कूटनैतिक शिष्टाचारके स्थानपर वक्रोक्तिपूर्ण वाग्वैदग्ध्यकी छटा है। इस वजहसे तुलसीकी राजसभाएँ भी साहित्यिक गोष्ठियों-जैसी हो गयी हैं।

'दूतों' के विषयमें तुलसीने काफ़ी ज्ञान दरशाया है। दूत दूसरे राजाके

दरबारमें गया हुआ अधिकारी होता था जो अपने स्वामीके हितोंका प्रतिनिधित्व करता था। वह मित्र बनाने, सन्धि करने, अन्तिम चुनौतियाँ देने, सन्देश लाने और ले जानेका कार्य करता था। 'मानस' में ऐसे पत्रवाहक, सन्देशवाहक दूत कई जगह आते हैं। हनुमान् और अंगद, रावण तथा खर-दूषणके दूत ऐसे ही हैं। इनके अलावा दौड़कर ख़बर लेने और लानेवाले दूत 'धावन' कहलाते थे। रावण-सभामें अंगद हनुमान्‌को लघुधावन कहते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण 'गुप्तचर' होते थे। इन्हें कोई जान नहीं पाता था। इनका रहस्य खुलनेपर या इनके पकड़े जानेपर इन्हें कठोर दण्ड मिलता था। हनुमान्‌को लंकामें, तथा विभीषणका पीछा करनेवाले रावणके दूतोंको सुग्रीवके सैनिक-शिविरमें दण्ड मिलता है। गुप्तचर वेश भी बदलते थे। हनुमान् पहले तो सुग्रीवके ब्रह्मचारी-वेशधारी दूत होकर रामका पता लगाते हैं, फिर लंकासे लौटते समय भरतको रामसन्देश देते हैं। भरतके सद्भाव-दुर्भावका पता लगानेके लिए जनक अयोध्याको चार दूत भेजते हैं। गुप्तचरको कूटनैतिक विशेषाधिकार नहीं मिलते थे, किन्तु 'दूत' ( नृपदूत ) को ये प्राप्त थे। दूतका वध नीति-विरुद्ध था। दूतकी भी मर्यादा थी कि वह अतिथि सम्राट्के सामने दूसरे वीरका बल-गान न करे। दूत अपने स्वामीके अपमानसे डरता था। दूतको बल, बुद्धि तथा गुणसे युक्त होना चाहिए। 'मानस' में तुलसी रामके मुखसे अंगदके दूतधर्मके बखान-द्वारा नयी नैतिक कूटनीतिका प्रवर्तन करते हैं: 'शत्रुसे वही बातचीत करना जिससे 'हमारा' काज हो और 'उसका' कल्याण हो ( मानस, ६।१६।४ )। 'मानस' में रावण-पक्षके सभी गुप्तचर रामभक्त बना दिये गये हैं जो तुलसीके भक्तकी एक कलात्मक त्रुटि है। इस परिप्रेक्ष्यमें रावणके नगरमें भेजे गये हनुमान्, या उसकी सभामें भेजे गये अंगद अपनी राजनैतिक चेतनाकी हीनता तथा कूटनैतिक उद्देश्योंको प्राप्त करनेकी अयोग्यताको ही प्रकाशित करते हैं। रावणकी सभामें इन वानर दूतोंको भी उचित राजनैतिक विशेषाधिकार प्राप्त हैं। हनुमान्-द्वारा लंका-नगरका दहन तथा अशोकवन-उच्छेदन, या अंगद-द्वारा रावणके मुकुटोंको गेंदकी तरह उछालना तथा उसे गालियाँ देना आदि तुलसीके राजसभाओं सम्बन्धी अज्ञानका भी प्रकाशन करते हैं। लक्ष्मण- परशुराम संवादमें भी शौर्यपूर्ण राज-वातावरणसे अधिक कौतुक है।

मध्यकालमें युद्ध-वृत्तान्तोंको भी शौर्यपरक विचार प्रभावित करते रहे हैं। 'मानस' में अतिप्राकृतिक तत्त्वोंका पौराणिक समावेश भी हो गया है। हम इन दोनोंको निथारकर राजनीतिक महत्त्वोंको ढूढ़ेंगे। मध्यकालमें इतिहासको शौर्य, कर्तव्य, और वफ़ादारीके अतिरंजित वातावरणमें देखा गया है। उनमें सामन्तीय

गुणों और शौर्यको गौरवान्वित किया गया है। सेना, दूत, मन्त्री आदिका एकमात्र आदर्श अपने स्वामीकी अन्धभक्ति थी और स्वामीका एकमात्र लक्ष्य शौर्यप्रदर्शन था। क़ानूनी दृष्टिसे कोई विवाद अपना 'महत्त्व' खोकर 'प्रतिष्ठा' का सवाल हो जाता था। सारा संघर्ष न्याय-धुरीके बजाय प्रतिशोधकी धुरीपर बँध जाता था अर्थात् प्रतिशोध ही राजाका कर्तव्य था। तुलसीने रावणको प्रतिशोध और अहंकारके उत्कर्ष तक पहुँचे अभिमानका प्रतीक बनाकर उसमें मध्यकालीन ऐतिहासिक शूरताका झूठ उद्घाटित किया है। अपनी बहन शूर्पणखाके अपमानका बदला लेनेके लिए ही वह सीताहरण करके जोखिम उठाता है, और अपने शत्रु रामसे अन्त तक युद्ध करनेको अपना पुनीत कर्तव्य तथा गौरव समझता है। रावणके नृपतन्त्रका मूल स्रोत 'दर्प' (वैनिटी) है। वह अपने सभी 'विश्वासघाती' मन्त्रियों, दूतों तथा सम्बन्धियोंको पदच्युत कर देता है जो शत्रुपक्षकी श्रेष्ठता और न्यायसंगतिके क़ायल हैं। ऐसे ही तुलसीने रामको शौर्य-वृत्तसे विच्छिन्न करके संन्यास-वृत्तसे जोड़ा है और उन्हें लोकमत, लोकमानस तथा सामाजिक संकल्पका प्रतीक बना दिया है। राममें व्यक्ति इच्छाके स्थानपर लोक-मंगलकी साधना है, सामन्तीय आभिजात्यके स्थानपर जन नेतृत्व-की चेतना है, आचरणके अनुशासनके स्थानपर समाजका शासन और अनुशासन अर्थात् मर्यादा है, विलक्षणताके स्थानपर सर्वोत्तमता है। राम व्यक्ति-इच्छाके बजाय सामाजिक इच्छासे संचालित हैं, प्रतिशोधके बजाय न्यायके अनुगामी हैं, भयके बजाय प्रेम-सम्बन्धोंके संस्थापक हैं और मनुष्य होनेके साथ-साथ जगदात्मा-परमात्मा भी हैं। अतः राम उस पौराणिक धर्मकी संकल्पात्मक उदारता और संस्कृतिके प्रतीक हैं जो विमलता और वैराग्यसे ओत-प्रोत है। इस भाँति तुलसीने राम और रावणकी राजनैतिक भूमिकाओंमें भी परिवर्तन किया है।

इस वजहसे एक ही राम-रावण युद्ध रामपक्षमें धर्मयुद्ध, तथा रावणपक्षमें कूटयुद्ध हो जाता है, और इसी वजहसे रामपक्ष साम तथा दान-नीतिका, और रावण पक्ष दण्ड और भेद-नीतिका आश्रय लेता है। तुलसीने राजनीतिके चार अंगोंके बीच यह नैतिक-अनैतिक पार्थक्य क़ायम कर दिया है जो आदर्शको पूजनीय किन्तु यथार्थको हेय प्रतीत करा देता है। शायद वे चाहते भी यही हैं। इसी बिन्दुपर कौटिल्यका 'चक्रवर्ती साम्राज्य' और तुलसीका 'रामराज्य' साफ़ तौरपर द्विधाविभक्त हो जाते हैं। राम जिन अन्य राजाओं ( सुग्रीव )से सन्धियाँ करते हैं या जिन्हें शरण देनेका वचन देते हैं ( विभीषण ), वे अन्तर-राष्ट्रीय नियमके अनुसार अभंगनीय पावनतावाले अनुबन्ध हो जाते हैं। इस-

लिए ये 'सन्धियाँ', 'मैत्रियाँ' और 'वार्ताएँ' धर्मविजयका हेतु बन जाती हैं क्योंकि ये राम-जैसे अवतारी लोकनायककी साम तथा दान-नीतिकी हिन्दू मानवतावादी और आध्यात्मिक भूमिकापर आसीन हैं। इस भाँति रामका युद्ध धर्मयुद्ध और परिणाम धर्मविजय है जहाँ शास्त्रबल और शस्त्रबल एकमेव हैं। इसके विपरीत रावणका कूटयुद्ध असुर-विजयके निमित्त है। कूटयुद्धके अन्तर्गत रावण अंगदपर भेदनीतिका प्रयोग करता है. समरभूमिमें 'माया' तथा 'इन्द्रजाल'का इस्तेमाल करता है। इस भाँति राजनीतिमें पुनः अतिप्राकृतिक तत्त्वोंका समाहार हो जाता है। शत्रुके लिए मारण, वशीकरण, उच्चाटन और आकर्षणका भी इस्तेमाल होता है। रामकी सहायताके लिए भी इन्द्रका रथ गरुड़ और देवताओं-के अस्त्र प्राप्त होते हैं। राक्षसपक्ष भी ब्रह्मास्त्र, नागपाश आदिका प्रयोग करता है। रावण और मेघनाद 'माया' तथा नाना शक्तियोंका उपयोग करते हैं और विजयके लिए यज्ञ भी करते हैं। रावणकी सेना अधिक सुसज्जित है और वह त्रिशूल, परिघ, भिन्दिपाल, कुन्त, शक्ति, यष्टि, कृपाण, फरसा, बरछी आदिका प्रयोग भी करती है। राम-सेनाके सेनापति गदा धारण करते हैं तो स्वयं राम-लक्ष्मण धनुर्वेदका कौशल दिखाते हैं। उनके वानर तथा रीछ-दल पर्वत-खण्डों तथा समूल वृक्षोंको ही अपना हथियार बनाते हैं। तुलसी इस विराट् युद्ध-वर्णनमें यथार्थके त्रास और भयके स्थानपर 'कौतुक' और 'रोचकता' का ही प्रभाव उत्पन्न कर सके हैं। बार-बार थकी लौटी राम-सेनाको अलौकिक स्फूर्तिसे अपराजेय चित्रित करके वे संघर्षको मृदुल बना देते हैं। अन्ततोगत्वा रावणकी सुसज्जित और अनुशासित सेनापर रामकी अल्पसज्जित गुरिल्ला सेना विजय पा लेती है। राजनैतिक निष्कर्षोंकी दृष्टिसे सशक्त रावण-सेनाका नैतिक बल क्षीण हो जाता है और उसके सम्मुख कोई भी राजनैतिक आदर्श नहीं रहता, जब कि राम-सेनाका नैतिक बल अपराजेय है और उसके पास धर्मविजयका आदर्श है। दोनों ही पक्ष युद्धके कुछ अन्तर्राष्ट्रीय नियमोंका पालन करते हैं: घायल और भूमिलुण्ठित सैनिकपर हमला नहीं होता ( लक्ष्मण और मेघनाद ), मल्लयुद्धमें दो व्यक्ति ही विजय-पराजयका निर्णय करते हैं, युद्ध-बन्दियोंके साथ अच्छा सलूक होता है, युद्ध रातमें नहीं केवल दिनमें होता है, प्रतिद्वन्द्वी परस्पर ललकारकर वार करते हैं, इत्यादि। सेना-द्वारा दुर्गको घेरकर ( 'गढ़-छेंका' लगाकर ) उसके चारों दरवाजोंपर घमासान युद्ध करनेकी मोरचाबन्दीपर मुग़ल प्रभाव भी है। 'मानस'में कई प्रकारके युद्ध वर्णित हैं: यथा, मुष्टि-युद्ध ( बालि-सुग्रीव, कुम्भकर्ण-हनुमान्, हनुमान्-रावण ), वृक्ष-युद्ध, पत्थर-युद्ध, वानर-युद्ध ( ये तीनों युद्ध आदिम समाज तथा आदिम जातियोंके चरणके हैं ), मल्ल-

युद्ध ( रावण-विभीषण ), गदा-युद्ध ( विभीषण-रावण ), रथ-युद्ध ( राम-रावण ), शक्तियुद्ध (लक्ष्मण-मेघनाथ ), तोप-युद्ध आदि । इन युद्धोंमें हम गुफा-मनुष्यके हथियारों ( नख, पहाड़, वृक्ष ) से लेकर पाषाण युगके मनुष्यके अस्त्र-शस्त्र, लौह-युग और कृषियुगके मनुष्यके हथियार तथा मुग़लोंके बारूदी हथियारों तकका गड्डमड्ड पाते हैं । इनमें मन्त्र, शकुन, इन्द्रजाल आदि प्रयोग मानो आदिम अवस्थाके जादुई चरणके अवशेष हैं। इस दृष्टिसे राम-रावण समर नृतत्त्व शास्त्रकी भी एक क्रमिक सांकेतिक सामग्री देता है। निषादराजकी नौका-युद्धकी तैयारीके चित्रणपर ही तुलसीपर कोरमकोर तत्कालीन प्रभाव पड़ा है। गुहके सैनिक मुग़ल सिपाहियों-जैसे सजते हैं ( मानस २।१८९, १९० )। कुल मिलाकर तुलसीका युद्ध-अनुभव काल्पनिक है।

अन्तमें हम 'राज्य'की चर्चा करेंगे। सम्पूर्ण मध्यकालमें तुलसीके 'रामराज्य' की यूतोपिया लोकचित्त तथा लोकमतका एक अनुभव-प्रसूत आदर्श भी है। यह मध्यकालीन साहित्यकी श्रेष्ठतम सांस्कृतिक उपलब्धि है जो इतिहास और पुराण, परम्परा और रूढ़ि, यथार्थ और आदर्शका संश्लेषण करती है। उस सांस्कृतिक अवस्थामें तुलसी ही ऐसे अकेले नागरिक-चिन्तक थे जो ( कवि और सन्त होने, एवं अनेक अन्तर्विरोधोंसे पूर्ण होनेके बावजूद भी ) तत्कालीन जनपद, और जनजीवनकी सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक आदि समस्याओंको उन्हींके भावकल्पसे समझ-बूझ सके थे। क्रान्तिकारी कबीर मूलतः धार्मिक और वर्णाश्रम व्यवस्थावाले जातीय क्षेत्र तक ही बँधे रहे; सूर गोकुल-ब्रज-वृन्दाकी चरवाही संस्कृतिके सिद्ध आनन्द और भोगवाले वैकुण्ठमें मन्त्रमुग्ध रहे; जायसी लोकरंजनपर ही अपनी नज़र गड़ाये रहे; लेकिन परम्परावादी और मर्यादावादी समन्वयकर्ता तुलसीदासने ही भूमि, प्रजा, लोकमंगल, समाज-जैसी इकाइयोंकी भी मूल्यमीमांसा की है। यद्यपि वे धर्म, नीति और आध्यात्मिकताकी भूमिकापर ही रामराज्यका आलोचनाशील ( क्रितीक ) गढ़ते हैं, यद्यपि उनकी अपनी वैष्णव मर्यादावादी आस्थापरक प्रवृत्ति है, तदपि 'राम राज्य'में वे 'तत्कालीन सामाजिक यथार्थताके आलोक' में समाज, संस्कृति, राष्ट्र और आध्यात्मिकताकी आकांक्षाको अभिव्यक्त करते हैं। उन्होंने राजको 'सुराज'में रूपान्तरित किया; उस सुराजको 'रामराज्य' का स्वरूप दिया जहाँ राजा स्वयं परब्रह्म राम हैं; जहाँ परब्रह्म राम लोकमंगलस्वरूप हैं; जहाँ लोकमंगल-विधान राजा नहीं, साधुमत और लोकमत करता है ( 'करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि' ); जहाँ इन मतोंके सूत्रधार मन्त्री, विद्वान्, बुद्धिमान् और गुरुजन हैं; और जहाँ 'भूमि' तथा 'प्रजा'के

'हितार्थ' 'धर्म' और 'नीति' संचालित हैं। इस यूतोपियाकी रचनामें तुलसी पूर्णतः प्रजातन्त्रवादी नहीं हैं क्योंकि वे वर्णाश्रम-धर्म और राजतन्त्रके पौराणिक आदर्शोंके प्रति भी निष्ठावान् हैं। लेकिन इस कल्पनामें सामन्तवादी समाज-व्यवस्थासे आगेकी सामन्तमुक्त प्रजासत्तात्मक व्यवस्थाकी झिलमिलाहट है जिसमें सम्राट्की सत्ता और समाजकी सत्ताका विरोध मिट गया है, निरंकुश राजतन्त्र-को त्रिविध तापोंका सही कारण मानकर उसे पहचान लिया गया है, प्रशासनमें क्रूर दण्ड और छल-कपटपूर्ण 'द्वैधीभाव' का भण्डाफोड़ किया गया है और बहु-संख्यक कृषक जनता ( प्रजा ) की आर्थिक समस्याओंकी जड़ ( भूमि ) छू ली गयी है। इस भाँति धर्म-सापेक्ष्य और दिव्य राजत्वपूर्ण 'रामराज्य' जाने-अन-जाने ही मध्यकालीन जनताकी आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक चेतनाका वर्गीय दर्पण भी हो गया है। यहाँ तत्कालीन समाज और किसानोंकी संघ-चेतना-के दोनों पक्ष प्रतिबिम्बित हैं। अतएव 'रामराज्य'की विवेचना एक समाज-शास्त्रीय दृष्टिकी अपेक्षा रखती है क्योंकि यहाँ सामन्तीय समाज, और उसके अन्तरालसे उभरता हुआ लोकतन्त्र, दोनों घुले-मिले हैं।

तुलसीने रामराज्यके कुछ सूत्र-सिद्धान्त दिये हैं : (१) राज्य एक धार्मिक और नैतिक संस्था भी है; (२) राजा प्रजाका पिताके समान रक्षक और राष्ट्र-शान्तिका प्रहरी है; (३) राज्यको निरंकुश राजतन्त्र या फ़ौजी अधिनायकवादसे नहीं चलाना चाहिए, राज्य युद्धोंका उन्मूलन कर सकता है; (४) राज्यशासन लोकमत और साधुमत दोनोंके आधारपर ही चलना चाहिए; ( ५ ) राज्यमें प्रजा और भूमिकी समृद्धि होनी चाहिए; (६) राज्यका लक्ष्य नागरिकोंको सुख और सम्पत्ति प्रदान करना है। इस चेष्टामें अन्ततः कर-व्यवस्थाका ऐसा संयोजन हो कि शोषण-उत्पीड़नका ख़ात्मा हो जाये, और मूल्यके बजाय आवश्यकताओंके आधारपर वस्तुओंका विनिमय होने लगे; (७) राजनीतिके क्षेत्रमें राज्यको दण्ड और भेदकी समाप्ति करके सुमति ( साम ) तथा सुअर्थ ( दान ) की स्थापना करनी चाहिए; और (८) राज्यके सभी नारी-पुरुष नागरिक स्वतः ही सामाजिक धर्म ( धर्म, अर्थ, काम ) वर्णाश्रम-धर्म, और नैतिक धर्म ( मोक्ष, भक्ति ) आदिमें निरत हों। हमें यह ध्यानमें रखना चाहिए कि तुलसीने राज्यका यह दर्शनशास्त्र ( फ़िलॉसॅफ़ी ऑव द स्टेट ) केवल वेद-पुराणादि पढ़कर नहीं रचा, बल्कि अपने व्यापक, व्यक्तिगत तथा सामाजिक अनुभवोंके आधारपर रचा है। यह निष्कर्ष बिलकुल पारदर्शी है। हाँ, इसपर उन्होंने पौराणिकता और आध्यात्मिकताकी अस्पष्टता भी काफ़ी थोपी है। उन्होंने तत्कालीन सामाजिक जीवनकी भयानक और क्रूर विषमताएँ झेली थीं; और यह पाया था कि दरिद्रताके कारण मनुष्यका

शरीर जल रहा है; जीविकासे विहीन लोग दुःख और शोकसे भरे हैं; दारिद्र्य-रूपी रावणने दुनिया दबा ली है; पेटके लिए ही लोग ऊँचे-नीचे कर्म और पाप कर रहे हैं; दान, दया, यज्ञ आदि सब धनके अधीन हैं; दिनोंदिन दुर्भिक्ष और दरिद्रता फैलती चली जा रही है; दुःख और पाप बढ़ रहे हैं; कुराज्य हो गया है। इसलिए उन्होंने अपनी आध्यात्मिक दृष्टिके अनुसार तत्कालीन राष्ट्रके तीन ताप घोषित किये : दैहिक ताप अर्थात् दरिद्रता, भौतिक ताप अर्थात् दुःख, और दैविक ताप अर्थात् पाप। रामराज्यमें उन्होंने इन तीनों तापोंका पूर्ण लोप कराया है ( 'दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहिं काहुहि व्यापा ॥ ) और इनके स्थानपर 'सम्पत्ति' और 'सुख' को राज्यका प्रयोजन माना है ( रामराज कर सुख-सम्पदा )। उन्होंने यह भी देखा था कि राजसमाज बड़ा ही छली हो गया है और करोड़ों कुचालोंसे भर गया है। वह केवल अत्याचार ( दण्ड ) और शोषण (कर) के बलपर ही भोगविलासमें डूबा हुआ है। इसका निदान उन्होंने राजनीतिसे दण्ड और भेद-नीतिका ही सफ़ाया करके किया। रामराज्यमें दण्ड संन्यासियोंके हाथकी लकड़ी और भेद नर्तक-नृत्य समाजके तालके रूपमें रहकर राजनीतिसे हट गया है ( मानस ७।२२ )। रामराज्य केवल 'साम' और 'दान' नीतिपर आधारित है अर्थात् मनुष्योंमें चारों ओर परस्पर प्रेम और परोपकारका भाव है : उनमें भय और शोक नहीं है। रामराज्यमें न कोई दरिद्र है, न दुःखी है, न दीन है ( नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना )। उनके समयमें भूमि युद्ध और सामन्तीय शोषणका यन्त्र थी। राजा और सामन्त उत्पीड़न करते थे। बहुधा भयंकर अकाल और फलस्वरूप महामारियाँ फैल जाती थीं। रामराज्यमें 'भूमि' कामधेनु हो गयी है, 'प्रजा' ईतिभयसे दुःखी तथा महामारियोंसे पीड़ित नहीं है, सबके शरीर सुन्दर और निरोग हैं, छोटी अवस्था-में मृत्यु नहीं होती ( मानस ७।२०।३, १।२३४।२ ) उनके समयमें लोग धन और घर–( परधन और परस्त्री ) के लिए लोलुप थे; प्रजा अवनत होकर पाखण्डमें रत थी, कपट बढ़ गया था; ब्राह्मण अज्ञानी, कामी, क्रोधी, घमण्डी और लोभी हो गये थे; लोक और वेद दोनोंकी मर्यादाएँ चली गयी थीं; अर्थात् नागरिकों-का जीवन क्षयोन्मुखी हो गया था। रामराज्यमें इसका निदान धार्मिक भूमिकापर किया गया है। रामराज्यमें वर्णाश्रमके सही विभागसे लोग वेदमार्गपर प्रवर्तित हैं; भक्त और धर्मपरायण हैं ( गीतावली, ६।२२ ), पुण्यवान् और सौभाग्यशाली हैं ( गीतावली ७।१ )। सारांशमें, 'वेदनीति' और 'पुण्य' ही नागरिकोंके नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवनका संयोजन करते हैं। फलस्वरूप ब्राह्मणोंकी भूसुर-पद-प्रतिष्ठा, तथा श्रीहरि-चरण-प्रीतिवाला तुलसीका दुहरा

सपना भी पूरा हो जाता है; गृहस्थ धर्मकी एक पत्नीव्रतकी मर्यादाकी प्रतिष्ठा हो जाती है; और नागरिक धर्मपरायण तथा पुण्यात्मा हो जाते हैं। नागरिकोंमें नैतिक और धार्मिक सद्गुणोंकी एक लम्बी फेहरिस्तके द्वारा तुलसी 'मध्यकालके एक परिपूर्ण धार्मिक मनुष्य' का भी बिम्ब गढ़ देते हैं जो मोक्षाधिकारी, राम-भक्तिपरायण, चतुर और गुणवान, पुण्यात्मा, नीतिपूर्ण, सुखी और स्वस्थ है, जो परहित धर्म निबाहता और परपीड़ाके पापसे बचता है। इस भाँति तुलसीने रामराज्यकी अर्थ-व्यवस्था, शिक्षा और नीति-व्यवस्था तथा शासन-व्यवस्थाका स्वरूप दिया है। शासनमें उन्होंने लोकसभाओं और मन्त्रिपरिषद्, दोनोंके सम्मिलित शासनको निरंकुश राजतन्त्रके स्थानपर स्थापित किया है। इस नयी व्यवस्थामें दण्ड-शक्तिके स्थानपर नैतिक शक्तिकी प्रधानता होगी, और अन्ततोगत्वा युद्ध तथा कर-व्यवस्थासे जनता मुक्त हो जायेगी ( बाज़ार रुचिर न बनइ बरनत बस्तु बिनु गथ पाइये )। ऐसी व्यवस्थामें राजा एक व्यक्ति नहीं, सामाजिक इच्छा हो जायेगा, और शासनके अनुशासनके बजाय समाजका अनुशासन सर्वोपरि हो जायेगा। यहाँ तुलसीकी एक परम्परावादी मध्यकालीन चिन्तन-सीमा है कि वे अपनी नयी समाज-व्यवस्थाको सतयुगके वर्णाश्रम-धर्मके आदर्श नवोत्थानके रूपमें ही संशोधित कर सके हैं और पुनरुत्थानवादी हो गये हैं, जब कि उनके समानान्तर निर्गुण और सूफ़ी चिन्तक विडम्बनापूर्ण वर्णाश्रम-धर्मकी काल-प्रतिकूलताको सटीक कूत रहे हैं। एक अवधारणापर और ध्यान देना है कि तुलसीका 'रामराज्य' एक चक्रवर्ती साम्राज्य' है जिसकी सीमा सात समुद्रोंकी मेखलावाली पृथ्वी एवं राजधानी अयोध्या है ( मानस, ७।२१।१ )। राज्यकी इस धारणापर भू-धेनु-उद्धारक चक्रवर्ती समुद्रगुप्त, तथा भारतमें सुदृढ़ और उदार साम्राज्य संस्थापक अकबरका भी परोक्ष प्रभाव हो सकता है क्योंकि वे यहाँ 'अर्थशास्त्र'-सम्मत राज्य-रचनाकी परम्पराका पालन करते हैं। साम्राज्यकी इस कल्पनापर परब्रह्म राजा रामकी स्थितिधर्मा विष्णु-धारणाकी भी छाया है। लेकिन राजनैतिक दृष्टिसे ऐसे राज्य, तथा ऐसे राजावाली पृथ्वीमें न तो युद्ध ही सम्भव है क्योंकि शत्रु नहीं होंगे, और न ही 'अभ्यन्तर कोप' ( जो मन्त्री, पुरोहित, सेनापति और युवराजके कारण होता है )। ऐसे रामराज्यमें अयोध्याके दशरथ-राज्य, सुग्रीवके किष्किन्धा-राज्य, रावणके लंका-राज्यके न तो अभ्यन्तर कोप हैं, और न ही 'कण्टकशोधन' वाले दण्डधर क़ानून, क्योंकि वर्ण-विभक्त व वर्ग-मैत्रीपूर्ण सभी नागरिक सुखी, सम्पत्तिशाली, पुण्यात्मा, भक्त, और प्रेमी-परोपकारी हैं। फलस्वरूप, तुलसी सामाजिक सुराज या 'रामराज्य' को एक चक्रवर्ती-राज्यसे यूतोपियन 'धर्मचक्र' ( धर्मके साम्राज्य ) में परिणत कर

देते हैं। यहाँ सामाजिक मंगलकी सिद्धावस्था है। इस अवस्थामें त्रिवर्ग प्राप्तिके बाद सामूहिक 'मोक्ष' की सिद्धि ही चरम लक्ष्य हो जाती है। इस राज्यके नियम 'धर्मस्थीय' होते हैं।

अब हम तीसरी गोष्ठीमें तुलसीदासकी आत्मकथात्मक जीवनी, उनके विचार और जीवनदृष्टि, तथा उनकी सृजन-प्रक्रियाका विवेचन करेंगे।

■

# तीसरी गोष्ठी

●

**"ऐसे को ऐसो भयो कबहूँ न भजे बिनु बानर के चरवाहे" :**
अर्थात् तुलसीकी आत्मकथा क्या थी, उनके विचार तथा जीवनदृष्टियाँ : क्या थीं, कृतित्व कैसा था, और उनका सृजन-कार्य कैसा था ?

'जिस' तुलसीके बाबत लोक कहता है कि यह पापोंमें समृद्ध है, कुत्सित दरिद्रताके कारण दीन है, तथा गन्दे ढंगसे रहता है, इसके भाग्यमें ब्रह्माने कुछ भी नहीं लिखा और यह सपनेमें भी अपने बलपर नहीं बढ़ता, 'वही' तुलसी आज रामका किंकर हो गया है। वह ऐसे ( दीन और पापी और गन्दे )से ऐसा ( महाभक्त ) हनुमान्‌के चरवाहे रामको भजे बिना नहीं हुआ। इस बातको समझनेमें ही भलाई है, कहना उचित नहीं है ( कवितावली, ७।५६ )। इस गोष्ठीमें हम 'इस बात' को कहेंगे।

तुलसीकी जीवनी ( जन्म-मृत्यु तिथियाँ, जन्मस्थान आदिसे सम्बन्धित असली या जाली सामग्रीपर एकेडेमिक वाद-विवाद ) से अधिक तत्त्वपूर्ण उनकी आत्मकथा है। ऐतिहासिक अभिप्रायके लिए बस यही जानना अपेक्षित है कि वे अकबर-जहाँगीरके शासनकालमें गंगा-सरयूके आसपासके कवि-भक्त-यायावर थे। उनकी आत्मकथा अलगसे नहीं मिलती। उनकी कृतियोंमें इसके संकेतों तथा विचारों एवं जीवनदृष्टिके संयोगसे हमें उनकी आत्मकथा तथा परिवर्तमान चरित्र, दोनोंकी रचना करनी होगी। इस भाँति उनकी आत्मकथासे कई बातें उद्‌घाटित होती हैं : ( १) उनकी कृतियोंमें व्याप्त जीवनदृष्टियोंकी धूपछाँह एवं विचारोंका विकास परिवर्तन; ( २ ) उनके कलाकार तथा भक्तके दुहरे व्यक्तित्व-का समवाय; ( ३ ) उनकी जीवनगत अनुभव-राशि तथा सृजन-प्रक्रिया; ( ४ ) उनके व्यक्तित्व एवं चरित्रके आधारपर उनकी रचनाओंके वृत्त एवं क्रमका निर्धारण; तथा ( ५ ) 'मानस' और 'पत्रिका' रचयिता तुलसीके एकांगी आदर्शवादी 'व्यक्तित्व-बिम्ब' के प्रचलनके स्थानपर 'एक नये सम्पूर्ण आर्केटाइपल स्वरूप' की पुनर्रचना।

प्रवृत्तिप्रधानताकी दृष्टिसे उनके सृजनात्मक कार्यके दो चरण प्रतीत होते हैं। पहला वह है जब वे केवल आदर्शवादी हैं, महाकाव्यात्मक भव्यता तथा आध्यात्मिक उन्मेषमें महत्-ललित रचना करते हैं। 'रामचरितमानस', 'जानकीमंगल', 'पार्वतीमंगल,' 'वैराग्य सन्दीपनी, ''रामाज्ञाप्रश्न' आदि इस चरणकी देन हैं। दूसरे चरणमें वे आदर्शसे यथार्थकी ओर भी मुड़ने लगते हैं, उल्लाससे गाम्भीर्यकी ओर बढ़ते हैं; और 'मानस'के 'परब्रह्म' रामकी परमपददायक गाथाके स्थानपर 'कवितावली' के लोकमंगलके 'नायक' श्री रघुनायकका जीवन गाने लगते हैं। इस चरणमें उनकी महाकाव्यात्मक भव्यताका स्थान वेणुगीतात्मक (लिरिकल) वैयक्तिकता ले लेती है; आध्यात्मिक उन्मेषवाली आस्था-श्रद्धा-विश्वासके साथ-साथ नैतिक प्रायश्चित्त-पश्चात्ताप, तथा सामाजिक सन्देह-तर्क आदिका भी समावेश हो चलता है; महाकाव्य-वृत्तके स्थानपर प्रगीतवृत्तके पद, कवित्त, सवैये ढलने लगते हैं। 'गीतावली,' श्रीकृष्णगीतावली,' 'विनयपत्रिका,' 'बरवै,' 'दोहावली,' 'सतसई,' 'हनुमानबाहुक' आदि मुक्तक कृतियाँ इस चरणकी देन हैं। इसी वेणुगीतात्मक चरणमें वे अपनी आत्मकथा कहने एवं समाजकी निर्भ्रान्त आलोचना करनेकी नयी जीवनदृष्टि एवं सामर्थ्य पाते हैं। उन्होंने 'विनयपत्रिका,' 'दोहावली', 'कवितावली' तथा 'हनुमानबाहुक' में ही प्रधान रूपसे आत्मकथाके अनुभव बिखेरे हैं। ये उनके व्यक्तित्वके प्रवर्तक मोड़के सूचक हैं। इसके साथ ही वे यथार्थकी ठोस भूमिपर उतरते चले आते हैं; और उनके अनुभव रामको परब्रह्मसे अधिक मानवीय नायक बनानेके नवलतर बोधमें उत्कर्ष पा जाते हैं। जिस तरह तुलसीकी ये दो स्पष्ट प्रवृत्तियाँ हैं, उसी तरह उनके श्री रामचन्द्र भी दो हैं :—एक 'मानस' के परब्रह्म राम; और दूसरे 'कवितावली' के लोक-मंगल विधायक परमप्रेयान् नर राम। तुलसी-अध्ययनावलीमें हमें इस भयंकर भूलका निरन्तर सामना करना पड़ा है कि तुलसीके सृजनात्मक कार्यके दूसरे चरणको नज़रअन्दाज़-सा किया गया है। परिणामतः तुलसीका कटा-छँटा मात्र सन्त-भक्त-महाकाव्यकार स्वरूप ही उभारा गया है जिससे उनका नागरिक और सामाजिक होमकर्ता स्वरूप ढँक-सा गया है। क्यों? जिस तरह तुलसी शुरूमें रामको मनुष्य रूपमें त्रुटि करते हुए सहन नहीं कर सकते थे, शायद उसी तरह हिन्दू-विद्वत्ता भी महामुनि तुलसीको साधारण मनुष्यके रूपमें देखना कैसे सहन कर सकती है?

तुलसीके जीवनमें चित्रकूट, अयोध्या तथा काशी इन तीन तीर्थ-नगरोंका गहरा असर पड़ा है। गीतावली ( २।४३–५० ) में चित्रकूटका विशिष्ट प्रकृति-चित्रण और पुरनिवेश है। चित्रकूट पर्वत-तीर्थ है जहाँ पयस्विनी नदी बहती

है। चारों ओर वनमें पाण्डर-चम्पक और कचनार वृक्ष होते हैं। वर्षाऋतुमें तो यह अधिक सुहावना हो जाता है। धातुओंसे रंगमगी शैलमालाओंपर श्याम जलद मधुर-मधुर घोर करने लग जाते हैं। उस भूमिके बाबत मिथकीय विश्वास है कि वह सीता-राम-लक्ष्मण-पग-अंकित होनेसे पुनीत है। तब भी वहाँ घाटोंपर सन्तोंकी भीड़ होती थी और ऋषिगण कीर्तनकी रचना करके गान करते थे। चारों ओर पर्णशालाएँ तथा कुटियाँ थीं और शिलाओंपर साधु ध्यान लगाते थे। तुलसीने 'मानस' तथा 'कवितावली' आदिमें जो पर्वत तथा वन तथा वनमार्गों तथा वनयुवतियोंके चित्र रचे हैं उनमें मूलतः उनके चित्रकूट-निवासका यथातथ्य प्रक्षेपण है। यही नहीं; चित्रकूटकी प्रकृतिमें धार्मिक परिवेशके संयोगका कुछ ऐसा प्रभाव रहा था कि तुलसीने एक ओर तो प्रकृति-सौन्दर्यको नैतिक सूक्तियोंकी गाँठोंसे बाँध दिया ( 'भागवत'का प्रभाव तो था ही ); तथा दूसरी ओर सारी प्रकृतिको राम-लक्ष्मण-सीताकी शोभाकी अपेक्षा कम महत्त्व दिया। उन्होंने इस अर्जित रुचिको अपनी शैली बना डाला। चित्रकूटके वातावरणमें ही वे हनुमान्-भक्तिकी ओर मुड़े प्रतीत होते हैं। इस आशयकी किंवदन्तियाँ भी प्रचलित हैं। तदुपरान्त वे रामके किंकर हुए होंगे ( हनुमानबाहुक, २१, ४० )। चित्रकूटमें ही उनमें रामकथाके प्रति प्रीति जागी होगी और वहाँके कीर्तनोंसे प्रेरित होकर उन्होंने गेय-श्रव्य रामकथाकी रचनाकी परिकल्पना की होगी। उनका कवि चित्रकूटमें ही प्रस्फुटित हुआ है। चारों ओरके नगर-ग्रामोंमें वर्णाश्रम-धर्मके पाखण्डों तथा कुत्सित दरिद्रता तथा दुष्ट लोगोंसे थोड़े मुक्त चित्रकूटमें वर्णाश्रमधर्म-प्रधान मनोहरता, सन्तोषपूर्ण सम्पत्ति और भक्त साधुओंने उनके विदीर्ण और दुःखी मनको सबल सान्त्वना दी होगी। इस प्रकार उन्हें चित्रकूटसे नैतिक प्रकृति-दर्शन, हनुमान्‌के प्रति भक्ति, रामकथाके प्रति श्रद्धा और वर्णाश्रम-धर्मकी नित्य श्रेष्ठताके प्रति विश्वास प्राप्त हुए लगते हैं। एक बार चित्रकूटमें लगी दावाग्निकी भयानकताने उनपर इतना गहरा असर डाला है कि 'कवितावली' के सुन्दरकाण्डका लंकादहनवर्णन ( बिधि की दवारि कैधों कोटिसत सूर हैं ) कोरमकोर उसका ही प्रतिबिम्ब है ( ४।४–१८ )।

अयोध्याके प्रभावके फलस्वरूप रामके प्रति उनकी जीवनदृष्टिमें अभूतपूर्व क्रान्ति आ गयी। अब राम अवतार हो गये और राम-कथा रससिद्धिके बजाय मोक्षसिद्धि करानेवाली हो गयी। 'रामचरित मानस' पर कीर्तन-गायन-श्रवण-विधियोंका सर्वोपरि चित्रकूटी प्रभाव है। अयोध्या आकर ग्रामीण तुलसीका शहरीकरण भी हो गया, और उनका दृष्टिपटल इतना व्यापक हो गया कि वे

मध्यकालके प्रतिनिधि होनेकी ऐतिहासिक दशामें स्थित हो गये। यहाँ उन्होंने नगर वैभव देखा, समाजके अत्याचार तथा पर-भूमि-घर-कामिनीकी लिप्सा भी देखी, आगे साधारण लोकजनके परिवारके मधुर-कटु सवालोंको पहचाना। 'मानस' में यह सब-कुछ मध्यकालीनीकरण और ग्राम्यीकरणके द्वारा आया है। नगर वैभवका वर्णन भी 'मानस' तथा दोनों 'मंगल'-काव्योंमें हुआ है। अयोध्यामें उन्हें परब्रह्म राम और चक्रवर्ती सम्राट् राम और मर्यादा-पुरुषोत्तम रामकी त्रिमूर्तिकी सिद्धि हुई होगी। अयोध्याके वानरोंके निरीक्षणसे लंकाकाण्डका वानरयुद्ध अधिक वैज्ञानिक हो गया है।

काशीकी देन उन्हें यथार्थवादी और विभ्रमहीन ( डिसइल्यूज़ण्ड ) बनानेमें है। यहाँ उन्होंने शंकर और गंगाके आदिम प्रतीकोंको दीप्त किया। काशीमें ही उन्होंने 'विनयपत्रिका' में दारुण आध्यात्मिक पीड़ा तथा 'कवितावली' में दैहिक-भौतिक तापोंका प्रकाशन किया। काशी उन्हें यथार्थ अर्थात् कलिकालके बिलकुल नज़दीक खींच लायी। यहाँ उनका तीर्थोंके भ्रष्ट वातावरण और निपट भ्रष्टाचारसे साक्षात्कार हुआ, वर्णाश्रम-धर्मके घोर पतनका अनुभव हुआ, खलों और अधिकारी वर्गके अत्याचारों एवं पाखण्डोंका पता चला, अपने विरोधियोंकी मक्कारी और शैवोंकी त्रास देनेवाली दुर्बुद्धिका सामना करना पड़ा और नगरोंके पापों तथा अवगुणोंकी खानका अन्दाज़ लगा ( कवितावली ७।१७४ )। 'कवितावली' का कलिकाल-वर्णन काशीकी दशाका ही अतिरंजित दर्पण है। यह भी सही है कि काशीमें ही उन्हें गुरुसे दीक्षा मिली थी। यहीं उन्होंने शैव-वैष्णव एकताका एक ऐतिहासिक निर्णय लिया था, यहीं पतितपावनी गंगाके तटपर वे रोज़ भजन-पूजन करते थे और रामके साथ शिवको भी तत्कालीन सामाजिक आकांक्षाका प्रतीक बना रहे थे। 'पार्वतीमंगल' के कौतुककारी शिव 'कवितावली' में काशीके ठाकुर हो गये। ये शिव एक विरेचक ( कैथार्टिक ) प्रतीक हो गये हैं : दारिद्रचको दूर करनेवाले, विषको पी लेनेवाले, दुःख और दोषका दहन करनेवाले और कामदेवताका नाश करनेवाले। शिव विरोधोंके पुंज हो गये क्योंकि तत्कालीन जीवनमें तुलसीको यही सामाजिक ज़रूरत महसूस हो रही थी। शिव नंगे भी हैं और विचित्रवेशी भी, कंगाल भी हैं और महादानी भी, योगी भी हैं और भोगी भी, संहारक भी हैं और रक्षक भी, बावले भी हैं और भोले भी। इस तरह काशीमें अपने दीर्घ निवाससे तुलसीने शंकरके रूपमें समाजका यथार्थ देखा है ( राम-रूपमें आदर्श )। देवता और राजाके ऐसे विचित्र मेल तुलसीके ही रसायन हैं। इस भाँति तुलसीकी लौकिक अन्वीक्षा शिवके प्रतीकमें और अलौकिक आदर्श रामके प्रतीकमें ढले हैं। तीर्थराज प्रयाग

एक अत्यन्त प्रशान्त पवित्र और भले साधुओंवाले स्थलके रूपमें आया है। यह तटस्थताका दृष्टान्त है।

तुलसीकी जीवनचेतनापर हमने इन तीन शहरोंके प्रभावका जो विवरण दिया है वह क्रमिक नहीं है क्योंकि वे इन स्थानोंमें कई बार आये गये हैं; और इस आवागमनके क्रमका पता नहीं है। हमारा उद्देश्य तो तुलसीके सर्जनात्मक कार्य तथा जीवन-अनुभवोंपर प्रकाश डालना है। अस्तु।

उन्हें भली भारत भूमि और भले कुलमें जन्म लेनेका ( कवितावली ) तथा भारतवर्षमें अपनी कर्मभूमि होनेका (विनयपत्रिका, २३३) उचित गर्व है। लेकिन अपने भाग्यपर दुःख है। उन्होंने भिक्षावृत्तिवाले ( मंगतों ) ब्राह्मणके कुलमें जन्म तो पाया, किन्तु बधाओंके बजनेके शान्त होते ही उनके माता-पिताको परिताप हुआ। उन्हें माता-पिताने जगमें जन्म देकर त्याग दिया। या तो माता-पिताने भी जग त्याग दिया या इन्हें त्याग दिया। दोनों ही दशाओंमें तुलसी 'अनाथ' और 'अभागा' हो गया। ब्रह्माने भी उसके भाग्यमें कुछ भलाई नहीं लिखी ( कविता-वली, ७।५६-५७)। शिशु तुलसीके विकासमें ये दो गहरी शैशव-ग्रन्थियाँ (ट्रॉमाज़) पड़ गयीं और उसमें अवनिर्मलता आ गयी। अनाथ होनेकी शैशव-ग्रन्थि तो राम-जैसे स्वामीके मिलनेपर खुल गयी और प्रौढ़ावस्थामें स्वयं तुलसीने इसका विश्लेषण कर लिया। किन्तु अपने अभागेपनका देशके अभागेपनसे आत्मीकरण कर लेनेके कारण तुलसी अभाग्यकी आध्यात्मिक यन्त्रणा भोगते रहे। इन्हीं दो ग्रन्थियोंके कारण भी उनकी आत्मकथामें विनय और दैन्य भाव प्रचुर है।

ऐतिहासिक संयोगसे बालक तुलसीका नाम 'रामबोला' पड़ गया। अभागा और अनाथ रामबोलाका बचपन अचेत चित्तमें बीता। उस समय उसमें चौगुनी चाह और चंचलता थी। किन्तु घोर दरिद्रताने उसे कुक्कुरकी तरह माँगकर खानेवाला भिखारी बना दिया। रामबोला कंगालीके कारण टुकड़ेके लिए दर-दर डोलता था ( हनुमानबाहुक, २९ ), मुँहसे रामनाम लेता और टूकटाक माँगकर खाता था ( हनुमानबाहुक, ४० )। उसे भोजन-वस्त्रसे विहीन, विषम विषाद-लीन और दीन-दुबला देखकर सभी हाय-हाय करते थे ( हनुमानबाहुक, ४१ )। अत्यन्त दीन होनेके कारण वह द्वार-द्वार ललचाता और बिलबिलाता फिरता था ( कवितावली, ७।७३ ); यहाँतक कि कुक्कुरके मुँहके टुकड़ेके लिए भी ललचाता था ( कवितावली, ७।५७ )। रामबोलाकी ओर देखकर दुःखको भी दुःख होता था ( विनयपत्रिका, २२७ )। उसने द्वार-द्वारपर दाँत निकालकर, खलोंके आगे क्षण-क्षण खाली पेट खोलकर और, पाँव पड़कर अपनी दीनता सुनायी लेकिन दयालुओंने उससे बात तक न की। माता-पिताने उसे ऐसा त्याग दिया जैसे

सर्पिणी अपने ही शरीरसे जनमे बच्चेको त्याग देती है। ऐसा अनाथ तुलसी सोचता है कि मैं किस लिए रोष करूँ और किसे दोष दूँ ? यह सब मेरे ही दुर्भाग्यसे हुआ ( विनयपत्रिका, २७५ ) । इस भाँति दुबला ( कृसगात ), बलहीन (आश्रयहीन) और अभागा रामबोला बावलेकी तरह जहाँ-तहाँ दौड़ता फिरा । यह दशा केवल रामबोलाकी ही नहीं थी, अपितु अकाल, ग़रीबी, दुःख और पापमें पिसते हुए महाग्राम भारतकी भी थी । रामबोलाकी आर्थिक और सामाजिक चेतना प्रखर हुई । उसने दरिद्रताको सभीके मूलमें स्थित करनेका महामन्त्र फूँका । रामबोलामें दरिद्र कृषकवर्ग एक त्रिकालदर्शी वाणी पा गया । रामबोलामें कृषकोंकी आर्थिक-सामाजिक-राजनैतिक समस्याएँ पुंजीभूत हो गयीं । धर्मभीरु कृषक समाजकी इस निराशाका उदात्तीकरण या निकास धर्ममें ही हो सकता था । वही हुआ । जब समाजमें खेती नहीं फलती, चाकरी नहीं मिलती, धन्धे नहीं मिलते, तब रामबोलाने भी न तो कोई चाकरी की, न खेती, न व्यापार, न ही अन्य धन्धा । उसने कोई भी सामाजिक पेशा नहीं अपनाया । ब्राह्मण होनेके नाते और जातीय गर्वके कारण उसने परम्परागत पेशा अपनाया । वह लबारू ( बातूनी ) अर्थात् रामकथा गाने-सुनानेवाला बन गया । निश्चित ही रामबोलाका कण्ठ मधुर रहा होगा। दर-दर भटकनेवाले रामबोलाने समाजके सभी दरवाज़ोंके आर-पार झाँका । राम-गायनने उसे किसी तरह ज़िन्दा रखा । चनेके चार दाने ही उसके लिए अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष रूप चार फल थे ( कवितावली, ७।७३ ) । युवक रामबोला चाहता तो चारु वस्त्र था, लेकिन टाटके टुकड़े भी नहीं मिलते थे ( कवितावली, ७।६६ ) । वह गन्दी कन्था और करवा धारण किये रहता था ( कवितावली, ७।५६ ) । चतुर्वेद और षड्दर्शनका पढ़ना तो उसकी छठीमें नहीं पड़ा था ( विनयपत्रिका, १५५ ) न तो वह वेद-पुराणोंका गान जानता था, न ही विज्ञान-ज्ञान, और न योगध्यान-धारणा-समाधि आदि ( कवितावली, ७।६६ ) । हाँ, रामबोलाने सूकरक्षेत्रमें पुनः चिरपरिचित रामकथा सुनी थी । तब बालपनके कारण समझ नहीं पाया था । जब गुरुने उसे बारम्बार सुनाया तब वह समझ सका ( मानस, १।३० ) । अतः रामबोलाकी बौद्धिक उपलब्धि सीमित थी अर्थात् वह लोकजीवन, लोकपरम्परा और लोकचित्तके धरातलपर एक भावुक हृदय युवक था ।

यौवनके उन्मादमें रामबोलाने रत्नावलीसे विवाह किया जिसे बादमें 'स्त्रीरूपी कुपथ्य' करना कहा । उसकी जवानीको युवतीने जीत लिया ( विनय-पत्रिका, २३४ ) । जिस भाँति कलियुगमें युवकोंको ससुराल प्यारी होती है ( मानस, ७।१००।३ ), वैसे ही कामुक रामबोला पत्नीपर आसक्त रहे होंगे ।

किन्तु किसी अज्ञात आघातने उनमें पूर्ण वैराग्यका उदय कर दिया और उनमें नारी तथा जगत् सम्बन्धी गहरी ग्रन्थियाँ पड़ गयीं। रामबोलाने शृंगार, नारी, भौतिक सुख और कामका हमेशाके लिए परित्याग कर दिया। यह उनके चरित्रकी दूसरी क्रान्ति थी। इस मनोयौनात्मक चोटने उनमें नारीके प्रति विरक्ति और जगत्के प्रति वैराग्य जगा दिया। भौतिक बन्धनोंसे यह उनका आखिरी पूरा विच्छेद था। बादके काव्यमें जगत् मायाका तथा नारी वासनाका पर्याय होकर आयी। यह उनकी प्रतिक्रिया थी। इसी प्रतिक्रियाकी परिणति उनके 'वैरागी, रमते जोगी' आदर्शवादमें हुई है ( 'मानस', दोनों 'मंगल' काव्य, 'वैराग्य सन्दीपनी' आदि ) जहाँ जगत् रामराज्य, और नारी सती रूपमें प्रतिष्ठित हुई है। उनमें पलायन और उदात्तीकरणका यह विचित्र मेल है जहाँ लौकिक धरातल अलौकिकताके प्रभामण्डलसे जगमगा दिया गया है, तथा सभीमें वैराग्य, मर्यादा और दिव्यता मण्डित कर दी गयी है। फिर भी उनका विवाहका कल्पित आदर्श 'जानकीमंगल' में तथा प्रेमका तापस आदर्श 'पार्वतीमंगल' में मुखर हुआ है। इसके बाद वे नारीको कुछ सीमित सन्दर्भोंमें ही अंकित कर सके हैं: यथा, मंगलगान करती हुई सुआसिनियाँ, माता, ऋषि-पत्नियाँ, आदिशक्ति सीता और विन्ध्याचलकी भोली भील-रमणियाँ। नारी व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ हो गयीं, जातिवाचक नारी निन्दित हुई। इस चरणमें आकर रामबोला 'तुलसीदास' हो जाते हैं। अपनी ही शब्दावलीमें वे जड़ कर्मोंके कर्मबन्धनसे छूट जाते हैं ( विनयपत्रिका, ७६ )। वे कण्ठी, तिलक, माला, रामनाम, जप, अहिंसा, अभेद, नम्रता आदिका वैष्णव बाना सदाके लिए धारण कर लेते हैं। वे नरहर्यानन्दसे दीक्षा ले लेते हैं। अब वे सन्त तुलसीदास हो जाते हैं। वे रामशरणमें जाकर 'सनाथ' हो जाते हैं। इस भाँति उनकी एक सबल शैशव-ग्रन्थि खुल जाती है।

इस ग्रन्थिके उनके निजी विश्लेषणमें शैशव-प्रत्यावर्तन ( इन्फ़ेयटाइल रिग्रेशन ) और क्षतिपूर्ति ( कॉम्पेन्सेशन ) की झलक मिलती है। वे कहते हैं कि मैं 'बाल्यावस्था' से ही सीधे रामचन्द्रके सम्मुख हुआ; केवल युवावस्थामें लोकरीतिमें पड़कर अज्ञानवश रामकी प्रीति तोड़ बैठा; उस समय खोटे-खोटे आचरणोंको करते हुए मुझे अंजनीकुमार हनुमानने अपनाया तथा रामके पुनीत हाथों मेरा सुधार करवाया ( हनुमानबाहुक, ४० ) और हनुमानने ही मुझे बुलाकर बालकके समान मेरा पालन-पोषण किया ( हनुमानबाहुक २१, २९ )। इस तरह ऐसे अनाथ तुलसीको शीलसिन्धु रामने सनाथ किया ( हनुमानबाहुक ४१ )। जब नीच, निरादर-भाजन, कायर, कुक्करके मुँहके टुकड़ेके लिए ललचानेवाले तुलसीने रामसे अपनी करुण-कथा कही तो रघुनाथने स्वार्थ और परमार्थ दोनों

सुधार दिये ( कवितावली ७।५७ )। यह तुलसी तो लोकव्यवहारके भी योग्य नहीं था। इसकी बाज़ी तो रामनामने ही रखी : अष्टांग योगसे हीन दुर्बल तुलसी रामका नाम ले-लेकर ही पेट भरता है ( विनयपत्रिका ४१ ); उसे मन, वचन और कर्मसे स्वप्नमें भी किसी दूसरेका आश्रय नहीं है ( विनयपत्रिका, ४२ )। वह अब रामका सरनाम ग़ुलाम है। क्या वह किसीके द्वारपर पड़ा है जो लोगोंकी धौंस सहे ( कवितावली, ७।१०७ ) ?

तुलसीमें यह विश्वास-प्रतिष्ठा मानो वैयक्तिक आस्था और साहसका पुनरागमन था। उन्होंने इस परिवर्तनको हिन्दू-समाजका तत्कालीन उपचार बनानेकी सामाजिक दृष्टि विकसित कर ली। अलबत्ता इसमें वर्णाश्रम धर्मका आदर्श प्रारूप भी सन्निविष्ट कर लिया। अपने व्यक्तिगत चरित्र एवं अपनी सामाजिक ऊर्जाके कारण तुलसीको जन-आदर और धार्मिक नेतृत्व भी मिला। इस अवस्थामें ही उन्होंने दीन भावसे अपने बचपनकी आत्मकथा दुहरायी है। उन्हें यह धार्मिक विश्वास है कि राम-भक्तिसे ही सबका यह रूपान्तर हो सकता है। अपने जीवनके व्यतीत ( तब ) और वर्तमान ( अब ) की तुलना करके मानो वे स्वयंको एक विनम्र तथा सर्वसामान्य उदाहरणके रूपमें पेश करते हैं। वे सिंहावलोकन करते हुए कहते हैं कि अब जब राम मेरे सहायक हो गये हैं तब राजा लोग मेरे पाँव पूजते हैं ( दोहावली, १०९ ); पहले मुझे एक फूटी कौड़ी भी नहीं नसीब थी लेकिन ग़रीब निवाज रामने मुझे मँहगा कर दिया है ( दोहावली, १०८ ); मैं तो सदा गधेपर चढ़नेवाला था पर रामके नामने मुझे हाथीपर चढ़ा दिया ( कवितावली ७।६० ); अब रामनामकी पैठ, महिमा और प्रभाव तो देखो कि तुलसीको भी जग महामुनि ( वाल्मीकि ) – जैसा समझता है ( कवितावली ७।७२ ); द्वार-द्वार बिलबिलानेवाला वही तुलसी अब रामका सेवक है। इस भाँति, तुलसीके मनमें राम-नाम दैहिक-दैविक-भौतिक तापोंके एक मात्र उपचारके रूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है; राम दुर्भाग्य-निवारक और अनाथोंके नाथ हो जाते हैं, एवं रामकथा परमपद तथा मंगल प्रदान करनेवाली हो जाती है। ये सब कुछ धार्मिक ज्ञानके आधारपर न होकर व्यक्तिगत जीवनके अनुभवोंके निष्कर्ष हैं। इस भाँति तुलसीने 'अभागेपन'से भी छुटकारा पा लिया। इन दोनोंका हेतु रामनाम और रामका स्वामित्व रहा है। उन्होंने अपनी दृष्टिको अनूठे ढंगसे मध्यकालीन हिन्दू समाजके लिए एक जीवनदर्शनमें रूपान्तरित कर दिया। यहाँ उनका संन्यासी और भक्त प्रधान हो गया है, किसान और साधारण मनुष्य गौण। तुलसीने अपने अनुभवोंको सामाजिक न्यायके लिए निर्भीक स्वीकारोक्तिके रूपमें घोषित किया है क्योंकि उनमें स्वार्थ, परिग्रह या काम-क्रोधादिका लोप हो चुका था। 'सौभाग्यशाली'

तथा 'सनाथ' होनेके अपने असम्भव परिवर्तनको वे रामकी कृपाका फल मानते हैं। इसी बिन्दुपर उन्होंने 'सन्त' का आदर्श दिया है; वैराग्य और ज्ञान-विज्ञान पदकी प्रतिष्ठा भी की हैं। तुलसीके जीवनमें यह उदात्तीकरणकी महत् दशा है।

कालान्तरमें काशीमें उनपर लोकनिन्दा और कूटनीतिके प्रबल प्रहार होने लगे। इतना इन्द्रियदमन करने, कुत्सित दरिद्रता झेलने, सर्वस्व त्याग देने, भक्ति-रसका प्रचार करनेके बाद भी जब तुलसीपर धूर्त, कुसाज करनेवाला, दग़ाबाज़, महादुष्ट और कुजाति होनेके लांछन लगने लगते हैं ( कवितावली ७।१०६-१०८ ), तब वे एकबारगी तिलमिला उठते हैं। जब वर्णाश्रम-धर्मके महान् संस्थापक तुलसीके वर्ण ( जाति ) पर ही सन्देह किया जाने लगता है, वैष्णव तुलसीकी अवधूत कहकर निन्दा की जाती है, निश्छल तुलसीको कुसाज करने-वाला, बड़ा ही दग़ाबाज़ बताया जाता है, तब उनका वर्णाश्रम-धर्मकी महानता-का और ब्राह्मणकी प्रतिष्ठाका दीर्घदृढ़ जोश ठण्डा पड़ जाता है। उन्हें यक़ीन हो जाता है कि खल समाजमें सन्त प्रभाव स्थायी नहीं रह सकता। पहले उन्होंने जितना ऊँचा उदात्तीकरण किया था, अब उन्हें उतनी ही व्यापक विभ्रान्तिविही-नता ( डिसइल्यूज़नमेण्ट ) हुई। फिर भी, वे भक्त और सन्त बने रहते हैं। हाँ, उनकी समाजसे सम्पृक्ति और समाज-उपदेशके प्रति वैसी प्रगाढ़ता चली जाती है। वे कहते हैं कि काशीमें मुझे ठगोंके धक्के खाने पड़े हैं और रातको चारों दिशाओंसे चोर सताते हैं ( दोहावली २३९ )। वे स्वीकार करते हैं कि दुनियाको पता है कि मैंने पेटकी आगके कारण जाति, सुजाति, कुजाति सबके टुकड़े खाये हैं ( कवितावली ७।७२ ) और लोग मेरी छाया तक छूनेमें संकोच करते हैं ( विनयपत्रिका २७५ )। इस भाँति वर्णाश्रम-धर्मकी विडम्बनाका शिकार उसका सबसे बड़ा नैतिक संस्थापक तक होता है। उनमें पूरा निर्विभ्रान्तकरण हो जाता है : जाति-पाँति, और समाजके प्रति समन्वयवादी दृष्टिके प्रति। वे कहते हैं कि मेरी कोई जाति-पाँति नहीं है, और न मैं किसीकी जाति-पाँति चाहता हूँ; चाहे कोई धूर्त कहे, चाहे अवधूत कहे, राजपूत या जुलाहा कहे, मुझे किसीकी बेटीसे अपने बेटेका ब्याह नहीं करना है; मैं किसीसे सम्पर्क रखकर उसकी जाति नहीं बिगाड़ूँगा ( कवितावली, ७।१०६, १०७, )। आगे वे समाजके प्रति रोष प्रकट करते हैं : कोई मेरे कामका नहीं है और न मैं किसीके कामका हूँ; मैं तो किसीसे कुछ चाहता नहीं, न किसीके विषयमें कुछ कहता हूँ; मैं कुछ देने योग्य नहीं हूँ तो किसीका कुछ लेता भी नहीं हूँ; न मुझे भाईका भरोसा है, न बैरीसे खरा-सा बैर है। परन्तु मुझे न तो इस लोकका डर है और न परलोकका सोच है। मुझे देवसेवाका भी बल नहीं है, न मुझे धन-धामका गर्व है ( कवितावली

७।७७, १०६, १०८ ); मुझे न तो किसीके साथ विवाह-सगाई करनी है और न मुझे जाति-पाँतिकी चाह है ( विनयपत्रिका ७६ )। और आगे आकर तो उन्हें धार्मिक रूढ़ियोंसे भी घृणा हो जाती है। वे निर्भीक घोषणाएँ करते हैं कि न तो मैंने जप किया, न तपका क्लेश सहा, न मुझे जोग, यज्ञ, वैराग्य, तीर्थ, व्रत, त्यागकी इच्छा है ( कवितावली ७।७७ )। अन्ततः वे कहते हैं कि मेरा लोक-परलोक तो रामके हाथमें है, जो गोत्र स्वामीका होता है वही सेवकका, तुलसी तो रामका सरनाम गुलाम है जिसको जो रुचे सो कहे, रामके नामसे ही जो कुछ होगा वही मुझे अच्छा लगता है ( कवितावली ७।७७, १०७ )। इस तरह तुलसीदास वर्णाश्रम, वैष्णव पूजा-विधि और समाजहितके सभी आदर्शोंसे यथेष्ट निर्भ्रान्त होकर एक अनागरिक, एक एकाकी समाजद्रष्टा, एक अजनबी, एक यथार्थभोगी हो जाते हैं। उनकी यह यन्त्रणा बचपनके दारिद्रय-ताप-भोगसे अधिक करुण, एकाकी और सांस्कृतिक मूल्योंके विघटनवाली है। मानो यह उनके पौराणिक पुनर्जागरणके महास्वप्नका लड़खड़ा जाना है। तुलसी जैसा था वैसा ही लोक-व्यवहारके अयोग्य बना रहता है। "मेरे पास जीवित रहनेके लिए कोई ठाँव नहीं है, न तो कोई अपना गाँव है, न मन्दिरमें जानेका कोई सम्बल है। मैंने बस रामनाम रटा है!" ( कवितावली ७।९२ )। तत्कालीन सामन्तीय समाजमें तुलसी तक अजनबी हो गये। मेरा मन ऊँचा है, तथा रुचि भी ऊँची है लेकिन भाग्य अत्यन्त नीचा है।" ( कवितावली उत्तरकाण्ड )। भाग्य अर्थात् सामाजिक शक्तियाँ!

वृद्धावस्थामें उनमें जोशीले आदर्शोंके वे स्वप्न, समाजकी झूठी-सच्ची करोड़ों बातोंके प्रति वह अलगाव, भक्ति और रामकृपाके अति दृढ़ विश्वास भी चूर होने लगते हैं। अब वे आर्त विलाप करते हैं, विनय करते हैं, कलिकालके त्रासको झेलते हैं और राम-भक्तिकी दीपशिखा वैयक्तिक रूपसे जलाये रखते हैं। काशीकी महामारी देखकर वे आतंकित हो चुके थे। उनमें कई प्रश्न उठने लगे थे। वे सोचने लगे थे कि यह विशाल नरसंहार किसके कारण हुआ? भाग्य ( कपाल लेख ) के? समय ( कलिकाल ) के? त्रिदोषके? पाप, ताप, शापके? वे निर्णय नहीं कर सके। जब वृद्धावस्थामें उनकी बाहुमें पीड़ा हुई और बालतोड़ हुआ तब वे मानो भयभीत ही हो उठे हैं। वे समझ लेते हैं कि देवता, पितर, भूत, कर्म, काल, दुष्ट ग्रह सभी मुझे घेरे हैं। यहाँ केवल रूढ़िगत विनय और दैन्य-प्रदर्शन ही नहीं है, अपितु उनकी आस्थाका संकट भी है। उन्होंने अपनी वृद्धावस्थाके कुछ करुण चित्र दिये हैं। हमारे मतसे सगुण भक्तोंके विनय और दैन्यके मूलमें मनुष्यके सन्तपदके उच्चादर्श और वास्तविक सीमाओंका तुलनात्मक

निर्णय है। आखिर ये भक्त भी अन्ततः और मूलतः इनसान थे जो इन्द्रियों, दोषों, विकारोंके मनोवैज्ञानिक घट थे, चाहे इन्होंने कितना भी निग्रह, दमन और संयम क्यों न किया हो। आदर्श सन्तपद तो मानवीय सहज विकारोंसे निरपेक्ष एक निर्विकल्प दशा थी। इस तुलनाके प्रसंगमें तुलसी, सूर आदि स्वयंको कुटिल, खल, पापी आदि पाते थे। यह विनय और दैन्य-प्रदर्शनकी मात्र धार्मिक रूढ़ि नहीं थी। कबीरमें इस तरहका दैन्य भाव लगभग नहीं है। वृद्धावस्थामें पहुँचकर तुलसी अपनी शारीरिक व्याधियोंसे पीड़ित होते हैं। उनका वृद्धावस्थाका शरीर रोगोंकी खान है, उसमें बात-व्याधि भी हो गयी है और बाहुशूल हो गया है (हनुमानबाहुक २४)। सारा शरीर ठाँवकी पीड़ा (गठिया), पेट पीर (उदरशूल), बाँहपीर, मुँहपीरसे जर्जर हो गया है, (हनुमानबाहुक, ३८)। उन्हें कुलोगों, रोगों और कुयोगोंने घेर लिया है (वही, ३८), भयंकर बरतोर हो गया है। इस आधिभौतिक शरीरमें बड़ी ही पीड़ा हो रही है जिससे वे बहुत विकल होकर भूतनाथसे प्रार्थना करते हैं कि या तो मुझे मार दें, या मेरा शरीर निरोग कर दें (कवितावली ७।१६६)। बाँहपीर-के लिए वे महावीर कपिसे प्रार्थना करते हैं कि वे इसे शीघ्र ही निवारें (हनुमानबाहुक २०)। उन्हें यह प्रायश्चित्त होता है कि नेक और भक्त होकर भी उन्हें ये त्रिताप क्यों भोगने पड़े? वे ईश्वरसे आखिरी सवाल कर बैठते हैं कि जब विधाताने ही सारी दुनियाको हर्ष-विषाद, राग-रोष, गुण-दोषमय बनाया हैं; जब माया, जीव, काल, कर्म और स्वभावके कर्ता राम हैं; 'जब इस बातको मैंने सत्य माना है' तब मैं विनतीपूर्वक समझना चाहता हूँ कि रामसे, हनुमानसे, शंकरसे 'क्या नहीं हो सकता'? (हनुमानबाहुक ४४)। यहाँ आकर मानो उनके जीवन पर्यन्तके श्रद्धा-विश्वासके आगे एक गूढ़ प्रश्नचिह्न लग जाता है। इसके बाद तुलसीका व्यक्तित्व और कृतित्व ज्ञात नहीं होता।

इसके पूर्व, लेकिन वृद्धावस्थामें ही रचित, 'विनयपत्रिका' में उनके उभरते हुए प्रबल द्वन्द्व उग्र हो उठते हैं। इस कृतिका कलिकाल वस्तुतः उनका तत्कालीन समाज है जिसमें क्षुद्र बन्धन, जड़ कर्म, भौतिक माया-विकार आदि समाप्त नहीं हो पाये। तुलसीको यह सामाजिक वास्तविकता अपने आदर्शों और कार्योंकी हार लगी। उनकी व्यक्तिगत इच्छा थी कि वे संसारमें जानकी-जीवन रामके दास होकर जीवित रहें और राम ब्रह्म-जीव, स्वामी-सेवक, माता-पिता, गुरु-शिष्य, मित्र आदि अनेक नातोंमें-से कोई भी वांछित नाता मान लें (विनय पत्रिका ७९)। लेकिन उनका मन लोक-परलोकके आचरणमें विभक्त है। वह धुएँको मेघ समझकर प्यासे पपीहेकी तरह अपनी आँखें फोड़ता है, रामभक्ति-

रूपी गंगाको छोड़कर ओसकी बूँदोंसे तृप्त होनेकी आशा करता है; कभी वियोगके वश होता है तो कभी मोहके, कभी दीन और कंगाल बनता है तो कभी घमण्डी राजा, कभी पाखण्डी बनता है तो कभी धर्मरत ज्ञानी, और कभी उसे सारा जगत् धनमय दीखता है, कभी शत्रुमय, कभी नारीमय। ये उनके सहज मनुष्य और संयमी मनुष्यके बीचके अन्तर्द्वन्द्व हैं। इन्हीं मनोदशाओंमें वे यह अनुभव करने लगते हैं कि हरिकी शुभ शक्तिको अपेक्षा कलिकाल अर्थात् समाजके वास्तविक भौतिक सम्बन्ध अधिक बलवान् हैं। तुलसी कह उठते हैं कि, हे हरि यदि कलिकाल आपसे अधिक बलवान् होता तो हम उसीका भजन करते। मुझे सबसे बड़ा दु:ख यह है कि प्रभुके नामने भी मेरे पापोंको भस्म नहीं किया। इस भाँति तुलसी भक्तिके द्वारा, वैष्णव-शैव-समन्वयके द्वारा, खलोंके हृदयपरिवर्तन-के द्वारा, रामनामके द्वारा समाज-परिवर्तन और मनुष्य-मुक्तिके प्रतिफलनके अटूट विश्वासके प्रति सन्देह करते चले जाते हैं। उनके जीवनके 'मानस'– कालीन आदर्शोन्मेष और बादके कटु यथार्थबोधमें आकाश-पातालका अन्तर हो जाता है। इस भाँति हम तुलसीके व्यक्तित्वके तीन विकासशील पहलू पाते हैं: – ( क ) अनाथ और अभागा और कंगाल बालक रामबोला, ( ख ) आशावादी आदर्शवादी-यायावर साधु तुलसी, एवं ( ग ) निराशावादी-यथार्थवादी और एकाकी गोस्वामी तुलसीदास। यह अवश्य है कि वे आद्योपान्त अपने अन्तःकरणमें रामका दीप जलाये रहे किन्तु कलिकालसे जूझते-जूझते थक-से गये, और थोड़ा बहुत उदासीन भी हो गये।

एक व्यक्तिका इतना व्यापक, वास्तविक, जीवन्त और गतिशील विकास तभी हो सकता है जब वह अपने युग, समाज, समाजकी समर्थ शक्ति, तथा इतिहासकी परम्परा एवं आदर्शका प्राणवन्त भोक्ता हो। तुलसी बहुत कुछ ऐसे थे। उनका लोकानुभव विलक्षण है, यद्यपि वह प्रकृति तथा साधारण प्रजाके लोचनसे ही ग्रहीत हुआ है। ये लोकानुभव कई तरहसे प्रयुक्त हुए हैं, जैसे सर्वमान्य सूक्तियोंमें, चरित्रके दृष्टान्तोंमें, उपमा-उत्प्रेक्षादिमें। फ़िलहाल हम पहले प्रकारको ही लेंगे; बाक़ीकी मीमांसा यथास्थान होगी।

उनका नितान्त व्यक्तिगत अनुभव देवता, राजा, स्वामी, मित्र और खलके विषयमें उद्घाटित हुआ है जो काफ़ी कटु एवं सन्तुलित है। उनके मुताबिक पृथ्वीपति, नागपति, देवलोकपति, और लोकपाल ये सब कारणवश ही कृपा करते हैं। समर्थको कभी दोष नहीं लगता। उत्तम स्वामी दुर्लभ है, लेकिन जिसने उत्तम स्वामीसे स्वार्थहीन प्रीति नहीं की वह बड़ा अभागा है ( कविता वली, ७।१५ )। कोई मनुष्य अपने मित्रसे सुख चाहता है तो वह छलकी छाया

भी न छुए ( दोहावली, ३२४ )। दुष्टोंके विषयमें उन्होंने नैतिक आधार भी जोड़ दिये हैं। खल हज़ार आँखोंसे दूसरोंके दोष देखते हैं। वे किसीको बड़ाई सुनकर ऐसी साँस लेते हैं मानो उन्हें जूड़ी आ गयी हो; वे जिससे बड़ाई पाते हैं सबसे पहले उसे ही विनष्ट करते हैं। दुष्टसे न कलह अच्छी है न प्रीति क्योंकि कुसंगति पाकर कौन नष्ट नहीं हो जाता। जहाँ कुमति होती है वहाँ, परिणामत: नाना विपत्तियाँ रहती हैं। दूसरोंकी कीर्तिको मिटाकर कीर्ति पानेवालोंके मुँहपर कालिख लगती है। यह सामाजिक सम्बन्धोंके दुहरेपनका गूढ़ दिग्दर्शन है जिससे इसमें भी दुहरापन है। वे कहते हैं कि अनहितकारीकी विनय विषसे भी विषम तथा सनेहकी गाली अमृतके समान होती है ( कृष्ण गीतावली, २७ )। इसीके साथ वे कहते हैं कि नीच लोग निरादर करनेसे और बड़े लोग आदर करनेसे सुखदायी होते हैं ( दोहावली, ३५४ )। कुल मिलाकर वे दुष्ट और खल मनुष्योंसे बचना चाहते हैं क्योंकि उनमें निन्दा सहनेका-कबीरकी तरह – संकल्प नहीं है। एवज़में वे आत्मनिन्दा कर सकते हैं।

विभिन्न प्रकारके लोकचित्त-अनुभवोंको उन्होंने सारांशीकृत कर दिया है जो एक कृषिप्रधान समाजकी संहिता हैं। नाना भाँतिके मनुष्योंकी बाबत उन्होंने आचार-व्यवहार तय कर दिये हैं। शस्त्री, मर्मी ( भेद जाननेवाला ), समर्थ, स्वामी, मूर्ख, धनवान, वैद्य, भाट, कवि और रसोइया—इनसे विरोध करनेमें कल्याण नहीं होता। मन्त्री, वैद्य और गुरु—यदि ये भय या लाभकी आशासे प्रिय बोलते हैं तो क्रमश: राज्य, शरीर और धर्मका नाश हो जाता है। भाटोंके भड़कानेसे यदि नट लोग संग्राममें चले जायें तो या तो वे रणसे भाग आयेंगे या क़ैद कर लिये जायेंगे ( दोहावली ४२२ )। नगर, स्त्री ( ? ), भोजन, मन्त्री, सेवक, मित्र और घर—इनकी सरसता नष्ट होनेके पहले ही इन्हें छोड़ देनेमें शोभा और आनन्द है ( दोहावली, ४७५ )। प्राणप्रिय होनेपर भी दीर्घ रोगी, दरिद्र ( ? ), कटुभाषी और लालची—ये चारों निरादरके योग्य हैं। यदि मित्र, शिष्य, नौकर, मन्त्री, और सुन्दर स्त्री दूसरेके मनको प्रसन्न करने लगें तो पहले जाँच करनी चाहिए, और फिर इन्हें छोड़ देना चाहिए। जगत्में लोभी और कामी कुटिल कौवेकी तरह सबसे डरते हैं। कुत्ता, इन्द्र और कामी युवक—ये एक ही स्वभावके होते हैं। साधु और देवता—ये सब स्नेह और सम्मान ही चाहते हैं, बर्रे, बालक और बन्दरका एक स्वभाव होता है। मालिक तो सेवकका अपराध सुनकर ही क्रोधित हो जाते हैं। उच्छृंखल लोग विधवाके घरको घूम-घूमकर देख जाते हैं या किसी अनाथ विधवाकी झोंपड़ीको जला दिया करते हैं ( कवितावली, ६।२४, २७ )। इन अनुभवोंसे हमें एक अचल तथा जकड़े

हुए सामन्तीय समाजके वर्गीय चरित्रोंका स्थिर आकलन प्राप्त होता है जिसके आधारपर सामाजिक तथा व्यक्तिगत सम्बन्धोंकी परख की जाती थी। तुलसीने सामाजिक सम्बन्धोंकी इन कसौटियोंको युगानुकूल ही दिया है। इनके मूलस्थल प्रेम और बैरके आधार भी उन्होंने दिये हैं : बैर और प्रेम दोनों चारों आँखोंसे अन्धे होते हैं और इन्हें उचित-अनुचितका ज्ञान भी नहीं होता ( दोहावली, २३६ )। बैर अन्धा होता है तथा प्रीतिको ज्ञान नहीं होता। बैर और प्रेम छिपानेसे नहीं छिपते। मित्र और शत्रुको पशु-पक्षी तक पहचानते हैं। हाँ, आर्त मनुष्यके चित्तमें विवेक नहीं रहता। प्रीति-परीक्षामें उत्तमकी स्थिति पत्थर, मध्यमकी बालू और नीचकी जलके समान है। ममतामें फँसे हुएसे ज्ञानका, अत्यन्त लोभीसे वैराग्यका, क्रोधीसे शान्तिका और कामीसे भगवान्का वर्णन करना फ़िज़ूल है। जगत्में मुँहदेखी बातें कहने-सुननेवाले मनुष्य 'झुण्डके झुण्ड' हैं। इन सब कसौटियोंके बावजूद भी जैसी भवितव्यता होती है वैसी ही सहायता मिल जाती है। इस भाँति सामन्तीय मानदण्डोंका स्पष्ट पार्थक्य और भाग्य-निर्णय, दोनों अपने दुहरेपनके साथ प्रकट हैं। सामन्तीय तर्क हमेशा विवशताको रहस्य और आध्यात्मिक समझकर झुक जाता है। तथापि तुलसी कुछ मोटी-सी बातें गाँठमें बाँधते हैं : किसीको मोटे बोल न मारो, मोटी रोटी मारो। इस तरहकी अपनी हारको हज़ारों जीतोंके समान समझो ( दोहावली, ४२८ )। जिनको देश, काल, कर्ता, कर्म और वचनका विचार नहीं है वे कल्पवृक्षके नीचे रहनेपर भी दरिद्री और देवनदी गंगाके तटपर बसनेपर भी पापी बने रहते हैं (दोहावली, ४२२)। तुलसीकी ये दोनों भूमिकाएँ सामन्तीय समाजके सम्बन्धोंके आधारोंके दुहरेपनके तथ्यको पूर्ण कर देती हैं क्योंकि ऐसे समाजमें पर-उपदेशमें तो बहुत लोग कुशल होते हैं लेकिन तदनुसार आचरण करनेवाले कम होते हैं।

उन्होंने प्रकृति-निरीक्षणमें जो सूक्ष्मता दरशायी है वह एक ग्रामीण कवि तथा कृषक-नैतिकतावाले मनुष्यका महादान है। यहाँ तुलसी अनुपम हैं। यहीं उन्होंने संस्कृत-परम्परावाली सौन्दर्य-परिपाटियोंका आमूलचूल ग्राम्यीकरण कर डाला है। प्रकृति-वर्णनके अन्तर्गत हम इसे स्पष्ट करेंगे। सम्प्रति प्रसंग दूसरा है। चित्रकूट-निवाससे उन्हें अनुभव हो गया था कि पहाड़का पानी बहुत ही लगता ( भारी होता ) है; अपनी यन्त्रणाएँ सहते-सहते उन्हें यह विश्वास हो गया था कि बाँझ स्त्री प्रसवपीड़ा नहीं जान सकती और अन्य बच्चोंको माँकी गोदमें देखकर उन्होंने यह अनुभूति कर ली थी कि बच्चेके शरीरके फोड़ेको माता कठोर हृदय करके चिरा डालती है अथवा नयी ब्यायी हुई गाय शामको बछड़ेको याद करके हुंकारती, थनोंसे दूध चुवाती हुई दौड़ी चली आती है।

उन्होंने प्रकृतिके भागवतसे बहुत-कुछ मौलिक उपदेशोंको सीखकर उन्हें अपने सौन्दर्यशास्त्र तथा किसानोंके आचरणशास्त्रको दिये। कुछ उदाहरण यों हैं : माजा रोगसे पीड़ित मछलियाँ क्षीण होकर छटपटाती हैं; कछुआ अपने अण्डोंको नहीं छोड़ता; बाँसमें सार न होनेसे उसमें सुगन्ध नहीं आती; गाड़ीके पीछे लगा हुआ कुत्ता उसके इर्द-गिर्द ही रहता है; श्यामा गायका दूध बहुत उज्ज्वल और गुणदायक होता है; रेशमका कीड़ा आप ही कोश बनाकर बड़प्पनके बोझमें उसमें बँध जाता है; हाथीको देखकर मूर्ख कुत्ता सूखे हाड़को ( आहार छिन जानेके भयसे ) लेकर दौड़ जाता है; बादल बरस जाते हैं तब भी बेत नहीं फूलता; हालकी ब्यायी हुई गाय बछड़ेसे अलग होनेपर तड़फ जाती है; जोंक जलमें भी टेढ़ी चालसे चलती है; वर्षा-जल पड़नेसे जवास सूख जाता है; शहद छीने जाने-पर मधुमक्खियाँ व्याकुल हो उठती हैं; नदी और समुद्रके संगमका जल क्षुब्ध हो जाता है; चम्पकके उपवनमें भौंरा आसक्तिहीन होता है; टिटिहरी पक्षी अभिमान-वश पंजोंको ऊपर करके सोता है; टिड्डियाँ पर्वतकी गुफाओंमें लीन होती हैं; बुरी जातिकी हरहाई गाय सीधी और दुधार कपिलाको बिगाड़ डालती है; कोदोंकी बालीसे उत्तम धान नहीं होता; काली घोंघीमें मोती उत्पन्न नहीं होता; मोरपंख ज़मीनकी ओर नीचे रहनेपर कलाहीन तथा ऊपर होनेपर कला प्रधान हो जाता है; सीधी-टेढ़ी दोनों प्रकारकी चाल चलनेवाले मंगल, बुध, गुरु, शुक्र और शनि नामक पंचग्रहोंको राहु जल्दी आँख उठाकर भी नहीं देखता, लेकिन केवल सीधी चाल चलनेवाले सूर्य-चन्द्रको त्रास देता है; तथा अन्ततः बिना ऋतुके फूल भयानक होते हैं। प्रकृति-सम्बन्धी अपने इन सूक्ष्म निरीक्षणोंको तुलसीने पात्रोंके चरित्र अथवा घटनाओंमें दृष्टान्त बनाकर इनका मध्यकालीनीकरण कर डाला है, और इनके स्वतन्त्र सौन्दर्यकी उपेक्षा की है। अतः प्रकृति नारी-सौन्दर्यको उपमान देनेके बजाय लोक-नैतिकताको दृष्टान्तोंकी राशि देती है।

इसके उपरान्त हम तुलसीके विचारों, दृष्टिकोण तथा जीवन-दृष्टियोंकी वैज्ञा-निक तथा समाजशास्त्रीय छानबीन करेंगे।

धर्म, नैतिकता और दर्शनने मानव विचारोंके आध्यात्मिक इतिहासमें ग़ज़बकी पहल की है। 'धर्म' दो दुनियाओंकी धारणाओंको उपजीव्य बनाता है : एक लौकिक जगत् तथा दूसरा अलौकिक, एक मनुष्य तथा दूसरा ईश्वरको। धर्म मनुष्य और ब्रह्माण्डके अन्तःसम्बन्धोंकी निष्पत्ति करता है। 'नैतिकता' धर्मका व्यवहारशास्त्र है। यदि धर्ममें मनुष्य तथा ईश्वरके सम्बन्धोंकी छानबीन होती है तो नैतिकतामें मनुष्य तथा मनुष्यके सही सम्बन्धोंका कर्मकाण्ड होता है। धर्म आचरण-नियमोंका विधान करता है, और नैतिकता नैतिक आचारोंका पालन

कराती है। अतः धर्म और नैतिकता मनुष्यका मनुष्यसे, और प्रकारान्तरसे, मानव-समूहोंका किसी उच्चतर अलौकिक सत्तासे सम्बन्ध क़ायम करती है। बहुधा सामाजिक प्रक्रियामें नैतिक संहिताओंपर धर्म अपनी अतिप्राकृतिक-स्वीकृतिसे हावी हो जाता है। सामाजिक नैतिकताका लक्ष्य समाजमें शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करना होता है, जबकि धर्म ईश्वर और मोक्षके प्रकृत मूल्योंका संस्थापक है। इन दोनोंका सहवर्ती दर्शनशास्त्र' मनस्, जड़ और आत्मन्के विभिन्न पक्षोंके सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करता है, तथा जीवन और जगत्के रहस्योंका ज्ञान प्राप्त करता है। इस धर्म-नैतिकता-दर्शनकी त्रयीमें अन्योन्याश्रय है। लगभग सभी धर्मोंमें निःस्वार्थ समर्पण और तीव्र कामनाका, विनय और गौरवका, ऐन्द्रिक स्थूलता तथा आध्यात्मिक सूक्ष्मताका विलक्षण मिश्रण होता है जिसमें संवेगात्मक तनाव होते हैं। इन तनावोंका अनुभव एक ऐसे उच्चतर क्रममें होता है जो अन्तर्मुखी एवं वैयक्तिक हैं।[1] एक आध्यात्मिक अनुभवके रूपमें धर्म अन्तिम उपलब्धि न होकर एक जीवन्त प्रक्रिया है जिसे प्रत्येक 'आत्मा' अपने लिए स्वयं प्राप्त करती है। इस बिन्दुपर धर्म परम्परासे परे हटकर जीवन्त संवेगों तथा व्यक्तिगत अनुभवोंमें भी जुड़ता है, और यहीं धर्मका सौन्दर्यबोधात्मक परिवेश प्रमुख होता है। यहीं कवि और सन्तका द्वन्द्वात्मक संयोग होता है। जो उच्चतर संस्कृतियाँ होती हैं उनमें स्थिरता और परम्परा प्रधान होती हैं जिसकी वजहसे समाज स्थापित मार्गोंसे अलग नहीं चल पाता। ऐसी स्थितिमें दो विकल्प होते हैं: मानव जीवनके तनाव-खिंचावके क्षेत्रोंसे धर्मका सम्बन्ध हो जानेपर स्थिर अवस्थाओंके प्रति या तो 'परम्पराबद्ध' या फिर 'सृजनात्मक' प्रतिक्रिया होती है। इसलिए यह एक अन्तर्विरोध ही है कि धार्मिक विकास ( पूर्णता नहीं ) के सर्वाधिक सृजनात्मक युग शान्तिके बजाय सामाजिक उथल-पुथलमें रहे हैं।[2] भारतीय मध्यकालमें ( और जो तुलसीका समय था उसमें ) हिन्दू वर्ण-विभक्त समाज सबसे अधिक अनुदार था। शताब्दियोंकी जड़ताकी वजहसे प्रथा (कस्टम) ही प्रमुख सामाजिक नियन्त्रण हो गयी थी। यह प्रथा रूढ़िमें परिणत थी। बौद्धिक मौलिकताके ह्रासके कारण मनुष्योंके आपसी सम्बन्धोंका आधार मात्र आस्था ( फ़ेथ ) थी। अतएव 'प्रथा' और 'आस्था' मध्यकालीन लोकमार्गका निमित्त थीं और सामाजिक विघटनको बचाये थीं। प्रथा एवं आस्था ही मध्यकालीन 'एकता' को बनाये थीं। धर्ममें एकताका यह सामाजिक संस्कार इतना विशुद्ध तथा सूक्ष्म हो गया था कि इसमें वास्तविक हितोंकी बात सोचना नामुम-

१. जॉर्ज सिम्मेल : 'अ कॉण्ट्रिब्यूशन टु द सोश्योलॉजी ऑव रिलीजन' शीर्षक शोधपत्र।
२. टॉलकोट पारसॅन : 'रिलीजन ऐज़ अ सोर्स ऑव क्रियेटिव इन्नोवेशन'

किन-सा था। वर्णाश्रम एकताका पर्याय था। किन्तु समाजके वास्तविक हित इस 'एकता'के मार्गसे दूसरी ओर जा रहे थे। लेकिन वे हित एक समूहमें—शूद्र वर्ग-में ही—क्रान्तदर्शी हो सके थे। तुलसीके युगमें सांस्कृतिक धरातलपर एक द्वन्द्व मचा हुआ था। एक ओर द्रुतगामी सामाजिक परिवर्तन हो रहे थे तो दूसरी ओर काफ़ी अव्यवस्था थी; एक ओर हिन्दू और मुसलमान तथा दूसरी ओर सवर्ण और शूद्रोंमें द्वन्द्व था; एक ओर सामन्ती रजवाड़े युद्धोंमें टूटते चले आ रहे थे तथा दूसरी ओर एक विशाल साम्राज्य खड़ा हो रहा था; एक ओर कलिकाल था तथा दूसरी ओर रामराज्यका साधनावस्थावाला लक्ष्य। किन्तु आस्था और प्रथाके मेलसे शास्त्रीय हिन्दू समाजमें कठोर वर्णव्यवस्था, पितृसत्ताक शासन, वात्सल्यपूर्ण करुणा और कर्म-सिद्धान्तने स्वतः ही पुनरुत्थानवादी मूल्य-व्यवस्थाको मज़बूत किया है। तुलसी स्वयं भी एक विघटनशील कृषि-परम्परासे उभरकर चित्रकूट, काशी अयोध्या- जैसे 'मृत्यु-रोग-पाप परिपूर्ण' शहरोंके निवासी बने थे। अतः उन्होंने धार्मिक विश्वासों और अन्य मूल्य-व्यवस्थाओंके बीचकी 'असंगतियों' को गहराईसे भोगा था क्योंकि अकबरके समयमें लघु-उद्योगोंके कारण हल्का शहरीकरण हो रहा था। रूथ बेनेडिक्टने ऐसे ही सांस्कृतिक-पैटर्नका ख़ूबसूरत विवेचन किया है। भारतके मध्यकालीन परिप्रेक्ष्यमें जब, आर्थिक उत्पादन एवं सामाजिक तथा राजनैतिक संगठनके रूपमें, गाँव अन्तिम इकाई हो गया, तब वर्णाश्रम-धर्म भी कठोर हो गया। किन्तु मुग़लोंके आर्थिक सुधार, सांस्कृतिक प्रभाव और आर्थिक उत्पादकताकी वजहसे एक ज़ोरदार तबदीली आयी। धनके उत्पादक शूद्रों ( कुछ अंशों तक वैश्यों ) को सामाजिक प्रतिष्ठा भी मिली और वे वर्णाश्रम-व्यवस्थाके ग्रामीण आधारको शहरी चेतना तथा इसलामी एकेश्वरवादके धरातलसे चुनौती देने लगे। दूसरी ओर क्षत्रियों और ब्राह्मणोंमें 'धन-संग्रह' की प्रवृत्ति ही प्रधान हो गयी। धन प्रभुता और भोग दोनोंका स्रोत हुआ। तुलसीने इस सबका दिग्दर्शन धार्मिक आदर्शोंके धरातलपर किया। शुद्धताके नामपर कोरमकोर वैराग्य, वर्णाश्रम-आस्थाके स्थानपर प्रतिक्रियावाद, तथा संन्यासके स्थानपर जीवनका निषेध उनके आदर्शमें प्रधान होता गया। दैन्य, निराशा, पाप, ताप, शाप आदिके रूपमें हम इन नाना धार्मिक अनुभवोंका विश्लेषण करते हुए इसे स्पष्ट करेंगे। अतः प्रथा और आस्था तुलसीके दार्शनिक विचारोंको मौलिकता नहीं दे सकीं। किन्तु नये सांस्कृतिक पैटर्नने दैन्य, विनय, भक्ति, लोकमार्ग आदिके विषयमें उन्हें कई मौलिक तेजस्वी विचार भी दिये। यहाँ हम पुनः याद दिला देना चाहते हैं कि कविने 'मानस' और 'विनयपत्रिका'में ही माया, ब्रह्म, ज्ञान आदिका पिष्टपेषण किया है। अपने जीवनके बादके

चरणमें वह सहज-सुलभ, दान, दया, शरण, सुख, आनन्दका अधिकाधिक प्रचारक होता गया।

तुलसीमें एक दूसरी दिशा इतिहास सम्बन्धी चेतनाकी भी है। हिन्दू इतिहास-दृष्टिकोणके अन्तर्गत इतिहास, पुराण और आख्यान तीनों ऐतिहासिक हैं। 'इतिहास'का लक्ष्य है जीवनके चार लक्ष्यों—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—की प्राप्ति। इनमें-से अर्थ और काम साधारण जीवनके लक्ष्य हैं, तथा धर्म और मोक्ष अलौकिक जीवनके आध्यात्मिक मूल्य। साधारण जीवनमें धर्म वर्णाश्रमके कर्तव्य हैं, और आध्यात्मिक जीवनमें धर्म दर्शन है। हिन्दू इतिहास-दृष्टिकोणमें चरितनायकको 'इतिहास' तथा 'मिथक' दोनोंमें अनुस्यूत किया जाता है। इसलिए इतिहासके कार्यके दो धरातल हो जाते हैं। समय-सम्भूत, और दैवी। इन दोनोंका संयोग हो जाना एक पौराणिक आदर्श है। इसी वजहसे हिन्दू राष्ट्रीय नेता 'नर' से 'नरोत्तम' हो जाते हैं। मध्यकालीन अवतारवादने नरोत्तमसे 'नारायण' की उद्भावना की। इसलिए तुलसीके राम नर हैं, पुरुषोत्तम हैं और नारायण ( हरि ) हैं। पुरुषोत्तम और हरिके सभी कार्य सभी दशाओंमें सही होंगे, और 'मर्यादा' होंगे। इस भाँति तुलसीके राम 'मर्यादा-पुरुषोत्तम परब्रह्मस्वरूप' हैं, जगत्में उनका 'अवतार' होता है, और मनुष्योंका 'उद्धार'! इस उद्धारमें प्रेम और दयाके भाव घृणा और हिंसासे अधिक सशक्त हैं। इस अवतारमें पाप और रोग और मृत्युका अन्त करनेका भी हेतु है। तुलसीने 'मनुष्यकी प्रकृति' तथा 'पापकी समस्या'को इसी धरातलपर-से उठाया है। अपने इस कार्यमें ( एक भक्त होनेके नाते ) उन्होंने अर्थ और कामका परित्याग, तथा धर्म और मोक्षका ही अंगीकार किया है। यही नहीं, एक निवृत्तिमार्गी होनेके कारण उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि ( रामवृत्त-विमुख ) सभी संवेगों ( मनोविकारों ) और तृष्णाओंका उद्गम तामसिक एवं दानवी है। उनके नीतिशास्त्रकी ये दोनों आधारशिलाएँ सामाजिक नैतिकताकी क़ीमतपर आध्यात्मिक नैतिकताका प्रमुख समर्थन करती हैं।

उनकी जीवन-दृष्टिको समझनेकी तीसरी दिशा रामके देवत्वके विविध धर्मोंके स्थापनकी है। मानवीय आवश्यकताओंके अनुरूप ही इष्ट-देवताकी जटिल और विविध धारणाओंका विकास होता है। राम सर्वसमर्थ हैं। वे शरणागत-वत्सल तथा रक्षक हैं। वे ब्रह्ममय परिपूर्णता हैं। जब तुलसीको स्नेहकी ज़रूरत हुई तब राम प्रेमस्वरूप हो गये, जब आश्रयकी अपेक्षा हुई तब राम स्वामी हो गये, जब अपने पापोंके हरणकी याचना हुई तब राम मुक्तिदाता हो गये, जब उन्हें भवसागरमें मार्ग खोजनेमें सन्देह हुआ तब राम अन्तिम सत्य

हो गये। तुलसीने अपने भावसे रामकी उपासना की। उनमें दो भाव प्रधान हैं : आश्रयकी भावना, तथा नैतिक संस्कार। अकेले वे ही 'अनाथ' तथा 'अभागे' नहीं थे, किन्तु प्रतीक भाषामें तो उनके युगकी प्रजा भी अनाथ और अभागी थी। तुलसीने मानवीय तनाव-खिंचावोंको नयी धार्मिक-सम्बन्धात्मकतासे रूपान्तरित कर दिया है जिनमें दास्य भावकी प्रधानता है। जगत् तथा माया सम्बन्धी अवधारणाओंको तो शांकर चेतनासे ग्रहण करते हैं, लेकिन अवतार और भक्तिकी धारणाओंमें मानवतावादी हो जाते हैं। यह उस युगका भी दोहरापन था जिसमें प्रथा तथा समसामयिकताके मेलकी अनुभववादी कोशिश है। इस सन्दर्भमें हम तुलसीमें ताप ( सफ़रिंग् ) और पाप ( सिन ) की भावना-की व्याख्या करेंगे। धार्मिक हितों तथा ताप-पापके सम्बन्धोंकी जटिलता समाजशास्त्रीय गुत्थी है। यह संकीर्ण आत्महितका उतना परिणाम न होकर मध्ययुगीन मानवके सामूहिक अवचेतनका प्रतिफलन है। 'आधुनिक व्यक्तित्व-सिद्धान्त' के अनुसार यह जीवनकी समस्याओंके प्रति व्यक्तित्वका अभियोजन है। एक ही सम्प्रदायमें एक ही संस्कृतिमें पोषित तथा एक ही परम्पराकी विरासत लिये हुए दो व्यक्तियोंका अभियोजन ( ऐडजस्टमेण्ट ) पृथक्-पृथक् हो सकता है क्योंकि उनके आरम्भिक जीवनके परिवेश अलहदा होते हैं। सन्तोंमें आत्मशंका तथा चिन्ता अधिक थी। इसके बोझके कारण उन्हें जीवनकी त्रासदी और भग्नाशाने औसत सामाजिक चेतनासे अधिक पीड़ित किया। कबीरमें कटुताकी अधिकता है, किन्तु तुलसीने निराशाओं और भग्नाशाओंको, तथा अपनी और दूसरोंकी ग़लतियोंको, अपेक्षाकृत कम अन्तर्मुखी यन्त्रणासे झेला। इसलिए कबीरमें कटुताकी अधिकता और फलतः धर्मके नवीन जन्मका आह्वान है, तुलसीमें एक आशावादी धर्मकी संस्थापनाके प्रति अगाध विश्वास भी है। [1]अपराधका बोध प्रवृत्या 'सुरक्षा' एवं 'चिन्ता' की अनुभूतिसे जुड़ा है। यह केवल बहिर्गत लक्ष्योंसे सम्बद्ध नहीं है। तुलसीमें 'चिन्ता' की अधिकताकी वजहसे सामाजिक अपराधके प्रति बेहद जागरूकता है, वे लोगोंके छोटे-छोटे नैतिक स्खलनों—अपराधों और पापोंके प्रति असहिष्णु हैं। वे व्यक्ति रूपमें भी हिन्दू मानव सम्प्रदायके साथ तादात्म्य कर लेते हैं। फलतः दूसरोंकी पीड़ाएँ और भग्नाशाएँ भी वे ओढ़ लेते हैं तथा अपनी बना लेते हैं। इसी क्रममें वे वैरागी हो जाते हैं। इस प्रकारके, धार्मिक अनुभव 'रुग्ण आत्मा' ( सिक् सोल ) के धर्म कहलाते हैं। तुलसीमें अरक्षा और चिन्ता दोनोंकी अधिकता रही है। सूर अपेक्षाकृत सुरक्षित रहे हैं। अतः वे यत्र-तत्र नैतिक मोड़ोंके प्रति भी सहनशील

१. विलियम जेम्सने धार्मिक अनुभवोंके प्रभेदोंमें यह धारणात्मक चर्चा की है।

हैं। उनका अनुभव 'स्वस्थ मानस बोध' का धर्म कहा जा सकता है। इसलिए सूर जीवनको अधिक आशावादी दृष्टिसे देखते हैं। लेकिन 'पीड़ित आत्मा' मानव-अस्तित्वके श्याम-पक्षोंपर मँडराती है और पापोंको अधिकसे अधिक बड़ा बनानेकी आदी होती है। तुलसीकी जीवन दृष्टिमें एक द्वैत है। रामवृत्त ( रामकथा, रामगुण, रामनाम ) के अन्तर्गत वे अत्यन्त आशावादी हैं, लेकिन अपने समकालीन समाजवृत्त ( कलिकाल ) के अन्तर्गत वे घोर निराशावादी और भग्नाशावादी हैं। अन्ततोगत्वा बचपनके अभागे और अनाथ तुलसी समाजकी अरक्षा और चिन्ताके अनुभवोंमें तिरोहित हो जाते हैं। इस त्रासदीको प्रकट करनेके लिए उस मध्यकालीन चिन्तकके पास तीन अवधारणाएँ हैं : ताप, पाप एवं शाप। इस तापका एकमात्र निरास है मोक्ष। मैक्स वेबरने प्रत्येक वर्गके अनुसार ताप और मोक्ष ( सफ़रिंग् एवं सैल्वेशन ) के अपने-अपने धार्मिक अर्थ प्राप्त किये हैं। हिन्दू मध्यकालीन चिन्तनमें ताप या तो किसी दैवी 'शाप' का अथवा किसी गोपनीय या पूर्वजन्मके 'पाप' का लक्षण है। जब तापका आदर्शीकरण हुआ, तब वह 'तप' में रूपान्तरित हो गया। वस्तुतः यह भौतिक पराजयको धार्मिक विजयमें बदलनेका उपक्रम है। मध्यकालीन सनातन हिन्दू धर्म ब्राह्मणोंकी जीवन-शैली—उनके संन्यास और पौरोहित्य—से बेहद प्रभावित है। तुलसीने ब्राह्मण जातिके आधारपर 'मनुष्यकी प्रकृति' का, तथा निवृत्तिमार्गके आधारपर 'पापकी समस्या' का दृष्टिकोण रचा है। इन दोनों आधारोंने ही मर्यादावादी धार्मिक परम्पराको ढाला है। इसी आधारपर ताप और मोक्षके अर्थोंका परम्परागत विस्तार हुआ है। अतः रामवृत्त 'मोक्ष' का तथा कलिकालवृत्त 'ताप' का निरूपक हुआ है।

प्रत्यज्ञानवादी फ़िनॉमिनल जगत्के बाबत तुलसी दो जीवनदृष्टियोंका समर्थन करते हैं। पहली दृष्टिके अन्तर्गत वे शंकरकी अद्वैतवादी ज़मीनपर खड़े होकर इस संसारको मिथ्या बताते हैं तथा मनुष्यका अन्तिम सत्यको प्राप्त करना मानते हैं जो ब्रह्मन्-आत्मन् है। इस दशामें 'आत्माके शुभ' की प्राप्ति होती है: आत्मा ब्रह्ममें ( शंकरके सिद्धान्तकी तरह ) विलीन न होकर अपना अस्तित्व बनाये रखती है ( सगुण-सिद्धान्तके अनुरूप )। इस जगत्से मुक्ति मिल जाती है इस आधारपर जगत् निर्विकल्प नहीं है। यद्यपि वास्तविक समय-चक्र प्रवर्तित होता रहता है, फिर भी जगत् वास्तविक नहीं है। वास्तविक है आध्यात्मिक जगत् ( ? ) इस भाँति भौतिक जगत् और आध्यात्मिक जगत्में-से पहला माया या भ्रम, और दूसरा ज्ञान या सत्य मान लिया गया है। इसलिए यह जगत् और मानव जीवन, दूसरे जगत् और दूसरे जीवनके मात्र साधन हो गये। यह इस

जगत् और निराशावादसे पलायन करके सुरक्षामय एक मानसिक जगत्की निर्मिति है, यह निराशावादको एक दर्शनके रूपमें स्वीकार करनेका क्रम है। धर्मशास्त्रोंमें इस जगत्की वास्तविकताके बाबत यह नज़रिया नहीं मिलता। उनमें मनुष्योंको धर्म-अर्थ-काम-साधनाका आदेश है ( विष्णुधर्मशास्त्र )। धर्म-शास्त्रों व पुराणोंके जागतिक दृष्टिकोणके समानान्तर ही सांख्य, वैशेषिक, न्याय और मीमांसामें आध्यात्मिक धरातलपर यह एक अन्य जागतिक दृष्टिकोण भी प्रवहमान था। समुद्रगुप्तके समयमें यह हास-हर्ष शृंगार-दुःख-कलावाला संसार चक्रवर्तित साम्राज्यकी तरह ही यथार्थ था। किन्तु कालान्तरमें यथार्थ भ्रममें अवनत हो गया। यह माना गया कि यथार्थ या सत्य एक है, ब्रह्म एक है; लेकिन यह जगत् विविधताओंसे भरा है, परिवर्तनशील है तथा क्षणभंगुर है। इसलिए यह माया या भ्रम है। तुलसीने भी जगत्को नाशवान् ( रावणकी मन्दोदरीको सीख—'मानस' ) मायारचित, मिथ्या, असत् और दुःखकारी ( विनयपत्रिका, १२० ) माना। इसके भ्रमको स्पष्ट करनेके लिए उन्होंने जगत्को 'वृक्ष' ( जिसकी भेदबुद्धि जड़ है, भयरूपी काँटे हैं, दुःख फल है ), 'चित्र' ( रंगहीन मायावी रचना, दुःखदायी, मृगतृष्णापूर्ण, निराकार कलिकाल-द्वारा ग्रसित ), 'सागर' (भवसागरके पार जाना) के रूपक-प्रतीकोंसे प्रकट किया ('विनयपत्रिका,' क्रमशः पद सं० २०२, १११, १२३ )। उनके सामने इस धरतीपर मृत्युकी समस्या और सामाजिक व्यवस्थाकी असफलताओं तथा भग्नाशाओंको समझनेका यही एक बौद्धिक समाधान था कि वे एक अदृश्य यथार्थकी परिकल्पना करें। जिस सांस्कृतिक-व्यवस्थामें शंकर या तुलसी या कबीर हुए उसने धरतीकी असफलताओं और भग्नाशाओंकी अपनी परिभाषाएँ भी तो रचीं। माया, भ्रम, मृगजल, पाप, क्लेश आदि इनकी धार्मिक परिभाषाएँ हैं। उन्होंने भी तो यही देखा था कि जो धर्मप्राण हैं और समाजके यम-नियमोंका पालन करते हैं, उन्हें सुख और आनन्द नहीं मिलता। इसके विपरीप वे ताप भोगते हैं, असफल होते हैं; और 'हरिविमुख' सुखी और समृद्ध हैं। तुलसीने एक पैना सवाल खींचा : मनुष्योंको ताप ( भौतिक, दैहिक, दैविक ) क्यों हैं ? इस जगत्में आखिर पाप क्यों है ? इस पहेलीका आध्यात्मिक उत्तर उन्होंने खोज लिया—सारी मध्य-कालीन संस्कृतियोंके पास एक-जैसा ही उत्तर था : इस संसारको सत्य और सुखरूप मानना भारी भ्रम है। यह भासित होता है सत्य, लेकिन है मिथ्या। उन्होंने जगत्के द्वन्द्वात्मक स्वरूपका इसी तरहका अन्वेषण किया। जिस तरह रस्सीमें साँपका भ्रम होता है, सीपमें चाँदीका भ्रम होता है, सूर्यकिरणोंमें पानी-की प्रतीति होती है, स्वप्नमें वास्तविकताका भ्रम होता है, उसी तरह यह

जगत् भी भासित होता है। इस अवस्था तक पहुँचनेपर सुख, सम्पत्ति, परिवार, धरती, धन, घर, नगर आदि सभीके मूलमें 'मोह' मान लिया गया। यह मोह विकार हो गया। यह सारा द्वन्द्व मायारचित मान लिया गया। इस जगत्का व्यापार परमार्थ नहीं माना गया ( मानस, ४।६।८-९)। इस तरह जगत्को मायासे ढाँककर और मनुष्यको मोहसे लपेटकर मध्यकालीन बौद्धिक चिन्तनने समाजकी विषमताओंका विश्लेषण किया। 'माया' और 'मोह' को काटनेके विधान भी प्रस्तुत हुए, और वे 'ज्ञान' तथा 'वैराग्य' हुए। जगत् तिसपर भी क़ायम रहा। इसलिए तुलसीके युगने इसे रामकी शक्ति घोषित किया। मायाके साथ-साथ मोह भी ईश्वरलीला बना दिये गये—इस धरतीके लिए। जब मनुष्य और ईश्वरका परस्पर विभावानुभाव हो जाता है, जब मनुष्य आत्मसाक्षात्कार या भगवदनुग्रह प्राप्त कर लेता है""तब इस जगत्के 'वास्तविक' अर्थात् मिथ्या-स्वरूपका ज्ञान हो जाता है। क्योंकि ब्रह्म और जीव तत्त्वतः एक ही हैं, बीचमें जगत् और शरीरके व्यवहार हैं, इसलिए जगत् और शरीरके 'माध्यम' ( मीडियम ) को नियन्त्रित किया जा सकता है। यह नियन्त्रण केवल राम-कृपा और राम-भक्तिके द्वारा ही हो सकता है। जगत्को मिथ्या स्वीकार करते हैं; और मुक्तिसे भक्तिको श्रेयस्कर मानते हैं। भक्तिधारामें यह उनके अपने दृष्टिकोणका विकास है।

इसी कड़ीमें 'माया-मोह' तथा 'ज्ञान' की अवधारणाओंकी मीमांसा कर लेना संगत होगा।

मध्यकालीन चिन्तनधारा-द्वारा जगत्को मिथ्या मान लेनेपर भी जगत् एक हक़ीक़त बना रहा। जगत्में 'पाप' ( ईविल ) थे, ताप ( सफ़रिंग् ) थे; पापी सुखी थे और साधु दुःखी थे। इसलिए अलौकिक जगत्की कल्पनाने सहायता की। यह मान लिया गया कि वर्तमान जीवनके सुख-दुःख एक पूर्ववर्ती जीवनके पुण्य-पापका परिणाम हैं और वर्तमान जीवनके कर्म आगामी जीवनके सुख-दुःख-का परिणाम होंगे। इस भाँति पूर्वजीवन-उत्तरजीवनकी धारणाओंवाले 'कर्मचक्र-सिद्धान्त' की जड़ें मज़बूत हुईं। अब बुनियादी सवाल यह रह गया कि इस जन्म-मरणसे मुक्ति कैसे मिले ? इसके लिए 'मोक्ष' की अवधारणाका पोषण हुआ। यह एक आध्यात्मिक सवालसे अधिक समाजशास्त्रीय समस्या है कि एक समाजमें विभिन्न समूह पाप और मोक्षकी कौन-कौन-सी व्याख्याएँ करते हैं। किस तरह वे मोक्षको अर्थपूर्ण और सन्तोषपूर्ण मान लेते हैं ? किन सामाजिक परिस्थितियोंमें मोक्ष अधिक बलवान् हो जाता है ? भारतीय मध्यकालीन

चिन्तकोंने संसारको पापपूर्ण माना, किन्तु यह भी स्वीकार किया ( शंकरसे अगले क़दमके रूपमें ) कि पापमुक्त हुआ जा सकता है। वर्तमानके प्रति वे निराशावादी बने रहे लेकिन मरणोत्तर भविष्यके प्रति आस्थावान्। ईश्वरको समर्पित करके मनुष्यको पापों और तापोंसे संघर्ष करते रहना है, चाहे अन्तिम सफलता इस धरतीपर न मिलकर परलोकमें मिले। मध्यकालके आशावादी धार्मिक संघर्षका यह एक रूप है जो तुलसीमें 'मानस' तथा 'विनयपत्रिका' में अधिकाधिक प्रखर हुआ। एक-दूसरा रूप यह भी है कि इस मृत्युलोक अर्थात् पृथ्वीमें मनुष्यकी क़िस्मतमें पाप और ताप बदे हैं। उनसे मुक्तिका रास्ता केवल संसारको अस्वीकार करनेमें और जीवनसे विरक्त होनेमें है। तुलसीमें यह रूप भी है। मोक्ष प्राप्त करनेकी विधियाँ ही मध्यकालीन ज्ञान-मीमांसाकी तीन दिशाओंको प्रकट करती हैं। मोक्ष भक्तिमार्गसे, ज्ञानमार्गसे तथा कर्ममार्गसे हासिल हो सकता है। तुलसीने भक्तिको प्रमुख तथा ज्ञानको अप्रमुख मार्ग माना है क्योंकि उनके चारों ओरका समाज वैरागियों, सन्तों और विद्वानों ( सिद्धों ) का न होकर गँवार ग्रामबालाओं ( कृष्णगीतावली ५३ ) किसान-गृहस्थों और साधारण ( विषयी और साधक ) जनोंका था। भक्तिमार्ग ज्ञानी-योगियोंके लिए न होकर मुख्यतः अशिक्षित जनोंके लिए है। तत्कालीन परि-स्थितियोंमें जगत्से विरति या जगत्की स्वीकृति, दोनोंके मूलमें युद्ध, अत्याचार तथा दमनका जो बोलबाला रहा है उससे सशक्त ( सवर्ण ) और अशक्त (शूद्र) दोनों ही प्रपीड़ित रहते हैं। इसलिए एक धारणा घर करती जाती है कि मूलतः मनुष्य ( समाज-व्यवस्था या सत्ताधारी नहीं ) ही 'पापी' है। 'पापी' मनुष्यका उद्धार केवल ईश्वर ही कर सकता है, और इस धरतीपर उसकी सुख-शान्ति तथा ख़ुशहालीकी आकांक्षाएँ नहीं पूरी हो सकतीं। इसलिए ही मध्यकालके सगुण अवतारवादी राम भूमि-हेतु, ब्राह्मण-हेतु, भगत-हेतु तथा देव-हेतु मनुष्य-शरीर धारण करते हैं। वे भू-भार-हरण और देवशत्रुओंका वध करते हैं। काला-न्तरमें उनकी 'रक्षा' के हेतुके साथ 'रंजन'-हेतु जुड़ा, और बादमें 'रसास्वादन'-हेतु भी जुड़ गया। तुलसीने भगत-हेतु और ब्राह्मण-हेतु नामक दो नये हेतु जोड़े, तथा रक्षापर अधिक ज़ोर दिया। यों उन्होंने रक्षा-रंजन-हेतुओंका काव्य-गान किया है। राइनहोल्ड नाइबूह्रने विभिन्न समाजोंमें मोक्षकी धारणाका विवेचन करते हुए लिखा है कि "यह वस्तुतः इतिहासमें निर्विकल्प ( अवतार-ऐब्सोल्यूट ) के अकस्मात् अभ्युदयका फल है जिसमें अन्तिम विजयपर विश्वास है। विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग ईश्वर और प्रकृतिका, यथार्थ और आदर्शका तादात्मीकरण कर देता है क्योंकि वे तत्कालीन समाजकी बर्बरताओंसे इतना

पीड़ित नहीं होते जितना कि निचले लोग। इसलिए वे इतिहासका महानाश-मूलक दृष्टिकोण नहीं अपनाते।[1] तुलसीने मध्यकालीन मोक्ष-कल्पनामें मुक्तिके बजाय भक्तिकी प्रजातान्त्रिक प्रतिष्ठा की; उन्होंने जगत्को दुःखमय माना ( मानस, ७।४०।१-३ ), किन्तु यह भी कहा कि संसारमें दरिद्रताके समान दुःख नहीं है ( मानस ७।१२०।७ )। उनकी मुक्ति शारीरिक तथा आध्यात्मिक दुःखसे मुक्ति थी जिसमें पीड़ासे 'सुरक्षा' ( जो सामयिक भोग-विलासकी वस्तुओंकी देन है ) तथा 'उच्चतर आनन्द' ( एक या दूसरे स्वर्गमें पुनर्जन्मसे मुक्ति ) प्राप्त होंगे। वे भी इस 'मायाकृत' एवं 'भासमान' संसारसे पूर्ण बिदाको ही साध्य मानते हैं किन्तु साधर्म्य तथा सायुज्य मुक्तिके बजाय रामवृत्तमें सामीप्य तथा सालोक्य मुक्तिसे ही अधिक प्यार करते हैं। उनमें अद्वैतवादी तथा वैष्णव, जीवनदृष्टियोंका योग है जो सामरस्य नहीं पा सका। इसे उनके सन्त और साधारण मनुष्यका एक अन्तर्विरोध ही कहा जा सकता है। वस्तुतः यह हिन्दू इतिहासवाद ( हिस्टोरिसिज़्म ) का दर्शन भी है।

इस भूमिकापर माया धर्मके 'है-पन' ( इज़-नेस ) के साथ जुड़ी है, जब कि ज्ञान और भक्ति एक ही अन्तःश्रेणी ( कैटेगॅरी ) हो गये हैं। ज्ञान क्रमशः नैतिकताके 'चाहिए-पन' ( ऑट-नेस ) से सम्बद्ध है। मायामें यथार्थता और भ्रम ( रियैलिटी ऐण्ड इल्यूज़न ) के वाद-विवादकी व्याख्या हुई है। तुलसीका वैष्णव मायावाद शंकरके अद्वैतवादसे भिन्न भी है। माया ईश्वरकी त्रिगुणात्मक शक्ति है जो विविध प्रकारके चराचर जीवोंकी सृष्टि करती है। इस भाँति मनुष्यका शरीर ( पंचभूत ) और संवेग ( मनोविकार ) मायाकी देन हैं। सारांशमें पदार्थ (मैटर) और जीवन ( लाइफ़ ) मायाके तत्त्व हैं, जब कि ज्ञान (मस्तिष्क) और आत्मा क्रमशः मायाके उदात्त रूप और ब्रह्माके अंश हैं। इस भाँति 'पदार्थ शरीर ( माया )— जीवन ( माया )–मस्तिष्क ( मायाका सात्त्विक रूप )— आत्मा ( ब्रह्मका अविनाशी रूप )' की एक कड़ी पूरी हो जाती है जो जगत् और ब्रह्म, दोनों अन्तःश्रेणियोंमें गुँथी है। मायापर ईश्वरका नियन्त्रण है और अभिमानी जीवपर मायाका। ज्ञान-मीमांसाका कार्य यह है कि वह जीव और ईश्वरके आध्यात्मिक सम्पर्कको जोड़ दे अर्थात् बीचके भौतिक माध्यम ( संवेगात्मक माध्यम ) मायाका नाश कर दे। जीव एवं ईश्वर सहज संघाती हैं। जीव ब्रह्मका अंश है ( ईश्वर अंस जीव अविनासी ); अतः चेतन, अमल और सुखराशि है। माया उसे ब्रह्मके विशेषत्वसे अलग करके जड़के

---

१. राइनहोल्ड नाइबूह : 'मॉरल मैन ऐण्ड इम्मॉरल सोसायटी', पृ० ६२।

विशेषत्वसे जोड़ देती है। अतः मूल प्रश्न है, मायाकी प्रकृतिकी पहचान और उसकी शक्तिपर क़ाबू पाना।

वस्तुतः यह माया भी ईश्वरकी ही शक्ति है; उसके वशमें है। हममें हमारे अहं ( मैं ), अधिकार ( मेरा ), पार्थक्य ( तेरा ), सम्बन्ध ( मैं-तू ) आदिका सामाजिक तथा भौतिक बोध माया है ( अरण्यकाण्डमें राम लक्ष्मणको यह बताते हैं )। अन्तिम लक्ष्य है इस द्वन्द्वकी समाप्ति और पुनः जीवका केवल ईश्वरसे सम्बन्ध। इसलिए पदार्थ और जीवनको माया माना गया, तथा जीवात्माको सत्य। पदार्थ पंचतत्त्वसे बना शरीर है जो पीड़ा, रोग और मृत्युसे जर्जर है। जीवन गुणात्मक है जो राग-द्वेष अर्थात् मानवीय चेतनाका विस्तार है। जगत् और शरीर और जीवन मायाकृत हैं। मायाके प्रति यह एक दुःखवादी और निषेधात्मक दृष्टिकोण है जिसमें जगत्के विलास और दरिद्रताकी सामग्री, तथा जीवनके सुख और दुःख दोनोंको ही मिथ्या मान लिया गया। यहाँ सच्ची खुशहालीकी परिभाषाकी खोज है। सच्ची खुशहाली ( हैपीनेस ) इस जगत् और जीवनमें न प्राप्त होकर अन्तिम लक्ष्य ईश्वरमें निहित है। मानवकी यह प्रकृति मान ली गयी कि वह दैवी शुभ और अन्तिम हेतु ईश्वरकी ओर उन्मुख है। लौकिक शुभ तो केवल क्षणिक मृगतृष्णा है। लोकका जो यह स्वरूप दिया गया वह तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियोंके कारण 'तापों' और 'पापों'से ही परिपूर्ण मिला। फलतः चरम खुशहालीके लिए इस जीवन एवं जगत्की खुशहालीको माया बना दिया गया। जब चारों ओर समाजमें यातना, दमन, दरिद्रता, चिन्ता और अरक्षा फैली हो तब मायाका रूप भी ( दुष्ट जगत् ) ही होगा। यह माया न तो वरुणकी शासन-शक्ति होगी, न इन्द्रका कुटिल कौशल, न शंकरका मात्र आभास। बल्कि यह एक नैतिक मनुष्यकी दृष्टिसे एक अनैतिक समाजकी आलोचना होगी। यह माया पूर्णतः झूठी भी नहीं हो सकती। क्योंकि जगत्, शरीर और जीवन उपस्थित हैं। इसलिए मायाके दो भेद बने। पहला भेद विद्या-मायाका है। यह माया प्रभुसे प्रेरित है, जगत्की रचना करती है। इसका अपना कुछ बल नहीं है। इसके वशमें गुण हैं तथा यह पंचतत्त्व एवं शरीर बनानेवाली है। यह तटस्थ अनुशासित सृजनात्मक हेतु है। दूसरी माया अविद्या-माया है जो सक्रिय द्वन्द्वात्मक हेतु है। यथार्थ जगत्के कटु अनुभवोंने इस मायाको दुष्ट, दुःखरूप, जीवको संसारकूपमें डाले रखनेवाली तथा मनुष्यके सभी संवेगोंको तनाव-खिंचावकी ओर ले जानेवाली पाया। सारांश यह है कि हमारे विशिष्ट व्यक्तित्व और पतित जगत्की भूमिकाएँ अविद्या हैं। यहाँसे शरीरपर कम बल देकर कुछ मनोविकारोंको मायाके साथ जोड़ दिया गया है।

अविद्या-मायाके सर्वप्रधान अंग काम-क्रोध और लोभ माने गये हैं। मूलमें राग तथा द्वेष हैं। रागसे काम और लोभ, तथा द्वेषसे क्रोध उत्पन्न होते हैं। इस तरह काम, क्रोध और लोभ ये तीन संवेग माया माने गये। कामका साधन है नारी। अतः नारी एकदम माया-रूप हो गयी। क्रोधका साधन है परुष वचन ( ईर्ष्या, असूया, हिंसा, अमर्ष आदि )। लोभका साधन है इच्छा और दम्भ। तुलसीने साधक और विषयी मनुष्यों ( जीवों ) अर्थात् सामाजिक दृष्टिसे जागरूक और साधारण जीवनमें लिप्तलीन मनुष्योंके व्यक्तित्वोंकी मनोवैज्ञानिक ( निषेधात्मक ) रचना इस प्रकार की है। इनका उद्गम अज्ञान माना गया। इस व्यक्तित्वका रेचन और शुद्धीकरण तीन प्रकारसे हो सकता है : ( १ ) अहंके प्रति अनासक्ति ( वैराग्य ); ( २ ) अहंको मिथ्या समझना ( विवेक ); या ( ३ ) उसे ईश्वरकी ओर लगा देना ( भक्ति )। तात्पर्य यह है कि काम-क्रोध-लोभ-प्रेरित कर्मोंका उद्गम स्वेच्छा न होकर अज्ञानता होती है, और नैतिक निर्णयके अनुसार अज्ञानताके कर्म दुःखदायी होते हैं। तुलसी अन्ततोगत्वा माया-को मानुष कर्मोंके केन्द्रमें ला देते हैं जिनके प्रयोजन और साधनोंकी छानबीन भक्ति, ज्ञान आदिकी अवधारणाओंमें करते हैं। वे काम, क्रोध तथा लोभसे निःसृत कर्मोंको मानवोचित अतः नैतिक शुभ नहीं मानते। इन्हें वे विवेकशील मनुष्यके कर्म न मानकर पशु या नैतिक मनुष्यके कर्म मानते हैं। सारांशमें, पवित्रतावादी दृष्टिकोणके अनुरूप तुलसी नैतिक जीवनसे काम, क्रोध और लोभको ग़ैरक़ानूनी घोषित कर देते हैं। वस्तुतः नीतिशास्त्रमें रागों और संवेगोंका विभाजन ऐन्द्रिक वस्तुके पाप तथा पुण्य, शुभ तथा अशुभके मसलेसे जुड़ा रहता है। जो शुभ ( श्रेय ) की ओर उन्मुख हों, नीतिशास्त्रको वही संवेग स्वीकार हैं। नीतिशास्त्र कुछ संवेगोंके शुभ-अशुभके मानदण्ड देता है। शुभ वस्तुके प्रति आसक्ति 'प्रीति' है, शुभ वस्तुके प्रति उन्मुख होना 'कामना' है, शुभ वस्तुकी उपलब्धि 'आनन्द' है। इसी तरह अशुभ वस्तुके प्रति विरक्ति 'घृणा' है, उससे असम्पृक्ति 'द्वेष' है और उसकी उपलब्धि 'दुःख' है।[1] इस भाँति तुलसीने जगत्को माया कहकर जितनी अधिक निषेधात्मक पक्षता जतायी है उतनी ही मनुष्यकी प्रकृतिके निर्धारणमें मायाको सीमित करके स्वीकारात्मक दृष्टि भी जतायी है। मायाकी व्याख्याके लिए उन्होंने दो मध्यकालीन रूपक-प्रतीक लिये हैं। माया नाचनेवाली 'नटिनी' है, नारी रूप होनेके कारण 'अबला' और 'जड़' है ( मानस ७।११४ )। इसलिए यह नटी जगत्में एक 'नाटकीय भ्रम' उत्पन्न

---

१. गिल्बर्ट मेर : 'प्रॉब्लेन्स इन एथिक्स'।

करती है। जगत्के मनुष्योंको अपने खेलसे बाँध लेती है। किन्तु जो मायाके इस अभिनयको जान जाते हैं उनसे वह सकुचा जाती है। दूसरा प्रतीक है 'लीला' का। यहाँ 'सच्चिदानन्दघन' भगवान् स्वयं तो मोहरहित हैं किन्तु वह अपने ही अंशों अर्थात् जीवोंके साथ 'लीला' करते हैं। जिस लीलासे जीवोंपर बन्धन पड़ते हैं वह माया है। इसलिए इस 'नाटकीय भ्रम' ( ड्रैमेटिक इल्यूज़न ) को नटी माया और सूत्रधार लीलाधर भगवान् दोनों फैलाते हैं। इसका नतीजा दुःख और बन्धन होता है। जब भगवान्भी जीवोंको नचानेवाली 'लीला' करता है तब नियतिके साथ-साथ भाग्य भी जुड़ जाता है। इस प्रकार मनुष्यके कर्म पूर्वनिश्चित हो जाते हैं, संकल्पकी स्वतन्त्रता लुप्त हो जाती है तथा नैतिकता ( शुभ और कल्याणके लिए प्रयत्नोंका ) निषेध हो जाता है।

इस द्वन्द्वात्मक पीठिकापर तुलसी एक ओर तो कर्म-सिद्धान्तकी भाग्यवादी परिणति स्वीकार किये हुए हैं ( क्योंकि वर्तमान मनुष्य पूर्वजन्मके पाप-पुण्योंका मात्र भोक्ता रह जाता है ), तो दूसरी ओर जीवनके अन्तिम लक्ष्यको ईश्वरका ज्ञान बताकर इस जगत्में धर्म, योग, ज्ञान और भक्तिके मार्गोंकी तुलना करते हैं। उनके अनुसार धर्मसे वैराग्य, योगसे ज्ञान और ज्ञानसे मोक्ष मिलता है; लेकिन भक्तिसे भक्तोंको सुख मिलता है और इससे ईश्वर शीघ्र प्रसन्न होता है ( मानस ३।३४)। इस तरह मध्यकालमें इस जगत्में दुबारा न आने अर्थात् पुनर्जन्मके संसारसे बाहर निकल जानेकी, तथा दैवी पारमार्थिक सत्तासे ऐक्यके मार्गोंकी छानबीन शुरू हुई। यह जगत् मिथ्या, दुःखपूर्ण और मोहपूर्ण था। एक नये निर्विकल्प लोक ( वैकुण्ठ ) की खोज वैराग्य, ज्ञान तथा भक्ति-द्वारा हुई। वैराग्यवानोंको तो स्वयं समर्थ माना गया। अतः मूल चुनाव ज्ञान और भक्तिके बीच हुआ।

यह ज्ञान-मीमांसा नैतिककी अपेक्षा धार्मिक और आध्यात्मिक अधिक है। यह ज्ञान व्यावहारिक तर्कशील ( रीज़न ) पर बल न देकर स्पेक्युलेटिव ज्ञानपर बल देता है। इसमें शुभ कर्मोंके चुनावका विवेक, तथा संसारके प्रति एक वैराग्यमूलक दृष्टिकोण अपनानेका आग्रह है। इस ज्ञानकी वर्गीय चेतना ब्राह्मण जातिकी जीवन-शैलीपर आश्रित है। तुलसी ज्ञान तथा भक्तिके प्रयोजनमें मौलिक अन्तर तो नहीं मानते ( उभय हरहिं भवसंभव खेदा ), लेकिन भक्तिको 'प्रेयान्श्रेय' सिद्ध करते हैं। यहाँ वे विश्लेषकके बजाय तुलनाकार हैं। कर्ममार्गको वे – धार्मिक सक्रियताकी दृष्टिसे – वैदिक परम्पराके यज्ञसे जोड़ देते हैं और ज्ञानको योगके यम-नियम-ध्यान-समाधि आदिसे। निष्काम कर्मको वे भी स्वीकार करते हैं। तुलसी भी कर्मको ज्ञानके सम्मुख अर्थहीन मानते हैं ( दार्शनिक स्तरपर )

क्योंकि वे अविद्याके जनक हैं। वे भी चित्तशुद्धिपर बल देते हैं। इस तरह मध्यकालमें सामाजिक और सांसारिक कार्य तथा श्रम हेय माने जाने लगे। यही प्रवृत्ति घोर पतन और जड़ता और निष्क्रियताका कारण बनी जिसने सामाजिक चेतना और प्रगतिके बोधको पनपने ही नहीं दिया। उत्तरवर्ती भारतीय मुग़ल मध्यकालमें यह व्याधि-सर्वव्याप्त हो गयी थी। प्रवृत्तिमार्गको पतनका, तथा निवृत्ति मार्गको उत्थानका मानदण्ड मान लिया गया। धार्मिक नेतृत्व तथा सांस्कृतिक परम्परा कुछ ऐसी ही हो गयी थी। कर्मसिद्धान्तने तो हिन्दू परम्परा-की पुनर्व्याख्याको ही असम्भव बना दिया। इन परिस्थितियोंमें ज्ञान मात्र ब्रह्म-ज्ञान ही रह गया। नैतिक क्षेत्रमें यह वर्णाश्रमधर्म पालनमें रूपायित हुआ। तुलसीने अपने समकालमें ज्ञानकी ऐसी सूक्ष्म परिणतिको लोक-श्रेयः नहीं माना। उन्होंने यही परम्परा मंजूर की कि धर्मके आचरणसे वैराग्य तथा योगसे ज्ञान होता है, और ज्ञान मोक्ष प्रदान करता है ( मानस, ३।१५।१ )। ज्ञानकी स्थिति वहाँ है जहाँ मान, संशय और मिथ्या ज्ञान नहीं है; जो सबमें समान रूपसे ब्रह्मको देखता है। सारांश यह है कि मायाके आवरणको विच्छिन्न करके जीवन और ईश्वरका परस्पर अवबोधन ज्ञान है। यहाँ आत्मरति, आत्मक्रीड़ा और अखण्डानन्दकी स्थिति है। तुलसी इस ज्ञानमार्गको दुर्लभ, कठिन साधनमय और मात्र परलोक-सुखदायक मानते हैं।

इसकी तुलनामें वे भक्ति रखते हैं। ज्ञान-प्राप्ति वैराग्यशील तथा विज्ञानी ही कर पाते हैं, लेकिन भक्ति सर्वजन-सुलभ है। भक्तिमार्ग सुलभ, सुखद तथा इहलोक-परलोक दोनों लोकोंका साधक है। ज्ञानसे जो परमपद अतिदुर्लभतासे मिलता है वही भक्तिसे आसानीसे मिल जाता है। तुलसी भक्तिको सुख देने-वाली, इस लोकका भी सुख देनेवाली, ज्ञानविज्ञानादिके आलम्बनसे स्वतन्त्र मानते हैं। अतः भक्तिको ज्ञानसे, तथा भक्तको विज्ञानीसे श्रेष्ठ मानकर तुलसी मानवीय संवेगोंके उदात्तीकरणका सरल आख्यान करते हैं। वे ज्ञानको भक्तिके बिना शोभित तथा पूर्ण नहीं मानते, और भक्तिके 'प्रेमानन्द' को 'ब्रह्मानन्द' से श्रेष्ठ बताते हैं। यह उनकी मौलिक जीवनदृष्टि है जिसने वैराग्यमें भी श्रेयस् रागका, निवृत्तिमें भी प्रवृत्तिका अनुपम संयोग किया। मध्ययुगीन वैष्णवताको जनरूप देनेमें उनकी महत्तम पेशक़दमी रही है—सिया-राममय सब जग जानी। पहले वे ज्ञानके द्वारा प्रतीति कराते हैं किन्तु मोक्षके चरम मूल्यसे कतराकर प्रतीतिसे प्रीतिकी ओर चले जाते हैं। 'इस भाँति भक्तिका आधार प्रीति हो जाती है।' आख़िर इस भक्तिने किन सामाजिक सम्बन्धोंको उदात्त बनाया? पहले तो भक्तिने 'ईश्वरके सामने सभी जीवोंकी समानता' घोषित की, यद्यपि

तुलसीमें समाजके सामने सभी वर्णोंकी असमानता लोकधर्म भी बनी रही। दूसरे, भक्तिने तत्कालीन वैयक्तिक सम्बन्धों ( मधुर ), पारिवारिक सम्बन्धों ( वात्सल्य ), तथा सामाजिक सम्बन्धों ( दास्य, सख्य ) के सूत्र इष्टदेवके साथ जोड़ दिये; और इस भाँति भक्तिका उद्धार एक ऐसे लोकमें हो गया जहाँ भगवान् ही पिता-माता, पति, सखा, भाई, स्वामी आदि हैं। भक्तिकी इस नयी सम्बन्धात्मकतामें एकका दूसरेमें पूर्ण लय या विलय स्वीकार नहीं किया गया। यह पारस्परिक प्रेममें बँधे हुए मनुष्य ( भक्त ) और अन्तिम आदर्श ( भगवान् ) की स्थूल-सूक्ष्म स्थितिको वास्तविक मानती है। भक्तिका लक्ष्य हरिके प्रति प्रेमोद्रेक कराना हो गया। इस भाँति 'सुख ( प्लेज़र ) को आनन्दमें रूपान्तरित करनेका कार्य भक्तिने किया। प्रेमा-उज्ज्वल रस-नैतिक मूल्यकी अन्तिम स्थिति हो गयी। यह एक प्रकारसे आध्यात्मिक सुखवाद ( स्पिरिचुअल हिडोनिज़्म ) जैसा दर्शन है। इसके अन्तर्गत भक्तके 'चरित्रकी विशुद्धता' पर सर्वाधिक आग्रह है। चरित्रकी विशुद्धताका अभिप्राय मनुष्यके गुणसे है जो अपने आवेगों ( राग-अनुराग ) को कर्तव्यभावके वशमें रखता है अर्थात् उसका कोई भी कार्य आकस्मिक न होकर कर्त्तव्यपूरक होता है। भक्तके चरित्रके अन्तर्गत अकुटिल मन, सरल स्वभाव और सन्तोष होना चाहिए। अपने सम्बन्धोंमें उसे अपने प्रियको पूर्णतः हृदयार्पण कर देना चाहिए। अतः यह सम्बन्धता भावप्रधान हैं जहाँ ब्रह्म भावालम्बन है। तुलसीने दास्य भावसे भक्ति की है और सेवक-भक्तके तीन पक्ष माने हैं: दीन, पतित तथा प्रणत। हम बता चुके हैं कि इन मनोव्यूहोंके मूलमें 'चिन्ता तथा अरक्षा' की अन्तर्बाह्य दशाएँ मौजूद थीं। लेकिन तुलसी इतने रोमाण्टिक नहीं हो सकते थे क्योंकि वे वेद-आगम परम्पराके अनुवर्ती हैं। अतः उन्होंने वैधी भक्ति, रागात्मिकता भक्ति और नवधाभक्ति तीनों; का प्रतिपादन किया है। उन्होंने उपास्यके नाम ( लीला ) तथा रूप ( धाम ) पर सर्वाधिक ज़ोर दिया है; रागात्मिकता भक्तिकी ग्यारह आसक्तियोंमें-से सभीको रामकथामें अन्तर्भुक्त कर लिया है तथा नवधाभक्तिके सभी चरणों ( 'मानस' में शबरीको नवधा भक्तिका उपदेश ) का संयोग किया है। उन्होंने भक्तिके सोलह सोपान भी गिनाये हैं ( विनय पत्रिका २०३ )। इन सभीपर 'प्रथा' और 'आस्था' की गहरी छापें हैं। यहाँ आस्था भक्तिकी अनन्यासक्ति हो गयी है। आस्थापर आज्ञानुगामिता सर्वाधिक आश्रित है। इसलिए तुलसीकी दास्य-भक्तिमें ही श्रद्धा-विश्वासकी शर्तें परमपूर्ण हो सकी हैं। भक्ति-रोमैण्टिक तुलसीको मर्यादावादी सन्त तुलसी भी रहना पड़ा है। इसलिए जो भक्तिमार्ग क्रम उन्होंने तय किया है वह प्रथावर्ती है: पहले ब्राह्मण चरण प्रीति, फिर वेद-रीति-

के अनुसार वर्णाश्रम-पालन, फिर विषयोंसे वैराग्य, फिर भागवत-धर्ममें प्रेम, फिर नवधा भक्तिमें दृढ़ता और अन्ततः भगवान्‌की लीलाओंके प्रति प्रेम, निष्काम भावसे भजन, गुणगानमें पुलक ( राम-द्वारा लक्ष्मणको आदेश–'मानस' ३।१५। १–६ )। यहाँ वेद-रीति और भागवतको नवधा रीति; ब्राह्मण-भक्ति और हरि-भक्ति, वैराग्य और आसक्तिका संयोग है, जो भाव और विवेक दो ऐतिहासिक धर्म-अवस्थाओं तथा दो सामाजिक सम्बन्धोंके संयोगका मिश्रण है। नवधा भक्ति-में-से श्रवण, कीर्तन और स्मरण श्रद्धावर्धक हैं एवं 'नाम सम्बन्धी साधन' हैं; पाद-सेवन, अर्चन और वन्दन विश्वासवर्धक हैं एवं 'रूप सम्बन्धी साधन' हैं; तथा दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन मूल भक्ति-रस हैं और 'भावसम्बन्धी साधन' हैं। इनमें-से पाद-सेवन अर्चन और वन्दन वैधी भक्तिके विशेष अंग हैं, तो दास्य सख्य और आत्मनिवेदन रागात्मिका भक्तिके विशेष अंग हैं। इस भाँति तुलसीने प्रथा ( रीति ) को पूरी तरह पेश किया है। भगवान्-पक्षसे भी तुलसीने भक्तके प्रति विशेष प्रीतिको प्रकट कराया है। भगवान्‌को सेवकके समान कोई प्रिय नहीं है: रामको लक्ष्मणसे अधिक प्रिय सखा सुग्रीव हैं ( मानस )। राम शिवको स्वामी, हनुमान्‌को सखा, लक्ष्मण-भरतको भाई मानते हैं। पर वे सब उन्हें साहिब मानते हैं। 'स्वामी सेवकके प्रेमकी यही रीति है।' राम विभीषणसे कहते हैं कि यदि जगत् द्रोही भी विकास त्याग दे, संसार त्याग दे, अपने मनको मेरे चरणोंमें बाँध दे, कुछ इच्छा न रखे, हर्ष-शोक-भयसे मुक्त हो, वह मुझे प्रिय है ( मानस, ५।४७।१–३ )। यह सामन्तीय व्यवस्थाके सर्वसशक्त सम्बन्ध अर्थात् भूपति-कृषिदासके सम्बन्धोंके आदर्श रूपकी लोकेच्छा हैं जहाँ भय और शोक और त्रासके स्थानपर प्रेम-अनुग्रह-क्षमा होगी। उन्होंने भक्तिके समग्र आध्यात्मिक भाष्यके लिए तीन रूपक लिये हैं: भक्तिमणि, भक्तिसंजीवनीबूटी और श्रद्धा-धेनु। इस निरूपणके बाद हम तुलसीके भक्ति-सम्बन्धी निजी दृष्टिकोणका निष्कर्ष दे सकते हैं: (१) वे वैधी भक्तिके विधानोंपर ज़ोर नहीं देते बल्कि 'भाव'-को ही हर जगह प्रधान बताते हैं, लेकिन भावहीन कर्मकाण्ड और अन्धश्रद्धाका उपचार भी कर लेते हैं, जैसे तीर्थोंका माहात्म्य, कोरा रामनाम जप; (२) वे अपने प्रेम और सौन्दर्यको 'सेवक-सेव्य' के आधिकारिक भावसे बाँधे रहते हैं, और इनमें भी ज्ञान तथा वैराग्यका पुट बनाये रखते हैं; ( ३ ) उन्होंने विरति और विवेककी नींवपर ही रागात्मिका भक्तिको ग्रहण किया है, और नाम-रूप-भावमें-से भावरूप भक्तिके अनुगामी रहे हैं; ( ४ ) उनके भक्तिमार्गमें केवल व्यष्टि-कल्याणपर ही बल नहीं है बल्कि उसमें लोकमत और साधुमतका भी मेल है; (५) उनकी मर्यादोपासनामें वर्णाश्रम-धर्म तथा वेदोक्त मर्यादाएँ स्वीकृत हैं;

( ६ ) उन्हें नवधा भक्तिका आठवाँ साधन, सरल स्वभावसे आत्मसमर्पण, सर्वाधिक प्रिय है; तथा ( ७ ) उन्हें कलियुगमें रामनाम-जपकी कोरी परिपाटीपर ज़रूरतसे ज्यादा जादुई-चरणवाला आदिम विश्वास है।

भक्तिके भाव-साधना होनेके कारण विभावके प्रति प्रेम-सम्बन्धी दर्शन विकसित होना सम्भव एवं अनिवार्य है। यहाँ चन्द बातें ग़ौर करने लायक़ हैं : (१) भक्तिमें प्रेम श्रृंगार रसके अन्तर्गत न आकर मधुर या उज्ज्वल रस रूप है, यद्यपि प्रेमोदयके अन्य स्वभाव—वात्सल्य, सख्य, दास्य और शान्त भी हैं। इनमें दास्यभावमें प्रीतिरति, सख्यमें प्रेय, वात्सल्यमें अनुकम्पा तथा मधुरमें मधुरा-रति होती है; ( २ ) तुलसीने मधुरा-रति और श्रृंगारका भावन नहींके बराबर किया है क्योंकि उनमें वैराग्य और विरति अधिक समर्थ रही है; ( ३ ) तुलसीने एकांगी स्वामी-प्रेमकी सभी यन्त्रणाओं और आदर्शोंका यशोगान किया है और वे नारी-पुरुष प्रेमके सहज जीवन्त चित्र नहीं दे सके हैं। यह उनके अनुभवकी सीमा, या किसी मनोवैज्ञानिक मनोव्यूहकी ओर संकेत है। जहाँ कहीं वे श्रृंगार-वर्णनमें थोड़ा आगे बढ़ते भी हैं वहाँ जैसे तुरन्त झटका खाकर सँभल जाते हैं : उदार सीताकी साड़ीका वर्णन करते ही तुरन्त उनके जगज्जननी रूपकी वन्दना कर उठते हैं, बार-बार घोषित करते हैं कि जानकीकी शोभा सरस्वती भी नहीं बखान सकती, शिव-पार्वतीके विवाहके उपरान्त कह उठते हैं कि शिव पिता हैं और पार्वती माता अतः मैं उनका श्रृंगार-वर्णन नहीं करता। उनमें कोई ग्रन्थि अवश्य पड़ी है क्योंकि 'रामलला नहछू'के श्रृंगार-वर्णन तथा 'पार्वती-मंगल' के सौन्दर्य-वर्णन करनेके बाद वे 'मानस'में पूर्णतः कामदहन हो जाते हैं। परवर्ती जीवनमें तो उन्हें यौन प्रेम तथा श्रृंगारके वर्णनका थोड़ा भी मौक़ा नहीं मिल पाता। इस तरह उनकी 'प्रेम सम्बन्धी दार्शनिकता'के विकासकी दशाएँ हैं : (क) 'रामलला नहछू' व 'मंगल' काव्योंका प्रेम-श्रृंगार-सज्जा-परक मांसल राग; (ख) 'मानस'की विरति-विवेकपूर्ण प्रीति-रति; (ग) 'गीतावली' का लोकमंगलपूर्ण प्रेय एवं प्रीति-रति; (घ) 'दोहावली' में प्रेम-दर्शनका अन्तिम स्पष्टीकरण; तथा (ङ) दार्शनिक और विनय काव्योंमें शान्ति-रति और विनय-भाववाला हरि-सम्बन्ध। ये चरण उनकी कृतियोंके रचनाक्रम तथा वर्गीकरणको निर्धारित करनेमें अमूमन मददगार होंगे।

कालिदासके 'कुमारसम्भव' पर मन्त्रमुग्ध आस्तिक कवि तुलसीने 'पार्वती-मंगल' में तपके बाद प्रेमका पौराणिक आदर्श धारण किया है। वे तपमें भक्ति या मधुरा-रतिको ले आते हैं; और तपमें प्रेम, प्रण, नियम और व्रतका भी योग करा देते हैं। तपमें पार्वती भोगों और लोगों ( अन्य सम्बन्धों ) को त्यागती हैं,

तो महादेव कामको भस्म करते हैं। तपके बाद परीक्षा होती है और परीक्षाके बाद विवाह। मधुर रसके इस अनुपम भावको तुलसीने दास्य भावमें रूपान्तरित कर दिया है। उनकी भक्तिमें विरति और विवेककी नींव है तथा कामका दहन है। 'रामलला नहछू' में नारियोंके हाव-भावोंकी चेष्टाएँ वर्णित हैं। तुलसीने इन प्रेमाभिव्यक्तियोंका उपयोग रामवृत्तकी ग्रामवनिताओंकी रूपासक्तिके प्रसंग ( मानस, गीतावली, कवितावली, बरवै ) में किया है। 'नहछू' के बाद लौकिक शृंगारको तो वे नहीं प्रस्तुत कर सके, किन्तु 'गीतावली' में ग्रामवनिताओंकी प्रेमाभक्ति तथा 'कृष्णगीतावली' में गोपियोंकी प्रेमासक्तिकी तुलना रोचक लगती है। दोनोंमें हाव-विभावोंकी भरमार है : एकमें पूर्वराग है, दूसरेमें विरह; एकमें मुग्ध सहजता है, दूसरेमें विदग्ध तड़प। केवल ग्रामवनिताएँ ही राम-सीता-लक्ष्मणको देवता-प्रभु आदि रूपोंमें नहीं जानतीं। इसीसे उनमें सहजता है। वे रामकी रूप-शोभापर मुग्ध हो जाती हैं, उनके मन-रूपी वस्त्र रामके रुचिर-रूप-रंगमें रंग जाते हैं ( गीतावली, २।१७ )। प्रेमाधीर हो जानेके कारण उनकी अपने शरीरकी सुधि चली जाती है, उन्हें अपना ज्ञान भी नहीं रहता और वे नेत्रोंके मधुर दोने बनाकर छविरूप अमृतका पान करती हैं ( गीतावली २।२३)। तीनोंके जानेपर वे प्रेम विह्वल होकर राम-कथाएँ कहती हैं। 'उस समयको चित्तमें लानेसे प्रेम बढ़ता है'। अतः तुलसीने उन ग्रामवधुओंकी प्रीतिको गाया है। इसी तरह 'कृष्णगीतावली'में गोपियाँ कृष्णपर भावासक्त ( रूपासक्त नहीं ) हैं। वे कृष्णके वियोगमें दुःखी हैं तथा पक्षी ( चातक ), मृग, मछली, पतंग, कमलकी भाँति एकांगी प्रेमकी स्थितिमें प्राण त्याग देनेका संकल्प करती हैं ( कृष्णगीतावली ४५ )। उनका विश्वास है कि प्रीत करनेसे किसीको सुख नहीं मिला ( जब कि मुग्ध ग्रामवनिताएँ राम-रूप-पान करके सुख पाती हैं ), उनका प्रेमी निर्मोही है। अतः प्रियकी निष्ठुरता एवं प्रेमीके प्रेमकी गति बड़ी ही दुर्गम है ( ५५ )। फिर भी वे कृष्णकी दी हुई व्यथाको विरह-सागर बताती हैं, तथा ऊधवके परमार्थ ज्ञानको फेन। इस विरह-भूमिका-द्वारा तुलसीको प्रेमकी विविध दशाओंको अभिव्यक्त करनेवाले कई प्रतीक मिल गये : भ्रमर ( छलपूर्ण प्रेम ), चातक ( आत्मसम्मान-पूर्ण प्रेम ), मछली और हरिण ( एकांगी प्रेम ), आदि। कृष्णभक्तिमें 'भ्रमर' प्रेमका प्रतीकात्मक प्रतिनिधि बना है, तो तुलसीने रामभक्ति-की मर्यादोपासनाके लिए 'चातक' का प्रतीक दिया। चातक-मेघ रूपकमें मानो असफल प्रेमी तुलसी तथा संन्यासी-भक्त तुलसी ही घुलमिल गये हैं। भ्रमरका नीतिकुशल, विवेकी, तार्किक, ज्ञानी और प्रीतका वध करनेवाला ( कवितावली ७।१३५ ) जैसे विशेषणोंसे भी अभिषेक हुआ है, और अन्योक्ति-द्वारा निर्गुणियों-

की वृत्तियोंपर छींटाकशी भी की गयी है। इसकी तुलनामें चातक और मीनको प्रेमासक्तिका प्रतीक माना गया : वह प्रतीक जिसके माध्यमसे 'सचराचर रूप-रासि भगवन्त' को अर्पित हो। तीन प्रकारके प्रेममें तुलसीने चातक मतकी प्रतिष्ठा की है : आत्मसम्मानकी रक्षा करना, माँगना, और प्रियसे नितनवीन प्रेम करना। चातक-रूप साक्षात् प्रेम-भाव न माँगता है, न संग्रह करता है, न शीश नवाता है; केवल अपने प्रिय मेघका नाम रटता रहता है, प्रिय मेघके ओले-बिजली बरसानेवाले जुल्मकी शिकायत भी नहीं करता, केवल स्वाति जलकी एक बूँद-मात्र पीना चाहता है, इत्यादि। इस भाँति चातकका रात-दिनका प्रेम एकांगी है वह तृप्ति नहीं चाहता अपितु प्रेमकी प्यास धरे रहता है। प्रेमकी एकांगिता तथा प्यासके इस आध्यात्मिकीकरणमें तुलसीकी अपनी आत्मकथा भी लुकी हुई है। एकांगी प्रेमके दाहमें तपकर वे कामदग्ध प्रेमकी गूढ़ता पहचान चुके थे। इसीलिए सर्पका मणिके प्रति प्रेम, मृगका व्याधरूपी रामके प्रति अनुराग, कमलका सूर्यसे प्रेम, और मछलीका जलसे प्रेम भी एकांगी प्रेमके प्रतीक-कोष हो गये ( दोहावली ३१३, ३१५, ३१४, ३१७, ३१८, २७८-३१२ )। इसके विपरीत उन्होंने मलिन मन किन्तु मीठे मुखवाले प्रेमको कोकिल, मोर तथा चकोरके व्याजसे समझा-समझाया। इन विभिन्न प्रेमदशाओंमें उन्होंने वैयक्तिक निष्कर्ष निकाले और स्वीकार कर लिया कि प्रेम अन्धा होता है। वह अपने प्रेमास्पदका दोष नहीं देखता। प्रेममार्गके अधिकारी विरले ही होते हैं। इसके बाद वे प्रेमका आध्यात्मिक दृष्टिकोण अपना लेते हैं। कलियुगमें तो हृदय-कपट है। इसलिए मनुष्य बड़ाई तब पाता है जब वह देवताको अपना एकमात्र इष्टदेवता, प्रेमदेवता, बना लेता है। अन्ततः वे 'प्रेमयज्ञ' में अपने प्रेमदर्शनको परिणत कर देते हैं : देश-काल पूर्ण, अन्तर्यामी, करुणासागर इष्टदेवता राम केवल प्रेम चाहते हैं। उनका मन्त्र जपनेके बाद प्रेमरूपी जलसे तर्पण करना चाहिए, सहज स्नेहका घी बनाना चाहिए, सन्देहरूपी समिधाका क्षमारूपी अग्निमें हवन करना चाहिए, पापोंका 'उच्चाटन', मनका 'वशीकरण,' अहंकार व कामका 'मारण' तथा सन्तोष व ज्ञानका 'आकर्षण' करना चाहिए ( विनय-पत्रिका, १०८ )। रागात्मक भक्तिके मूलमें उनकी मौलिक चेतनाके आधार ये हैं। इस भाँति 'रामलला नहछू' के लोककवि तुलसीने कालिदासकी भाँति अपने चहुँओरके लोकजीवनकी सुन्दर कामिनी रमणियोंके मांसल उन्मत्त चित्रणसे आरम्भ करके 'जानकीमंगल' तथा 'पार्वतीमंगल' में दोनों अभिनामिकाओंकी रसात्मक रतिका अंकन किया; 'मानस' में मंगल गानेवाली सुहागिनियों, चित्र-कूटसे आगे मिलनेवाली ग्रामवनिताओंके चित्रणमें मात्र रूपासक्तिका अंकन किया।

तदुपरान्त 'मानस'से ही शबरी, केवट आदिके माध्यमसे प्रेमका पूर्ण आध्यात्मिकीकरण अर्थात् भक्ति-प्रीतिमें रूपायन कर डाला। इसके बाद तो वे जीवनान्त तक दास्य भावसे ही प्रेमोपासना करते रहे। स्पष्ट रूपसे इस प्रेमदर्शनकी विकास-धारामें लोककवि युवक तुलसी, मर्यादावादी गम्भीर चिन्तक तुलसी तथा अन्ततः भक्त और संन्यासी तुलसीके अनुभवों-जीवनदर्शनोंका प्रतिबिम्ब और मध्यकालीन आदर्शीकरण झिलमिलाता है।

जिस तरह ज्ञान-भक्ति-प्रेम त्रयीके परम्परागत निरूपणमें तुलसीके अपने जीवन, विचार, जीवनदृष्टियोंको भी प्राप्त किया गया है, उसी तरह ईश्वर सम्बन्धी प्रथा-भाष्यमें उनके दृष्टिकोण हासिल हो सकते हैं। सुदीर्घ मध्यकालीन परम्परामें अन्तिम मूल्य परमात्माके, तथा जीवनके अन्तिम लक्ष्य मोक्षके विषयमें कोई प्रश्नचिह्न नहीं था। प्रश्न यह था कि किस परमात्माका सगुण-निर्गुण कौन-सा स्वरूप है ? यह परमात्मा मनुष्यकी तरह कैसे चरित्र धारण कर सकता है ? परमात्माको योगियों, सिद्धों और ज्ञानियोंके अलावा साधारणजन तथा 'पापी' जन भी किस तरह पा सकते हैं ? क्या ज्ञानके अलावा भक्तिसे भी सचमुच हरिभक्ति मिल सकती है ? तुलसीके समयमें ये महान् विवाद थे जिनमें भाग लेनेवाले नाथों-सिद्धों-निर्गुणसन्तोंके रहस्यमय सिद्धान्त बनाम लोकचित्तकी अशिक्षित सरलता, एक अनैतिक समाज बनाम परम्परागत वर्णाश्रम आदर्श, मायामय जगत् बनाम अवतारी ईश्वरके ऊहापोह कोई मार्ग खोज रहे थे। भरद्वाज याज्ञवल्क्यसे पूछते हैं कि वे राम कौन हैं ? क्या दशरथकुमार हैं जिनमें स्त्री-विरह तथा रावणपर क्रोध है ? अर्थात् क्या परब्रह्म राम मनुष्यके प्रति क्रोध आदि भावोंसे ग्रस्त हो सकता है ? सती पुनः पूछती हैं कि जो व्यापक, विरज, अज, अकल, अनीह, अभेद है वह क्या मनुष्य हो सकता है ? क्या विष्णु एक अज्ञानी ( सांसारिक जीव ) की तरह स्त्रीको खोजेंगे ? गरुड़ पूछते हैं कि ब्रह्म परमेश्वर वागीशको एक तुच्छ राक्षसने नागपाशसे कैसे बाँध लिया ? इस निर्गुण-सगुणकी समस्याका पहला समाधान स्वयं हर ( शिव ) करते हैं, और दूसरा एक साधारण पापी ( कौवा ) काकभुशुण्डि। पार्वतीके रूपमें श्रद्धा यह तो मंज़ूर कर लेती है कि निर्गुण ब्रह्म सगुण रूप धारण कर लेता है लेकिन वे इस रूपान्तरके कारणको जानना चाहती हैं। शिव कहते हैं कि निर्गुण-सगुणमें कुछ भेद नहीं है, निर्गुण ही 'भक्तोंके प्रेमवश' सगुण हो जाता है। अतः राम मनुष्य होकर भी मनुष्य नहीं हैं, ब्रह्म हैं। वह सगुण होकर भी निर्गुण अजेय और अजन्मा हैं ( मानस ४।२५।६ )। रामका शरीर प्राकृत अर्थात् त्रिगुणात्मक न होकर इच्छामय और चिदानन्दमय है। वे मनुष्य-शरीर धारण-भर करते हैं। इसलिए सगुण

ब्रह्मको न माननेवालेको शंकर मोहरूपी पिशाचसे ग्रस्त पाखण्डी बताते हैं ( मानस, १।११४ )। तो फिर राम अज्ञानीकी तरह स्त्री-विरह, रावण-क्रोधके शिकार क्यों हुए अर्थात् राममें 'मानुष चरित्र' का भी आधार क्यों हुआ ? इसका उत्तर दिया गया : चूँकि भासमान संसारकी सत्ता केवल मायामय है और शोक-हर्ष-क्रोध आदि केवल भ्रान्तिस्वरूप हैं अतः सच्चिदानन्द मायामय संसारमें अवतार लेकर 'मोहहीन' नर-लीला करते हैं। 'चरित्र' का रूपान्तर 'लीला' में हो गया। ब्रह्म रामकी यह नरलीला 'श्रेष्ठ' होगी और 'कौतुकी' होगी। वे एक अभिनेता या नट या जादूगर अर्थात् कौतुकनिधिकी तरह मनुष्योंके अभिनय करेंगे। अतः राम एक साथ परब्रह्म-अवतार एवं अभिनेताके रूपमें रहते हैं। हम दर्शक ही उनकी लीलाओंसे रस-निष्पत्ति करते हैं। इसीलिए तुलसीने नये 'भक्तिरस' की चर्चा की है। अवतारको भक्तिरसके वृत्तमें लानेपर ज्ञान और समाधि स्वतः अनावश्यक हो जाती हैं तथा भोक्ता-भक्तकी भावना ही प्रधान रह जाती है। इसलिए भक्तोंके लिए वे रंजन और रसास्वादनके हेतु हैं। इसीलिए अर्थात् सरल स्वभाव और अकुटिल मनवाले किसी भी साधारण जन या पापी जनको भक्तिरस या हरिभक्ति प्राप्त हो जाती है। लेकिन रामके अवतारका रक्षा-हेतु भी है, अर्थात् वे लोकमंगलके हेतु अवतार लेते हैं। गौ-हेतु, देवता-हेतु, भूमि-हेतु, धर्म-हेतु अवतार लेकर वे गौके कष्टोंको दूर करते हैं, देवशत्रुओंका संहार करते हैं भूमिको पापोंके भारसे हलका करते हैं और वेद-मर्यादाकी रक्षा करते हैं। तुलसीने अपने जातिगत संस्कारोंके कारण अपना ब्राह्मण-हेतु भी जोड़ दिया। इस भाँति सगुण राम मानुष-तन धारण करके जनरंजन खलसमूह-भंजन एवं वेदधर्म-रक्षण करते हैं। इसलिए सगुण ब्रह्म एक अनैतिक समाजको केवल दण्डपरक न्यायसे ही नहीं चलता, बल्कि सुधारपरक न्यायविधानसे उनको क्षमा भी करता है। वह वर्णाश्रम-धर्मकी मर्यादाकी भी रक्षा करता है। भाव-तत्त्वकी साधना करनेवाले तुलसीने दास्य भावकी प्रीति और रंजन-हेतुको प्रधा-नता दी। उनके इस संस्थापनसे नाथोंका हठयोगी-तन्त्र जनसमूहसे उखड़ गया और रामवृत्त धर्म, परिवार, ग्राम समाजके दैनिक आचार-व्यवहारका दृष्टान्त बन गया। हिन्दू जनसमूहमें एक खोया हुआ विश्वास सर्वव्यापी विराट् विश्वास होकर पुनः लौट आया कि अनैतिक समाजका शुद्धीकरण वेद-मर्यादा पालनसे हो सकता है; अत्याचारी शासकों-सम्राटोंको पदच्युत करनेमें चाहे वे कितने ही असमर्थ हों लेकिन अवतार राम उनका भंजन कर देंगे। किसानोंकी दरिद्रता, पतन, ताप आदिका अन्त बड़े सरल सुलभ भक्तिमार्गसे हो सकता है क्योंकि रामने अपनी लीलामें दुष्टोंको दण्ड दिया है तथा साधारण जनों, पापियों, शूद्रोंको क्षमा करके

परमपद भी दिया है। सारांशमें हिन्दू समाजका वर्णाश्रम विधान, व्यक्तिके सोलह संस्कार, व्यक्तिकी दरिद्रता और मुक्तिकी समस्या, परिवारके कटु-मधु द्वन्द्व, ग्रामोंका धर्म-अर्थ-काम, राज्य तथा राजाके आदर्श, सन्तोंका चारित्रिक मानदण्ड आदि सभी राममय हो गये। सगुण अवतार रामको मध्यकालीन जनजीवनकी मर्यादाका इतना सर्वव्यापी सर्वसाधारण मानदण्ड बना देना तुलसीकी आर्केटाइपल भारतीयताका महत् उत्कर्ष है। तुलसीने सन्देहको तो लुप्तप्राय कर दिया; शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य तथा उचित-अनुचित कर्मके निर्णयके परम्परावादी-रूढ़िवादी मानदण्ड तय कर दिये; किन्तु इसके साथ-साथ वैराग्यका घोर निवृत्तिमार्गी पराजित वातावरण भी फैला दिया। अपनी आचार-व्यवहारकी समस्त रूढ़ियों समेत अनैतिक हिन्दू समाज एक कल्पित आध्यात्मिक पुनर्जागरणकी प्रतीक्षा करता रहा—धार्मिक और मोक्षपरक पुनरुत्थानकी। अर्थ और काम, प्रवृत्ति या प्रेय, फलतः पापसे जुड गये। समाजका ढाँचा विभाजित, एकांगी और परलोक-साधक हो गया। वे मध्यकाकीन विचारधारात्मक अन्तर्विरोधोंको भी पुंजीभूत कर गये। इस तरह तुलसीने ईश्वरकी धारणामें सगुण ब्रह्म राम, रामनाम, रामगुण तथा रामकथा—इन चारोंको प्रकारान्तरसे पर्यवसित किया। यह भी उनकी एक महत्तम देन है।

प्रत्यक्षज्ञानवादी जगत्के बाबत तुलसीकी दूसरी धार्मिक दृष्टि ( पहलीका निरूपण पृ० ८६ से शुरू हुआ था ) यूतोपिया-प्रधान है। पहली दृष्टिमें मुख्यतः 'धार्मिक' प्रतीकशास्त्र था और, फलस्वरूप उसमें 'पाप एवं मोक्ष' की समस्याएँ थीं। दूसरी दृष्टिमें 'नैतिक' आचार-व्यवहार शास्त्र है और, फलस्वरूप इसमें 'ग़लत कर्म' एवं 'सही कर्तव्य' की समस्याएँ हैं। इस दूसरी दृष्टिके अन्तर्गत 'स्वर्गलोकके धरतीपर अवतार'की सामाजिक आकांक्षा है, जब कि पहलीके अन्तर्गत मृत्युलोकके स्थानपर स्वर्गलोककी प्राप्तिकी आध्यात्मिक चिन्ता थी। इस दृष्टिसे आशावादकी, मानवीय अस्तित्वकी कर्मकाण्डके सही पालनकी 'सही' दिशाएँ हैं। यहाँ आस्था ( फ़ेथ ) को पहल मिली है किन्तु नैतिकता भी दोयम नहीं है। इस दृष्टिमें वेद-रीति पुराण-मार्गकी नैतिकताकी पुनःप्रतिष्ठा है। इसके दो पक्ष हैं : पहला है रामराज्यकी यूतोपिया जिसकी चर्चा हम दूसरी गोष्ठीमें कर चुके हैं, दूसरा है साधारणधर्म-वर्णाश्रमधर्मका विधान। यूतोपियामें दो सवाल अहम होते हैं। पहला सवाल 'आदर्श' ( आइडियल ) का है। स्वयंश्रेयस् आदर्श या तो वस्तुओंकी अवधारणकी सर्वोत्तम दशा है; या, इस जगत्में वस्तुओंकी सर्वोत्तम सम्भव अवस्था है; या फिर यह एक उच्च कोटिका स्वयंसिद्ध शुभ है।[1]

१. जी० ई० मूर : 'प्रिन्सिपिया एथिका'।

आदर्श रचनाकी विधि यह है कि वर्तमानमें अस्तित्वमान महान् पॉज़िटिव दुर्गुणों ( या 'पापों' ) को समाप्त कर दिया जाये। प्रधानतया 'मानस'के राम-राज्यमें यह कुछ हुआ है। यूतोपियाका दूसरा सवाल 'दुर्गुणों' ( ईविल्स ) का है। दुर्गुण अथवा पाप तो कुरूप या दुर्गुणके प्रति 'अनुराग' हैं; अथवा सुन्दर या शुभके प्रति 'घृणा' हैं, अथवा पीड़ाको 'चेतना हैं'।[1] रामराज्यमें दैहिक-दैविक-भौतिक पीड़ाएँ ( ताप ) लुप्त हो जाती हैं; रामराज्य समाजकी सर्वोत्तम सम्भव अवस्था, तथा उच्चकोटिका स्वयंसिद्ध शुभ हो जाता है; तथा जो भी कुरूप या दुर्गुण है उसके प्रति विरति व्याप्त हो जाती है। हम साधारणधर्म वर्णाश्रमधर्मके विधानोंकी ही मीमांसा करेंगे।

नैतिक जीवनकी उच्चतर दशाओंके लिए भारतीय नीति 'चित्तशुद्धि' को अनिवार्य मानती है जिससे कि 'शुभ' कर्म और कर्तव्य मानव धर्मकी स्थापना कर सकें। इसके साथ-साथ भावशुद्धि ( अनुपधा ) और शरीरशुद्धि ( स्नान, शुचि ) का भी विधान है। हिन्दू 'सामाजिक नीतिशास्त्र' का निरूपण 'वर्णाश्रमधर्म' के अन्तर्गत हुआ जहाँ सामाजिक वर्ग एवं विशिष्ट अवस्थाओंके अनुरूप कर्तव्य-विधान है। इसके समानान्तर 'साधारणधर्मके अन्तर्गत मनुष्य-मात्रके लिए कुछ सामान्य कर्तव्योंका विधान हुआ है। तुलसीके समय तक इन उभय धर्मोंके अन्तर्विरोध प्रचण्ड हो चुके थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें शूद्रों तथा नारियोंका दरजा ( इन कर्तव्य-व्यवस्थाओंकी दृष्टिसे भी ) गिरा दिया है, और ब्राह्मणोंके सामाजिक-धार्मिक प्रभुत्वकी रक्षाका पक्षपातपूर्ण बीड़ा उठाया है। उनके समयमें पापकर्मकी परिभाषाका पूरा रूढ़ीकरण हो चुका था : 'वेदविरुद्ध और लोकविरुद्ध कर्म पाप' हैं। इसलिए उन्होंने कर्मक्षेत्रमें वैदिक रीति और लौकिक रीति, दोनोंके पालनका निर्देश किया है। यह एक पुनरुत्थानवादी एवं परम्परावादी सांस्कृतिक भूमिका है जो नयी सामाजिक हलचलोंके प्रति अनुदार है। यह भूमिका सांस्कृतिक पिछड़ेपन और सामाजिक संक्रान्तिके बीच एक आदर्शवादी दृष्टिकोणकी उपज हुआ करती है। तुलसीमें धर्मका विकास साधारणधर्म + वर्णाश्रमधर्मके पौराणिक एवं मध्यकालीन परिवेशका आयत्तीकरण करता हुआ देवताओं, ऋषियों, सन्तों, भक्तों आदिके प्रति भी नव्य कर्तव्योंके विधानमें संकलित हो जाता है। तुलसी स्वयं भी 'काल' और 'देश' की अनुरूपताकी चर्चा करते हैं; किन्तु शुरूमें तो रूढ़ियोंके औचित्य सिद्धिके लिए! उन्होंने वर्णधर्म तथा आश्रम-धर्मके स्वर्णयुगीन पुनरुत्थानवादको 'आदर्श' ( = इस जगत्में भूतहितत्वकी सर्वो-

---

१. वही।

त्तम सम्भव अवस्था )के रूपमें स्थापित किया है। इसके साथ-साथ कुलधर्म, देशधर्म, युगधर्म, राजधर्म और मानवधर्मके प्रतिरूपणमें अपनी मानवतावादी आकांक्षाओंकी गम्भीर झलक दी है। इनके प्रतिरूपणमें ही वे समकालीन धड़कनोंको छूते हुए और प्रखरतर सामाजिक आलोचना करते हुए मिल जाया करते हैं। 'मानस'-रचनाके समय उनका आदर्शवादी आवेश चरमोत्कर्षपर था। 'कवितावली' और 'हनुमानबाहुक' तक आते-आते वे काफ़ी यथार्थवादी हो जाते हैं और देश, कुल, राज, मानव आदिके यथार्थका प्रौढ़ परिष्कृत अनुभव कर चुके होते हैं। आश्चर्य है कि 'कवितावली'में पहुँचकर उनमें न तो ब्राह्मणोंको सर्वोपरि बनानेका मसीहाई जोश बाक़ी है, न नारियोंको अधम कहनेका विश्वास है; और न ही दरिद्रता तथा पीड़ाको माया कहनेका अज्ञान! इसलिए हमें तुलसीकी नीति-संरचनाको उनके जीवनके आदर्शवादी-यथार्थवादी, 'दोनों' चरणोंके परिप्रेक्ष्यमें जाँचना चाहिए। 'मानस' और 'विनयपत्रिका' के बाद तुलसी वर्णाश्रम-धर्मके प्रति भी पोंगापन्थी नहीं रह सके क्योंकि वे स्वयं भी जात-पाँतके घातक नतीजे झेल चुके थे। 'मानस' के अलावा उन्होंने बादमें नारी जातिकी निन्दा कभी नहीं की, और न ही ब्राह्मणोंकी अलौकिक शक्तिसे जनताको संत्रस्त किया। वे देख चुके थे कि अन्ततोगत्वा कलियुग और खल हावी होते जा रहे हैं। अतः कभी वे 'गीतावली' में बालरामकी शिशु-मनोविज्ञानवाली दुनियामें बालसुलभ हो जाते हैं; कभी 'कृष्णगीतावली' में गोपियोंके माध्यमसे लौकिक प्रणयकी गूढ़तामें किंचित् अपना हृदय भी उँडेल देते हैं; कभी 'कवितावली'में मात्र ग्रामीण भारतदेशकी सामाजिक-आर्थिक-नैतिक आलोचना करने लगते हैं; कभी 'विनयपत्रिका'में व्यक्तिगत मोक्ष और शुद्धिकी याचना करने लगते हैं और अन्ततः 'हनुमानबाहुक' में अपनी शरीर-पीड़ाके निवारणके लिए पूरी भक्तिकी 'शक्ति'की सचाई या झुठाईको परखनेपर आमादा हो जाते हैं। 'मानस'के बाद वे समाज, परिवार और धर्मकी एक सम्पूर्ण तथा समग्र यूतोपिया कभी नहीं दे पाये। सम्भवतः उनके जीवनमें उपरिनिर्दिष्ट मोड़ और चौराहे इस क़दर आये कि वे शनैः-शनैः आदर्शके विभ्रम ( इल्यूज़न ) में बाहर निकलते चले आये। इससे यह भी सिद्ध होता है कि वे सामाजिकतया अत्यन्त सतर्क और संवेदनशील इनसान थे, केवल एक गोस्वामी सन्तभक्त ही नहीं थे। उन्हें मायामय जगत्की वास्तविकताने बैकुण्ठकी मायाकी अपेक्षा अधिक आन्दोलित किया है।

मनु तथा प्रशस्तपाद-समेत साधारण धर्मकी संक्षिप्त सूची यों है : धी, विद्या, सत्य ( मनु ); भूतहितत्व, विशिष्ट-देवता-भक्ति ( प्रशस्तपाद ); क्रोधवर्जना ( प्रशस्तपाद ) या अक्रोध ( मनु ), चौर्याभाव ( मनु ) या अस्तेय (प्रशस्तपाद)

इन्द्रियनिग्रह ( मनु ) या ब्रह्मचर्य और अनुपधा ( प्रशस्तवाद ), अहिंसा (प्रशस्त-पाद ) या क्षमा, शौच ( मनु ) या स्नान और शुचि और उपवास ( प्रशस्त-पाद ), तथा धृति ( मनु ) या अप्रमाद। इनमें ही आत्मसंयमवाले 'यम-धर्म' ( अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सत्य ) और आत्मलाभवाले 'नियम धर्म' ( स्नान, शौच, ईश्वर-प्रणिधान, तप, सन्तोष, स्वाध्याय ) अन्तर्निहित हैं। तुलसीने इस कर्तव्य-संहितामें-से कुछको शूद्रों तथा नारियोंके लिए वर्जनीय बताया है। भारतीय नीतिशास्त्रमें अधिकारोंकी चर्चाकी चिन्ता नहीं है। 'विभेदक न्याय-दृष्टि' के कारण अधिकार-संग्रहण और अपहरणके विधान जरूर हैं। उदाहरणार्थ, पापी और मूर्ख ब्राह्मण भी समाजमें सम्मान और पूजाका अधिकारी है; शूद्र वेदपाठका अधिकारी नहीं है; नारीको पतिसेवामें ही मुक्तिका अधिकार है; शूद्रको केवल भक्तिक्षेत्रमें समानताका अधिकार है; स्वामीका सेवकपर पूरा अधिकार है; व्यक्तिगत सम्पत्तिपर अधिकारीका पूरा स्वायत्त है। ऐसे अधिकार सामन्तीय समाजकी ग्राम्य कृषक-संस्कृतिकी अनुदारताकी नैतिक स्वीकृतियाँ हैं। वर्णाश्रम-धर्मकी मर्यादाका पालन करनेवाले राम और विधान करानेवाले तुलसी इस क्षेत्रमें पूर्णतः कट्टर हैं। वे तत्कालीन समाजकी बदलती हुई परिस्थितियोंके अनुसार इस धर्ममें तनिक भी संशोधन नहीं कर पाते बल्कि उनका विश्वास है कि वर्णके टूटने, आश्रमके लुप्त होने एवं योग ( गोरखपन्थ ) के फैलनेसे ही एक अनैतिक समाज ( कलिकाल-समाज ) फैल गया है। अतः वर्णाश्रममर्यादाकी पुनःप्रतिष्ठा और भक्तिमार्गकी साधना ही धर्मराज्य ( रामराज्य ) दुबारा क़ायम कर देगी। ब्राह्मणोंके प्रमुख कर्तव्योंमें उन्होंने प्रतिग्रह तथा संस्कारोंपर बल दिया और अध्यापन तथा यज्ञको गिनाया; क्षत्रियोंके कर्तव्योंमें प्रजापालन तथा असाधु-निग्रहपर बल दिया; वैश्यके कर्तव्योंमें कृषिपर और दानपर बल दिया तथा क्रय-विक्रयको गिनाया। शूद्रके कर्तव्योंमें पूर्ववर्ण-परतन्त्रता तथा अमान्त्रिक-क्रियाको ही मान्य ठहराया। कार्योंका उचित या सही ( राइट ) प्रतिपादन ही कर्तव्य है। सही कर्मकी बाबत नीतिशास्त्रमें दो दृष्टिकोण हैं : प्रथा-प्रचलनका सिद्धान्त और समूह-समर्थनका सिद्धान्त। तुलसीने समूहके समर्थनके बजाय लोक ( सभी वर्ण ) की आस्थाको मान्य ठहराया है। वे प्रथा और आस्थाके क़ायल हैं। वेदरीति तथा लोकरीतिके। कर्तव्य या कर्म इसलिए सही हैं कि वे प्रथानुकूल होते हैं, इसलिए सही हैं कि एक वर्ण उनको समर्थित करता है, इसलिए सही हैं कि वे क़ानूनी हैं, इसलिए सही हैं कि वे समझौतेके अनुसार हैं, इसलिए सही हैं कि वे सफल हैं, इसलिए सही हैं कि वे आत्मासे निर्देशित हैं, इसलिए सही हैं कि सत्ता उनका आदेश करती है, इसलिए सही हैं कि वे आत्मलाभ करते हैं, इसलिए सही हैं कि वे शुभ-परिणाम

देते हैं, इसलिए सही हैं कि वे दूसरोंके लिए शुभ-परिणामी हैं, इसलिए सही हैं कि वे स्वयंके लिए शुभ-परिणामी हैं, इसलिए सही हैं कि वे ईश्वरके लिए शुभ-परिणामी हैं, तथा इसलिए सही हैं कि वे उत्तम पुरुषोंके लिए शुभ-परिणामी हैं। नीतिशास्त्रमें कर्म-मीमांसाकी इन चौदह दिशाओंमें केवल स्वेच्छासे सम्पादित कार्य ही सर्वोत्तम माने जाते हैं। तुलसीकी कर्म-मीमांसामें प्रथा, शुभ-परिणाम ( चारों दिशाओंवाले ), आत्मनिर्देशन, हरिलाभके हेतु मंज़ूर हैं। वे क़ानून, समझौता, सफलता, सत्ता, आदेश, वर्णोंके हितोंके द्वन्द्व आदिको नज़र-अन्दाज़ कर जाते हैं। इसके अलावा उनकी समाज-संरचनामें ब्राह्मण-जीवन-शैलीका संन्यास या विरतिका चतुर्व्याप्त आच्छादन है ( रामवृत्त भी संन्यास-प्रवण है )। इसलिए 'उनकी समाज-रचना एक तापसकी नैतिकताका भाष्य है जिसमें आत्मशुद्धि और संसार-परित्यागके प्रयोजन हैं।' इसमें अनुभवगम्य जगत्के प्रति निराशा और निषेधकी वृत्ति है। कर्मके स्वेच्छतः सम्पादनके स्थानपर वे मध्यकालीन कर्म सिद्धान्तमें विश्वासके प्रवक्ता हैं जिसका सीधा व्यावहारिक अंजाम यह हुआ कि लोगोंकी दरिद्रता, अज्ञानता, यातना, व्यथा आदि, तथा समाजकी घोर विडम्बना-विषमताका आध्यात्मिक समाधान पेश कर दिया गया। इस भाँति सामन्तीय समाजकी व्यवस्था बरक़रार रही। तुलसीने भी कहा कि कर्मप्रधान विश्वमें जो जैसा करता है वैसा फल पाता है। किसीका कोई वश नहीं। केवल विधाता ही शुभ-अशुभ फल देता है। इस भाँति वे कर्मसिद्धान्तवादके विश्वास-संस्थापक हैं। इस जन्मके कर्म ऐसे होने चाहिए कि संसारमें पुनर्जन्मसे तथा कर्मचक्रसे ही छुटकारा मिल जाये। इस भाँति कर्मोंका पुरस्कार और दण्ड दो लोकोंमें मिलता है : परलोकमें और भौतिक जगत्में। इसीलिए सामाजिक क़ानूनसे बड़ा भाग्य हो जाता है। सारांशमें तुलसीके नैतिक दृष्टिकोणमें 'विरति' ( वैराग्य ), विवेक तथा 'भक्ति'के त्रित्वकी प्रधानता है। और यह नैतिकता सेवापर आश्रित है।

भक्तिके द्वारा व्यक्तित्वके उदात्तीकरण, वर्णव्यवस्थाके निराकरण और सामाजिक सम्बन्धोंके निर्धारणमें तुलसीने अपनी गम्भीर सामाजिक चिन्तना प्रकट की है। कर्मसिद्धान्त तथा वर्णाश्रमधर्म और अनैतिक समाजमें फँसे हुए साधनहीन और पतित, हृदयहीन ( क्रूर ) और अनाथ ( कुपूत ) लोगोंको केवल हरिभक्ति ही आश्रय दे सकती है। यद्यपि रूढ़ समाज वर्णाश्रमधर्मसे पतित होकर अराजक हो चुका है लेकिन ब्राह्मण-शूद्रमें समानता नहीं आ सकी है। इसलिए केवल भक्तिक्षेत्रमें ही ब्राह्मण-शूद्र, पापी-सन्त सम हो सकते हैं तथा समान भूमिपर प्रतिष्ठित हो सकते हैं। यह भक्ति प्रेम और सेवा और विरति-प्रधान है। इस भाँति भक्ति-द्वारा तुलसी एक समतावादी आध्यात्मिक नैतिकताका तो समर्थन

करते हैं, किन्तु अपने अन्तर्विरोधके कारण वर्णाश्रम-व्यवस्थाकी असमानतावादी नैतिकताका संरक्षण भी करते हैं। कालान्तरमें वे इस समस्यापर मतदान नहीं करते। भक्तिके आधारपर वे नये ईश्वर-मनुष्य तथा मानवीय सम्बन्धोंके सूत्र देते हैं जिनमें अपेक्षाकृत उदार मानवतावाद झलकता है। वे कहते हैं कि प्रभुकी ऐसी रीति है कि पवित्र जीवोंको छोड़कर पामरोंपर प्रेम करते हैं और निकटस्थ-से अधिक दूरस्थके प्रति ममता रखते हैं। रामकी पितासे अधिक जटायुपर प्रीति थी; वे सीता-विरहसे अधिक सुग्रीव-विरहसे विकल थे, उन्हें मूर्छित लक्ष्मणसे अधिक विभीषणकी चिन्ता थी, ससुरालके सुखसे अधिक शबरीके बेर प्रिय थे, और मुनियोंसे अधिक बन्दरोंके मित्र-भाई थे। उन्होंने राक्षस ( विभीषण ), गीध ( जटायु ), बहेलिया ( वाल्मीकि ) तथा वेश्या ( पिंगला ) को भी परमधाम दिया ( विनयपत्रिका १६४ )। इस तरह ईश्वर-कृपाके द्वारा एक परम्परावादी साम-न्तीय समाजकी अनैतिकताको भस्म करनेका यह एक भव्य तुलसी-स्वप्न है जो 'विनयपत्रिका' में शोकार्त होनेके बाद 'हनुमानबाहुक में टूट-सा गया। ईश्वर-मनुष्यका यह नव्य मानवतावादी सम्बन्ध स्थापित करके वे एक समानान्तर नयी सामाजिक सम्बन्धताकी भी घोषणा करते हैं : जगत्में जहाँतक पूजनीय और परमप्रिय लोग हैं वे सब रामके नातेसे ही मानने योग्य हैं ( पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सब मानिअहिं रामके नाते ॥ )। जिसे राम-वैदेही प्यारे नहीं, उसे करोड़ों बैरियोंकी तरह छोड़ देना चाहिए चाहे वह अपना अत्यन्त स्नेही क्यों न हो। उदाहरणके लिए प्रह्लादने पिताको, विभीषणने भाईको, भरतने माँको, राजा बलिने गुरुको, और ब्रजवनिताओंने पतियोंको छोड़ दिया। इस नैतिक दृष्टिकोण-ने उनके चरित्र-स्थापत्यको भी सर्वाधिक प्रभावित किया है। इस भाँति दोनों तरहके सम्बन्धोंमें ईश्वर अन्तिम निर्णेता हो जाता है। सामान्यतः वे लोक-श्रेयः की ही बात ध्यानमें रखते हैं। वे रूढ़िध्वंसके बजाय रूढ़ि-परिष्कारके क़ायल हैं; पति और पिताके अधिकारोंकी दृढ़ताके क़ायल हैं। यह उनकी अनुदार किसानी नैतिकताकी देन है जो पितृसत्ताक अधिकारों तथा वर्णाश्रमवाले कृषि-ढाँचेके परिवर्तनकी कल्पना भी पाप समझती है। इन संस्कारोंके दायरेमें ही उन्होंने मानवतावादी नैतिकताका परमप्रिय सूत्र ढूँढा है : 'परहित-जैसा पुण्य, तथा पर-पीड़ा–जैसा पाप कोई-दूसरा नहीं है'। यही उनके सामाजिक सुधारके लौकिक अनुभवका सार है जहाँ ईश्वरके बजाय मनुष्य केन्द्रमें प्रतिष्ठित हो गया है। अपने परवर्ती जीवन-चरणमें वे ऐसा कुछ अनुभव कर चुके थे। द्विधा-विभक्त तुलसीने एक प्रथम और अन्तिम बार रामकी एक आलोचना भी की है कि उन्होंने अधम राक्षस तथा कलंकित विभीषणको अपनी शरणमें ले लिया, लेकिन ( न जाने

कैसी सावधानीसे ? ) झूठे ही पापके कारण सियाको त्याग दिया ( दोहावली १६६ ) । अपने नैतिक विवेचनमें वे दो जगह स्वयंका प्रक्षेपण करते प्रतीत होते हैं। पहला स्थल है पूर्वजन्ममें विन्ध्याचलवासी माता-पिता-विहीन, अनपढ़ा, रामचरण-प्रेमी, रामकथा-जिज्ञासु ब्राह्मण काकभुशुण्डिकी आत्मकथा : और दूसरा स्थल है सती-प्रसंगमें जहाँ तुलसी शिवसे तादात्मीकरण करके कहते हैं कि सतीके इस शरीरसे पत्नी रूपमें मेरी भेंट नहीं हो सकती, स्त्री स्वभावसे ही मूर्ख (जड़) और बेसमझ ( अग्य ) होती है । मनोविश्लेषणात्मक दृष्टिसे यह प्रसंग रत्नावली-काण्डसे जुड़ जाता है ।

नैतिकताकी इस दूसरी दृष्टिमें वे 'अर्थ' और 'काम' सिद्धिको औचित्य-सीमा-के साथ स्वीकार करते हैं । 'कवितावली'में कलिकालमें दरिद्रता, दुःख, अकाल आदि अर्थ-सिद्धिके अभावसे ही फैले हैं । 'मानस' में रामराज्यमें तो प्रजाको नाना सुखों ( काम ) तथा सम्पत्ति ( अर्थ ) की उपलब्धि है । तुलसी कामकी तो नहीं, किन्तु अर्थको सिद्धिको धर्म तथा मोक्ष सिद्धिसे अधिक महत्त्वपूर्ण और बुनियादी समझ गये थे । मध्ययुगमें यह क्रान्तिकारी बोधत्व केवल उन्हें ही प्राप्त हुआ था । तत्कालीन सामन्तीय समाजमें जो वर्ग उत्पादक कार्योंमें जुटे थे ( वैश्य तथा शूद्र ) उन्हें नीचा दरजा प्राप्त था, और जो उपभोक्ता मात्र थे ( ब्राह्मण व क्षत्रिय ) उन्हें ऊँचा दरजा मिला था । किन्तु तबतक यह स्थिति वर्णसे अधिक स्पष्ट होती हुई वर्गीय समझौतावादमें भी रूपान्तरित हो गयी थी । कुछ ब्राह्मण और क्षत्रिय ही सत्ताका दुरुपयोग करके विशाल धन-संग्रह करके भोगी तथा स्वार्थी हो गये थे । अतः तुलसीके सामने 'वैराग्य' और 'दान' के प्रतिपादनके अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं बचा था क्योंकि भोगकी समाप्ति वैराग्यसे, तथा तीर्थों और कर्मकाण्डों और पुरोहितोंका पोषण-पालन दानसे ही हो सकता है । इसी भाँति शोषणको रोकनेकी नैतिक ताक़त अस्तेय ही थी । अतः अर्थ ( धन ) ही दान, भोग, व्यवहार, पाप, पुण्य, स्वापतेय विभव आदिका साधन प्रमाणित हो गया था । काम-सिद्धिमें तुलसी पतिव्रत तथा एकपत्नीव्रत, सतीत्व आदिके समर्थक हैं । वे शारीरिक सुखसे अधिक मानसिक सुख या खुशहालीके प्रवक्ता हैं । कामदग्ध प्रेमके बजाय कामदाहक प्रेमको लक्ष्य बताते हैं । यहाँ भी उन्होंने ब्राह्मण जातिके वैराग्यमूलक दृष्टिकोणसे काम-व्याख्या की है । इस व्याख्याके मूलमें तान्त्रिकों और विलासी सामन्तोंके यौनाचार तथा भोग-विलासके भी प्रति प्रतिक्रिया है । इस भाँति तुलसीने जीवनमें अर्थसिद्धि, कामसिद्धि, और साधारण-धर्म वर्णाश्रमधर्म-पालन प्रसंगोंमें परम्परा और मौलिकता, रूढ़ि और सामाजिक आवश्यकता, दोनों प्रकारके दृष्टिकोणोंका झिमझिमा संयोग किया है । इन तीनों

प्रसंगोंमें आदर्शोंकी पुनर्मीमांसा तथा सामाजिक यथार्थताके धुँधले प्रतिबिम्ब साफ़-साफ़ उभर आये हैं।

वर्णाश्रम-व्यवस्थाके अपने प्रारूप ( मॉडल ) में तुलसीने ब्राह्मणोंके पद; संस्कार, शक्ति और कर्म आदिकी पुनःप्रतिष्ठा की है। भारतीय इतिहासके कई मौक़ोंपर ब्राह्मण-क्षत्रिय-संघर्ष हुआ है[1] और अन्ततोगत्वा पुरोहित और शासक वर्गने समझौता कर लिया है। तुलसीके समयमें ब्राह्मणोंको प्रमुख चुनौती या तो निर्गुण आन्दोलनसे प्रभावित शूद्र बुद्धिजीवी दे रहे थे, या नाथ-सिद्धोंकी परस्पर-वाले योगी अथवा नास्तिक तान्त्रिक मत। उन्होंने शूद्रोंपर सबसे कठोर, विवेक-विरुद्ध धार्मिक प्रत्याक्रमण किये क्योंकि वे ब्राह्मणोंके बराबर होनेका, व्यासपीठ-पर बैठकर पुराणवाचन करनेका, जनेऊ पहनकर दान लेनेका समान-अधिकार इस्तेमाल करने लगे थे। मुग़ल शासनने उन्हें यह स्वतन्त्रता बख़्शी थी। अन्य प्रकारके विरोधियों, साधारण-धर्म वर्णाश्रम-धर्मसे च्युत लोगों, राममें प्रीति न रखनेवालों और परनिन्दक-परपीड़क-परदारामुग्ध-परसम्पत्तिहर्ता आदि लोगोंको उन्होंने 'खल' की उपाधि दी। वस्तुतः खलके टिपिकल चरित्रमें तत्कालीन सामाजिक दशाका प्रवृत्त्यात्मक आकलन हुआ है। उन्होंने ब्राह्मणोंको भूदेव घोषित किया और वर्णाश्रमधर्म, उपदेश तथा ज्ञान, कर्मकाण्ड तथा तपस्याका एकमात्र अधिकारी माना। वस्तुतः पुरोहित-कर्मकी जादुई शक्तियोंके आदिम विश्वास ब्राह्मणमें केन्द्रित है जिस तरह क्षत्रियका सूर्य-चन्द्रके वंशज होनेका आदिम नृतत्त्वशास्त्रीय कारण है। उनकी स्थापनाओंसे प्रकट होता है कि शुद्ध आचरणोंके कारण ब्राह्मण-मंगलकी जड़ है, पुरोहित होनेके कारण पूज्य और ईश्वरका प्रिय है, भू-सुर होनेके कारण ईश्वर प्रतिनिधि है तथा देवताओंको वश-में करनेकी भी शक्ति रखता है जिससे उसके शापको इन्द्र, शिव, काल, विष्णु आदिकी शक्तियाँ ( कुलिश, त्रिशूल, दण्ड, चक्र ) भी नहीं समाप्त कर सकतीं; तपस्वी होनेके कारण बलवान है और अपने रोषसे द्रोहीको कुल-समेत भस्म कर सकता है। इसलिए भगवान्को प्रसन्न करनेके लिए, कुल-रक्षाके लिए, मंगल कार्योंके लिए, कौवेकी योनिमें जन्म न लेनेके लिए ब्राह्मणोंको सेवा करनेका निदान और उसकी निन्दा न करनेका विधान हुआ है। तुलसीने ब्राह्मणोंके क्रोध-के लौकिक तथा आध्यात्मिक परिणामोंपर ही ज़ोर दिया है, यह ध्यातव्य है। किन्तु 'मानस'के बाद उनका ब्राह्मणवादी जोश ठण्डा पड़ जाता है। वे सामा-जिक शक्तियोंको रोक नहीं पाते। बादमें अक़्लमन्दीसे ब्राह्मणोंकी दुर्दशाके लिए

---

१. देखिए : भगवतशरण उपाध्याय और कोशाम्बीकी इतिहास-पुस्तकें।

उनके भ्रष्ट आचरणको ही दोषी ठहराते हैं। अपनी पौराणिक ब्रह्माण्ड-रचनामें उन्होंने वेद मर्यादाकी बात तो निरन्तर की है किन्तु वैदिक देवमण्डलका अवमान किया है तथा पौराणिक ब्राह्मण-देवमण्डलेका अभिषेक। 'मानस' में ब्रह्मा-विष्णु-महेश ही अधिष्ठातृ देवता हैं; इनमें भी राम तथा शिव परस्पर एक-दूसरेके भक्त हैं और इनमें भी राम त्रिदेवसे भी ऊँचे परब्रह्म हैं। इस भाँति तुलसीने रामको त्रिमूर्तिके ऊपर भी परम चक्रवर्ती पद दिया है। राम-शिव तथा राम-ब्रह्मा-विष्णु-महेशके नये सम्बन्ध तुलसीके समयमें सत्ता-पिरेमिडकी आवश्यकताके अनुरूप हैं – साम्प्रदायिक एकताकी आवश्यकता और एक महा सम्राट्के व्यापक शासनका आश्चर्य ! वैदिक देवमण्डलमें-से सूर्य, सरस्वती, यम, अग्नि और इन्द्र आये हैं। इनमें इन्द्रको एक दयनीय मूर्तिमें बदल दिया गया है। तुलसीके अनुसार देवता स्वार्थी हैं। वे लेवा अधिक हैं, देवा कम। वे कपट और व्यभिचार करते हैं। अतः उन्होंने देवताओंकी भूमिकाएँ गिरा दीं। वे विमानोंमें बैठकर आकाशसे देखते; फूल बरसाते, नाचते-गाते और दुन्दुभि बजाते हैं। इस भाँति वे केवल नैतिक सौन्दर्यवाले कर्मोंके कर्त्ता हैं। वे विकारोंसे ग्रस्त हैं। वे कायर भी हैं क्योंकि रावणके उत्पातसे भयभीत होकर रोते-चिल्लाते डरते-भागते नज़र आते हैं। वे दूसरोंकी मति भ्रष्ट कर सकते हैं ( सरस्वती और कामदेव )। वे मनुष्योंकी स्त्रियोंपर मोहित होकर उनके साथ व्यभिचार भी करते हैं ( अहल्या और वृन्दा प्रसंग )। वे अपने स्वार्थकी ही सिद्धि चाहते हैं। शायद यहीं तुलसीने मर्यादाको सबसे अधिक तोड़ा है। इसके दो-तीन कारण प्रतीत होते हैं : एक तो नाथ-सिद्ध-तान्त्रिक आदि इन देवताओंके मायाजाल आदिका गूढ़ और भयानक इस्तेमाल कर रहे थे; दूसरे ये देवता उनकी विरति-विवेक-भक्ति-पूर्ण नैतिकताके अनुकूल नहीं ठहरे, ये समाजमें एक दूसरे प्रकारके उदाहरण तथा प्रमाण होकर आने लगे थे; तीसरे तुलसीके परब्रह्म रामकी मर्यादा-पुरुषोत्तमताके आगे ये मात्र हास्य या दया या लज्जाके ही आलम्बन हो सकते थे। उनके परब्रह्म राम भी तो नये प्रतीक हैं : यदि वे दैवी पारमार्थिक सत्ताके प्रकट रूप हैं तो कला-कुशल अभिनेताकी तरह लीला करनेवाले, नट, जादूगर भी हैं।

मनुष्योंमें भी उन्होंने 'सन्त' की अवधारणाका मध्यकालीन परिष्कार किया। जिस भाँति राम-रावणका अलौकिक द्वैत है उसी तरह सन्त-खलका एक लौकिक नैतिक सामाजिक द्वैत है। ये गुणात्मक विपरीत हैं। वैदिक ऋषियोंकी तुलनामें तुलसीने सन्तोंके रूपमें आदर्श मध्यकालीन हिन्दू दृष्टिका संन्यासपरक आदर्श उभारा है जिसमें भक्तिके केन्द्रके चारों ओर सभी शुभोंका पुंजीभवन तथा पापोंका निषेध है। सन्त शम, दम, नियम और नीतिके पालनकर्ता हैं; लीला-गायक हैं;

परहित करते हैं; विषयलिप्त नहीं हैं; छह विकारोंको जीत लेते हैं; पवित्र हैं; पापरहित हैं; सुखधाम और दुःखरहित हैं; वेद-पुराण-वैराग्य-विवेक-विनय-विज्ञान-का ज्ञान रखते हैं; गुरु-गोविन्द-ब्राह्मण चरणोंमें प्रीति रखते हैं; आदि। सारांशमें, ये सन्त ऋषि हैं, भक्त हैं, सिद्ध हैं, संन्यासी हैं, शुद्धचित्त हैं, दैवी सम्पद् हैं, स्थितप्रज्ञ हैं; किन्तु साथ-साथ लोकपुरुष एवं निष्काम कर्मकर्त्ता भी हैं। इनका सत्संग भक्ति जगानेवाला, सुख देनेवाला और ज्ञान बतानेवाला है। साधक और विषयी सन्तोंसे ही मार्ग पाते हैं। तुलसीने सन्तोंको वर्णाश्रम दायरेसे बाहर निकालकर उन्हें आध्यात्मिक मानवधर्मकी पूर्णतामें आसीन किया है, लेकिन अपने युगकी दो व्याधियों – कंचन तथा कामिनी – से भी उन्हें मुक्त किया है। वे 'चारित्रिक शुद्धता'के प्रतीक हैं जिसके शीतलता, अमलता और कामनाहीनता नामक तीन मूल्य हैं। सारांशमें ये सन्त निर्मल, निष्कलंक और शान्तिपद-प्राप्त हैं ( वैराग्य सन्दीपनी )।

'नारी' ( जातिवाचक और भाववाचक संज्ञावाली ) और नारी ( व्यक्ति-वाचक संज्ञावाली ) के विषयमें संन्यासी तुलसी तथा पुरुष तुलसीको दार्शनिक एवं अनुभवपूर्ण प्रतिक्रियाओंका विरोधी सामंजस्य है। दार्शनिक दृष्टिकोणसे 'माया' और 'भक्ति' दोनों स्त्रीवर्गकी हैं और ईश्वरकी सहचरी हैं। इनमें-से भक्ति प्रिया है रघुनाथके अनुकूल है; लेकिन माया नटिनी है और भक्तिसे डरती है। यह मध्य-कालीन सौत-सम्बन्धोंके आधारपर विकसित रूपक है। मध्यकालीन दृष्टान्तके अनुसार मायानारी जगत्को विषयोंमें फँसाये रखती है। अतः उससे हटना जरूरी है। किन्तु मायाका एक अंग काम है और कामका साधन स्त्री है। इसलिए स्त्री ही मायाकी साक्षात् मूर्ति हो गयी। वह भी मायाकी तरह भयानक दुःख देने-वाली हो गयी। अतः माया और स्त्री दोनोंका एक समीकरण ( ईक्वेशन ) बन गया। मनोवैज्ञानिक धरातलपर यह एक गूढ़ बात है कि एक नारी दूसरी नारीके रूपपर मोहित नहीं होती अर्थात् भक्ति और मायामें मैत्री नहीं हो सकती। इस-लिए जिनके हृदयमें उपमारहित-उपाधिरहित भक्ति बसती है उनसे माया सकुचा जाती है। और क्योंकि माया तथा स्त्री पर्याय बना दी गयी हैं। इसलिए स्त्रीका त्याग भी वैध हुआ। सामाजिक तथा वैयक्तिक धरातलपर मध्यकालीन नारीको भोगी सामन्तों तथा कामचारी तान्त्रिकोंने सचमुच कामयष्टि बना दिया था; सामाजिक कुण्ठाओं और बन्धनोंकी जंजीरोंने उसे अबला बना दिया था; व्यापक अनुभवोंके अभाव तथा घरमें केवल पुत्रपालनके पेशेकी अधिकारिणी होनेके नाते नारी सचमुच जड़ ( मूर्ख ) और अज्ञानी ( अज्ञ ) हो गयी थी। इसलिए तुलसीने नारीको एक साथ सहज अपावन, जड़, अग्य, माया, अबला, झगड़ेकी

जड़, प्रबला ( दोहावली २६८ ) आदि घोषित किया। अपने व्यक्तिगत जीवनमें स्वयं उन्हें नारीकी प्रेममोहिनी, सौन्दर्य मधुरता, चरित्रकी विविधता, जीवनकी परवशता, माता-बहिन-सखी-प्रियारूपकी नवीनता आदिका अनुभव नहीं था। इसलिए 'मानस' में माता-रूप नारियाँ, और 'पार्वतीमंगल'में माता मैना तथा कन्यारूप नारीके चित्रणके बाद आगेकी कृतियोंमें वे नारीका विविध चरित्रांकन नहीं कर सके हैं। 'मानस' के पश्चात् नारीके विषयमें उनके उग्र मत भी बिलकुल बन्द हो गये हैं। नारीके प्रेम और शृंगारसे तुलसी लगभग अपरिचित या वंचित या अनजाने ही लगते हैं। रत्नावली-काण्डका ज़बरदस्त झटका तो 'मानस'में ही पड़ा है जहाँ वे उग्र नारी-निन्दक नज़र आते हैं। उनके प्रेमी युवककी मस्ती तथा आदर्शका प्रतिबिम्ब 'रामलला नहछू' के नाइनके हाव-भाव शोभा शृंगार-वर्णन और 'पार्वती' की प्रेमलीलामें मिलता है। बादके वैरागी तुलसीके लिए नारी निन्दाका विषय नहीं रह जाती। प्रत्युत वे पुरुषोंकी विषयवासनाकी ही अधिक भर्त्सना करते हैं। वे विलासिनी परकीया नारियों एवं सरल-मुग्ध ग्रामवनिताओं, विनीत गृहस्थ-पत्नियों, अकालमें बिकती हुई कन्याओं आदिके बीचका फ़र्क़ समझ जाते हैं। इसलिए 'मानस' और 'दोहावली'के अलावा फिर कहीं भी नारी-निन्दाके प्रसंग नहीं हैं। इस भाँति वे नारी-निन्दा करनेकी सन्तोंकी एक प्रिय धार्मिक रूढ़िको भी तोड़ देते हैं।

'शरीर'के विषयमें भी उन्होंने आध्यात्मिक रूढ़ि तोड़नेकी कोशिश की है क्योंकि मायावादके अनुसार शरीर ब्रह्मज्ञानमें बाधा है और जड़ है। इसके मूलमें हिन्दू मध्यकालीन चिन्तनकी शरीर, जीव, आत्मा और मनुष्यको पृथक्-पृथक् माननेकी अवैज्ञानिकता है। तुलसी कहते-कहाते हैं कि मानव शरीर बड़े भाग्यसे मिलता है; मनुष्य शरीरके समान अन्य कोई शरीर नहीं है; शरीर ही स्वर्ग-नरक तथा मोक्षकी सीढ़ी है और कल्याणकारी ज्ञान, वैराग्य तथा भक्तिदायक है। जो मनुष्य शरीर धारण करके भी परपीड़ा पहुँचाते हैं उनको जन्म-मृत्युके महान् संकट ( आवागमन ) सहने पड़ते हैं। चराचर जीवोंमें-से रामको मनुष्य सर्वाधिक प्रिय हैं; तथा मनुष्यमें भी द्विज और द्विजमें भी अपना दास सर्वाधिक प्रिय है। यहाँ हम देखते हैं कि किस तरह वे मानववादी भूमिकासे वर्णाश्रमकी विभेदक नीति तथा दास्य-भक्तिके प्रतिपादनमें आहिस्ता-से चले जाते हैं। किन्तु जब कालान्तरमें उनकी सारी साधनाका मूल्यांकन धूर्तता, खलता, दम्भके रूपमें होता है तब वे जातिमुक्त होनेकी घोषणा करते हैं; जब वे महामारी तथा बाहु-पीड़ासे छटपटाते हैं तब उन्हें भी शरीरका 'सत्य' पूरी तरह समझमें आ जाता है। अपनी बाहुपीड़ाकी वजहसे ही वे ईश्वरके प्रति अपनी जीवनपर्यन्त श्रद्धा-

विश्वास-भक्ति तकके प्रति पहला सन्देह करते हैं। इस क्षेत्रमें उनमें परम्परा-मौलिकताका द्वन्द्व झलक उठता है।

नैतिक दृष्टिके सन्दर्भमें हमने साधारणधर्म-वर्णाश्रमधर्म, कर्म, त्रिवर्गसिद्धिकी तुलसी सम्मत मीमांसा की; और उसकी पृष्ठभूमिमें ब्राह्मण, देवता, सन्त, खल, नारी, मनुष्य आदिके सम्बन्धमें तुलसीके विचारों तथा जीवनदृष्टियोंको जाँचा-परखा।

हम जो अबतक तुलसीकी आत्मकथा, जीवनदृष्टियों तथा प्रेमके दर्शनकी संरचना कर पाये हैं उसका पूरा स्वरूप यों है—

[ क ] आत्मकथाके आधारपर व्यक्तित्वके विकास चरण—( १ ) अनाथ और अभागा और कंगाल बालक रामबोला; ( २ ) आशावादी आदर्शवादी-यायावर संन्यासी तुलसी; एवं ( ३ ) निराशावादी-यथार्थवादी और एकाकी गोस्वामी तुलसीदास।

[ ख ] प्रेमदर्शनके आधारपर संवेगोंके विकास-पक्ष—(१) प्रेमशृंगार-हाव-भावपरक मांसल रागबोध; (२) विरति-विवेकपूर्ण प्रीतिभक्ति-भाव; (३) लोक-जीवन-पूर्ण उत्सवों एवं प्रीति-रीतिके व्यापक आधारोंके अनुभव; (४) प्रेमदर्शनका प्रतीकीकरण; एवं (५) शान्तरति और विनय भाववाला हरि-सम्बन्ध।

[ग] धार्मिक और नैतिक पक्षोंके आधारपर जीवनदर्शन—(१) सहजप्रवृत्ति-मूलक जीवन व सनातन धर्मके प्रति सहज विश्वास; (२) आदर्शवाद-अध्यात्म-वाद-विरतिदर्शनकी परम्पराका ग्रहण; (३) यथार्थोन्मुख आदर्शवादी दृष्टि; एवं (४) शान्तपद यथार्थताकी जीवनदृष्टि।

अपनी इन विश्लेषणात्मक स्थापनाओंके आधारपर हम [क], [ख] और [ग] के बीच एक व्यवस्थित, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय तथा अनुपम समानान्तरता पाते हैं। इन तीनोंके संयोगसे तुलसीदासके समग्र व्यक्तित्वकी शिल्प-मूर्ति पूर्णतः तराश दी गयी है। हमारे सामने तुलसीदास, क्रमशः तथा शनैः-शनैः, उल्लाससे गाम्भीर्यकी ओर, आदर्शसे यथार्थकी ओर, श्रद्धा-विश्वाससे सन्देह और कर्मकी ओर, परब्रह्म रामसे लोकमंगलके नायक रघुनायक रामकी ओर इतिहास-के काल-अक्षपर अपने क़दम बढ़ाते हुए चले आते हैं। यही उनकी 'आत्माकी कथा' का सारतत्त्व और प्रामाणिकता है। एक बात और ध्यानमें रखने योग्य है कि तुलसीदास आद्योपान्त रामभक्त, सनातन हिन्दूधर्मके अनुयायी रहे हैं; सनातन धर्म और रामके प्रति उनमें विद्रोह नहीं जनमा है।

इस भूमिकापर हम पहले उनकी कृतियोंके वर्ग ( सेट्स ) तदुपरान्त क्रम ( आर्डर ) का निर्धारण करेंगे। यही आधार निस्सन्देह अधिक ठोस है जब कि

हमारे पास कविकी पूरी आत्मकथा और प्रामाणिक जीवनी नहीं है। हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि [क], [ख] और [ग] के आन्तर आधार भी पत्थरकी दीवारकी तरह जुदा-जुदा नहीं हैं। इनमें आपसमें संचरण-सन्तरण हुआ है : जैसे रामबोलाके अनुभव गोस्वामी तुलसीदासने याद किये हैं; 'रामाज्ञाप्रश्न' की वृत्ति कई मुक्तकोंकी रचनाके बाद पुनः 'दोहावली', 'सतसई' आदिमें प्रकट हुई है; लोकजीवनकी सहजता काफ़ी बाद 'बरवै'में पुनः उद्घाटित हुई है।

मोटे तौरपर उनकी कृतियोंके तीन वृत्त हैं। पहला महाकाव्यात्मक वृत्त है जिसके अन्तर्गत 'पार्वतीमंगल', 'जानकीमंगल' व 'मानस' आते हैं। दूसरा लिरिकल वृत्त है जिसके अन्तर्गत 'रामललानहछू', 'कृष्णगीतावली', 'गीतावली', 'विनयपत्रिका', 'कवितावली' और 'हनुमानबाहुक' आते हैं। तीसरा उपदेश वृत्त है जिसके अन्तर्गत एक ओर रामकथासे सम्बद्ध 'रामाज्ञाप्रश्न' का शकुनशास्त्र है तथा दूसरी ओर लौकिक अनुभवोंसे परिपूर्ण 'दोहावली', 'सतसई' और 'वैराग्य सन्दीपनी' हैं। महाकाव्यात्मक वृत्तमें 'जानकीमंगल' तथा 'रामचरितमानस' पर 'अध्यात्म-रामायण' का प्रभाव है, प्रेमाख्यानक काव्य परम्पराकी दोहा-चौपाई शैली भी है और लोकगीतोंकी पद्धति भी है। उपदेश वृत्तमें दोहोंका अधिक उपयोग हुआ है : लिरिकल वृत्तमें एक ओर तो पद-शैली है, और दूसरी ओर 'कवितावली' में कवित्त-सवैया शैली भी।

अब हम उनके ग्रन्थोंका क्रमनिर्धारण करेंगे।

इसके लिए निश्चित रूपसे 'रामललानहछू' को आरम्भबिन्दु; 'मानस' को मध्यबिन्दु, तथा 'हनुमानबाहुक' को अन्तबिन्दु माना जा सकता है। इस वर्गीकरणका आधार [क], [ख] और [ग] धाराएँ ही होंगी। तो, उनकी कृतियोंका रचनाक्रम निम्नलिखित हो सकता है :

१. 'रामललानहछू' में तुलसी एक लोककवि, युवक सौन्दर्यपायी तथा सामान्यतः रामके देवत्वपर यक़ीन करनेवालेके रूपमें मिलते हैं। यहाँ वे अपने बचपनके दुःखोंको भूलकर, चित्रकूटके रामकथा-गायकों और सलोनी प्रकृतिसे प्रभावित होकर मात्र युवक कविके रूपमें हैं जिसमें प्रेम शृंगार-हाव भावकी मांसलताकी तड़ित् छुवन है। यहाँ मर्यादावाद और मायावाद दोनोंका जाल नहीं है। यहाँ वे चित्रकूटके लोकगायकोंकी शैलीपर 'नहछू' को स्वयं गाने तथा अन्य लोगोंको गाकर सुनानेमें मुग्ध हैं। यहाँ उन्हें रामसे अधिक प्यारी मंगल गानेवाली युवतियाँ मुसकराती लोहारिन, उठते हुए यौवनवाली अहीरिन; कटाक्षचपल रूपसलोनी तम्बोलिन, गोरे गातवाली दर्ज़िन, बदन-संकोचनि मोचिन, मधुरभाषिणी और सुन्दर अँगना मालिन, सब-रसखानि और क्षीण कटिवाली

बारिन तथा सोलहों श्रृंगार सजी, विशाल नैनों और भौहोंको चमकानेवाली नाउन लगती हैं। यहाँ लौकिक काम-श्रृंगार परम्परा और लोकजीवनका कोरम-कोर प्रतिबिम्ब है।

२. 'पार्वतीमंगल' दूसरी कृति है जिसमें पार्वती नायिका हैं, देवी नहीं। इसमें पहली बार युवक तुलसीपर सहज मोहनेवाले विवाह संस्कारकी लौकिक एवं वैदिक रीतियोंका मादक जादू है; तथा बारात-वर्णनमें ग्रामीण कौतुक और उन्मुक्त हास-परिहास अंकित है। एक ग्राम्य बारातपर ही झिलमिलाता रोमैण्टिक मिथकीय अवगुण्ठन उढ़ा दिया गया है। यहाँ दूल्हा 'बावला' है और बारात 'कौतुकी' है। तुलसीका युवक स्पष्टतः झाँक उठता है। किन्तु यहाँ 'तपस्याका' का पहला मिथक भी तेजोद्दीप्त किया गया है।

३. 'जानकीमंगल' में लोकजीवनमें घुले रहते हुए भी तुलसी आदर्श और गम्भीरताकी ओर मुड़ते हैं क्योंकि उनके सामने 'अध्यात्म रामायण' के प्रभावके फलस्वरूप देवता रामका और बड़ा चरित्र नजर आने लगता है। यहाँ विवाह-विधिका संक्षेप हो जाता है। वह दो खण्डोंमें बँट जाता है : स्वयंवरमें पौरुषेयता तथा विवाहमें कमनीयता। इसमें 'पार्वतीमंगल' की नाटकीयता तथा स्वाँग-बहुलताके स्थानपर अन्तर्वृत्तियोंका सूक्ष्म उद्घाटन होता है; तथा नारियोंकी शोभा, लीला और अनुभाव 'मर्यादित' होने लगते हैं।

४. 'रामचरितमानस' में राम परब्रह्म हो जाते हैं और रामकथाको दर्शन तथा धर्म तथा नीतिका पूरा वातावरण मिल जाता है। 'मानस' में मिथकीयकरण तथा पौराणिकीकरणकी प्रक्रिया पूरी हो जाती है, तथा रामचरित ग्राम्यीकरणकी पारिवारिक, ग्रामीण, सामाजिक, राष्ट्रीय चेतनाका सूर्य हो जाता है। इस कृतिके पूर्व तुलसीके प्रेम-जीवनमें कोई गहरा आघात अवश्य लगा है जिसने उन्हें संन्यासी बनाया, पूर्णतः आदर्शवादी-अध्यात्मवादी बनाया। इस कृतिके पूर्व उन्होंने गुरुदीक्षा ले ली है तथा स्वाध्यायका सारा ब्रह्मरस पी लिया है। चित्रकूटके सन्तों और भक्तोंके सम्पर्क-साहचर्यका तुलसीने इस महाकाव्यमें आदर्शीकरण कर डाला है। फलस्वरूप रामराज्यकी यूतोपिया भी झिलमिला उठी है। इस कृतिमें बालकाण्डकी प्रधानतासे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि सन्त तुलसी रामको अवतार, शैव-वैष्णव संस्कृतिके समन्वयकर्त्ता, नरोत्तम और चक्रवर्ती, लोकमंगलकर्ता और धर्मविजयकर्ता, नर और नारायण होनेकी सारी सांस्कृतिक-सामाजिक प्रक्रियाको सुलझाते हैं। इस कृतिसे तुलसी एक आह्वानकर्ता हो जाते हैं।

५. 'रामाज्ञाप्रश्न' तो 'मानस' के सात काण्डोंपर आधारित एक शकुनशास्त्र

है जिसके द्वारा वे रामकथाकी समस्त घटनाओंके सुफल-कुफलको अपने समयके समाजके सौभाग्य- दुर्भाग्यसे जोड़ देनेके पौराणिक-धार्मिक अन्धविश्वासको विज्ञापित करते हैं, यह साहित्यिक कृति नहीं है।

६. 'वैराग्य सन्दीपनी' में तुलसी रामके बजाय आदर्श रामभक्त और निर्मल निष्कलंक शान्तिपद-प्राप्त सिद्धपुरुष अर्थात् 'सन्त' का निरूपण करते हैं। यहाँ लोकमें विरति-विवेक-भक्ति पद-प्राप्त मनुष्यका आदर्श प्रस्तुत हुआ है। 'सन्त' में संन्यास-वृत्त अपने चरमोत्कर्षपर है।

७ और ८. 'सतसई' और 'दोहावली'में वे नीतियों तथा आदर्शोंको सहज लोकरीतिमें ढालते हैं। यहाँ उनमें वैराग्यकी एकान्तिकताको काटने और लोक-जीवनको नैतिक सन्मार्ग बतानेकी चेतना है। 'दोहावली'में तुलसी अपने प्रेम-दर्शनके चातक-भावका पूरा स्पष्टीकरण कर देते हैं। यहाँसे उनका प्रेम अन्त तक आध्यात्मिक हो जाता है। अब वे तत्कालीन समाजमें प्रचलित छल, कपट, पतन आदिपर ( रामकथासे स्वतन्त्र होकर ) नैतिक निर्णय देते हैं। यहाँ खलोंपर गहरे व्यंग्य हैं और लोकानुभव, लोकाचरण और लोकहितकी धार्मिक-नैतिक सूक्तियाँ भी।

९. 'गीतावली' में कविने अपने चातक-भावका विस्तार रामके रूप-माधुर्य तथा करुण रसके आस्वादनमें किया है। यहाँ एक ललित भाव है। यह कृति लिरिकल है और पद-शैलीमें होनेके कारण इसमें रामकथासे प्राप्त कुछ झाँकियों-पर अधिक रागारुणता है। इसमें बालकाण्डकी प्रधानता है और सुन्दरकाण्डको दूसरा विस्ताराकार मिला है। इस कृतिमें तुलसीने बाल रामकी लीलाएँ और सीताकी वियोगावस्थामें मन रमाया है जो उनके लिए एक 'नये' आन्तर परि-वर्तनका सूचक है। यहाँ आद्यन्त सौन्दर्य और पवित्रताकी धाराओंका मेल है, किन्तु कवि रामके अलौकिक परब्रह्म रूपसे चकित न होकर बालरूपपर मुग्ध है। इसके अलावा इस कृतिमें लोकोत्सवोंकी भीड़ है जो अयोध्याके रामोत्सवोंकी मदिर छाँह लिये है। रामका ऐश्वर्यपूर्ण राजहिंडोला, पावसमें अयोध्याकी प्रजाके लिए झूलना, होली और दीपावलीके त्यौहारोंका उल्लास आदिके चित्रण 'गीता-वली' के तुलसीको लोकजीवनकी खुशियों तथा सरल भीड़ोंमें भी घसीट ले आते हैं। इसमें लक्ष्मण-प्रिया उर्मिलाके क्रीड़ाभवनका भी इशारा है ( १।१०७ ) और उत्तरकाण्डमें लवकुश-जन्म तथा सीता-त्यागकी भी घटनाएँ हैं। इस कृतिमें संन्यासी तुलसी धार्मिक लोकोत्सवोंकी शृंगार-सजी, प्रेममुग्ध भीड़ोंमें खो जाते हैं। एक मुद्दत बाद वे अपने हृदयकी तरंगको पुनरुज्जीवित करते हैं तथा लोकके प्रेम, शृंगार, उल्लास, क्रीड़ा आदिको भी पवित्र मानना मंज़ूर कर लेते हैं।

१०. 'कृष्णगीतावली' भी पद-शैलीमें लिखी गयी लिरिकल वृत्तकी कृति है। यहाँ भी वे कृष्णके शिशु-मनोविज्ञानमें पैठते हैं। ऐसा लगता है कि 'रामगीतावली' तथा 'कृष्णगीतावली' के माध्यमसे तुलसी पुनः सहज शैशव, भोलेपन, सौन्दर्य और पवित्रता तथा सात्त्विक यौवनकी दुनियामें ललककर लौट जाना चाहते हैं। इस कृतिमें प्रधानतः गोपियोंकी भावासक्तिका वर्णन हुआ है और भ्रमरगीत संवाद भी आया है। मर्यादोपासक तुलसीमें मधुरोपासनाकी ओर झुकाव आया है। 'मानस' तथा 'वैराग्य सन्दीपनी'का वह तापस वातावरण लुप्त-सा हो गया है। उन्होंने सम्भवतः अनुभव किया होगा कि निर्गुण-साधनाकी नीरसताका पूरा उद्घाटन संन्यासीवृत्तवाली रामकथा न करके भोगवृत्तवाली कृष्णकथा ही कर सकती है। इस तरह इन दोनों गीतावलियोंके द्वारा तुलसीने अपने तथा लोकजीवन दोनोंमें प्रीति-प्रीतकी व्यापकताका सामरस्य ढूँढ़ लिया है। इन दोनों रचनाओंके द्वारा उन्होंने अपनी जिजीविषा और यौनकी ग्रन्थियोंको भी खोल लिया है।

११. 'बरवै रामायण' सम्भवतः चित्रकूटमें लिखी गयी उनहत्तर बरवा छन्दोंकी स्फुट रचना है ( छन्द ४३ )। इसे रचना-क्रममें निश्चित स्थान देनेमें कठिनाई है। किन्तु पूरे महाकाव्यको दलित द्राक्षाकी तरह निचोड़कर रस-पाक करनेमें जो सौन्दर्य बिम्बोंका शिल्पन, तथा कथाका चुने हुए प्रसन्नपदोंमें प्रतीक-भावन हो सकता है, उसका यह उदाहरण है। इसके कुछ छन्द तो प्रतीकों-बिम्बों-प्रयोजनोंकी नयी संक्षिप्ततम सौन्दर्य-भाषाका सूत्रपात करते हैं।

१२. 'विनयपत्रिका'से कविके जीवनका तीसरा चरण शुरू होता है जहाँ वह यथार्थवादी-निराशावादी-एकाकी-सा हो जाता है और शान्तरति तथा विनय-दैन्यके बीच लड़खड़ाता है। उसमें प्रशान्तपद यथार्थता स्थित हो जाती है। 'मंगलकाव्यों' की जीवन्त मधुरता, 'मानस' के आध्यात्मिक आदर्शवाद, 'गीतावलियों' के श्रेय-प्रेयके पवित्रतावादी सन्तुलनके स्थानपर अब कविमें 'चिन्ता' और आध्यात्मिक' 'अरक्षा' व्याप्त हो जाती है। वह शान्तरति और दैन्य-विनयकी द्वन्द्व-दशामें अभिभूत हो जाता है। यहाँसे निराशावादके स्वर प्रबल हो उठते हैं और जीवनका उल्लास तथा लोकमंगलके प्रबल विश्वास अस्तमित-से होने लगते हैं। कवि अपनी आध्यात्मिक पीड़ाके निवारणके लिए रामदरबारमें स्तुतियों-प्रार्थनाओंसे भरी अर्ज़ी पेश करता है। यह कलिकाल, जगत् तथा माया तथा भक्ति सम्बन्धी एक दार्शनिक दस्तावेज़से ज्यादा मध्यकालीन समाजमें परिव्याप्त निराशा-भग्नाशाका प्रज्वलित आलोचनाशील है। इसमें तीन समानान्तर धाराएँ हैं : भक्ति एवं दर्शनकी, आत्मकथाकी, और समाजकी निराशावादी आलोचना-

की। कहाँ 'मानस' में गुप्तयुगीन समाज-स्वप्नोंकी छायामय आदर्शीकरण और कहाँ 'विनयपत्रिका' में तत्कालीन यथार्थका दहकता हुआ निरूपण !

१३. 'कवितावली' में उत्तरकाण्ड – और उसमें भी कलियुग और काशीकी महामारी – का आधेसे अधिक विस्तार है। यहाँ तुलसीने पुनः रामकथाको लिया है किन्तु राम 'परब्रह्म' से अधिक कृपालु, शरणागत-वत्सल, दीनदयाल और रक्षक 'रघुनायक' के रूपमें आये हैं। 'मानस' के परिपाटी-प्रवण कलिकाल-वर्णनकी तुलनामें 'कवितावली' के यन्त्रणा-भोग्य कलिकाल-वर्णन यह स्पष्ट कर देते हैं कि तुलसीका दुःखपूर्ण बचपन कैसा था, उनके समयके किसानोंकी आर्थिक समस्याएँ कितनी भीषण थीं, समाजमें कितना झूठ और फ़रेब फैल गया था, और तुलसी किस तरह धीरे-धीरे विभ्रमरहित होकर समाजकी दैहिक, दैविक तथा भौतिक पीड़ाओंका निवारण ही पहली आवश्यकता स्वीकार कर चुके थे। यहाँ भक्ति और सन्तपदके दिलासे नहीं हैं। कला-शैली और समाजशास्त्रकी दृष्टिसे 'मानस' के बाद 'कवितावली' का ही महत्त्व है जहाँ वे पुनः पूरे कवि और पूरे जनचित्त-के प्रतीक-रूपमें मुखर हैं। यहाँ धार्मिक विरति और विवेकवाला दृष्टिकोण गौण पड़ गया है। यहाँ एकाकी तथा यथार्थवादी और दुःखोंमें पले, तथा लोकमें धूर्त और दम्भी और अज्ञात जातिके रूपमें बदनाम तुलसी, शैवोंके तथा चोरोंके जुल्मोंसे प्रताड़ित शिवभक्त परहितकर्त्ता तुलसी मिलते हैं। 'कवितावली' अब 'मानस' के वैपरीत्यमें एक महान् परिवर्तनकी यन्त्रणाको पुकार-पुकार कर कहती है। इसके सुन्दरकाण्डमें भी एक अजब-सी क्रूरता और भयानकता दिखती है जिसमें तुलसीकी चित्तशुद्धि नहीं हो सकी है। उनमें एक अजीब सामाजिक तटस्थता और शान्त जुगुप्सा छाती जाती है। यह कृति कविके विभक्त मनस्ता-त्विक व्यक्तित्व (साइकिक पर्सनैलिटी) का अनुपम उदाहरण है: एक ओर बाल-काण्ड-अयोध्याकाण्डका चित्रात्मक रीति-शैलीवाला सजीव वर्णन है तो दूसरी ओर सुन्दरकाण्ड-उत्तरकाण्डमें आर्थिक-सामाजिक यथार्थताकी करुणा तथा आतंक। इस कृतिके उत्तरार्धमें घोर त्रासदी ( ट्रैजेडी ) है।

१४. 'हनुमानबाहुक' में भी 'विनयपत्रिका' और 'कवितावली' की तरह कवि अपनी आत्मकथा कहता है। वह बुढ़ापेमें बाहुपीड़ा, पाँव-पीड़ा, पेटपीड़ा, मुख-पीड़ा, पीलिया आदिसे जर्जर हो जाता है और हनुमान्‌से 'मायामय' दैहिक पीड़ा दूर करनेके लिए प्रार्थना करता है। अन्तमें वह अपने भक्ति, वैराग्य, ज्ञान आदिके सभी श्रद्धा-विश्वास दाँवपर रख देता है क्योंकि उसे सन्देह होता है कि माया, जीव, काल, कर्म, आदिके बारेमें जो वेद कहते आये हैं, या जो वह स्वयं ईश्वरकी कृपा तथा शक्तिके बारेमें आज तक विश्वास रखता चला आया है –

क्या वे सच भी हैं ? यह तुलसीका यथार्थ जगत्में मानो 'पुनर्जन्म' है। इसके उपरान्त तुलसीके कृतित्वका अन्त हो जाता है।

इस भाँति तुलसीने यौवनके सहज यथार्थसे अनुप्रेरित होकर 'रामलला-नहछू' लिखा और अपने कृतित्वका समापन भी 'हनुमानबाहुक' के प्रौढ़ व्यक्तिगत विभ्रमविहीनता ( डिसइल्यूज़न ) पूर्ण यथार्थसे ही किया। एक महान् जागरूक और स्वप्नदर्शी, आदर्शवादी और यथार्थवादी, तपस्वी और तापभोगी दीर्घ जीवनकी द्वन्द्वात्मकता, विविधता और अन्त:संघर्षसे ये चौदहों कृतियाँ भी प्रतिबिम्बित हैं। 'रामललानहछू' तथा दोनों मंगलकाव्योंमें तेजस्वी वधुएँ, छबीले दूल्हे और युवती रमणियाँ हैं; 'मानस' और 'वैराग्य सन्दीपनी' में सन्तों-भक्तों और रामव्यूहकी प्रधानता है; 'गीतावली' में परिवारका भोला उल्लास तथा लोकोत्सवोंका पवित्र हर्ष है; 'विनयपत्रिका' में एक अनैतिक युग है; और अन्ततः 'कवितावली' एवं 'हनुमानबाहुक' में खल-समाज तथा नियति है।

अब सबसे आख़िरमें हम तुलसीके सृजन-कार्य ( क्रिएटिव ऐक्ट ) का अनुशीलन करेंगे।

यूँ तो उनकी कृतियोंका आत्मकथात्मक एवं समाजशास्त्रीय विकासज्ञान भी इसीमें महदूद कर लिया जाना चाहिए। इसलिए हम इस विकासके अध्ययनसे प्राप्त सापेक्ष्य निष्कर्षोंके आधारपर तुलसीके सृजन-कार्यकी चर्चा करेंगे।

सृजन-प्रक्रिया ( क्रिएटिव प्रोसेस ) की तरह सृजन-कार्य भी कलाकारकी जीवन-शैलीपर अतिशय आश्रित होता है; तदनुसार तुलसीने एक ब्राह्मण-संन्यासीकी जीवन-शैलीको पूरीकी पूरी तत्सामयिक मध्यकालीन हिन्दू सभ्यतापर प्रक्षेपित किया है। सृजन-कार्य कलाकार-मनुष्यके जीवन-दर्शनसे विशिष्ट दिशाएँ पाता है; तदनुसार तुलसीमें श्रद्धा-विश्वास एवं भक्तिके जो अन्त:संस्कार थे उनकी वजहसे उन्होंने सारे चराचर जगत्को राममय बना डालनेका जीवनदर्शन उपलब्ध किया था। सृजन-कार्य कलाकार व्यक्तिकी अनुभव-राशिकी सौन्दर्यबोधात्मक ( ऐस्थेटिक ) अभिव्यंजना होता है; तदनुरूप तुलसीने ग्रामीण समाजकी रूढ़ परम्पराओं, शहरी ज़िन्दगीके सामाजिक तनावों-खिचावों तथा व्यक्तिगत 'अभाग्य' और 'अनाथता' के जीवनगत अनुभव संचित किये थे; और इन्हें लोक-मंगलके हेतु प्रसारित करनेके लिए लोकशैली ( कीर्तन, पद, उपाख्यानकी ) अपनायी थी। सृजन-कार्यके निर्धारणमें विषयवस्तु ( कॉण्टेण्ट ), रचयिता, तथा सृजनका प्रयोजन ये तीन तत्त्व प्रधान होते हैं; तदनुकूल तुलसीको विषयवस्तुकी दृष्टिसे अवतार राम और वर्णाश्रमधर्मके रूपमें क्रमशः एक निर्विकल्प पात्र और एक स्वर्णयुगीन समाजके विराट् विकल्प मिले थे। रचयिताके रूपमें वे खुद एक संन्यासी,

यायावर, ग्रामीण, पौराणिक-मिथकीय चेता, एकांकी तथा समाज-सुधारक सन्तके रूपमें आध्यात्मिक तथा स्वार्थविहीन व्यक्तित्व पा चुके थे। इसलिए उनके सृजन-कार्यका प्रयोजन रसास्वाद न होकर भक्ति-प्राप्ति एवं प्रचार, चतुर्वर्ग-सिद्धि, परमार्थ ज्ञान और मंगल-विधान था। सृजन-कार्य अन्ततोगत्वा एक जीवन्त प्रतीकवादमें घनीभूत हो जाया करता है; तदनुरूप तुलसीके सृजन-कार्यके तीन प्राणवन्त प्रतीक हैं : ब्रह्माण्ड-सम्राट् तथा कृपालु स्वामी 'राम'; परमवीर, ब्रह्मचारी और सेवक 'हनुमान'; तथा आतमसम्मानी, एकांगी प्रेमी प्रिय-नाम रटनेवाला 'चातक'। इस प्रतीकत्रयीमें तुलसीका समाज-भाव, सम्बन्ध-भाव और आत्म-भाव पुष्पित हो गया है। इस प्रकार उनके सृजन-कार्यके ये प्रमुख सूत्र हैं। यह होते हुए भी सृजन-कार्य सृजन-प्रक्रियासे भिन्न है जिसकी चर्चा यथास्थान होगी।

हम पहली गोष्ठीमें ही कह चुके हैं कि तुलसी, तथा उनके इष्टदेव नायक और स्वामी राम दोनों ही 'वैराग्य-वृत्त' के हैं। इसलिए सगुण राम-कथा और तुलसी-सम्मत भक्ति-रस, दोनों ही विरति-विवेक-ज्ञानमूलक हैं। यह उनके सृजन कार्यका मूल भावछन्द है।

सृजन-कार्यकी पहली पहेली है कि वैष्णव तुलसीने कृष्ण, शिव और राम-जैसे चरितनायकोंमें-से श्रीरामचन्द्रको ही क्यों चुना? यह ठीक है कि त्रिदेवों ( लॉगोस ) में-से मध्यदेव विष्णु ही कलात्मक और लौकिक चरित-सृष्टि करते हैं। यूनानी, ईसाई और भारतीय धर्मोंपर यही नियम लागू होता है। विष्णुके रामावतार तथा कृष्णावतारमें-से कृष्णका बालगोपाल-रूप, गोपियों और राधाके साथवाला प्रेमविलासी-रूप ही उत्तर-मध्यकालमें प्रधान हो उठा था जो मूलतः लिरिकल और वैयक्तिक अन्तर्लीलावाला है। परवर्ती मध्यकालमें कृष्णका कूट-नीतिज्ञरूप, ( जैसा माघके 'शिशुपाल वध' में अंकित है ) या योगीश्वर सम्राट्-रूप ( जो 'महाभारत' में प्रस्तुत है ) छिप गया था। सूर और तुलसी दोनों ही कृष्ण तथा रामके सृजनमें पूर्ण हैं–किन्तु एकांगी। जिस प्रकार हम कहते हैं कि सूरकी दृष्टि सीमित थी उसी प्रकार व्यक्तिके रतिराग-पक्ष और प्रेम-गूढ़ताकी दृष्टिसे तुलसीकी नज़र भी सीमित थी। तुलसी बहिर्लीलाके गायक और क्लैसिकल हैं। अतः यह बात दृष्टि-विस्तारसे अधिक व्यक्ति-प्रतिभाके मार्गपर थमती है। सूरका 'सुकुमार मार्ग' और तुलसीका 'विचित्र मार्ग' दोनों मध्यकालीन संस्कृतिकी दो भुजाएँ हैं। इसके अलावा रामचरित आद्योपान्त पुहा हुआ है : रामका लक्ष्य बड़ा पैना एवं केन्द्रापसारी है। वह मध्यकालीन 'ग्राम-इकाई' और 'परिवार-इकाई' की धुरी है। इसकी तुलनामें कृष्णकथा विभक्त है : कृष्णके लक्ष्य परिवर्तमान तथा केन्द्राभिसारी हैं। वह मध्यकालीन 'प्रेम अन्तर्व्यूहों' की

आध्यात्मिक धुरी है। तुलसीने रामचरितके द्वारा ग्राम-इकाई एवं परिवार-इकाईको एक यूतोपिया दी जहाँ लोकमर्यादा और वर्णव्यवस्थाका पूर्ण ब्राह्मण-वादी-वैराग्यमूलक पूर्ण संगठित ढाँचा है। इस तरह उत्तर-मध्यकालमें विष्णुकी धारणाएँ तत्कालीन समाजशास्त्रीय प्रवृत्तियोंका सही वहन कर रही थीं। शिवको आर्य-देवपरिवारमें लानेवाले राम नहीं, कृष्ण हैं। दोनों नर्तक हैं: एक नटराज, दूसरा नटनागर। राम नर्तक नहीं हैं, परब्रह्म नट ( अभिनेता ) हैं। वे धनुर्धर हैं। छलिया कृष्ण वंशीधर हैं। इस तरह आस्थासेतु रामका कलावतार द्वितीयक ही रहा। कृष्ण पुरुषोत्तम हैं, राम मर्यादा-पुरुषोत्तम। शिव अवतार नहीं लेते ( यद्यपि तुलसीने हनुमानको रुद्रावतार माना है )। एक किसानी समाज, रूढ़ वर्णव्यवस्था, गर्व-भरी कर्मकाण्डी ब्राह्मण जाति और घोर दरिद्रता-अनाथताके कीचड़को रौंदकर आनेवाले तुलसीको राम ही खरे स्वामी, लोकमंगलकारी और कृपालु मिले। संघर्षकारी रामका तापस वनवास, ब्राह्मणोंकी तपस्या, और तुलसीकी विरतिके सांगोपांग योगने ही तुलसी और रामके बीच समीकरण क़ायम कर दिया जिसमें समान अंक वैराग्य तथा संघर्ष हुए। पूर्ववर्णित तुलसीकी आत्मकथा भी इस तथ्यपर काफ़ी रोशनी डाल सकती है कि उनके लिए राम एक आदिम बिम्ब ( प्राइमोर्डियल इमेज ) क्यों हो गये? रामकथाके तीन अभिप्राय हैं: पुत्रका माता-पिता-गृह-राजसे वंचित होकर भटकना, पत्नीका दीर्घ वियोग, तथा संघर्षोंपर विजय पाकर एक आदर्श समाजकी कल्पना जहाँ यह सब कुछ दुहराया न जा सके। तुलसीके स्वल्पज्ञात जीवनकी दिशाएँ कुछ ऐसी ही थीं। एक अनाथ, अभागा और कंगाल रामबोला, पत्नीसे वियुक्त वैरागी तुलसी, तथा काशी-अयोध्या-चित्रकूटके महान् लोककण्ठ तुलसीदास – इन तीनोंमें तीन राम-अभिप्रायोंसे समानान्तरता ( समानता नहीं ) है। दन्तकथाओंमें उद्घाटित पत्नी रत्नावलीकी भर्त्सना ही उनके जीवनका महत्तम संवेगात्मक झटका ( इमोशनल शॉक ) रहा होगा जिसने उनमें वैराग्य और भक्ति ( नये प्रेम) और मंगलकी नयी दिशाओंको प्रकट कर दिया होगा। सारांशमें उन्हें 'राम' और 'चातक' दोनों ही तादात्मीकृत प्रतीक प्राप्त हो गये होंगे। इसी तरह गेएटेके एक मित्रकी मृत्युके झटकेसे 'वर्देर' नामक कृति, और दाँते-द्वारा किशोरावस्थामें बीत्रिस नामक युवतीके झटकेको झेलनेसे 'डिवाइन कॉमेदिया' नामक महाकाव्य ही नहीं रचे गये, बल्कि गेएटेके जीवनका सृजनकार्य तनाव-खिंचावमूलक, और दाँतेका सृजन-कार्य ईसाई-उपासनापरक हो गया। एक शोषित किसान वर्ग ( क्लास ) किन्तु उच्च वर्ण ( कास्ट ) के अन्तर्विरोधोंको साथ-साथ ओढ़नेवाला अनाथ रामबोला अकाल, अपमान, भीख, जातिभ्रष्टता आदिको झेलता हुआ

तुलसी-जैसा पवित्र, किसी मानुषकी दासतासे आज़ाद, और परब्रह्म रामका दास तुलसीदास बना। अतः उनमें वर्ग-संघर्ष और वर्ण-परिशुद्धिका अग्निसत्व है। इसीलिए तुलसीने खलोंकी, रावणकी, रामद्रोहियोंकी, ब्राह्मणोंके गौरव वर्ण-समाजकी खिल्ली उड़ानेवाले शूद्र निर्गुणियोंकी निन्दा की है। उनका आदर्श भी वर्तमान युग नहीं, भविष्य भी नहीं, किन्तु स्वर्णयुगवाला रामराज्य है। इतना ताप झेलनेवाला, दुःखभोगी, वेद तथा वर्णकी मर्यादाका सूर्यविश्वासी तुलसी शृंगार और सुखोल्लासमें डूब ही नहीं सकता था। अतः उसने रामको चुना। कारण ऊपर बताये गये हैं। पत्नीकी अवहेलना झेलकर ही तुलसीने सीता और कौशल्याके सतीत्व और करुणापूर्ण चरित्र उभारे हैं; खलोंकी नीचताओंमें दले जाकर ही सन्तोंकी पूजा की है; परशुरामके रूपमें तत्कालीन क्रोधी शैवाचार्यों-की झलक दी है; चित्रकूटके नौका-प्रसंगमें खुद तापस बनकर मौजूद हो गये हैं ( मानस ); रत्नावलीकी झिड़कको मन्दोदरीकी शिक्षापूर्ण झिड़कमें रूपान्तरित किया है और रामके वियोगमें स्वयं अपने मनको भी उँड़ेल दिया है। तो, इस तरह तुलसीने रामको चुना। यह चुनाव हनुमान्‌के माध्यमसे सम्पन्न हुआ अर्थात् ग्रामदेवताकी चेतना प्राप्त करके। उनकी रामकथाओंमें कहीं भी राजमहलका सच्चा बोध नहीं है; राम राजा न होकर ग्रामीण भारतके नेता हैं। उनके शिव भी कैलाशवासी महेश्वर न होकर समाजके मुक्त, फक्कड़, आशुतोष, औढर-दानी, उल्लासपूर्ण-कष्टपूर्ण-तपपूर्ण जीवनके प्रतिबिम्ब हैं ( 'पार्वतीमंगल', 'मानस', 'कवितावली' के शिव )। शिवमें ग्रामीण संस्कृतिकी निर्बन्धता, राममें उसकी गम्भीर मर्यादा, तथा हनुमान्‌में उसकी बुनियादी सामाजिक सम्बन्धता है। इस भाँति तुलसीके सृजन-कार्यमें ग्राम्यीकरण, पौराणिकीकरण और मध्य-कालीनीकरणका अद्‌भुत संगम हुआ है। यह उनके सृजन-कार्यकी मौलिकता है। सम्पूर्ण रामकथाके राजदरबारों, महलों, परिवारों, नगरों, वनों, सेनाओं आदि सभीमें विरति, विवेक और भक्तिकी गम्भीर प्रशान्त छायाओंकी मन्थरता समाजके बजाय उनके ब्राह्मण-सन्यासीकी जीवन-शैलीका ही नतीजा है। यह उनके सृजन-कार्यकी एक अन्य मौलिकता है।

चित्रकूटके सम्पर्कने तुलसीके सृजन-कार्य तथा कवित्वको गढ़ा है। चित्रकूटके कई स्थल रामके मिथकीय इतिहाससे अंकित थे। वहाँके तीर्थमें मुनियों, साधुओं और कीर्तनियोंकी मण्डली राम-'नायक'का भजन तथा राम-'लीलाओं'का गायन किया करती थी, पर्वत शिखरोंपर हनुमान्‌के मन्दिर और पहलवानोंके अखाड़े थे। चाँदनीमें झिलमिलाती स्फटिक शिलाएँ, वर्षामें पयस्विनी नदीके ऊपर घहराते हुए श्याम मेघोंके नीचे चातकोंकी रटन, आसपासकी भोली वनबालाओंकी साधु-

सन्तोंके प्रति श्रद्धा-प्रीति और वृक्षोंपर बानरोंकी सेना आदिने एक-एक करके तुलसीके अवचेतनमें रामवृत्तका जातीय अवचेतन जागरित कर दिया। उनका बचपनका नाम रामबोला था। आरम्भसे वे हनुमान्के भक्त थे ही। चित्रकूटमें राममय वातावरण तथा विवाहके बाद रत्नावलीके द्वारा जगाये गये बोधने उन्हें रामदास बना दिया। चित्रकूट रामोपासनामें वृन्दावन है और अयोध्या मथुरा है। चित्रकूट रामकी चरित-भूमि न होकर लीला-भूमि है। इसलिए यहाँ रामकी 'लीलाओं'का गान होता है। तुलसीने हनुमान्-भक्तिसे दास्यभावकी रतिकी दीक्षा ली, नरहर्यानन्दसे सम्प्रदायकी दीक्षा ली, और चित्रकूटके कीर्तनियोंसे कवित्व-शैलीकी दिशा हासिल की। इसलिए उनकी सभी कृतियोंमें पद और कथा और लीलाको 'गाकर' पढ़नेवाला रूप है। उनकी सम्पूर्ण कथा लीलाओंमें विभाजित है, और प्रत्येक लीला स्वतन्त्र रूपसे पूर्ण है। इन लीलाओं व कथाओंका इतिहास-पुराण शैलीमें 'वर्णन' हुआ है। इसलिए इन्हें शिक्षा व आचरणके लिए 'समझा' जाता है। तुलसीकी अभिव्यंजना-पद्धति चित्रकूटके परिवेशपर अवलम्बित रही है। इसलिए रामकथाका प्रयोजन कभी भी स्वान्तःसुखाय नहीं रहा है ( यद्यपि तुलसीने विनयपूर्वक यह कहा अवश्य है। ) रामनाम और रामकथा और रामचरित भक्ति देनेवाला; पापियोंका भी उद्धारक, भवसागरसे पार ले जानेवाला, मंगलकारी और भक्तरंजक रहा है। यह मम्मटकी साहित्यशास्त्रीय षट्प्रयोजनी-से पृथक् है। तुलसीने नवरसोंसे एक बड़े तथा नवीन रस 'भक्ति-रस'की प्रतिष्ठा की है। 'कवितावली', 'हनुमानबाहुक', 'विनयपत्रिका'को छोड़कर तुलसीने अपनी प्रत्येक रचनाके विशिष्ट अवसरोंपर माने समझनेके प्रयोजन गिनाये हैं। अतः उनके सृजन-कार्यके शिल्पनमें चित्रकूटके योगदान और दिशादानका अनुमान लग जाता है। 'हनुमान्' ( दास्य-भाव ) और 'राम' ( स्वामी ) के क्रमशः सार्वभौम तथा निर्विकल्प प्रतीक उन्हें चित्रकूटसे ही मिले थे जिनका उत्तरोत्तर विकास हुआ। 'चातक'का प्रतीक उनके यौवनका आदर्शीकरण-आध्यात्मिकीकरण है जिसने उन्हें माया ( जगत् ) और मोह-ममता ( सम्बन्धी, पत्नी आदि) से छुड़ाकर रामके प्रेम अर्थात् 'भक्ति'में लीन कर दिया। इस प्रतीकको हम पीछे स्पष्ट कर चुके हैं। चातकका प्रतीक लगन और एकांगी प्रेमका भाष्य है। इस प्रतीकके कारण ही वे वाल्मीकिसे जुदा हो जाते हैं। वाल्मीकिका सर्जक-प्रतीक 'क्रौंच' है। उनकी 'रामायण'में 'क्रौंच-भाव'की, वियुक्ति-वियोगकी, त्रास-भय-करुणा एवं शौर्य-संघर्ष आदिमें परिव्याप्ति हुई है। वाल्मीकिमें चारों ओर जुदाई, चारों ओर वियोग, चारों ओर त्रास-भय-करुणा तथा राममें शौर्य-संघर्षका नरत्व ही प्रधान है। तुलसीमें 'चातक-भाव'की प्रीति,

विरति, विवेक, भक्ति, तथा रामका परब्रह्मत्व ही प्रधान है। तुलसी और वाल्मीकिमें अन्य कई सर्जक भेद हैं। 'वाल्मीकि रामायण' पौरुषेय है, 'मानस' विचित्र। 'रामायण' लौकिक जीवनकी सर्वांगीण स्वीकृति है, 'मानस' परलोक-की साधना है। 'मानस' उत्तर-मध्यकालीन नैतिकताके व्यवहार तथा आदर्श दोनोंके निमित्त है। यह अपने युगकी नयी सामाजिक आवश्यकताओं ( कामिनी-कंचन परित्याग ), राजनैतिक आवश्यकताओं (दण्ड और भेद नीतिका परित्याग), आर्थिक आवश्यकताओं ( दैहिक-भौतिक तापोंसे मुक्ति ) तथा आध्यात्मिक-धार्मिक आवश्यकताओं ( भक्ति, उद्धार, भवसागर-मुक्ति, मंगल ) के प्रति निपट प्रवृत्त्यात्मक ढंगसे जागरूक है। तुलसीने वाल्मीकिकी 'रामायण'का ढाँचा तो ग्रहण किया है; किन्तु चरित्र, आदर्श, घटना, वातावरण आदिकी व्याख्यामें 'अध्यात्म रामायण'का अनुसरण किया है। यह महाकाव्य मध्यकालीन परम्परा और पौराणिक चेतनाका कमल है। 'मानस'पर 'अध्यात्म रामायण'का सर्वाधिक आध्यात्मिक प्रभाव है। उदाहरणार्थ, 'अध्यात्म रामायण'के उमामहेश्वर-संवादसे प्रेरित होकर तुलसीने 'मानस'की संवाद-शैली और चार घाटोंके चार वक्ताओंकी विधिको विकसित किया है। भक्तिके अनेक प्रसंगोंमें भक्तोंकी स्तुतियोंकी भर-मार 'अध्यात्म रामायण'से प्रभावित है; पंचवटीमें रामका लक्ष्मणको आध्यात्मिक उपदेश भी 'अध्यात्म रामायण'के प्रभावकी देन है; जटायु-स्तुति भी 'अध्यात्म रामायण' पर पूर्णतः आधारित है। इसकी तुलनामें 'वाल्मीकि रामायण'ने 'मानस'-की कथावृत्तियोंको प्रभावित किया है। 'आदि-वाल्मीकि रामायण'में रामके कौतुक और चमत्कार नहीं हैं। 'मानस'में रामचरणोंके चमत्कार ( अहल्या, मल्लाह, बालि-वध व अन्य राक्षसोंके प्रसंगमें ) 'अध्यात्म रामायण'की देन हैं। 'रामायण'-में फुलवारी-प्रसंग नहीं है जब कि 'मानस'में जनककी फुलवारीकी मधुर-लीला वर्णित है। 'रामायण'के विपरीत 'मानस'में रामावतार, रावणावतार और मदन-दहनकी कथाएँ हैं; सरस्वती-द्वारा मन्थराकी बुद्धि भ्रष्ट करायी गयी है; रावणके गृह तथा निशाचरियोंके नृत्य, विहार, सौन्दर्य आदिका वर्णन नहीं है। 'रामायण' में ऋष्यमूकके नज़दीक हनुमान् भिक्षुक-रूपमें रामसे मिले हैं जब कि 'मानस'में वे ब्रह्मचारी रूपमें मिलते हैं; 'रामायण'में जयन्त सीताके स्तनमें चोंच मारता है, जब कि 'मानस'में वह चरणपर आघात करता है; 'रामायण'में रावण विभीषण-को केवल कटु वाक्य कहता है, जब कि 'मानस'में वह लात मारता है; 'रामायण'-में तपस्वी शूद्रके वधकी कथा है जब कि 'मानस'में इसे ढाँका गया है। इस भाँति 'रामायण'में जहाँ कहीं लौकिक विलास-क्रीड़ाके या तुलसीके युगकी चेतनाके अनुसार नैतिकता-विपरीत प्रसंग आये हैं, 'मानस'में उन्हें छोड़ दिया

गया है। इसी तरह मूल रामकथाकी आधिकारिक घटनाओंमें भी जो तुलसी-युगनीति-विरुद्ध लगा है, उसको मोहहीन नरलीला, कौतुक, माया, खेल आदि कहकर आध्यात्मिक बना दिया गया है। यहाँ तुलसीके युगकी दुहरी नैतिकताकी गहरी छानबीन हो जाती है। तुलसीके युगमें अवतारवादकी स्वीकृतिके कारण पात्रोंके सभी मानवीय संवेग, मानवीय सीमाएँ अनुचित और मिथ्या सिद्ध की गयीं और राममें उन्हें लीलारूपमें ही स्थित किया गया। उस समयमें अद्‌भुत रसकी लोकप्रियताके कारण रामकथाकी लगभग सभी घटनाओंपर अलौकिकताके आवरण डाल दिये गये। भक्तिकी दृष्टिसे तो यह चाहे जो हो, किन्तु सामाजिक जिज्ञासा तथा कलात्मकताकी दृष्टिसे निस्सन्देह कृत्रिमताका पोषक हुआ। मध्ययुगके दर्पण 'मानस' में इसी अलौकिकताका सहारा लेकर पापी, साधारण, खल आदि सभी प्रकारके मनुष्योंके 'हृदय-परिवर्तन', और फलतः समाजपरिवर्तनका एक भ्रामक सर्वव्यापी विश्वास अवतरित हुआ है। इस भाँति अलौकिकताने तुलसीके सृजन-कार्यको विश्वदर्शन दिया है। अस्तु, उनका सृजन-कार्य ऐसा है।

× × ×

अगली गोष्ठीमें हम तुलसीके चरित्रों ( पात्रों ) तथा पात्ररचना-विधियोंका विश्लेषण करेंगे।

■

## चौथी गोष्ठी

●

**"कोउ कहु नर नारायन हरि हर कोउ"** : अर्थात् तुलसीके पात्र-रचनाकी तकनीक क्या है ? उनके चरित्रोंकी रचना कैसी है ? उनके शील-निरूपणमें विचार एवं कार्यकी रसवादी-शास्त्रवादी भूमिकाएँ क्या हैं ?

हमारे देशके जिस उत्तर-मध्यकालमें धर्मनेता तुलसी हुए थे, और जिस तरह उन्होंने एक प्राकृत एवं ऐतिहासिक पात्र-मण्डलके बजाय एक दैवी एवं मिथकीय पात्रमण्डलका पुनर्मूल्यांकन किया है, उसे ध्यानमें रखते हुए विशेषतः 'मानस' के चरित्रीकरणके सिद्धान्तोंकी खोज एक निहायत मुश्किल सृजन है। हम न तो चतुर्धीर नेता-चक्रपर, न ही चतुर्श्रृंगारिक नायक-चक्रपर, और न ही अरस्तु-कृत नैतिक ( ईथॅस ) एवं वैचारिक ( डायनोइआ ) चरित्रके ढंगपर आश्रित रह सकते हैं। इसके लिए हमें मिथक और इतिहास, धर्म और जादू, विचार और कार्य ( आइडिया ऐण्ड ऐक्ट ) इन तीन द्वन्द्वात्मक अन्तःश्रेणियोंका बराबर इस्तेमाल करना होगा। तुलसीके शील-निरूपणका नज़रिया आध्यात्मिक-धार्मिक-नैतिक है। इसलिए हमें एक अलहदा ज़मीनपर खड़ा होना पड़ेगा क्योंकि उनके इस आध्यात्मिक इतिहासवाद ( मेटाफ़िज़िकल हिस्टॉरिसिज़्म ) में कारणवत्ताओं ( कॉज़ेलिटीज़ ) अर्थात् सामान्य घटनापरक चरित्रचित्रणके बजाय संस्कृतिके सर्वोच्च आत्मिक मूल्यों ( स्पिरिचुएल वैल्यूज़ ) का आह्वान है। मूल्यमीमांसा-शास्त्रमें सर्वोत्तम मूल्य-दण्ड 'राज्य' की प्राकृतिक तथा लौकिक यूतोपिया, 'दर्शन' की सार्वभौम धाराएँ ( आइडियॉलॉजी ), 'धर्म' का शुद्धतम रूप, 'कला' की सर्वतोपम अभिव्यंजना और 'विज्ञान' का तटस्थ प्रमापन आदिसे बना है। इसमें तुलसीने धर्मको परमपद दिया है, और कला एवं दर्शनको साधनमूल्य बनाया है। चरित्रीकरणपर तो इसका बेहद असर पड़ा है। लेकिन हम दुबारा आगाह करना चाहते हैं कि कालान्तरमें तुलसीने आत्माकी 'दिव्य रौशनी' के साथ-साथ आर्थिक-राजनैतिक विचारोंके सूर्य प्रकाशसे उत्पन्न कामधेनु धरतीकी सोंधी दुर्भुक्ष गन्ध भी फैलायी है। अतः तुलसीके सभी पहलुओंमें हमें एकतरफ़ा हो जानेके खतरेसे लगातार संघर्ष करना होगा।

हमारी शुरूआत चरित्रीकरणमें मिथक तथा इतिहासकी भूमिकासे होती है। मिथकीयकरणपर हम एक अलग गोष्ठीमें बड़ी बातचीत करेंगे। यहाँ तो केवल चरित्र-केन्द्रित मिथकचर्चा होगी। सबसे पहले मिथक और 'प्रतीक' ( सिम्बॅल ) के अन्तरावलम्बनपर दो-चार बातें प्रस्तुत करना समीचीन होगा। आदिम मानव एक समूह-इकाई था और उसके लिए सत्ताके सर्वचेतन-सचेतन, यथार्थ-यथार्थेतर, मृत्यु-मृत्यूपरान्त, मानुष-अतिप्राकृतिक, दो समानान्तर अन्तःसम्बन्धवाले धरातल थे। आदिम समाज और आदिम मानवताके विशिष्ट कार्य, अनुभव, वस्तुएँ, आकृतियाँ आदि 'प्रतीक' में सचेतन-सर्वचेतन हुई हैं। उसमें जो आदिम तथा आर्केटाइपल गहराइयाँ थीं, उसके जो भौतिक एवं प्राकृतिक जगत्के अनिर्वचनीय अनुभव थे, और उसकी संस्कृतिमें मूल्यों तथा विचारोंके रूपमें अर्जित जो सामग्री थी वह सब मिलकर संज्ञाचरण ( नाउन-फ़ेज़ ) में प्रतीक रूपमें जनमी। अतः प्रतीकमें जन्मतः दो धरातल हुए; और धार्मिक प्रतीकोंमें तो यह दुहरापन रहस्य-वादी तथा आध्यात्मिक होता गया। इन प्रतीकोंको क्रिया-चरणमें समानान्तर रचनेका कार्य 'मिथक' ने किया। मिथक प्रतीकोंको कथारूपमें अर्थात् चरित्र-घटनावृत्तमें गूँथते हैं। इन मिथकोंमें सामूहिकतामूल आदिम इनसानके खुदको, जीवनको, जगत्को, प्रकृतिको और समाजको देखने-समझने, उनसे रिश्ते क़ायम करने, और अन्ततोगत्वा उन्हें कहानियोंमें गढ़ देनेकी सृजनात्मक अतिकल्पनाएँ हैं। ( मिथकोंमें वस्तुओंके उद्गम, देवताओं और दानवोंके करतबों, उनकी जादुई ताक़तोंके क़िस्से होते हैं; किन्तु इनमें अपरिमित गहराइयाँ हैं जिन्हें हम मिथक गोष्ठीमें उभारेंगे। रामकथामें कृषिकर्म, नायकके जन्म और नारीके पवित्रीकरण ( सीता, सर्वव्याप्त ब्रह्म, अग्निपरीक्षा ) तथा आर्योंके सांस्कृतिक संघर्षके तीन-चार' 'मूल स्रष्टा विचार-बीज' दबे पड़े हैं जो काल-यात्रामें अनेक मिथक कथाओं, और परवर्ती ऐतिहासिक व्याख्याओंसे जुड़ते-जुड़ते तुलसीके हाथोंमें एक मिथकीय इतिहास हो गये हैं। धार्मिक चेतना इन्हें 'प्रतीक' के रूपमें माननेसे इनकार करती है यद्यपि हर परवर्ती युग इन्हें प्रतीक मानकर ही इनकी पुनर्व्याख्या करता है। हम इन्हें 'मिथक प्रतीक' मानेंगे जिसके अन्तर्गत राम, रामवृत्तके पात्र, रामवृत्तकी घटनाएँ तथा रामचरित्रका मेल है। मिथकीय प्रतीकीकरणकी वजहसे 'मानस'के पात्र व घटनाएँ अर्थगत दुहरेपन, इतिहास-मिथकके कालगत दुहरेपन तथा लौकिक अलौकिकके स्थानगत दुहरेपनको लिये हैं। इसी वजहसे रामव्यूहके पात्र अवतार और मनुष्य, लौकिक और अलौकिक, नट और दैवी दोनों हैं ( और कुछ व्याख्याओंमें इनमें-से एक नहीं भी हैं ); रावणवृत्तके पात्र शत्रु और मित्र, मायावी और मुक्तिप्रार्थी दोनों हैं। मिथकीय चरणमें रामवृत्तसे जुड़े 'मूल

स्रष्टा विचार-बीज' पहले तो 'आर्केटाइपल पैटर्नों' में गुँथकर एक अनुस्यूत कथानक बने होंगे। बादमें पूर्णतः सुगठित हो जानेपर रामकथाका एक 'सांस्कृतिक पैटर्न' वाल्मीकिने पूरा कर दिया होगा। संक्रान्त मध्यकालमें तुलसीने इस पैटर्न या 'रूपाकार' को एक 'साम्प्रदायिक रूपाकार' ( कल्टिक पैटर्न ) में रूपान्तरित कर दिया जिसमें इतिहास और समाज तथा चरित्र और वैष्णवोपासनाकी चतुरंग रेखाएँ अधिक बोल उठी हैं; दैवी शक्तियोंके प्रभाव तथा उपासकोंके पूजा-विधान एवं सम्प्रदायकी दार्शनिक व्याख्या पुरजोश हो उठी हैं। सारांशमें, तुलसीने अपने पात्रोंको वैदिक देवताओंकी तरह प्रतीक नहीं रहने दिया, वाल्मीकिके पात्रोंकी तरह महाकाव्यात्मक नायकदल नहीं रहने दिया, बल्कि उनका इतिवृत्त रचकर उन्हें आध्यात्मिक इतिहासमें गतिमान कर दिया। उन्होंने दो तरहकी यथार्थता मंजूर की है : पहली सामाजिक क्रूर-कटु यथातथ्यता, दूसरी धर्म-सिद्धान्तों-द्वारा प्रस्तावित यथार्थता ( सत्य )। "आरम्भिक कालोंमें जब सारा जीवन साम्प्रदायिक या मिथकीय निर्देशनसे संचालित होता है तब यथार्थता इतनी महानतापूर्वक सरल होती है, इतनी सरलतापूर्वक सर्वग्राह्य होती है, एक कलीकी तरह यूँ मुँदी हुई होती है, कि वह हमारे लिए अतिरिक्त अर्थों-की छिपी राशि रखे रहती है। आदिम यथातथ्यताकी भव्यताका हेतु भी यही है।"[१] तुलसीने जिस आर्ष यथार्थताको स्वीकारा वह युगपूर्व घटनाओंसे पूर्व-निर्धारित थी और उसमें मानवके 'सही' कार्यों तथा 'पवित्र' संवेगोंके धार्मिक मानदण्ड बने हुए थे। उन्होंने अपने युगमें उपस्थित मानव एवं हिन्दू समाजको जीवनके चिरन्तन मिथकीय स्रोतसे जोड़ा, किन्तु अपने साम्प्रदायिक रूपाकारकी अनुवर्ती मीमांसाके साथ। उन्हें और उनके युगके भारी बहुमतको यह यक़ीन था कि वे पात्र एवं घटनाएँ अस्तित्वपूर्ण थीं, और अस्तित्वमान हैं। अतएव उन्होंने अपने रामचरित-लेखनके 'वातावरण'को रँगनेमें तो अपने देश-कालके गाढ़े-ताज़े रंग भरे, तथा 'पात्रों-घटनाओं'की व्याख्यामें अपने सम्प्रदाय एवं वेद-लोकरीति-समर्थित यथातथ्यताका इस्तेमाल किया। इसलिए मिथकीय राम-वृत्तके चरित्र अलौकिक और लौकिक दोनों शील धारण करते प्रतीत होते हैं। इसीलिए वे वाल्मीकिके नर-नरोत्तम राम न होकर नारायण ( 'सगुण परब्रह्म' ) हो जाते हैं। अतः जिस तरह वाल्मीकिने 'रामायण' के पात्रोंकी वैदिक-अर्ध-पौराणिक व्याख्याएँ की हैं उसी तरह तुलसीने रामके मिथक-प्रतीक (राम, रामवृत्त-

---

१. रोल्लो मे-द्वारा सम्पादित "सिम्बॉलिज्म इन रिलीजन ऐण्ड लिटरेचर" में एरिक काह्लरका 'दि नेचर ऑव सिम्बॅल' शीर्षक लेख, पृष्ठ ६४–६५।

में पात्र, रामचरित ) की एक 'तत्कालीन पूर्ण वैष्णव व्याख्या' पेश की है। इस व्याख्यामें अलौकिकता, नरत्वकी अवमानता, कार्योंके दुहरेपनको सम्प्रदायगत बनानेके लिए 'लीला'के धार्मिक प्रतीकका बहुमुखी प्रयोग हुआ है। तुलसीकी इस साम्प्रदायिक वैष्णव व्याख्यामें तत्कालीनताके असरके कारण 'लीला' और 'प्रयोजन'को नये आयाम भी मिले हैं। जैसे—(१) राम निर्गुण-सगुण दोनों हैं, निर्गुणसे सगुण हो जाते हैं, उनके अंशसे नाना ब्रह्मा-विष्णु-महेश उत्पन्न होते हैं और वे इनका संचालन करते हैं, अतः वे अवतारसे भी बड़े परब्रह्म हैं और इसके साथ ही वे आदर्श पुत्र, आदर्श पति, आदर्श मित्र और आदर्श राजा हैं – वैष्णव नीतिशास्त्रकी मर्यादा; (२) विष्णुके अवतार राम तथा उपास्य अवतारी रामके मेलसे प्रस्तुत इस संशोधित 'अवतारवाद' में भक्तिकी सगुणोपासनाका भी समन्वय हुआ है; (३) वैदिक रीतिके असुर-संहारके हेतुके स्थानपर भक्तिपरक मध्यकालीन ( लोकरीतिके ) असुर-उद्धारकी प्रमुखता हो गयी जिससे रावणवृत्तके सभी पात्र भी प्रकट-अप्रकट रामभक्त हो गये; (४) नृतात्त्विक दृष्टिसे राम चरवाहायुग तथा कृषियुगकी सन्धिपर हैं लेकिन 'मानस' में वे कृषियुगकी संस्कृतिके प्रतीक हैं; (५) 'मानस' की उमा केवल शिवपत्नी न होकर शाक्तोंकी उपास्या भी है; (६) सारे तुलसी-कृतित्वमें लीला और चरित, गाँव और नगर, प्रजा और राजा, सेवक और स्वामी, भक्त और भगवान्‌वाले 'विरोधोंमें सामंजस्य' के अनूठे उदाहरण हैं; और (७) सारा तुलसी-कृतित्व राज्य और कलाके बजाय परिवार और धर्मके निमित्त है, इसीलिए अवतारके वैदिक हेतुओंके साथ भगत-हेतु, ब्राह्मण-हेतु तथा गौ-हेतु भी जुड़े हैं।

मिश्रित मिथकीय परिवेशसे शुद्ध इतिहास-भूमिकापर उतरनेपर तुलसीके चरित्रीकरणके सिद्धान्त और स्पष्ट होते हैं। यूँ तो वाल्मीकि ही महाकाव्य-चरणमें चरित्रीकरणको इतिहास-भूमिकापर ले आये थे, वीरचरितयुग ( हीरोइक एज ) भव्य होता है, पारलौकिक–पारमार्थिक नहीं। इस युगमें आचरण-की परम्पराएँ रूढ़ नहीं हो पातीं; लेकिन घोर मध्यकाल, और उसमें भी उस युगका पारलौकिक दृष्टिकोण, आचरण-व्यवहारकी एक विस्तृत तथा सूक्ष्म संहिताका विधान करता है। तुलसीने रामवृत्तके पात्रोंके आचरण-व्यवहारोंकी लौकिक मर्यादाओंको ऐसे आधारपर गढ़ा है। लेकिन पात्रोंमें अलौकिकता भी है। क्या इस अलौकिक चरित्रवत्ताका इतिहाससे कोई नाता है ? इतिहासकी मध्यकालीन चेतना बौद्धिक न होकर रहस्यात्मक या आध्यात्मिक है। यह चेतना 'विकासवादके विचारमत' को क़तई नामंजूर करके 'सृष्टिके विचारमत'-पर विश्वास रखती है। यह चेतना मानव-चेतनाकी आन्तरिक एकताको मिथकीय

ढंगसे बाह्य जगत्पर आरोपित करती है तथा जीवनकी पूर्णता एवं सार्थकताकी अभिव्यक्ति पूर्ण तर्कके बजाय मिथकीय विश्वाससे करती है। इस ऐतिहासिक चेतनामें भी सृष्टि एक रहस्य बनी रहती है और मिथकसे पूर्णतः अलग नहीं हो पाती। इस भाँति स्रष्टा ईश्वर प्रथम और अन्तिम हेतु बन जाता है। न तो वह पूर्णतः ऐतिहासिक जगत्में लीन हो पाता है, न ही पूर्णतः उससे विच्छिन्न। इस तरहके इतिहासमें कारणवाद ( कॉज़ेशन ) की समस्या तर्कसे छूट जाती है। प्रत्येक तथ्य एक पूर्ववर्ती कारण-द्वारा सुलझा दिया जाता है तथा प्रत्येक कारणके पीछे किसी दूसरे लोक ( पूर्वजन्म ) का कारण निहित कर दिया जाता है। इस प्रकारका अन्तर्विरोध दैवी पात्रोंकी अलौकिकता, और लौकिक पात्रोंके कर्मसिद्धान्तको संचालित करता है। दैवी पात्र नाना प्रकारोंके अवतार लेकर कल्प-कल्पमें अपनी लीला करते हैं, तो लौकिक पात्र पूर्वजन्म एवं वर्तमान जन्म दोनोंको मिलाकर अपने चरित्रकी कार्य-कारण शृंखला कसते हैं। इस तरह ईश्वर राम, और कमोबेश उनके वृत्तके अन्य पात्र भी, 'स्रष्टा' होनेके साथ-साथ ऐतिहासिक अस्तित्वके 'निर्णायक' भी हो जाते हैं। फलतः लौकिक पात्र आत्माकी चरम समरसताको प्राप्त करनेके कार्योंमें प्रकृतिकी समरसताको उपेक्षित या खण्डित करते हैं। ऐतिहासिक निरीक्षणकी दृष्टिसे तीन तरहकी कारणवत्ताएँ होती हैं : यान्त्रिकतावादी कारणवत्ता कारण तथा प्रभावमें पूरी समानता मानती है, जीवशास्त्रीय कारणवत्ता कारणसे अधिक प्रभावको महत्त्व देते हुए एक भ्रूणको पूरे विकसित जीवनके परिप्रेक्ष्यमें देखती है, तथा आध्यात्मिक-नैतिक कारणवत्ता व्यक्तित्वके सहज आवेश और कार्य-प्रभावसे परेके कारणको उभारती है। यह कार्यको दो विधेयोंमें बाँट देती है :[1] बाह्य विवरणके अनुसार किसी विशेष आवेश या शक्तिसे संचालित विशिष्ट कार्य अवश्यम्भावी है; तथा[2] आन्तरिक विवरणके अनुसार उस विशेष कार्य तथा एक उच्चतर सम्भावनाके बीच चुनाव होना अवश्यम्भावी है। यह चुनाव पाप, अशुभ, अधर्म, जडता, मायाको जानकर ही कार्यकी उच्चतर सम्भावनाके रूपमें सम्पादित किया जा सकता है। पाप या बुरे कार्य इस जगत्में आनेपर ( मायाके कारण ) जीवपर हावी हो जाते हैं। ये भौतिकता, प्रकृति और शरीर-जगत्के भ्रान्त ऐतिहासिक द्वैतसे उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार इस जगत्में आना अर्थात् सृष्टि एक पतन या बन्धन हो जाती है; और नैसर्गिकताके आवेग पाप या बुरे

---

१. देखिए : राइनहोल्ड नाइबूह-कृत 'द नेचर ऑव रिलिजस एक्सपीरियेंस' में 'द ट्रुथ इन मिथ्स' शीर्षक लेख।

कर्मोंके स्रोत बन जाते हैं तथा 'विवेक' के निर्देशन शुभ कार्योंके स्रोत। तुलसी-ने अपने चरित्रीकरणमें जगत्, जीव, कार्य, विचार, आवेग ( मनोविकार ) आदि-के लिए सक्रिय आध्यात्मिक नैतिक कारणवत्ताको हिन्दू धर्मशास्त्रके अखण्ड परि-वेशमें पेश किया है। इस परिवेशमें तुलसीको कुछ परिवर्धन-संशोधन भी करना पड़ा है। चरित्रविधान कार्यकारण-शृंखलासे संचालित होता है किन्तु यह शृंखला-पूर्वजन्मसे पूर्णतः जुड़ी है। अतः ऐतिहासिक कार्य स्वतन्त्र नहीं है। इस चरित्र-विधानका निर्णायक ईश्वरीय न्याय है जिसके अनुसार शुभ कार्यका फल पुण्य और अशुभका पाप होता है; लेकिन निष्काम काम सर्वोत्तम है। अशुभ कार्य दण्डनीय तथा शुभ पुरस्कार योग्य है। इस नैतिक क़ानूनकी कठोरतामें मनुष्योंको जकड़कर तुलसीने ईश्वरको पूर्णतः मुक्त निर्णायक बना दिया है। पापोंसे मनुष्य और राक्षस छुटकारा पा सकते हैं – भक्ति और मुक्ति-द्वारा। पाप जीवके अंश न होकर मायाकी दुष्टता हैं। इसलिए इतिहासमें ईश्वरके अवतार-प्रतीककी वह पूर्णता उद्घाटित हुई जो कर्मसिद्धान्तका अतिक्रमण करके दण्ड-पुरस्कारदानके अलावा 'क्षमा' भी प्रदान कर सके[1]। फलस्वरूप रामव्यूहके पात्र वैदिक और लौकिक रीतिके अनुसार बालि, शम्बूक, शूर्पणखाको दण्ड देते हैं; विभीषण, सुग्रीव, परशुराम आदिको क्षमा करते हैं; जाम्बवन्त, हनुमान्, भरत, अंगद, जटायुको पुरस्कार देते हैं; रावण, खर-दूषण, मेघनाद, कुम्भकर्ण आदिका वध करके भी मोक्ष देते हैं; तथा शबरी, अहल्या, निषाद, जयन्त आदिका उद्धार करते हैं। यही नहीं, राम भक्तों और सन्तोंके विचारात्मक चरित्रको रंजनसे समृद्ध करते हैं। इस तरह जीवनके स्रोत और अर्थको इतिहाससे परे प्रतिष्ठित करके तुलसीने शील-निरूपणमें एक ओर तो दैवी पात्रोंमें अलौकिकताकी प्रतिष्ठा की है; दूसरी ओर मानवीय पात्रोंमें भक्तिके हेतुसे 'प्रीति,' 'उद्धार' और 'क्षमा'के नये आयाम दिये हैं; तीसरी ओर राक्षस और संघर्ष पक्षको भी रामकी नैतिक करुणासे मण्डित किया है; तथा चौथी ओर चरित्रका 'अर्थ' इस जीवन एवं इतिहासकी सत्ताके परे व्यंजित किया है।

धर्म और जादूने भी विशेषतया क्रमशः रामपक्ष और रावणपक्षके चरित्रोंका काफ़ी संचालन किया है। धर्म और जादूके सम्बन्धोंपर मेलिनोव्सकी, फ्रेज़र, क्लुकहॉन, टाइलर, सुमनेर, रेडिन आदि नृतत्त्वशास्त्रियोंने गम्भीर कार्य किये हैं। दोनों तत्त्व ही अनानुभव-परक हैं, दोनों ही आस्थापर आश्रित हैं, दोनों ही

---

१. देखिए : राइनहोल्ड नाइबूह-कृत 'द नेचर ऑव रिलिजस एक्सपीरियेंस' में 'द ट्रुथ इन मिथ्स' शीर्षक लेख।

नयों तथा भग्नाशाओंसे संघर्ष करते हैं, दोनों ही प्रतीकात्मक हैं, दोनों ही एक कर्मकाण्डमें जकड़े हैं। जादूकी प्रकृति साधनवादी तथा व्यक्तिनिरपेक्ष होती है जिससे यह अच्छाई या बुराईके लिए प्रयुक्त हो सकता है। अतः यह वैयक्तिक लक्ष्योंपर बल देता है। धर्म समूहके लक्ष्योंपर बल देता है। जादूमें संवेगोंका नृतात्त्विक मनस्तत्त्व ( ऐन्थ्रोपो साइकी ) नहीं होता जब कि धर्ममें संवेग, श्रद्धा और प्रीति होती है। जादूमें शक्ति – दैवीशक्ति—को क़ब्ज़ेमें किया जाता है, जब कि धर्ममें उसके लिए प्रार्थना की जाती है। धर्म संस्थागत होकर सामाजिक समूहोंका संगठन करता है जब कि जादू अपने विश्वासियोंको संगठित नहीं करता। धर्म मानवीय अस्तित्वके बुनियादी प्रश्नोंसे जूझता है जब कि जादू विशेष और स्थूल समस्याओंमें बझा होता है। नृतत्त्वशास्त्रियोंके अनुसार धर्मका कोई ऐसा पक्ष कठिनाईसे ही मिलेगा जिसमें कुछ जादूके पक्ष घुले-मिले न हों। हर्स्कोवित्सके शब्दोंमें "वस्तुतः जादू धर्मका ही संश्लिष्ट अंग है।" बहुधा यह माना जाता है कि जादू कमसे कम या तो समाजके, या उसके किसी समूहके, या किसी ईश्वर-भक्त प्रतिष्ठित मनुष्यके ख़िलाफ़ होता है। धार्मिक कर्मकाण्ड समाज या किसी व्यक्तिके ख़िलाफ़ नहीं होते हैं। धर्म और नीति ( राजनीति ) मिलकर एक जटिल निर्मितको, तथा जादू और प्राद्योगिकी ( टेक्नॉलॅजी ) मिलकर दूसरी जटिल निर्मितको प्रस्तुत करते हैं। दोनोंमें ही अतिप्राकृतिकके प्रति श्रद्धा है। जादूके अतिप्राकृतिक ( सुपरनैचुरल ) में कपट और भय होता है; धर्मके अतिप्राकृतिकमें प्रार्थना और पावनता ( होलिनेस )। इस पीठिकापर रामपक्ष और रावणपक्षके चरित्रीकरणके नये पक्ष आलोकित हो उठते हैं, क्योंकि तुलसीके मध्यकालीन धर्ममें भी रामवृत्तके मूल 'मिथकीय' और 'जादुई' अवशेष 'संस्कृतिकृत' हो चुके थे। 'मानस' में जादुई अवशेषोंका सर्वाधिक उपयोग हुआ है। रावणमें जादू ( माया ) तथा प्राद्योगिकी ( 'शक्ति' प्रयोग ) का आधान है, तो राममें धर्म और राजनीतिका। रावण एक मायावीकी तरह अशोकवनको सीता और लंकाके युद्ध दोनोंकी तोड़-जोड़ करता है तथा उनपर वैयक्तिक स्वार्थकी दृष्टिसे नियन्त्रण रखता है। राम तप और वैराग्यसे बलिदान करते हैं तथा शिवादिकी उपासना करते हैं। रावण अपनी शक्तिका उपयोग वैयक्तिक लक्ष्योंके लिए करता है, जब कि राम समूहके आदर्शोंके लिए। रावण माया एवं शक्तिके प्रयोग नर-समूह और अवतारी रामके खिलाफ़ करता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि नाना 'शक्तियों' और 'मायाओं' का उपयोग रावणपक्ष ही करता है, रामपक्ष नीति और कर्मकाण्डपर आस्था रखता है। रावण दैवमतके विरुद्ध है और कोई भी अपशकुन नहीं

मानता। वह मायाका रचयिता भी है। सारांशतः वह 'अधर्मी, दुष्ट, स्वार्थी' होनेके साथ 'मायावी' या जादूगर भी है। इसीके साथ रावणका धार्मिक आधार भी है कि वह उत्तम कुल-जन्मा पुलस्त्यका नाती है और प्रभु रामके बाणसे प्राण छोड़कर भवसागर तरनेवाला एक भक्त भी हो जाता है जो बाह्य लीलाके लिए शत्रु बनता है। वह सीताकी भी मन-ही-मन स्तुति करता है। लेकिन उसका चरित्रीकरण उसके भक्तके आधारको सार्थक नहीं करता। वह एक खलनायक ही रहता है। राममें अतिप्राकृतिकताका समावेश सर्वाधिक है जो उन्हें परमपावन ( होली ) बनाती है। उनका जन्म नहीं होता है। वे प्रकट होते हैं: चारों भुजाओंमें आयुध धारण किये हुए, दिव्य आभूषण और वनमाला पहने। वे अलौकिक बाललीलाएँ करते हैं और अपना अखण्ड अद्भुत रूप दिखाते हैं जो विराट्पुरुष ( ऐन्थ्रोपोसेण्ट्रिक ) का प्रतीक है। उनके अलौकिक प्रभावके कारण जो कोई उनके भक्तके प्रति अपराध करता है वह रामरोष-रूपी अग्निमें जल जाता है। राम भी मायाके नियन्ता हैं किन्तु यह माया एक दार्शनिक अवधारणा होकर उनसे संलग्न है। सतीके सामने राम ( बालकाण्ड ) तथा वानरों-रीछोंके सामने रावण अनेक राम उत्पन्न कर देते हैं जो क्रमशः एक ही अतिप्राकृतिक शक्तिके 'लीला' एवं 'माया' रूप हैं। जादूके अन्य प्रयोग चरित्रीकरणको इतना अधिक नहीं प्रभावित करते हैं ( जैसे—वेश बदलना, रूप बदलना, अग्निपरीक्षा, लक्ष्मण-रेखा आदि )। अतः उनकी चर्चा अन्यत्र यथास्थान होगी।

विचार और कार्यके परिप्रेक्ष्यमें तुलसीके चरित्रीकरणकी अनेकानेक पद्धतियाँ उभर पड़ती हैं। हम यह नृतात्त्विक तथ्य दोबारा दुहरा देना चाहते हैं कि इतिवृत्त ( कथात्मकता ) में पात्र प्रतीक ( संज्ञा ) के रूपमें न होकर चरित्र ( क्रिया ) के रूपमें होते हैं, किन्तु धार्मिक इतिवृत्तमें वे अवधारणा ( कॉन्सेप्ट ) हो सकते हैं। वे विचार ( आइडिया ) के हरकारे हो जाते हैं। दर्शन, सामाजिक विज्ञानों तथा धर्मके समाजशास्त्रमें एक महान् विवाद इस बातपर भी चलता है कि इतिहासमें विचारोंकी भूमिका क्या होती है? धार्मिक इतिवृत्तमें नायकवर्ग तथा खलनायकवर्गके विचार घटनाओंको स्वतः निर्धारित तथा बेहद संचालित करते हैं। शंकर, तुलसी, मार्क्स, नीत्शे, कार्ल मानहाइम, फ़्राएड आदिके समानान्तर कृतित्वोंमें विचार बनाम इतिहासके सम्बन्ध साफ़ हो उठते हैं। यह एक प्रबल समाजशास्त्रीय स्थापना है कि "विचार हितों (इण्टरेस्ट्स) के कार्यधर्म होते हैं। चेतनाके जीवन तथा विचारकी पूरे व्यक्तित्व और उसकी सामाजिक भूमिकापर पूरी छाप होती है और ये समाज तथा संस्कृतिको विकसित करते हैं। लालकोट पारसन दो प्रकारके विचार मानते हैं: ( क ) 'अस्तित्ववादी विचार'

जो यथातथ्य या यथानुमानित वस्तुओंका विवरण और विश्लेषण करते हैं; (ख) 'नॉर्मेटिव विचार जो यह संकेत करते हैं कि वस्तुओंको कैसा होना चाहिए।'' काव्य, विशेषकर धार्मिक काव्य, में ये दोनों ही अतिशयोक्तिपूर्ण होते हैं तथा इनपर परम्पराका गहरा कवच पड़ा होता है। इसलिए विचार और कार्यके सम्बन्ध बड़े ही आन्दोलक होते हैं। किसी धार्मिक सम्प्रदायके अन्तर्मुखी विस्तारसे निस्सृत विचार सीधे ही सामाजिक सक्रियता और सामाजिक परिवर्तनके भागी नहीं हो जाते। जब विचार और हितोंकी मैत्री होती है, जब वे किसी वर्ग या समूहके चिन्तनको प्रभावित कर डालते हैं, तभी वे सामाजिक अन्तः-प्रक्रियामें संचरणशील होते हैं। एक बात और भी ध्यानमें रखनेकी है कि धार्मिक विचार अपेक्षाकृत काफ़ी सुस्थिर और अपरिवर्तनीय हुआ करते हैं। यदि वे एक बार विकसित तथा स्वीकार कर लिये जाते हैं तब वे 'कार्य' पर अपना पूरा दबाव डालते हैं। अतः वे सामाजिक परिवर्तनके बाधक भी हो जाते हैं। मध्यकालमें वर्णाश्रमधर्म, कर्मसिद्धान्त, भाग्य आदिके विचारोंने अपनी जीवन्तता खोकर सामाजिक परिवर्तन, आर्थिक दौलत, वैज्ञानिक (तार्किक) दृष्टिकोणोंके प्रति दूसरे प्रकारका रुख अपनाया (क्योंकि आध्यात्मिक विचार केवल ''भौतिक परिस्थितियों''का ही प्रतिबिम्ब नहीं होते हैं)। तुलसीके समयमें दीन-हीन कृषकवर्गमें सुगबुगी उठ रही थी। इसकी धार्मिक अशान्तिको कबीरने पहचाना और सामाजिक विनाशको तुलसीने। किन्तु तुलसीके अपने विचार-धारात्मक अन्तर्विरोध (वर्ण बनाम वर्ग, वर्णाश्रम बनाम वर्णहीनता, रामराज बनाम कलिसमाज) थे। अतः मध्यकालीन इतिहासमें विचारकी नयी भूमिकाके प्रवक्ताओंमें कबीर तथा अन्य सन्त और तुलसी तथा अन्य विचारक आते हैं। इन लोगोंने 'भक्ति' और 'माया' और 'जाति'के सम्बन्धमें नये विचार रखे एवं प्रस्तुत किये; किन्तु तत्कालीन नैतिक आवश्यकताओं तथा 'मोक्ष' या मुक्तिकी ज़बरदस्त अवधारणासे उनके ये विचार पुनः एक परम्परावादी साँचेमें ढल गये। मैक्स वेबरने धार्मिक विश्वासों तथा आर्थिक विकासके आपसी सम्बन्धोंकी एक लम्बी अध्ययन-मालासे यह नतीजा निकाला है कि 'मोक्ष'की विभिन्न धारणाओं-ने आर्थिक व्यवहारोंको अत्यन्त प्रभावित किया है। हिन्दूधार्मिकताने कर्मसिद्धान्त-पर विश्वास करके 'अर्थ' और 'काम' पक्षोंको पापरूप मानकर मध्यकालकी सामा-जिक चेतनाको तो कुण्ठित किया ही, आर्थिक विकास और आर्थिक शोषणके तापको भी रोक दिया। इस भाँति धर्म या तो बाधक बना या रक्षक। तुलसीके पात्र-संयोजनसे हमें विचारों एवं कार्योंके आपसी सम्बन्धके कई पहलू मिलते हैं: रामपक्ष त्याग और नीतिका आवेदक रहा है, रावणपक्ष भौतिकता और आर्य-

नीतिका विरोधी। लंकाका आर्थिक और तकनीकी स्तर काफ़ी ऊँचा था। किन्तु वहाँ 'अधर्म' और 'काम'का ही बोलबाला था। रामपक्षमें परम्पराव्रत है; वह नाना निगमागमपुराण ग्रन्थोंसे समर्थित चरित्रयोजनामें बँधा है। वह आध्यात्मिक मूल्योंकी ओर उन्मुख है। अतः वह भविष्यके बजाय अतीतकी ओर प्रयाण करता है। परिवर्तनका दबाव केवल शूद्रोंकी ओरसे उभर रहा है। अतः राम एक ओर निषाद, और शबरी आदिको गले लगाते हैं, तो दूसरी ओर शूद्र शम्बूकका वध करते हैं या शूद्रको नीच ही बनाये रखते हैं। आध्यात्मिक मूल्योंकी साधनाकी वजहसे 'सन्त' और 'भक्त' ऋषि और पुरोहित, ब्राह्मण और ब्रह्मको शीर्ष स्थान दिया गया है। ये मात्र चिन्तन और भावनामें तल्लीन रहनेवाले अन्तर्मुखी पात्राभास हैं : अमूर्त टाइप-जैसे हैं। इसीके समानान्तर 'अवतारवाद' तथा 'भक्ति' ने मिलकर विचारोंको परिवर्तनकारी भूमिका भी दी है : परब्रह्म राम भूमिके भारको हरनेके लिए, असुरोंका संहार करनेके लिए, और एक धर्मराज्य स्थापनाके लिए अर्थात् एक निर्विकल्प सामाजिक परिवर्तनके लिए धरतीपर स्वयं आते हैं; उनके साथ इन्द्र ( बालि ), ब्रह्मा ( जामवन्त ), सूर्य ( सुग्रीव ), विश्वकर्मा ( नील ), मारुत ( हनुमान् ) तथा सहस्र देवता (वानर) भी सामूहिक अवतार लेकर इस परिवर्तनके सहकर्मी होते हैं; लक्ष्मण ( शेष ), भरत ( शंख ) और शत्रुघ्न ( चक्र ) का भी अंशावतार होता है। अवतारमें 'भक्ति' के मिलनेसे समाजमें सुधार और संवेगोंका उदात्तीकरण भी होता है। किन्तु सब मिलाकर सामाजिक सक्रियताका यह परिगठन दो आधारोंपर क़ायम है : वर्णाश्रम-व्यवस्था, तथा लोक-मर्यादा एवं वेद-मर्यादा व्यवस्था। रामवृत्तके सारे पात्र इन्हीं दो व्यवस्थाओंके योगक्षेम हैं। दो विचारात्मक चरित्र-कोटियाँ उभरती हैं : वैराग्य कोटि ( सन्त, भक्त, मुनि आदि ), और भक्त कोटि ( यह बहुत व्यापक है जिसमें शत्रु, पापी, राक्षस भी शामिल हो जाते हैं यदि वे राम-भक्त हैं )। इसके मूलमें अविनाशी जीवको ईश्वरका अंश माननेका विचार है। इसके मूलमें दूसरा हेतु उद्धारका है। भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन स्वभावकी रचनामें तीन गुणों ( सत्त्व, रज, तम ) और तदनुरूप तीन प्रकारके विचारशील-को मानता है। इस विचारके अनुसार वैरागी सद्गुणी चरित्र हैं, साधक व गृहस्थ रजोगुणी, और पापी एवं राक्षस तमोगुणी। ये पात्र अपना आध्यात्मिक उद्धार करते हैं अर्थात् तमोगुणी-रजोगुणी वृत्तिको त्यागकर सत्त्वगुणी चरित्रके साधक होते हैं। इसके मूलमें तीसरा विचार है 'कर्म' की मीमांसाका। अवतारी और अंशावतार पात्रोंके कार्य तो 'लीला' होते हैं, लेकिन प्राकृत जनोंके कार्य पूर्वजन्मके 'कर्म' के परिणाम भी होते हैं; राक्षसोंके कार्य तत्काल व्यवस्थाके

ध्वंसक होते हैं। तुलसीने इस त्रिमुखी कार्यमीमांसामें कर्मवादका कर्म, परब्रह्मकी लीला, तथा तत्कालीन वर्तमानकी अराजकता तीनोंको समाहित किया है; प्राकृत जनोंके वर्तमान कार्योंके निष्काम होनेकी शर्त रखी है। कार्यक्षेत्रमें एक मानवतावादी परिवर्तन भी उन्होंने किया : 'कर्मसिद्धान्त' की वज्रादपि कठोरता और 'दैवी क्षमा-करुणाके तत्त्वों' का भक्ति-द्वारा समन्वय। सारांशमें 'गुण' और 'कर्म' के विचारोंने उन्हें चरित्रीकरणके सूत्र दिये हैं जिसके फलस्वरूप उन्होंने आदर्श ( आइडियल ) बनाम कुकर्म ( ईविल ) के दो ध्रुवान्त बना डाले हैं। आदर्शके अन्तर्गत साधक आदर्श सन्त है और निर्विकल्प आदर्श परब्रह्म राम; कुकर्मके अन्तर्गत माध्यम खल है और परिणति रावण। रामपक्षमें देवता, नर और भक्त शामिल हैं; रावणपक्षमें अप्रकट भक्त किन्तु प्रकट राक्षस और तत्कालीन समाजके दुष्ट लोग जुड़े हैं। ये राक्षस वस्तुतः खलोंके अतिप्राकृतिक प्रतीक हैं : पराये धन व परायी स्त्रीको चुरा ले जानेवाले, दुष्ट, चोर, जुआरी ( मानस १।१८३।१ ); अनेक जातियोंके ( क़बीलाई टोटेम ), मनमाना रूप धारण करनेवाले (गुरिल्ला), भयंकर-हिंसक-विवेकरहित ( बर्बर )। वैदिक संस्कृतिकी विरोधी जातियाँ, तथा पौराणिक आचारोंमें भंजक ( खल ), दोनों मिलकर 'राक्षस' का धार्मिक-बिम्ब रचते हैं। धार्मिक काव्योंमें इस विचारदिशाका भी खयाल रखना चाहिए कि उनमें देवता या ईश्वरके लिए, उसके चरित्रशिल्प और आदर्श-स्थापनके लिए, राक्षस या दुष्ट अनिवार्य भी है। एक ईश्वर बिना राक्षसकी विरोधी मौजूदगीके अस्तित्वमान ही नहीं हो सकता; उसमें अतिमानवता, देवत्व तथा अतिप्राकृतिकताका समावेश नामुमकिन हो जायेगा। इस भाँति राम सन्तनायकके शीर्ष तथा रावण खलनायकके शीर्ष हो जाते हैं। रामकथाकी यात्राओंमें ये विचार बड़े ही सुविचारित ढंगसे कार्यमें रूपान्तरित होते चले जाते हैं। पहली श्रेणीमें राजकुमार रामकी मिथिला तथा अयोध्या ( कोशल ) के बीचकी यात्राएँ हैं जिनमें प्रेम, विवाह, मंगल तथा राजकलह सभी घटता है। दूसरी यात्रा है वनवासी रामकी पंचवटी तककी जहाँ राम वन्यजीवनकी भीषणताओंसे अभ्यस्त होकर कुशल दण्डनीतिकार ( धन्वा ) होते हैं। तीसरी यात्रा है लंका तककी जहाँ राम एक प्रजातान्त्रिक सेनापति धनुर्वेदसिद्ध और अवतार पुरुष होते हैं तथा राक्षसोंका संहार करते हैं। अन्तिम यात्रा है लंकासे अयोध्या तककी जहाँ वे पुनः दिग्विजयी राम, राष्ट्रनेता राम, परब्रह्म रामके रूपमें वापस आते हैं। जाहिर है कि हिन्दू विचारों और अहिन्दू विचारोंकी टक्करसे चरित्र ( कार्यों ) के कई ऐसे पहलू भी खुले हैं जिनमें एक ओर रोमांसके तत्त्व ( नायिका-हरण, नायककी जोखिम यात्रा, भय-त्रास-करुणादि )

घुले-मिले हैं, तो दूसरी ओर मध्यकालीन कृषि-संस्कृतिकी मर्यादा व अलौकिक श्रद्धा गृहीत है। इसके अलावा चरित्रीकरणपर कर्मसिद्धान्तका सहजता-घातक प्रभाव भी पड़ा है। तुलसीने इसके मूल विचार—भाग्यवाद—का सहारा लेकर प्रत्येक छोटे-महीन अन्तर्द्वन्द्व या बाह्य संघर्षको नैतिक न्यायसे जोड़कर उसकी पूर्वजन्मान्वेषी व्याख्या कर डाली है। इस नैतिक न्यायने चरित्रीकरणको काव्यात्मक न्यायसे विच्छिन्न कर दिया है। प्रत्येक उपस्थित शुभ-अशुभ कार्यके कारण या औचित्य बतानेके लिए कई मिथकें गूँथ दी गयी हैं। अतः नैतिक संविधानकी तो प्रत्येक धारा लागू हो गयी है किन्तु चरित्रीकरणमें संयोग तत्त्व (चान्स फ़ैक्टर) का आधान गुम हो गया है। इससे कार्यक्षेत्रमें एक हानि भी हुई कि कई पात्र एक तो अपने पूर्वजन्मकी 'यादें' भी रखने लगे (अहल्या, काकभुशुण्डि, पार्वती आदि) और अपने कार्योंके करनेका पूरा 'विवेक' भी रखने लगे अर्थात् उन्हें भवितव्यताका पूरा पता था। इस कार्यविधिसे केवल वे ही अनजान रहे जिनकी मति भ्रष्ट कर दी गयी थी (कौशल्या, अयोध्याकी जनतादि)। अतः ये चरित्र अपने कार्योंका नतीजा भी पहलेसे ही जानते हैं (हरिदर्शन या हरिके द्वारा वध होनेसे मुक्ति)। चरित्रीकरणके अन्तर्गत विचार और कार्यके ये कुछ अनुपम सिद्धान्त प्रकट हो उठते हैं। सारांश यह है कि अधिकांश पात्र मनमें सोचते कुछ हैं और करते कुछ हैं तथा उनमें अपने कार्य तथा परिणामका पूरा विवेक है। इन पात्रोंकी रचना रसवादी दृष्टिकी अपेक्षा धर्मशास्त्रवादी दृष्टिसे हुई है।

धार्मिक जीवन तथा महाकाव्योंमें नृतत्त्वशास्त्रियोंने धार्मिक नेताओंकी भूमिकाका निरूपण किया है। समाजमें वे 'ईश्वरदूत' ( प्रॉफ़ेट ) तथा काव्यमें 'अवतार' रूपमें आया करते हैं। ईश्वरदूतोंके विचार चमत्कारपूर्ण (कैरिस्मैटिक) तथा अवतारोंके विचार 'अलौकिक' होते हैं; और दोनोंमें अतिप्राकृतिकका संयोग होता है। यहाँ धर्मके जादुई अवशेषका रहस्यीकरण है जिसमें नेता या नायक सामान्य मनुष्योंकी अपेक्षा विलक्षण, अतिप्राकृतिक, अतिमानवीय होता है। दोनों ही चरित्ररूपोंमें एक ही तरहका अलौकिक ( व्यापक अर्थमें ) नेतृत्व स्थापित होता है जिसमें यह विश्वास होता है कि ईश्वरदूतका ईश्वरसे सीधा सम्पर्क होता है और ईश्वर उसे अपनी कुछ आज्ञाएँ पूरी करनेका 'मिशन' सौंपता है। अवतारके प्रसंगमें स्वयं ईश्वर अवतारी, या अंश, या समूह, या व्यूह-रूपमें धरतीपर आकर सामाजिक विषमताओंको समाप्त करता है। इसके मूलमें दो विचार हैं: शनैः-शनैः परिवर्तनकी अवश्यम्भावना या अवश्यम्भावीकी क्रमिकताके प्रति उपेक्षा भावना; तथा दैनिक कार्यक्रमकी जड़तासे मुक्ति और उसके स्थानपर एक नये दृष्टिकोणका अभ्युदय। इस भाँति धार्मिक चरित्रीकरणमें अलौकिकताका समावेश

समाजचिन्तामें एक व्याप्त भग्नाशा, यातना, संघर्षको झटकेसे ( क्रमिकताके बजाय ) बदल देनेका भुगतान है। इसमें उत्साहकी अतिशयता पावनता और श्रद्धामें रूपान्तरित हो जाती है – विशेषरूपसे अवतारवादके परिवेशमें। तुलसीने 'भक्ति' को एक ऐसा ही मिशन बनाया है जो कर्मकाण्ड, ज्ञानमार्ग और वैधी भक्तिसे पर्याप्त मुक्त है। जब राजशक्तिके प्रभावोंसे धार्मिक संस्थाएँ प्रभावपूर्ण ढंगसे आज़ाद होती हैं तब यह 'अलौकिक नेतृत्व' सामाजिक परिवर्तनोंमें बड़ी पहल करता है। आरम्भमें तुलसीने अलौकिक नेतृत्वका व्यावहारिक क्रियान्वयन 'अवतार-पुरोहितकी धुरी' (प्राफ़ेट-प्रीस्ट ऐक्सिस ) में ही संकुचित कर डाला है अर्थात् नारी और शूद्रवर्ण ( वर्ग ) को इससे छाँट-सा दिया गया है, और परब्रह्म राम तथा भूसुर ब्राह्मणको ही यह नेतृत्व दिया गया है। भक्तोंको केवल भावना-क्षेत्रमें समानता दी गयी है। तुलसीने रामकी अलौकिकताको परब्रह्मकी 'विशुद्ध' अलौकिकता बना दिया है जिससे अर्थ और कामसम्बन्धी समस्याएँ उपेक्षित हो गयी हैं। बादके कृतित्वमें वे अर्थके क्षेत्रकी भी धार्मिक मीमांसा ( तापपरक, शापपरक, पापपरक ) कर सके हैं। इस अलौकिक नेतृत्वने चरित्रीकरणको एक कालदेश-मुक्त कथानक-भूमि दी क्योंकि रामव्यूहके पात्र परब्रह्म और उसके अंशा-वतार हो गये, अयोध्या-चित्रकूट-वन आदि विश्व-रूप हो गये, तथा उनके प्रत्येक कार्य अलौकिक, आदर्श, पावन या मर्यादा बन गये। इस अलौकिक नेतृत्वकी वजहसे श्रद्धा और भक्ति ही चारित्रिक मूल्यांकनकी अन्तिम कसौटी बने। इन चरित्रोंमें अतिमानवीय और अतिप्राकृतिक पावन तत्त्व मण्डित हो गये। परिणा-मतः रामवृत्तके पात्रोंके शीलमें कोई बारीक-सी भूल, या नैतिक संहिताके अनुसार हलकी-सी असंगति, या मानवीय दुर्बलता अथवा मानवीय रागको सहन नहीं किया जा सका और उसके लिए नैतिक-आध्यात्मिक मिथक-स्पष्टीकरण दिये गये। ऐसे चरित्रीकरणमें 'अध्यात्म रामायण' से प्रभावित श्रद्धा और अलौकिकताकी मनोवृत्तियाँ कालजयी हो गयीं। राम-सिया-लखनकी त्रयीके बाद यह अलौकिकता हनुमान्में अद्भुतमें; एवं रावणपक्षके अन्तर्गत रावणके मायाजाल (जादू) के बाद कुम्भकर्णके किमाकार ( ग्रोटस्क ) में ऊर्जस्वित हुई है। रामव्यूहमें यह 'क्षमा' और 'मोक्ष' का अतिमानवीय अनुदान करती है।

इस 'अलौकिकता' का एक चरित्रगत रूपायन प्रकृति तथा जड़ वस्तुओंमें भी 'चेतना' एवं 'भक्ति' के समावेशमें हुआ है। यूँ पशुकथाओं ( फ़ेबिल्स ) तथा निजंधरकथाओं ( लीजेण्ड्स ) में सर्वचेतनवाद ( पैन्थीज़्म ) एवं पाशववाद ( ऐनिमिज़्म ) के बोधमें प्रकृति, पशुपक्षी तथा जड़वस्तुएँ आत्मा एवं मानवीय चेतनासे परिपूर्ण हो जाया करती हैं; लेकिन तुलसीकी इस अलौकिकतामें वे

'चेतनात्मा' के साथ-साथ संस्कारतः 'भक्त' भी हैं। खास तौरपर 'मानस'में गंगा, यमुना, समुद्र, जलचर, मेघ आदि ऐसे ही चारित्रिक अभिप्राय ( मोटिफ़्स ) हैं जिनमें यह नव्य 'आध्यात्मिक सर्वचेतनवाद' प्रकट हुआ है। वानर-भालू-खग आदि टोटेमीय जातियाँ ही हैं लेकिन तुलसीने उन्हें पशुपक्षी – मानवचेतनापूर्ण भक्त पशुपक्षी – माना है। अतः परब्रह्म रामसे सारा ब्रह्माण्ड प्रीति-नातेमें लीन बनाया गया है।

सारांशमें, दैवीचरित्रोंमें विराट् मनुष्यत्व ( ऐन्थ्रोपोसेण्ट्रिज़्म ) – सर्वांशपूर्ण-मनुष्यत्व ( ऐन्थ्रोपोमॉर्फ़िज़्म ) है; प्रकृति व चराचरमें सर्वचेतनवाद-पाशववाद है; तथा राक्षसपक्षके चरित्रोंमें ( आचार्य शुक्लके शीलनिरूपणके सिद्धान्तोंके मुताबिक़, जो उन्होंने मूलतः तुलसी-काव्यसे ग्रहण किये हैं ) 'व्यक्तिवैचित्र्यपूर्ण अवसादन' है।

उपर्युक्त बहुमुखी भूमिका तुलसीके पात्रोंके प्रारूपज्ञान ( टाइपॉलॅजी ) को मुमकिन बना सकती है। पहले कुछ मूल सिद्धान्तोंको ध्यानमें रख लिया जाये –

( १ ) पात्रमण्डलके अन्तर्गत विश्व और परलोक, प्रकृति और चराचर, जड़ और चेतन, देवता और दानव, परब्रह्म और मनुष्य, अर्थात् समग्र ब्रह्माण्ड शामिल है; सभी आत्मायुक्त हैं; सभी प्रकट-अप्रकट हैं; सभीके चरित्रांकनका निर्णय शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा, धार्मिक-अधार्मिकके आधारपर होता है; सभी लीलामय रामसे ही नचाये जाते हैं और सभी कर्मफलके मुताबिक़ अथवा भक्तिपद या मोक्ष पानेके लिए अपने-अपने कार्य करते हैं। इनमें राम अन्तिम सत्य, सम्बन्ध और मर्यादा है।

( २ ) इन सभी पात्रोंके आचार-व्यवहार, कार्य, सामाजिक-पारस्परिक सम्बन्धोंके आधार 'मात्र रामके नातेसे ही' उचित-अनुचित कहलाते हैं। जहाँ-तक स्नेह और नाते हैं, जहाँतक माता-पिता, भाई-बहन, सासु-ससुर, सुहृद्-गुरु, पुत्र आदि हैं, वे सब रामके नातेसे ही प्रिय और हितैषी हैं। जिन्हें राम और वैदेही प्रिय नहीं हैं उन्हें कोटि बैरियोंकी तरह त्याग देना चाहिए। इसीलिए सुग्रीव भाई बालिको, अंगद पिता बालिको, विभीषण भाईको, वैद्य सुषेण राजा रावणको, मन्दोदरी रावणकी अन्धभक्तिको रामके नाते त्यागती हैं। रामके नातेसे ही ये लोकविरुद्ध आचरण करनेवाले होकर भी सच्चरित्र तथा प्रिय हैं ( उदाहरण : कवितावली )।

( ३ ) पात्रोंमें अचानक तीव्र चरित्रपरिवर्तन होता है। यदि चरित्रघटक '$\pm x$' है तो उसका '$-x$', या '$+x$', या '$x^n$' अथवा $\frac{i}{x}$ हो जाना मुमकिन

हैं। इस परिवर्तनके चार हेतु हैं : (अ) मतिभ्रम (सरस्वती-द्वारा, देवों-द्वारा); (आ) भाग्य (ब्रह्मा-द्वारा); (इ) शाप (बहुधा ब्राह्मणों-द्वारा); तथा (ई) वरदान (सन्तों-देवों या ब्राह्मणों-द्वारा)। पहले तीन हेतु अवनति तथा चौथा उन्नति करता है। तुलसीके सारे चरित्रीकरणका तकनीकी भेद यही है।

(४) पात्र मनमें सोचते कुछ और हैं तथा करते कुछ और हैं अर्थात् इनमें प्रतीक ज्ञानवत्ता (सिम्बॉलॅजी) के आर्केटाइपल अवशेष क़ायम हैं। यह नाटकीय स्वगत-प्रकट कथन-जैसी हालत है।

अतः निम्नलिखित वर्गीकरण किया जा सकता है—

अ (क) दिव्य अलौकिक प्रसादनकी धुरीपर – वैदिक मण्डलके देवता, पौराणिक देवता, रामपंचायतन (राम-सीता, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, हनुमान्), पंचदेव (शंकर, गणेश, विष्णु [राम], सूर्य, देवी) आदि।

(ख) अलौकिक अवसादनकी धुरीपर – रावण, मेघनाद, प्रहस्त, कुम्भकर्ण; तथा सुरसा, लंकिनी-जैसी प्रेतनियाँ आदि।

(ग) संन्यासवृत्तपर – राम-लक्ष्मण-भरत, ऋषि-मुनि-सन्त आदि, चातक और मीन (प्रतीक)।

(घ) शौर्यवृत्तपर – लक्ष्मण, रावण, परशुराम, अंगद, हनुमान् आदि।

(ङ) धार्मिक नेतृत्वकी धुरीपर – नारद, विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य, पुरोहित, साधक, सन्त, ज्योतिषी, कथावाचक, मन्त्रोच्चारक, कर्मकाण्डी आदि।

ब (च) नायक-चक्रमें – राम-लक्ष्मण, हनुमान्-अंगद, सुग्रीव-जामवन्त।

(छ) खलनायक-चक्रमें – रावण-खरदूषण, वर्णाश्रमच्युत व्यक्ति, मन्थरा-कैकेयी, खल, कुचक्री देवता; बादकी रचनाओंमें स्वयं तत्कालीन समाज (कलिकाल); सम्राट्, प्रशासक, शैव, कबीरादि; मोर और चकोर और कोयल (प्रतीक)।

(ज) विदूषक-मूर्ख-चक्रमें – नारद, परशुराम, केवट, (अंशतः); अंगद-रावण प्रसंगमें रावण; लंकादहनके पूर्व हनुमान्; रावणके चापलूस सभासद, भगोड़े और कायर देवता; कुम्भकर्ण-शूर्पणखा, खर-दूषण (नामार्थक प्रतीक); परनिन्दक; कामी; लोभी ब्राह्मण; ज्ञानी शूद्र; राँड़; बगुलाध्यानी सन्त; सुरसा; राम-रावण युद्धमें रावणकी मायासे मूर्ख बनी बानर-भालू सेना; धूर्त जयन्त, धोखेबाज़ मारीच आदि।

( झ ) मानवीय पात्र – भक्त और सन्त ( धारणारूप );

ग्राम्य वनिताएँ, मन्थरा, केवट, शबरी ( लोकजीवनके सरल मासल पात्र );

दीनहीन भिखारी, कंगाल किसान ( पूरे कृषक समाजके टाइप )।

हम परीक्षोपयोगी टीकाके लिए इनका चरित्रचित्रण नहीं करेंगे, बल्कि इनके मूलमें सामाजिक प्रवृत्तियोंकी खोज करेंगे क्योंकि चरित्रांकनके आधार तो हम अबतक स्पष्ट कर चुके हैं जिन्हें लागू करनेपर कुछ इच्छा-क्रिया-ज्ञानपरक गुण-दुर्गुण-समूह घट-बढ़कर नाना चरित्रचित्रणके अनेक नमूनोंसे गठित हो जाते हैं। प्ररूपों ( टाइप्स )की रचना विशिष्ट समाज-गठनको प्रतिबिम्बित करती है और कला एवं साहित्यमें ये प्ररूप सामाजिक गठनको उद्‌घाटित करते हैं। ये प्ररूप मानवीय व्यवहार, सामाजिक सम्बन्ध तथा लौकिक ज्ञानकी शिक्षा देते हैं। जनचित्त जिस प्रकार अपने पात्रोंको बाह्य रूपोंमें पाता है उन्हींके अनुरूप उनका प्ररूप ( कपोलकल्पनाओं, देवकथाओं, पुराणकथाओं, पंचतन्त्र आदिके अनुसार ) गढ़ देता है। इसके अलावा प्ररूप रचनाका दूसरा ढंग है कि समाजके मूल्यों तथा संस्कृतिके प्रतीकोंको पात्रोंमें पुंजीभूत कर दिया जाये। तुलसीके पौराणिक-ऐतिहासिक कृतित्वमें भी इस भाँति इतिहास समाजमें प्रवेश कर जाता है क्योंकि नाना-स्थितियाँ दशाएँ घुल-मिलकर टाइप बनाती हैं ( भगोड़े देवता, व्यासपीठपर उपदेश देनेवाले शूद्र, अधम नारी, बकध्यानी सन्त, चापलूसोंके झुण्ड )। ओरिन क्लाप्प नायकों ( हीरोज़ ), खलनायकों ( विलेन्स ) तथा मूर्खों ( फ़ूल्स )के माध्यमसे तत्कालीन सामाजिक चेतनाके द्वन्द्वोंका समाजशास्त्रीय मापन करते हैं जहाँ लोगोंकी रुचियाँ, भय तथा जुगुप्सा उदात्तीकृत होती हैं। नायकोंकी प्रशंसा होती है, उनका अनुकरण होता है और उन्हें मॉडलके रूपमें पेश किया जाता है। खलनायक और मूर्ख शीलकी निषेधात्मक दशाएँ हैं जो दुर्गुण तथा मानवीय त्रुटियोंसे नफ़रत करने या बचनेका बोध कराते हैं।[१] तुलसीने विजयी नायकोंकी शृंखला दी है ( राम, सुग्रीव, हनुमान् ); अलौकिक कार्य करनेवाले नायक दिये हैं ( राम, हनुमान्, अंगद, जटायु ); सेवा करनेवाले नायक दिये हैं ( भरत, लक्ष्मण, विभीषण, हनुमान् )। खलनायकोंके द्वारा उन्होंने अपने समाजको काफ़ी प्रक्षेपित किया है। यहाँ वर्णाश्रमधर्म व्यवस्थापर खतरा पैदा करनेवाले खलनायक ( राक्षस, खल, नास्तिक, शूद्र, ईश्वरद्रोही ); सामाजिक दृष्टिसे अस्तव्यस्तता फैलानेवाले खलनायक

---

१. ओरिन ई० क्लाप्प : 'हीरोज़, विलेन्स ऐण्ड फ़ूल्स', पृ० १३, १७।

( शूर्पणखा, मन्थरा, कुचक्री देवता, वर्णाश्रमधर्म-च्युत व्यक्ति, निर्गुण, जोगी, निन्दक, स्वार्थी आदि ) और बहुरुपिये खलनायक ( धूर्त जयन्त, स्वर्णमृग-वेशी मारीच, ब्राह्मण-वेशधारी रावण, कैकेयी, सम्पाति आदि ); रामद्रोही-शिवद्रोही-ब्राह्मणद्रोही आदि भरे पड़े हैं। मूर्खों और विदूषकोंकी रचनामें तो तुलसीने अपने समयको कमालके साथ प्रतिबिम्बित किया है। इस कोटिकरणमें हास्य-प्रभूत दण्ड ( कॉमिक पनिश्मेण्ट )का विधान होता है और पात्रकी एकरसता या त्रुटिकी खिल्ली अथवा धज्जी उड़ायी जाती है। इसके अन्तर्गत चतुर विदूषक ( नारद, परशुराम, केवट ), हास्यके आलम्बन ( नारद, शिव, [अंशत:] ); रावणके ( मुग़लयुगीन ) चापलूस सभासद्, बकध्यानी साधु, मूर्ख कौवा (जयन्त), परदारा-परधन-लोभी लोग, डींग मारनेवाले सामन्त ( रावण ), भयंकर और विद्रूप पात्र ( कुम्भकर्ण, सुरसा, लंकिनी ), मजबूर सेवक ( मारीच ), क्रोधी परशुराम और कथा-गायक एवं चुग़लख़ोर नारद आदि आ सकते हैं।

इस तरहकी पात्रवर्ग-त्रयी, पात्रवर्ग-धुरियों ( अ ), पात्रवर्ग-वृत्तों ( = अ ) तथा पात्रवर्ग-चक्रों ( = ब )-द्वारा तुलसीने सामाजिक गठनका आदर्श और अलौकिक, यथार्थ और गर्हित दोनों तरहका 'बिम्ब' रचा है जिसमें उनके पौराणिक कथानक एवं वैचारिक अन्तर्विरोध भी बरक़रार हैं। यहाँ पशुकथा-तत्त्व ( जटायु, जाम्बवान्, हनुमान्, जयन्त, मारीच ) टोटेमिक जातियोंके प्रतीक उद्‌घाटित करते हैं; लोकांचल ( आदिवासी जातियाँ, गुह, शबरी, भील, किरात, कोल ) कृषक जीवनका समाजशास्त्रीय आयाम देते हैं; राजसभाएँ और संवाद ( अयोध्या, मिथिला, चित्रकूट, लंका ) उसे राजनैतिक-सामाजिक आयाम देते हैं; विभिन्न सम्प्रदाय एवं मत ( शैव, शाक्त, निर्गुण, नाथ-सिद्ध, तान्त्रिक भक्त, सन्त ) मध्यकालीन धार्मिक दिशाओंका सूचक बनाते हैं; कलिकाल ( खल, वर्णाश्रमधर्म पतन, त्रिताप, कामी-लोभी-पापी लोग ग़रीब और अकालग्रस्त आबादी, अत्याचार और दासता ) सामाजिक यथार्थके बिलकुल नज़दीक-नज़दीक ले आता है। इस तरह अलौकिक अवतारवाद और गार्हस्थिक जीवनकी परम्पराव्रती रूढ़ कृषि-संस्कृतिके आदर्श यहाँ संगतियों-असंगतियोंकी राशि बिखेर रहे हैं। 'मानस'के सात काण्डोंमें नायकों तथा नगरोंके चित्रफलक अनूठे ढंगसे झिलमिलाये हैं। बालकाण्डमें अवतारी परब्रह्म राम और मिथिला नगरीका चारित्र्य है; अयोध्याकाण्डमें भरतका चरित्र और चित्रकूटकी पावन प्रकृति तपोमय हो उठी है; अरण्यकाण्डमें जटायु और कनकमृगका आश्चर्य है; किष्किन्धाकाण्डमें सुग्रीव तथा यक्षअलकाकी तरह झिलमिलाती किष्किन्धानगरीका चरित्र है। यहाँ वानर टोटेमवाली आदिम जातिकी दुनिया अपने नैतिक आचरण लिये हैं जो अयोध्याकी

कृषि-प्रधान नैतिकतासे मुख्तलिफ़ है। सुन्दरकाण्डके नायक हनुमान् हैं जो अद्भुत तथा हास्यकी निष्पत्ति कराते हैं। लंकाकाण्डमें एक मुग़ल शहरकी तरह समुन्नत लंकाका एक भौतिक आर्थिक-कामुक सामन्तीय समाज परोक्षरूपसे उभरा है जिसे संन्यासी कविने 'मायानगरी' कह दिया है। यहाँ सभी कुछ अयोध्या (एक आर्य नैतिकताकी तपस्विनी और सम्मिलित कुटुम्बके दुष्परिणामों-से शापित नगरी )का ठीक उलटा है। इस काण्डके नायक श्रीराम हैं। उत्तर-काण्डमें दो राज्य-व्यवस्थाएँ या दो युग नायक-खलनायक हो गये हैं : रामराज्य, तथा कलियुग। चरित्रांकनकी दृष्टिसे हम यह पूर्णतः स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि महाकाव्य 'मानस'के अलावा तुलसीने अपनी अन्य कथाकृतियोंमें पूरी चरित्र-योजना नहीं की है ( कवितावली, गीतावली, बरवै रामायण, रामललानहछू )। वहाँ केवल लिरिकल झाँकियाँ हैं। अतः चरित्रीकरणका प्रधान आधार 'मानस' ही है।

इस भाँति राम-आयनमें मिथकीय ( नृतत्त्वशास्त्रीय ), ऐतिहासिक ( समाज-शास्त्रीय ) और आध्यात्मिक ( धर्मशास्त्रीय ) तत्त्वोंका मेल है क्योंकि इस कथा-के 'मूल सृजक विचारबीज' बहुत पुराने तथा गहरे हैं। तुलसीमें अध्यात्म-रामायणकार', 'आनन्दरामायणकार' और 'वाल्मीकि'की अनेकानेक व्याख्याओंके बावजूद भी ये तत्त्व हिफ़ाज़तसे मौजूद हैं। तुलसीने देवताओंका जो चरित्रांकन किया है वह वैदिक युगकी प्राकृतिक शक्तियोंके प्रतीक न रहकर नृतत्त्वशास्त्रीय पूर्व-पाषाणयुगके मनुष्य हो जाते हैं। वे धरतीपर वानर शरीर धारण कर आते हैं; पर्वतनख और वृक्ष उनके शस्त्र हैं; वे पर्वतों और जंगलोंमें अपनी सेना बना-कर छा जाते हैं तथा वे अपार बलवान् और प्रतापशाली हैं। वे धीरबुद्धिवाले हैं। यह आदिम मनुष्य (प्रिमिटिव मैन) का चित्र है। इसीके समानान्तर तुलसीने देवताओंके उस चरित्रकी निन्दा की है जो मनुष्योंके साथ उनके पापोंमें भागी होता है अर्थात् एक परब्रह्म देवताके मुक़ाबलेमें वे कृषिसमूहों ( गोत्रों ), यथों ( गणों ) के नेता देवताओंको बिलकुल महत्त्वहीन बना देते हैं। वैष्णव-धारामें तुलसीने ही देवताओंको इतना पदच्युत किया है। वे स्वार्थी हैं, डरपोक तथा भगोड़े हैं, षड्यन्त्र रचानेवाले हैं, प्रजापर भ्रम, अप्रीति तथा उच्चाटन फैलाते हैं, अपने हितकी तनिक-सी बातपर दुन्दुभि बजाते तथा फूल बरसाते हैं। परशुराम एक शिकारी-मानवके प्रतीक हैं जिनमें शैवोंके चरित्रकी तत्कालीन उद्दण्डता भी जोड़ दी गयी है। उनके आयुध फरसा ( कुल्हाड़ी ) तथा धनुष-बाण हैं। उनकी नैतिकता प्रजातिपरक है। वे क्षत्रियोंका विनाश तथा मातृवध दोनों ही कार्य करते हैं और सगुण रामकी कृषि-संस्कृतिवाली शौर्य-मर्यादाको

छोटा मानते हैं। तुलसीने उनका अवतारत्व छीन लिया है। लक्ष्मणको तुलसीने सामन्तीय शौर्य-रोमांसका प्रतिनिधि बनाया है। इस तरह परशुराम-राम-लक्ष्मण तीन सांस्कृतिक चरणोंके द्वन्द्व प्रकट करते हैं। विश्वामित्रमें एक वैदिक पुरोहित-की छाया है। यूँ तो यज्ञ, कर्मकाण्ड, विवाहसंस्कार करानेवाले विश्वामित्र भी रामभक्त बना दिये गये हैं। बालकाण्डके बाद उनकी भूमिका ख़त्म हो जाती है। हनुमान् शुरूमें एक ग्रामदेवता यक्ष थे जो रक्षक, द्वारपाल, सन्तान देनेवाले तथा वृक्षोंमें निवास करनेवाले थे। 'यक्ष' ही 'वीर' हो गया और १५ वीं शती-में वे रुद्रके अवतार होनेके बाद रामभक्त 'महावीर' हो गये। 'आनन्दरामायण' में सीता उन्हें आशीर्वाद देती हैं कि गाँव-गाँवमें विघ्न-शान्तिके लिए तुम्हारी मूर्तिकी पूजा की जायेगी। उनका सम्बन्ध विघ्नशान्ति और जादू-टोनेसे हो गया। तुलसीने उनका संकटमोचनवाला मध्यकालीन रूप रच दिया। वे ताप-पाप-मोचक हो गये। आदर्श रामसेवकके नाते वे उपास्य देव भी हो गये और 'विनयपत्रिका' तथा 'हनुमानबाहुक'में उनका भक्तिपरक महत्त्व सर्वप्रमुख हो गया। एक नृतात्त्विक तथ्यके मध्यकालीनीकरणकी यह एक अनुपम मिसाल है। इस तरह देवता-वानर-परशुराम-श्रीराम और लक्ष्मणके मध्यकालीन चरित्रोन्मेषमें एक परोक्ष नृतत्त्वशास्त्रीय तथ्यक्रम भी निहित है।

मध्यकालीन 'संन्यासवृत्त' तथा 'शौर्यवृत्त'की दृष्टिसे भी कुछ पात्र कहीं-कहीं अपने युगके बोधके प्रवक्ता सिद्ध होते हैं। संन्यासवृत्तके वनवासी राम-लक्ष्मण तथा नन्दिग्रामवासी भरतके चरित्र एक तत्कालीन धार्मिक संघर्षको भी प्रतिबिम्बित करते हैं। ये सभी पात्र तपस्वी तथा त्यागी हैं, लेकिन 'जोगी' और 'सिद्ध' नहीं। यह तुलसीके कृतित्वकी महत्तम देन मानी जानी चाहिए कि उन्होंने हिन्दू समाज-चित्तपर नाथों-सिद्धोंके भयानक, क्रूर तथा नीरस प्रभावको समूल उखाड़ फेंका। सूफ़ी कवि जायसीमें रागोन्मद प्रेमके सूफ़ी-प्रतीक तो हैं, किन्तु उनके चरित्रीकरणपर नाथों-सिद्धोंका प्रभाव ही सर्वप्रधान है। कबीरने नाथों-सिद्धोंको वेदान्तके अद्वैतवादसे और भक्तिकी भावनासे जोड़नेकी चेष्टा की। तुलसीने इन्हें पूर्णतः बहिष्कृत करके 'सन्तों'को धार्मिक नेतृत्व दे दिया और भरतके तपको भक्ति ( ज्ञानसे नहीं ) के रसमें डुबा दिया। संन्यासवृत्तकी दूसरी प्रवृत्ति विवाहमें प्रेम तथा 'सेक्स'की भूमिका है। सूफ़ियोंकी हिन्दू प्रेम-कथाएँ कन्या प्रेम और फलागमसे मण्डित हैं: सूफ़ियोंकी प्रेमकथाएँ परपत्नी तथा परकीया प्रेमकी पीरमें तड़फती हैं। उधर सारे मध्यकालमें हिन्दू रज-वाड़ोंके अन्तःपुर कामके अखाड़े हो गये थे और इधर पत्नीसे संन्यासका मन्त्र पानेवाले तुलसी दग्धकाम हो चुके थे। ये सभी तत्त्व उनकी परिवार-रचनाको

संचालित करते हैं। सन्त और भक्त दोनोंके मुताबिक़ विवाहके 'अन्तर्गत' तथा 'बहिर्गत' यौनाचरण मनुष्यके श्रेयके विपरीत ही नहीं, पाप भी है। धर्म विवाह-के यौन सम्बन्धका या तो अतिप्राकृतिक अन्वेषण करता है या तिरस्कार। इसलिए 'तापस प्रेम' या 'मधुर रस'की उद्भावना हुई है। राम-जानकी-लक्ष्मण-मण्डलमें तुलसीने राम और सीताके प्रेमकी तो कहीं-कहीं झाँकी दी है जो पूर्णतः मधुर रसपूर्ण है (जनकवाटिका प्रसंग और चित्रकूटमें राम-द्वारा प्रेमरस-प्यासी सीताके अंग-प्रत्यंगपर धातुओंसे पत्र-रचना करना, तिलक-रचना करना, एवं फूलोंके आभूषण बनाना – गीतावली, २।४४) वे लक्ष्मण-उर्मिला प्रेमपर अकाव्यात्मक और असंवेदनशील चुप्पी लगा गये हैं। दशरथ, बालि, रावण सभीके परिवारोंको उन्होंने खण्डित चित्रित किया है जहाँ बहुपत्नीव्रतकी कलह, बहुपतिव्रतके द्वन्द्व और विरोधी विचारोंवाले दम्पतिकी आपदाएँ मुखर हैं। सामान्यतः उन्होंने नारीको माया और कामका पर्याय बनाकर ब्राह्मण जीवन-शैलीके एक संन्यासी समाजके लिए उसे त्याज्य ठहराया है। यही नहीं, उन्होंने परिवार-संस्थाके प्रति भी कोई आस्था नहीं प्रकट की है। इसके अन्तर्गत वे माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पिता, भाई-भाई आदिके किसानी सम्बन्धोंकी रूढ़ियों-को ज़रूर मज़बूत करते हैं। गृहस्थीका त्याग ही संन्यासी तुलसीने सामाजिक आदर्श मान लिया है। यह आदर्श सम्प्रदाय-प्रभावित, कुण्ठायुक्त और प्रतिगामी है। रामके रूपमें उन्होंने अपने एक महान् स्वप्न अर्थात् आदर्श तपपूर्ण प्रेम और एक-पत्नीव्रतको प्रेयसश्रेय माना है क्योंकि तत्कालीन समाजके सामन्तवर्ग-में इन दोनोंका ठीक उलटा था। भक्तों-सन्तोंकी परम्परामें ही सिखगुरु थे जो गृहस्थ थे और नारियोंकी उचित प्रतिष्ठा करते थे। उन्होंने गृहस्थी परित्यागके बजाय उससे उदासीन होनेको आदर्श माना है। फिर भी, तुलसी-की परिवार-रचनामें सामाजिक-तनावके अलावा वैयक्तिक कुण्ठा तथा वैयक्तिक प्रेमादर्श भी झाँक रहा है। अयोध्या तकका सारा परिवारतन्त्र घोर सामन्तीय आदर्शों व यथार्थताओंवाला है (बहुपत्नी, अन्तःपुरके कोपभवन, सौतिया डाह, षड्यन्त्र, भाई-द्वारा भाईकी गुलामी-चाकरी या उससे युद्धकी आशंका)। किन्तु ज्यों ही वनका वातावरण उपस्थित होता है रामका परिवार 'सम्मिलित कुटुम्ब'न होकर एक 'दम्पति-परिवार' हो जाता है जिसमें ललिता सीताको प्रेम, शृंगार, कामना (मृगछालाप्राप्ति) आदिकी भी स्वतन्त्रता है। यहाँ वनके नये वैयक्तिक तथा रोमैण्टिक (कौटुम्बिक कम) सम्बन्ध क़ायम हो जाते हैं जहाँ वनदेवियाँ सीताकी सासुएँ तथा वनदेवता ससुर हैं; जहाँके पहाड़ ही अयोध्या हैं; पशुपक्षी कुटुम्बी हैं; वृक्षछाल निर्मल दुकूल हैं तथा प्राणनाथ और देवर

'साथ' हैं (सम्बन्धकी नवलता)। इस रोमैण्टिक परिवारमें 'कोमल' तथा 'भोली' तथा 'भीरु' सीता कष्टसहिष्णु, बिबेकपूर्ण और साहसी हो जाती है। इस नवल सम्बन्धतामें क्विण्टलों बोझ-भरे पारिवारिक कर्तव्योंपर एक लड़ीवाला दाम्पत्य अधिकार क्रान्तिकारी विजय पा लेता है। बालि-सुग्रीव-परिवार एक आदिम समाजकी यौन-स्वतन्त्रताका अवशेष है जहाँकी विवाह-प्रथाओंको राम भी नहीं बदलते। रावण-परिवारमें पुनः हम पुरुषके एकाधिकार, एकमात्र ज्ञानाधिकारवाले सामन्तीय सम्बन्धकी उच्छृंखलता पाते हैं जहाँ पत्नी न तो सखी है, न सचिव। तुलसी रामका विरह नहीं अंकित कर सके क्योंकि रामको एक प्राकृत मनुष्य कैसे बनाया जाये! तिसपर भी खग, मृग, मधुकर श्रेणीके सम्बोधनोंमें, तथा सीताके नखशिखानुवर्ती उपमानोंकी परिगणनामें प्रेमाख्यानक परम्पराकी लावण्यछाया तैरती हुई दौड़ जाती है। ये सब मध्यकालीन सामाजिक आकांक्षा-कुण्ठा, यथार्थता-नैतिकता, रूढ़ि-परम्परा आदिकी भी देन हैं।

चरित्रीकरणमें शौर्यवृत्त (देखिए पहली गोष्ठीकी परिचर्चा) के रोमांच तथा रोमांस, आदर्श तथा बलिदानपर संन्यासवृत्तकी काषायछाया और नीतिशास्त्रकी रूढ़ मर्यादाएँ पूरा नियन्त्रण किये हैं किन्तु लक्ष्मण तथा रावणके चरित्रके माध्यमसे इसे भी काफ़ी अभिव्यक्ति नसीब हो गयी है। तुलसीने भी यथासम्भव लक्ष्मणके अंशावतार-पक्षको कथामें केन्द्रीभूत करनेकी कोशिश नहीं की है। उन्हें प्रिय भ्राता, तपस्वी ब्रह्मचारी और उत्तेजित शूरवीरके रूपमें पुष्पित किया है। जैन परम्पराके 'पउमचरिउ'में एक ओर तो लक्ष्मण नायक हो गये हैं तथा उन्हें हरि, वासुदेव, कृष्ण, गोविन्द आदि नामोंसे अभिहित किया गया है, तो दूसरी ओर उन्हें शौर्यवृत्तमें ही विकसित किया गया है। विमलसूरिकृत 'पउमचरियं'में लक्ष्मण कई राजाओंको हराते हैं और कई प्रसंगोंमें विवाहमें दी गयी कन्याओंको स्वीकार करते हैं जिनमें वनमाला, रतिमाला तथा जिनपद्मा प्रमुख हैं। तुलसीमें लक्ष्मणका शौर्यपरक चरित्र उभर ही आया है यद्यपि रामके माध्यमसे उनपर कठोर मर्यादा-नियन्त्रण किया गया, स्वयं कवि-द्वारा लक्ष्मणकी दो टूक बातें कहनेकी आदतको बार-बार ढाँका गया है। किन्तु हमें समाजशास्त्रीय विश्लेषणके कई सूत्र मिल ही जाते हैं। लक्ष्मण 'मानस'के अर्जुन हैं जिन्हें विजय या फलकी कोई आकांक्षा न होकर केवल संघर्ष और जकड़ी हुई ब्राह्मण-मर्यादाओंकी कठोरता तोड़नेका रोमांस प्रिय है। वे एक चिरन्तन जिज्ञासु, युवा विद्रोही और पुरुषार्थके विश्वासी हैं। जनककी स्वयंवर-सभामें वे अपने विद्रोही शौर्यका परिचय देते हैं जो रूढ़शीलको झटक देता है। तपस्वी परशुरामको राजकुलोंकी मर्यादाओंके बीच एक निपट अनाड़ी, क्रोधी परशुरामको एक

विदूषक, क्षत्रियहन्ता परशुरामको एक दर्पोक्ति कहनेवाला अवध्य ब्राह्मण तथा शैव परशुरामको एक रामभक्त बनानेका कार्य लक्ष्मण ही करते हैं। जनककी राजसभामें लक्ष्मण ही यह बोध कराते हैं कि सामन्तीय शूरवीरोंके बीच एक क्रोधी तपस्वी वनवासी ब्राह्मण कितना अनुपयुक्त है। परशुराम-लक्ष्मण संवादकी भंगीभणितिकी ओजस्विताके साथ-साथ एक क्षत्रिय राजकुमारका कुलगर्व भी देखनेको मिलता है। इस अभिव्यक्तिमें लक्ष्मण ब्राह्मण-क्षत्रिय सम्बन्धकी मर्यादाका भंजन करते हैं। शिवधनुष टूटनेका उनका उत्तर है कि यह तो एक पुरानी धनुहिया (छोटी धनुषी) है और सभी धनुषोंके समान यह भी एक है। परशुरामके क्रोधको वे उत्तेजित करते-करते उपहास्यकी सीमा तक ले आते हैं। क्रोधमें तपते हुए परशुरामको पुनः उत्तर देते हैं कि हम कोई कुम्हड़ेकी बतिया नहीं हैं जो तर्जनी दिखाते ही मर जाती है। मैं तो भृगुवंशी व यज्ञोपवीतधारी समझकर ही सह रहा हूँ, क्योंकि इनके मारनेसे 'पाप' लगता है। परशुरामकी सारी स्वगर्वोक्तियोंको वे थोथी डींगमें रूपायित कर देते हैं। किन्तु राम मर्यादा-रक्षण करनेको प्रस्तुत हैं। जब विषयासक्त सुग्रीवपर क्रुद्ध होकर राम लीलामय क्रोध करते हैं और बालिवधकर्ता तीरसे उसे भी मारनेकी बात कहते हैं तो लक्ष्मण 'आज' और 'अभी' हाथमें बाण लेकर तैयार हो जाते हैं। किन्तु राम सामनीति-पालन तथा मर्यादा-रक्षणको प्रस्तुत हैं। सेतुबन्धके मौक़ेपर जब विभीषण रामको पहले सिन्धुपूजाकी नीति बताते हैं तो असहमत लक्ष्मण तुरन्त कहते हैं : दैवका कौन भरोसा ? मनमें रोष ले आइए और सिन्धुको सुखा डालिए। उनका यक़ीन है कि दैव कायर मनका एक आधार है, शूरोंका नहीं (मानस, ५।५०।२)। वहाँ भी राम मर्यादा-रक्षणको प्रस्तुत हैं। रामके वन जानेके अवसरपर वे गुरु, माता, पिता किसीके सम्बन्धको भी न मानकर वैयक्तिक सम्बन्धको अन्तिम घोषित करते हैं और सुमन्त्रके वापस लौटनेपर अपने पिताके मिथ्या चरित्रकी कटुवाणीमें निन्दा करते हैं। शूर्पणखाको भी उनका उत्तर साफ़ है कि तुम्हें निर्लज्ज ही वरेगा। आदिम समाजमें अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छन्द प्रेम-निवेदन करनेवाली शूर्पणखाको वे एक तापसकी ग़ैरमरदाना सज़ा दे डालते हैं। सारांशमें लक्ष्मण वैयक्तिक सम्बन्धोंके विश्वासी, अशूर बनानेवाली नैतिक मर्यादाओंके प्रति विद्रोही, और दण्ड तथा भय नीतिके माननेवाले हैं। रामकी साम तथा कृपा नीतिपर आस्था है; वे मर्यादा-रक्षक हैं। फलस्वरूप राम सभी अवसरोंपर लक्ष्मणकी पहल या तो छीन लेते हैं या नियन्त्रित कर देते हैं या उसे अपनी मर्यादावादी दिशा दे देते हैं। शौर्य-केन्द्रपर तापसशीलकी परिधि छा जाती है।

रावण मध्यकालीन सामन्तवादके दर्पपूर्ण शौर्यका पाखण्ड-जैसा हो गया है जो एक अतिशयोक्तिपूर्ण यथार्थता है। वह जहाँगीरकी तरह शराब पीता है और दिन-भर सोता रहता है। उसके केवल दो आदर्श हैं : प्रतिशोधात्मक न्याय, तथा मन्त्री और सेवकोंकी अन्धी वफ़ादारी। यह एक 'सही शौर्यात्मक' नैतिक संहिता है। वह कहता भी है बहनके अपमानका बदला उनसे लूँगा और उन मनुष्य ( राजसत्ताहीन ) राजकुमारोंको रणमें जीतकर उनकी स्त्रीको हर लूँगा (मानस, अरण्यकाण्ड)। किन्तु पहले हरण करके वह शौर्य-नैतिकतासे गिर जाता है। वह दूतके अवध्य होनेकी नीतिका पूरा पालन करता है। यद्यपि अंगद इस अन्तर्राष्ट्रीय विशेषाधिकारका विदूषककी भाँति काव्यात्मक दुरुपयोग करते हैं। वह सीतासे एक श्रृंगारिक नायककी तरह व्यवहार भी करता है। वस्तुतः वह पूर्णरूपेण सामन्तीय दर्प, अभिमान और अदूरदर्शिताका ही परिचय देता है। उसका दरबार लोकनयनसे देखा गया एक क्षयी मध्ययुगीन लालबुझक्कड़ी चापलूसीवाला दरबार है। उसका अखाड़ा किसी हिन्दू या मुसलमानका तत्कालीन रंगमहल है जहाँ नाचगान होता है, अप्सराएँ नाचती हैं, ताल, पखावज, बीणा बजती है और वह भोगविलास करता है। उस युगमें 'कुल'-की नैतिक चेतना कितनी प्रचण्ड थी इसका प्रमाण आदर्शपूर्ण रघुकुल-रीतिसे अधिक रावणकी सभामें मिलता है। रावण अंगदको 'कुलनाशक' कह देता है और अंगदके आधे तर्क इस लांछनको धोनेमें केन्द्रित हो जाते हैं; और जब वे रावणको भी 'कुलनाशक' सिद्ध कर देते हैं तभी उन्हें चैन मिलती है। रावण विभीषणको भी 'कुलघातक', तथा कुम्भकर्णको 'कुलभूषण' कहता है। रामपक्षमें रघुकुल-रीति प्राण देकर भी वचन पूरा करनेकी रही है। रावण-अंगद संवादकी दूसरी अवधारणा रामके 'परब्रह्मत्व' पर केन्द्रित है। रावण रामको एक तपस्वी, साधारण नर, एक मनुष्य समझता है, जब कि अंगदके शेष तर्क रामको परब्रह्म करनेमें इस्तेमाल हो जाते हैं। तुलसीके रावणके कई अन्तर्विरोध हैं जो कमोबेश मध्यकालीन समाजके भी सापेक्ष आईने हैं : (१) रावण केवल खलनायक ही नहीं, मूर्ख (एवं परोक्ष भक्त) भी अंकित किया गया है; (२) वह तपस्वी नहीं, शूर तथा भोगी है; ( ३ ) वह उत्तमकुलका भी है और राक्षस भी है ; ( ४ ) वह प्रत्येक या किसी भी अपशकुन तथा अमंगलको नहीं मानता लेकिन स्वयं 'यज्ञ', 'माया' आदिको संयोजित करता है; ( ५ ) वह पूर्णतः निडर और अपनी विजयोंको बारम्बार बखाननेवाला घमण्डी है तथा पुत्र, और भाई आदिके वधसे भी हार नहीं मानता; किन्तु अंगद और हनुमान्‌के द्वारा किये गये अपमानोंके प्रति भी प्रबुद्ध नहीं है; ( ६ ) वह युद्धमें रामका केवल नरशत्रु-रूप ही ध्यानमें

रखता है जब कि उसके पक्षके भी शेष पात्र उन्हें विश्वरूप मानते हैं। यह तत्त्व उसके खलनायकत्वको बेहद संघर्षी और प्रबल बना देता है; (७) वह अपनी शूरदृष्टिसे युद्धमें शत्रु रामकी शक्तिका ग़लत अन्दाज़ लगाता है कि राम तो स्त्रीवियोगमें बलहीन हैं, लक्ष्मण दु:खी हैं, मन्त्री जामवन्त बूढ़ा है, सुग्रीव-अंगद कूलद्रुम हैं, विभीषण डरपोक है, नल-नील केवल शिल्पिकर्म-ज्ञाता हैं। इसीकी तुलनामें वह अपनी शक्तिकी अलौकिकतापर अटूट विश्वास रखता है कि मेरी भुजाओंपर शिवसहित कैलाश हंसके समान शोभाको प्राप्त हुआ था (मानस, ६।२२।१-३)। सारांशमें कह सकते हैं कि रावण-मात्र स्वार्थमें लिप्त शूर व मूर्ख है तो राम समाजमंगलके साधक त्यागी और शरणागत-वत्सल हैं। रावणका दृष्टिकोण एकमात्र प्रतिशोध है। वह मिथकीय आधारपर दशों दिशाओंमें व्याप्त अँधेरा है जिसे सूर्य (सूर्यवंशी राम) विच्छिन्न करता है। तत्कालीन आधारपर वह सामन्तीय राज-पतनका प्रतीक है। इसके अलावा धार्मिक आधारपर तुलसीने उसमें एक तत्कालीन रामविमुख शैवकी छाया भी भरी है। अन्य रामायणों-(कृत्तिवास, आनन्द रामायण)में तो शक्ति रावणकी सहायता भी करती है किन्तु 'मानस' में शिव राम-रावण युद्ध देखते हुए अपनी भक्ति प्रकट करते हैं। एक रामविमुख-शैवरूप रावण तथा मध्यकालीन सामन्त संस्कृतिका पतनरूप रावण तुलसीकी अपनी चरित्र-रचना है। रावण आद्यन्त एक सशक्त तथा अकेला खलनायक बना रहता है, यह उसकी एक बड़ी शौर्यविजय है। इस विचित्र चरित्रांकनके कुछ परिणाम हुए। युद्धके पश्चात् शेष रहते हैं: अजेय परब्रह्म 'नायक', विजित 'नारियाँ' तथा विलुप्त 'खलनायक-समूह'। इस विरेचन (कैथार्सिस)के बाद उदात्तीकरणका क्रम शुरू होता है: राम जानकीकी सुधि लेते हैं, और विभीषणका राजतिलक तथा मन्दोदरीसे उसका पुनर्विवाह होता है।

तपस्वी रामसेवक हनुमान्का जो लंकादाहक, पर्वतवाहक, समुद्रोल्लंघन वीर योद्धा-रूप रहा है, जिसमें वे वीर रसके 'सार' हैं, वहाँ शौर्यवृत्त भी अनुस्यूत है। इसी तरह अंगदका दूत-चरित्र शौर्यपरक है। मेघनाद भी शौर्यवृत्तमें आयेगा। दोनों पक्षोंमें 'अलौकिकता' और 'जादू'के योगदानोंको निथारना भी पड़ेगा।

इस सन्दर्भमें अलौकिक रामके उन्हीं प्रसंगोंको लिया जा सकता है जो मध्यकालकी सम्मिलित कुटुम्बवाली कृषक-नैतिकताके द्वन्द्वको स्पष्ट करें। ऐसे द्वन्द्व तीन हैं: वैभव बनाम भाई, भाई बनाम पत्नी, और माता बनाम पुत्र। राम कहते हैं कि पुत्र, स्त्री, भवन और परिवार ये जगत्में बारबार होते व जाते हैं किन्तु सहोदर भ्राता नहीं मिलता। लक्ष्मण-मूर्च्छा प्रसंगमें विलाप करते हैं कि स्त्रीके लिए प्यारे भाईको खोकर मैं कौन-सा मुँह लेकर जाऊँगा।

मैं स्त्री खोनेकी जगत्‌में बदनामी भले ही सह लेता क्योंकि 'नारी-हानिसे विशेष क्षति नहीं होती। इसी क्रममें वे मूर्छित लक्ष्मणसे आगे कहते हैं कि तुम अपनी माताके लिए एक ही पुत्र और प्राणाधार हो। मैं अब जाकर क्या उत्तर दूँगा। स्पष्ट रूपसे ये तीनों द्वन्द्व तत्कालीन ज़र-ज़मीनके बँटवारेवाले परिप्रेक्ष्यमें भाईको स्त्रीसे अधिक महत्त्व देते हैं। किन्तु क्या ये तुलसीके मर्यादा-पुरुषोत्तमके अलीलात्मक चरित्रको उठाते हैं? अन्ततः राममें एक तथ्य और भी ध्यातव्य है कि उनमें संन्यासवृत्त तो प्रधान हैं किन्तु संन्यासवृत्तकी नैतिकतासे अभिषेकित शौर्यवृत्त भी सहकारी रहा है। शौर्यवृत्तकी वजहसे ही उनके 'स्वामी', 'कृपालु', 'असुरसंहारक', 'शरणागतवत्सल', 'दीनाश्रय' पक्ष और अधिक गहरा सके हैं।

संन्यासवृत्त-शौर्यवृत्तके परिवेशमें क्लैसिकल सीता-चरित्रकी एक नयी मीमांसा उद्‌घाटित होती है और हम उसे 'संस्कृतिकी रोमैण्टिक अभिव्यंजना' मानें। इसके ठोस आधार हैं जिसके फलस्वरूप सीता अपने अलौकिक चरित्रके अवगुण्ठनको उतारकर समाजशास्त्रीय अक्षोंपर मन्थर-मन्थर चलकर आ जाती हैं।

एक बात ग़ौर करनेकी है कि कवि और पात्र शिवने चाहे जितनी बार सीताको परब्रह्मकी शक्ति माना हो, लेकिन रामने केवल एक बार उन्हें यह रूप दिया है जब लीलार्थ स्वर्णमृगकी तलाशमें जाते हुए वे उनसे अग्निमें निवास करनेकी आज्ञा दे जाते हैं।

धार्मिक आस्थाके साथ-साथ तुलसीकी साहित्याशंसामें भी सीता सम्मिलित कुटुम्बके सारे कर्तव्योंका पालन करनेवाली पुत्री, वधुबाला, भावज, पत्नीके रूपमें स्वीकार की गयी है। सम्भवतः वह रामकी तरह ही एक पूर्ण मर्यादामयी और सेविका-समर्पिताके रूपमें छायी है। एक सती, एक वधू और एक पति-सेविकाका वह उत्कर्ष बतायी गयी है। उसमें 'चिरन्तन नारीत्वकी प्रीति (ऐमॅर) और चिति (साइकि) का अस्तित्व ही नहीं ढूँढ़ा गया। हम सीताको परम्परागत विधियोंके ऊपर एक रोमैण्टिक (दर्शनके अर्थमें) विजयका प्रतीक मानते हैं। वह लक्ष्मणकी तरह उग्र तो नहीं है किन्तु एक वैसी ही विद्रोहिणी है। वह लक्ष्मणसे अधिक तर्कशील है। यह तीन-चार दृष्टान्तोंसे सिद्ध होता है। राम जब सीताको वधूधर्मकी शिक्षा देते हैं तो आदरपूर्वक सासु-ससुरकी सेवाको ही विवाहित नारीका धर्म घोषित करते हैं। सीता स्वीकार करते हुए कहती हैं: यह शिक्षा परम 'हित' देनेवाली है लेकिन मैंनें 'मनमें' समझ लिया है कि पतिवियोगके समान जगत्‌में कोई दुःख नहीं है; पतिके बिना सासु-ससुर, परिवार, गुरु आदि भी शोकका समाज है, भोग-रोग सम हैं,

तथा संसार यमयातना सदृश है। भारतीय नारीत्वके विस्तृत होते हुए क्षितिजमें सीता सासु-ससुरके प्रति नैतिक हितोंवाले कर्तव्योंसे अधिक पति-साहचर्यकी अन्तर्मुखी प्रीतिको ऊँचा स्थान देती है। वह मध्यकालीन वधूके वधू-कर्त्तव्यमण्डल-में सासु-ससुर-सेवासे अधिक पतिके प्रीति-साहचर्यको श्रेय मानती है। पुनः राम सासु-ससुर-सेवा तथा गृहकी सुरक्षाके मुक़ाबलेमें वनकी कठिनता, भयानकता, बीहड़ता और पशु-हिंसकता आदिका वातावरण बताते हैं। इस पृष्ठभूमिमें राम सीताको 'कोमल', भोली' और 'स्वभावसे भीरु' मानते हैं, और सीतासे भी यही मनवाते हैं। सीता नारी-सम्बन्धी इन तीनों सामन्तीय धारणाओंका खण्डन करती है। वह वनको ही एक रोमैण्टिक परिवारमें रूपान्तरित कर देती है जहाँ वनदेवी-वनदेवता सासु-ससुर होंगे, वन ही नगर होंगे, पर्णकुटी ही स्वर्गके समान सुखोंका मूल होगी, कुश और पत्रोंकी सुन्दर साथरी ही प्रभुके साथ मनोहर तोषकके समान होगी; तथा वनके बहुत-से दुःख, भय और विषाद-सन्ताप प्राण-नाथ और देवरके साथसे मिट जायेंगे। इससे न मुझे रास्तेकी थकावट है, न भ्रम है, न मेरे मनमें कोई दुःख है - सीताका तर्क है। राम उसे स्वभावसे भीरु कहते हैं तो वह सिद्ध करती है कि 'मैं वनमें स्वभावसे सुखी हूँ।' राम उसे कोमल ( सुकुमारी ) कहते हैं तो वह उत्तर देती है कि यदि मैं सुकुमारी हूँ तो क्या नाथ बनके योग्य हैं। राम उसे पुनः कुटुम्ब-सेवाके लिए वापस भेजना चाहते हैं तो सीताका उत्तर है: "शरीरको छोड़कर छाया अलग कैसे रह सकती है? सूर्यको सूर्यप्रभा तथा चन्द्रको चन्द्रिका त्याग कर कहाँ जा सकती है?" इस तरह तर्कमयी सीता वैयक्तिक सम्बन्धताके अधिकारको सुरक्षित कर लेती है। उसमें चिन्मय नारी ( साइकिक वोमन ) पुकार उठती है। अतः पारिवारिक कर्तव्योंपर दाम्पत्य-भाव विजय पा जाता है। उसका पत्नी-कर्तव्य रामकी—पूरे विग्रहके साथ—प्रीत-सेवा है ( मानस, २।६६।१-४ ) जो उसे 'सती-पद' देता है। अग्निपरीक्षाके अवसरपर तपस्विनी सीता दूसरी चुनौतीका सामना करके लोक-भीरु तथा विकारी पुरुषके सन्देहपर दया करती है: "यदि मन-वचन-कर्म-से मेरे हृदयमें रघुवीरको छोड़कर किसी दूसरेका आश्रय नहीं है तो यह अग्नि मेरे-लिए चन्दनके समान शीतल हो जाये" ( ६।१०८।४ )। वह हमेशा प्रश्न पूछनेवाली नारी है। हनुमान्से पहली भेंट होनेपर रामके लिए महान् प्रश्न है कि जब मैं मन-वचन-कर्मसे आपकी अनुरागिनी हूँ तो फिर स्वामीने किस अप-राधसे मुझे त्याग दिया है?" वह प्रेमविरह-यज्ञमें अग्निदीक्षा लेनेकी तैयारी करती है, जयन्त-प्रसंगकी याद दिलाकर रामके पौरुषको उन्मेषित करती है, और एक माहमें रामके न आनेपर शरीर त्याग देनेका प्रण कर लेती है। एक

आश्चर्यजनक बात यह है कि सीता-विरहमें प्रेमाख्यानोंका बारहमासा नहीं है। यहाँ एक जीवन्त 'मानवीय स्थिति' है: 'सीताकी विपत्ति अति विशाल है अतः बिना कही हुई ही अच्छी है।'

ग्राम्यवनिताओंके बीच घूमनेवाली सीता राजवधू नहीं है, देवी नहीं है, ब्रह्मकी स्वरूपभूता माया नहीं है; अपितु क्रमशः कान्ता है और मुग्धसलोनी ग्राम्यवधूटी है ( 'मानस' 'कवितावली,' 'गीतावली' के वनमार्ग प्रसंग )। यहाँ सीताका सर्वाधिक सहज और एक सामयिका ग्राम्यवधूका बिम्ब जगमगाया है।

बहिर्मुखी महाकाव्य, और 'गुण-कर्म' आश्रित चरित्र-विधानमें प्रयत्नसे नियताप्तिकी अवस्थामें संघर्ष उभर सकते हैं, लेकिन अलौकिकताके परिवेशमें ये संघर्ष लीला-छल और मर्यादा-स्थापनके लिए ही होते हैं। इस अवस्थामें अन्तर्द्वन्द्व भी उभर सकते हैं लेकिन इनका स्वरूप 'धर्मसंकट' वाला अधिक होता है, नैसर्गिक वृत्तियोंवाला कम। इनमें मूलतः 'उद्धार' की सक्रियता, तथा अन्ततोगत्वा विजयकी सिद्धि होती है। इन पात्रोंके अन्तर्द्वन्द्व या तो त्रुटि, या प्रतिकूल परिणामको दैवदण्डके रूपमें अथवा अपराध-पश्चात्तापके रूपमें स्वीकार करते हैं। अतः वे क्षणिक 'लौकिक कर्मफल' भोगते हैं। अन्ततः 'कर्मसिद्धान्त' की ही जय होती है। दशरथ इधर पुत्रस्नेह और उधर वचन ( प्रतिज्ञा ) के बीचमें झूलते हुए धर्मसंकटमें फँसते हैं। राम वनवासके मौक़ेपर कौशल्याकी बुद्धिको धर्म और स्नेहकी दुविधा घेर लेती है। रामको रोकनेपर धर्म जाता है और जाने देनेपर हानि होती है। अतः वे राम तथा भरत दोनों पुत्रोंको समान मानकर निराकरण कर लेती हैं। सीताके प्रति भी उनके सासुधर्ममें संकट है कि कल्पलता एवं आँखोंकी पुतलीकी तरह कोमल सीताको वे कैसे कठोर जीवनको भोगनेको कहें। वे पतिसे अधिक सासुको वधूकी रक्षिका समझती हैं। कैकेयीके सारे द्वन्द्वका निराकरण सरस्वती-द्वारा किये गये मतिभ्रमसे हो जाता है और वह दोषमुक्त कर दी जाती है। निर्द्वन्द्व लक्ष्मणको भी सीता-परित्यागके अवसरपर द्वन्द्वका सामना करना पड़ता है। वे विश्वास कर लेते हैं कि मैं ही सीताहरणका कारण था और अब मैं ही उनके वनवासका हेतु हूँ। यह विधि-हठका परिणाम है ( गीतावली ७।३१ )। इधर उन्हें सीय-सनेहका संकट है और उधर रामकी आज्ञाका विचार है। अतः अन्तमें उन्होंने आज्ञाका पालन किया और यह विश्वास कर लिया कि पिताको अघाकर कठोरवचन कहनेके पापके कारण ही यह परिताप हुआ है ( गीतावली ७।३० )। सीताको पश्चात्ताप है कि मैंने लक्ष्मणको कटुवचन कहे, रेखा लाँघी, इसीलिए मुझे यह भोगना पड़ा। वे विलापमें लक्ष्मणसे 'क्षमा माँगते हुए' बधिक रावणसे राजहंसीकी तरह छूट

आनेकी पुकार करती हैं ( गीतावली ३।७ ) उनका दूसरा पश्चात्ताप है कि मुझे मोहवश जो 'भ्रम' (स्वर्णमृगका) हुआ तथा भेदबुद्धि ( लक्ष्मणके प्रति ) हुई, उसे प्रभु कब भूल पायेंगे ( गीतावली ५।१० )। भरतको सबसे गहरा पश्चात्ताप है और वे माताके कार्योंके विवश परिणामी हो गये हैं। उनमें अपराध-ग्रन्थि पड़ जाती है : "यद्यपि हौं अति 'अधम', कुटिलमति 'अपराधिनि' को जायौ ( गीतावली २।७४ )। भरतके अपराध भावके भ्रमका निराकरण राम और भरद्वाज करते हैं। दूसरे, वे स्वयं भी तप-त्यागसे आत्मशुद्ध होते हैं। नन्दिग्राममें एक तपस्वीकी तरह रहकर वे कठिन ऋषिधर्म और गम्भीर राजधर्मका निर्वाह करते हैं। वे अयोध्यामें चम्पक बाग़में भौंरेकी तरह बसते हैं। अपनी निर्दोषता तथा रामप्रीतिको सार्थक करनेके लिए वे अनुपम विकल्प पेश करते हैं। वे रामसे कहते हैं कि आप राजतिलक कीजिए; या तो छोटे भाई शत्रुघ्न समेत मुझे वनमें भेज दीजिए, अथवा लक्ष्मण और शत्रुघ्न दोनों भाईको लौटाकर मुझे साथ ले चलिए, अथवा हम तीनों भाई वन चले जायें और आप सीता-सहित अयोध्या लौट जाइए। यहाँ विश्व-मनुष्यके मानवतावादकी विरल अभिव्यक्ति है। भरतमें भक्ति और तपका पूर्णावतार हुआ है। वे 'भक्ति'के ही पर्याय बना दिये गये हैं। भरद्वाज भरतसे कहते भी हैं कि तुम तो मानो शरीरधारी रामके प्रेम ही हो। वे भरतके यशरूपी चन्द्रमाके प्रतीकका आकल्पन करते हुए उसके सदा उदित रहने, जगके नभमें दिन-दिन दूने होने, और पृथ्वीपर अमृत सुलभ करनेवाले परिणामोंको रेखांकित करते हैं। दूसरे पक्षमें विभीषणके द्वन्द्व भरतकी तरह सर्व-प्रबल हैं। वह धर्मरक्षा ( रामशरण ) तथा लोकरक्षा रावणसे अपमानित होकर भी उसके पास रहने ) के गहरे अन्तर्द्वन्द्वमें उलझता है (गीतावली ५।२७ )। तुलसीने उसे 'गीतावली' में रावणपक्षका सबसे बड़ा रामभक्त चित्रित किया है। वह आदर्श शरणागतियोगका प्रतीक है। मन्दोदरी भी विचित्र स्थितिमें है। वह रामभक्त है और रावण-पत्नी। एक ग्राम्यनारीकी तरह वह अपने पतिको 'नीच' ( मानस ) 'मन्दमति' ( कवितावली ) कहती है। एक लौकिक चरित्रके रूपमें वह पतिद्रोहिणी है और रावण उसे हमेशा क्षमा ही करता रहता है। वह मन-वचनसे रामकी भक्त है। उसके लिए एक दूसरी नैतिकता लागू हुई है। बालि भी विचित्र द्वन्द्वमें फँसा है : मैं क्यों बैरी हुआ, और सुग्रीव क्यों प्यारा हुआ, मुझे किस दोषसे मारा और व्याधकी तरह छिपकर क्यों मारा ? किन्तु यहाँ तुलसी एक ओर आर्य यौन-नैतिकताके तापस-मानदण्ड लागू करवा देते हैं ( अनुजपत्नी, बहिन व कन्याको कुदृष्टिसे देखनेवाला वध्य है ) तथा दूसरी ओर शौर्य-नैतिकता भी जोड़ते हैं ( 'मेरे भुजबलपर आश्रित सुग्रीवको भी

मारना चाहा'-राम )।

काफ़ी विकसित मनोवैज्ञानिक चरित्रोंमें मन्थरा ( मानस ), मैना ( पार्वती-मंगल ) और कौशल्या और केवट हैं। मन्थरा और केवट साधारण जीवनके पात्र हैं तथा मैना और कौशल्या राजमाताएँ। तुलसीकी मन्थरा एक सर्वाधिक जटिल चरित्र है। देवता-षड्यन्त्रसे प्रेरित होना तो एक आध्यात्मिक व्याख्या है। वह कैकेयीके अवचेतनमें दबे सौतिया-डाहको पूर्णतः उभारकर रख देती है और कैकेयीके पुत्र भरतके प्रति स्वाभाविक प्रेमको माध्यम बनाती है। वह कैकेयी-के मनमें पतिके प्रति भी सन्देह पैदा कर देती है। इस तरह कौशल्याको माध्यम बनाकर वह कैकेयीसे कहती है कि रामको राज्याभिषेक होनेपर तुम दूधकी मक्खी हो जाओगी तथा पुत्रसहित कौशल्याकी चाकरी बजाओगी। और, वह सौतोंकी सैकड़ों कपट-कथाएँ कहकर विरोध जगा देती है। भरतको माध्यम बनाकर वह कहती है कि राजा राम भरतको कारागारमें डाल देंगे और लक्ष्मण 'नायब' होंगे। दशरथको माध्यम बनाकर वह कैकेयीके मनमें वह बात जमा देती है कि दशरथने कौशल्याकी सलाहसे ही भरतको ननिहाल भेज दिया है और वे तुम्हें नहीं चाहते। तुम्हें तो अपने सुहागके झूठे बलका ग़लत घमण्ड है। इस तरह मन्थरा कैकेयीके '+ ×' चरित्रको पूर्णतः '— ×'में परिवर्तित कर देती है। वह एक महान् षड्यन्त्रकारी चरित्रके रूपमें सशक्त हो उठती है। रामवृत्तमें वह खलनायिका है। इसके साथ-साथ वह तत्कालीन महलोंके षड्यन्त्रों तथा दासियोंकी भूमिकाको भी प्रतिबिम्बित करती है। उसके लिए 'कुजाति,' 'कुबुद्धि', 'पापिनी', 'अवध साढ़साती', 'पातकिनी', 'घरफोड़ी' आदि अनेक विशेषण प्रयुक्त हुए हैं जो उसके खलनायिकात्वकी पुष्टि करते हैं। मैना एक ग्राम्यमाता है जो अपनी कन्याके विवाहकी पृष्ठभूमिमें मध्यकालीन गृहस्थ-दशा-का भी संकेत करती है। कुँवरि पार्वतीको सयानी विलोककर वह चिन्तित हो जाती है कि गिरिजाके योग्य वर जुड़ जाये ( पार्वतीमंगल ९ ); बारातमें 'बावले' वरकी बातें सुनकर वह चिन्तित हो जाती है कि कन्याका क्या होगा; विदाके समय वह 'बियायी हुई गाय'की तरह हुंकार भर-भरकर दौड़ती है तथा पार्वतीको पुनि-पुनि विदा देती है। सखियाँ कहती हैं : 'संसारमें स्त्रीजन्म ही व्यथा है।' कौशल्या पुत्रवियोगिनी माता है : बेहद करुणामयी। लेकिन उनके धर्म और स्नेहके द्वन्द्वके बीच पतिधर्मको जीत होती है। केवट एक सीधा-सादा, अलौकिक करिश्मेमें विश्वास करनेवाला तथा स्वामीका गँवार चाकर मल्लाह है जिसकी समस्याएँ मात्र पत्नी तथा बच्चोंका पेट पालनेकी हैं। यह 'मानस'का सर्वाधिक यथार्थ पात्र है। इसी कोटिमें चित्रकूट मार्गमें ग्राम्यवनिताओंका

सामूहिक रूपमुग्ध, कुतूहलपूर्ण समूह-चरित्र आता है।

नर रामके चरित्रको 'अलौकिकता' ( लीला, कौतुक, मोहहीन नरलीला ) ने पूर्णतः ढाँक दिया है। जहाँ कहीं भी नर रामकी झाँकी मिली भी है, वहाँ तुरन्त ही कविने आगाह कर दिया है। फिर भी कुछ प्रसंग कवि तुलसी रच सके हैं जिनका पूरा विकास भक्त तुलसीने सह लिया। अरण्यकाण्डमें एक बार राम सुन्दर फूल चुनकर अपने हाथोंसे उनके गहने बनाते हैं और स्फटिक शिला-पर बैठकर उन्हें सादर सीताको पहनाते हैं ( मानस, ३।१।२ )। एक अवसरपर वे सुवेल पर्वतपर मृगछाला-शय्यापर सुग्रीवकी गोदमें अपना सिर रखकर लेटे-लेटे चन्द्रोदय देखते कहते हैं कि चन्द्रमा अपने विषयुक्त किरण-समूह फैलाकर वियोगी नर-नारियोंको जलाता रहता है ( मानस, ६।११।५ ) सीताहरणके अव-सरपर वे खग-मृग-मधुकर श्रेणीसे सीताका पता तो पूछते हैं किन्तु सीताको भूल-कर नख-सिख उपमानोंको कोसने लगते हैं। कवि उनकी यक्ष-पीरको प्रकट नहीं कर पाता; केवल संकेत दे देता है कि राम इस तरह विलाप करते हैं मानो कोई 'महाविरही' और 'अत्यन्तकामी' 'पुरुष' हो। इस तरह रामकथाका सर्वोदात्त प्रसंग केवल पाँच चौपाइयोंमें वर्णित हुआ है। इसकी टक्करमें हनुमान्-मुखसे वर्णित रामविरह अधिक सजीव और सहज और मानुषी है ( मानस, ५।१४। १-४ )। तुलसी रामको साधारण मनुष्यकी भाँति प्रस्तुत करनेमें झिझक जाया करते हैं। लक्ष्मण-मूर्छा-प्रसंगमें पुनः उनका प्राकृत तथा सामन्तीय सम्बन्धताके प्रतिबिम्बके रूपमें अकस्मात् उद्घाटन हो जाता है। वे 'अलौकिक'से 'प्राकृत' तो ( कहीं-कहीं ) हो गये हैं, किन्तु 'प्रकृत' बहुत कम मौक़ोंपर हो सके हैं।

इस भाँति तुलसीके पात्रोंमें कुछ मर्यादा क़ायम करते हैं, कुछ मर्यादा तोड़ते हैं ( रावण ), कुछ मिथ्याचारी मर्यादाओंके प्रति विद्रोह करते हैं ( लक्ष्मण, सीता ); और कुछ मर्यादा मनवाते हैं ( अंगद, मन्दोदरी, हनुमान् )। अनेक स्थलोंपर ये पात्र आध्यात्मिकताके साथ-साथ मध्यकालीनताका परोक्ष दिग्दर्शन भी करा देते हैं। इनमें-से लक्ष्मणका विद्रोही रूप, सीताका रोमैण्टिक अधिकार-संस्थापिका रूप, रावणका खलनायकत्व, भरतका तपस्वी रूप, रामका अलौकिक एवं मर्यादा रूप, मन्थराका षड्यन्त्रकारिणी रूप, केवटका ग्रामीणजन रूप, कौशल्याका माँ तथा सासु रूप, कैकेयीका सौत रूप, दशरथका वृद्ध रूप, हनुमान्का सेवक रूप, अनसूयाका ऋषि-पत्नी रूप, अंगदका विधिवेत्ता रूप, मानो दृष्टान्त ही हैं।

मनोविज्ञान-धुरीपर केवल व्यक्ति ही अन्तर्मुखी ( इण्ट्रोवर्ट ) या बहिर्मुखी ( एक्स्ट्रोवर्ट ) नहीं होते, अपितु पूराका पूरा समाज भी अन्तर्मुखता प्रधान हो

जाया करता है। तुलसीवृत्तमें सन्त, मुनि, ऋषि अन्तर्मुखी तथा राक्षस, खल और टोटेमीय पात्र बहिर्मुखी हैं। भरत अन्तर्मुखताके चरमोत्कर्ष हैं तथा लक्ष्मण बहिर्मुखता-प्रधान हैं। रावण बहिर्मुखताका चरमोत्कर्ष हैं। राम केन्द्र हैं जहाँ अन्तर्मुखता-बहिर्मुखताका समतोलन है। अन्य पात्र इन तीन बिन्दुओंके बीचमें टंकित हो सकते हैं।

संघर्षशील सामाजिक सम्बन्धताकी दृष्टिसे तुलसीने देवता-ब्राह्मण-शूद्रकी त्रयीको लिया है। अपने जीवनके आदर्शवादी चरणमें उन्होंने देवताओंको पदच्युत किया है, शूद्रोंके दमनकी स्वीकृति दी है तथा ब्राह्मणोंका उद्धार किया है। उनके मध्यवर्ती यथार्थोन्मुख चरणमें देवताओं और राजाओंको एक ही दर्जा दिया गया है तथा शूद्रोंके दमन और ब्राह्मणोंके उत्थानका जोश ठण्डा हो गया है। और अन्तिम यथार्थवादी चरणमें तुलसीने वर्णव्यवस्था, भाग्य, कर्म, माया आदिके प्रति भी अपना संशय प्रकट किया है।

हमने चरित्रीकरणके सिद्धान्त मूलतः महाकाव्यात्मक कृतियों-मूल रूपसे 'रामचरित मानस'—के आधारपर ही निरूपित किये हैं क्योंकि अन्य कृतियोंमें शील-निरूपणकी व्यापकता विविधता नहीं मिलती। तुलसीने चरित्र-चित्रणमें विवरण तथा इतिवृत्तका ज़्यादा सहारा लिया है, कार्यव्यापारका कम। उनमें कार्यसे अधिक शब्द सक्रिय हैं। विवरण एवं इतिवृत्तके द्वारा चरित्रचित्रण करनेकी विधा धार्मिक काव्योंमें प्रयुक्त होती है क्योंकि कवि तुरन्त और पूरी स्पष्टता देना चाहता है; तथा चरित्र-चित्रणमें केवलमात्र अपनी धारणाको ही प्रेषित कराना चाहता है अन्यथा दर्शन और नीतिको व्याख्याओंमें 'अराजकता' आ सकती है। इसीलिए तुलसी रामकथामें प्रत्येक स्थिति, घटना, पात्र आदिकी स्वयमेव धार्मिक टीका-टिप्पणी करते चलते हैं।

× × × ×

अगली गोष्ठीमें हम तुलसीके कृतित्वके शिल्पविधानों (तकनीकों) का पर्यालोचन करेंगे।

■

# पाँचवीं गोष्ठी

**"देखत तव रचना विचित्र नव समुझि मनहि मन रहिये" :**
अर्थात् तुलसीके कथारूप क्या हैं ? उनका शिल्प-विधान क्या है ? उनमें किन-किन तकनीकी कौशलोंका इस्तेमाल हुआ है ? उनमें 'प्रार्थना' और 'प्रकृति' के तत्त्वोंकी चर्याएँ कैसी हैं ?

तुलसीदासने दो लघु आख्यानक काव्य रचे हैं, एक आध्यात्मिक महाकाव्यका प्रणयन किया है, पद और गीत और कविताकी अवलियाँ रची हैं, स्तुतियोंके ऋचारूप दिये हैं, दरबारी अर्ज़ी पेश करनेके क़ानूनी ढंगपर एक विनयपत्रिकाका अन्वेषण किया है, एक शोकगीति-जैसी रचना ( हनुमान्‌बाहुक ) भी पेश की है। उन्होंने कई विधाओंका प्रयोग किया है। एक ओर वे 'कृष्णगीतावली'में चरवाही प्रगीतात्मकताको ग्रहण करते हैं, दूसरी ओर 'गीतावली' में प्राकृत-अपभ्रंशके गीत लालित्यको, तीसरी ओर 'कवितावली' में रासो-काव्यके वीरवृत्तको, तथा 'मानस'में आद्यन्त भक्तिकी दार्शनिक प्रतिपत्तियोंको पेश करते हैं। उनमें कई कलात्मक परम्पराओंका सन्धान है। एक, अपभ्रंश और सूफ़ी आख्यान काव्योंकी दूहा-चौपाई परम्परा है; दो, 'हनुमन्नाटक' 'प्रसन्नराघव' की नाटच-जटिलता है; तीन, 'वाल्मीकि रामायण' 'आनन्द रामायण' 'भुशुण्डि रामायण' 'अध्यात्म-रामायण' की शैलीमें आध्यात्मिक प्रतीक रूपायन है; चार, लोकतात्त्विक परम्पराके अभिप्राय-प्रयोजन-रूढ़ियाँ आदि हैं; पाँच, लीलागानोंके गीतिनाटच हैं; छह, ब्राह्मण कथावाचकोंकी उपदेशवृत्ति है; और, अन्तमें, प्रकृत गीत-गान परम्पराका समावेश है। उनकी सृष्टिका सहस्रदल है—'रामचरितमानस'। यहाँ उनके 'राम' में परब्रह्मत्व है, 'चरित' में ऐतिहासिक परम्पराका पौराणिकीकरण है, तथा 'मानस' में नदी-सिन्धु-तालाबके आध्यात्मिक प्रतीकमण्डलका पूर्ण दार्शनिक पैटर्न है। इस तरह वे अपने 'मानस' में ( १ ) इतिहास-साहित्यशास्त्र, (२) अध्यात्म, तथा (३) लोकतत्त्व इन तीन धाराओंका संगम लोकचित्तकी भूमिपर कराते हैं। उनके नाना रूपविधानों ( फ़ॉर्म-कॉन्फ़िगरेशन्स ) में इन्हीं तीनोंका योगायोग

हुआ है। अतः उनका कोई एक शिल्प-विधान नहीं है।

आख़िर रूप ( फ़ॉर्म ) तथा शिल्प ( टेक्नीक ) क्या है ? यह एक सौन्दर्य-शास्त्रीय महान् विवादका विषय है। हम विवादोंमें न पड़कर कुछ प्रासंगिक सूत्र देकर आगे बढ़ेंगे। काव्य कालसापेक्ष्य ( टेम्पोरल ) कला है जिसमें अनुवर्ती ( सक्सेसिव ) विधान होता है अर्थात् यहाँ पात्र, या अनुभव, या घटना, वर्णन 'क्रमशः' आनेके कारण 'कार्य-कारण' की अथवा 'क्रम' की शृंखलासे बँधे होते हैं। यदि हम पात्रों, वस्तुओं, अनुभवों, घटनाओं, वर्णनों आदिको प्रस्तुत मान लें, तो उन्हें पुनः प्रस्तुत करनेमें इतिहास और संस्कृतिके गठन, कलाकारके व्यक्तित्व आदिका भी प्रभाव पड़ता है। फलस्वरूप एक ही पात्र श्रीराम विभिन्न ऐतिहासिक युगोंमें, या एक ही ऐतिहासिक युगमें विभिन्न कलाकारों-द्वारा पुनः प्रस्तुत किये जानेपर एक दूसरे ढंगसे ही अपना रूपान्तर करेंगे। विषयवस्तु ( कॉण्टेण्ट ) का यह अनुकूल मूर्त आयतन ही 'रूप' है जिसके अन्तर्गत 'पद्धति' या 'विधि' की भूमिका होती है। यह रूपान्तर हमेशा वैयक्तिक या विशिष्ट होता है। अतः प्रस्तुतका इतिहासके पैटर्न और कलाकारके व्यक्तित्वके 'माध्यम', दोनोंसे रूपान्तरित होकर पुनः प्रस्तुत होना 'रूप' है। रूपविधानमें वस्तुओंका स्थानगत ( इन स्पेस ) विन्यास होता है जब कि वे वस्तुएँ कालगत भी होती हैं। अतः कालसापेक्ष्यको एक स्थानसापेक्ष्य तन्त्रमें कुछ उपायों ( शिल्प-विधियों ) के द्वारा रूपान्तरित करना ही 'रूप' का विधान है। यह विन्यास यान्त्रिक ढंगसे नहीं होता; यह हमेशा 'विशिष्ट' होता है। जब एक कलात्मक धारा इसका अनुकरण करती है तब यह रूपायन रूढ़िगत या परम्परागत होता है। जब व्यक्ति कलाकार इसका अनुसन्धान करता है तब यह काफ़ी मौलिक होता है। काल-सापेक्ष्यका स्थानसापेक्ष्य व्यवस्थापन ( एरेंजमेण्ट ) मनुष्यकी विलक्षण सृजनात्मकता या सिसृक्षा है जो सोद्देश्य, उपयोगी और काम्य होती है। उदाहरणार्थ, काव्यमें चरित्र, वर्णन, घटनाएँ, कार्य, अनुभव आदिका व्यवस्थापन इस तरह होगा कि वे अलग-अलग होकर भी एक-दूसरेके लिए अनिवार्य होंगे और उनमें वैपरीत्यमूलक ( द्वन्द्वात्मक ) 'एकता' भी क़ायम रहेगी। अतः व्यवस्थापनमें सन्तुलन ( बैलेंस ); समरूपता ( सिमेट्री ), व्यवस्था ( ऑर्डर ) आदिकी ज़रूरत पड़ती है। ये ज़रूरतें रूपके 'तत्त्व' ( एलिमेण्ट ) हैं। तत्त्वोंकी आपसी पूरकता और अनिवार्यता ही 'एकता' का अभिनिवेश करती है। इस भाँति सभी वस्तुओं-को एक साथ किसी विलक्षण ढंगसे अन्वित करनेमें रूप और शिल्पका सहयोग है जहाँ 'सभी' वस्तुएँ तत्त्वों-द्वारा व्यवस्थापित होने लगती हैं; तथा तत्त्व शिल्प-द्वारा अभियोजित होने लगते हैं। इस तरह वस्तु-तत्त्व-शिल्पकी त्रयी विधात्मक

रूप ( जेनेटिक फ़ॉर्म ) का निर्माण करती है। काव्य एवं साहित्यमें यह रूपगठन विधात्मक होता है ( जैसे महाकाव्य, आख्यान, चम्पूके रूप ), विशिष्ट विषय-वस्तुगत होता है ( 'वाल्मीकि रामायण', 'अध्यात्म रामायण', 'रामचरितमानस', महाकाव्योंके व्यक्तिगत रूप ), शिल्पगत होता है। ( इतिवृत्तात्मक, वर्णनात्मक, अवधारणात्मक ) तथा मनोवृत्तिमूलक होता है ( प्रगीतात्मक, शास्त्रीय )। ये विधियाँ विषयवस्तु ( कॉण्टेण्ट ) की तरह रूपविधानको भी एक लक्ष्य प्रदान करती हैं। सारांशमें, रूपगठन कार्य ( ऐक्सन ) तथा कामगरी ( वर्क ) से सम्बन्धित है जिसमें मानव-ऊर्जाका उपयोग होता है। अनेक मानव कार्य और कामगरी मिलकर इतिहासमें 'सभ्यता' तथा 'संस्कृति'के ढाँचे रचते हैं जिनके कुछ स्वीकृत मर्यादामान ( नॉर्म ) होते हैं। वस्तुतः संस्कृतिके ढाँचे मर्यादामानों-के पुंज होते हैं जो परम्परा और परिपाटी ( ट्रेडिशन ऐण्ड कॅन्वेन्शन ) में झिल-मिलाया करते हैं, जहाँ मानवकी सामूहिक संस्थाएँ तथा व्यक्तिगत सृजनात्म-कताएँ सक्रिय रहती हैं। संस्कृतिके पैटर्न या रूपाकार ऐतिहासिक महत्त्वके युगोंमें अधिक परिवर्तन-प्रवर्तनकारी होते हैं। मानवकी सृजनात्मकताके प्रमुख क्षेत्र हैं : अर्थतन्त्र, राज्य, धर्म, विज्ञान, दर्शन और सौन्दर्यतत्त्व आदि। मानव-ऊर्जा यहाँ इस्तेमाल होती है। अतः कला और साहित्यके रूपविधान व्यापक रूपमें इतिहास-चरणके सांस्कृतिक पैटर्नके एक 'तत्त्व' मात्र, एक वामन-अंश हैं। इस तरह साहित्यिक विधात्मक रूपोंपर विशिष्ट ऐतिहासिक युगके 'सांस्कृतिक रूपाकार'का भी सौन्दर्यतात्त्विक प्रक्षेपण होता है।

इस भूमिकाके साथ हम महाकाव्यके रूपाकारको लेंगे। महाकाव्यकी दो परम्पराएँ हैं : एक, आदिम या विकसनशील महाकाव्यकी; दूसरी, साहित्यिक या व्यक्तिगत महाकाव्यकी। पहली परम्पराके आधारपर ही महाकाव्यके तत्त्वों-का विधान हुआ है, और दूसरी परम्परामें व्यक्तिगत सैद्धान्तिक मीमांसाएँ हुई हैं। पहली परम्परा सामूहिक सृजनकी देन है; और दूसरी व्यक्तिगत सृजनकी। आदिम महाकाव्यमें अतिमानवीय और अतिप्राकृतिक 'मिथकीय संस्कृति' होती है जिसमें कथात्मकता ही चरम लक्ष्य होती है। साहित्यिक महाकाव्यमें अतिमानवीय तथा अतिप्राकृतिक 'संस्कृतिको ऐतिहासिक परिवेश' अर्थात् मानवीय मर्यादामानोंमें ढालकर दिया जाता है। इसमें कथा किसी महान् लक्ष्यकी निमित्त-मात्र होती है। आदिम महाकाव्य गाकर समूहको सुनाया जाता है तथा साहि-त्यिक महाकाव्य व्यक्ति-द्वारा पढ़ा जाता है। आदिम महाकाव्य वाचनके लिए सम्पादित होता है, साहित्यिक महाकाव्य पढ़नेके लिए लिखा जाता है। आदिम महाकाव्यमें कथाकी तीव्र गतिका खयाल रखा जाता है। इसलिए इतिवृत्तमें

मनोहर वर्णन, वर्णनोंमें सौन्दर्यमूलक अलंकार, पात्रोंके संघर्ष, घटनाओंके नाटकीय बिन्दुओंको इस तरह सन्तुलित किया जाता है कि इतिवृत्तमें बेहद तालयुक्त आरोह-अवरोह होता है जिससे एक 'एकता' क़ायम हो जाती है। आदिम महाकाव्यका आख्यानवाचक ( कवि ) श्रोताओंको 'मन्त्रमुग्ध' करके ही अपने विश्वास जमा सकता है। इसके लिए यह या तो स्तुतियाँ-निन्दाएँ करता है अथवा अपने काव्यके अन्य प्रयोजनोंके लोभ देता है। वह इतिवृत्तकी गतिको मनोहर वर्णनोंसे इच्छानुसार स्तम्भित करके शोभाका वशीकरण फैलाता है तथा छन्दके जादूसे संगीत और गति दोनोंका विभ्रम उत्पन्न करता है। 'चित्रात्मक विवरण', 'तीव्र गति' और 'कुतूहल' आदिम महाकाव्यके कथानकमें ये तीन प्रधान होते हैं। साहित्यिक महाकाव्योंमें कथानक केवल साधन हो जाता है। व्यक्ति-कवि इतिहास-चेतनासे आलोकित होकर कथानकमें धार्मिक या नैतिक, दार्शनिक या समसामयिक, वैयक्तिक या राष्ट्रीय विश्व-दृष्टिको साध्य रूपमें स्थापित करता है। हमारे सन्दर्भमें वाल्मीकि-कृत 'आदिरामायण' आदिम महाकाव्यकी, तथा तुलसी-कृत 'रामचरितमानस' साहित्यिक महाकाव्यकी परम्परामें आता है। तुलसीने आदिम महाकाव्य परम्परासे कई तत्त्व ले लिये हैं। कुछ घटनाओंके स्थानान्तरण या विलोपके अलावा तुलसीने वाल्मीकिका ही गठन उधार लिया है किन्तु उसपर 'अध्यात्मरामायणवृत्त'की दार्शनिक पद्धति, तथा मध्यकालीन चेतनाकी निष्पत्तिसे पात्र, वर्णन, कार्य, प्रयोजन आदि सभी रूपान्तरित कर दिये हैं। तुलसीने भी अपने महाकाव्यको मुख्यतः गाकर सुना जानेवाला ही बनाया है, उन्होंने अतिप्राकृतिक-अतिमानवीय मिथकीय संस्कृतिपर मध्यकालीन वैष्णव आध्यात्मिक संस्कृतिको आच्छादित किया है, कुतूहलको प्रधानता देकर भी तीव्र गति ( कथानक-प्रधानता ) पर बल नहीं दिया है। इसी तरह विवरणोंकी चित्रात्मकताकी अपेक्षा नैतिक-आध्यात्मिक व्याख्याओंको प्रधानता दी है। मिथकीय चेतनाके वृत्तमें श्रोता कार्यव्यापारोंका भावुक द्रष्टा ही नहीं होता, बल्कि कथानककी हरेक बारीकीका ज्ञाता होनेके कारण तथा एक विशिष्ट विश्व-दृष्टिकोण रखनेके कारण उनमें लोक-कार्य-जैसा हिस्सा भी बँटाता है। इसी वजहसे वाल्मीकिके आदिम महाकाव्यमें जो देवतादि हैं वे हमारी मध्यकालीन पौराणिक आस्थाके ज्यादा अनुकूल नहीं हैं। वे दैवीसे अधिक मानवीय हैं। इस तुलनामें तुलसीके देवतादि वास्तविक अस्तित्वपूर्ण न होकर 'आध्यात्मिक प्रतीक' हैं। वे दैवी-मानवीमसे परे एक परिपाटी हैं। मध्यकालीन ब्रह्माण्ड-अविकल्पनके प्रतिबिम्बनसे तुलसीने नायकको ही परम परब्रह्म बना दिया है। आदिम महाकाव्यकी ही तरह 'साहित्यिक महाकाव्य 'मानस'में हम आख्यानवाचक तुलसीकी

आस्थासे निर्देशित होते हैं। उसमें 'अविश्वासका श्रद्धामूलक उच्छेदन' होता है, न कि 'इच्छामूलक निलम्बन' ( नॉट विलिंग सस्पेन्शन ऑव डिसबिलीफ़, बट डिवोशनल एलिमिनेशन ऑव डिसबिलीफ़ )। इस तरह तुलसीने विश्वास ( बिलीफ़ )के मिथकीय युगके तर्कको ऐतिहासिक युगपर लागू करके एक धार्मिक महाकाव्यकी सबसे बड़ी शर्त पूरी कर दी है। उन्होंने युगके तीन तर्कों (रीज़न्स) का खण्डन कर दिया है : (१) परब्रह्म राम सगुण मनुष्य कैसे हो सकते हैं; (२) वे मनुष्य न होकर मनुष्यकी तरह आचरण कैसे कर सकते हैं; (३) एक कौवे तकको परमभक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है? इनका उत्तर उन्होंने तीन धार्मिक प्रतीकोंमें दिया : अवतारवाद, नरलीला, तथा भक्तिप्रीति। फलस्वरूप 'मानस'-में चरितनायक अवतार, घटनाएँ नरलीला, तथा संवेग धार्मिक मनोविज्ञानकी गूढ़तासे परिपक्व हो जाते हैं। इससे धार्मिक महाकाव्यके लिए एक दूसरा समानान्तर अन्यापदेशिक ( ऐलिगॅरिकल ) धरातल भी मिल जाता है। पहले धरातलमें इतिवृत्तात्मक ( नैरिटिव ) चरणमें नायक, घटनाएँ और रस हैं; तथा दूसरे धरातलमें अवधारणात्मक ( कॉन्सेप्टचुअल ) चरणमें अवतार, लीलाएँ और भक्तिपरक संवेग हैं। इस भाँति तुलसीने आदिम महाकाव्यके गठनपर साहित्यिक महाकाव्यको धार्मिक कवित्व प्रदान किया है। अतः 'मानस'का ढाँचा 'इतिवृत्तात्मक' है जिसपर 'अवधारणात्मक रूप' आरोपित है। इसके लिए तुलसीने सत्य-मिथ्या ( ब्रह्म-माया )के सूत्रको तकनीकी-सिद्धान्तमें रूपायित कर दिया है। उसकी इस साहित्यिक विधाका उद्गम यही है।

इतिवृत्तात्मक रूप तथा अवधारणात्मक रूपके सहसम्बन्धसे अन्यापदेशिक अभिव्यंजनाकी क्षमताएँ बढ़ी हैं जिसकी वजहसे काव्यात्मक विभ्रम ( पोएटिक इल्यूज़न ) की कई समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं। सबसे पहली समस्या आख्यान-वाचक कविकी भूमिकाकी है। तुलसी हमेशा महाकाव्यकी पृष्ठभूमिमें एक भाष्य-कारके रूपमें मौजूद हैं जो प्रत्येक घटना तथा कार्यकी नैतिक और आध्यात्मिक व्याख्याएँ करते रहते हैं। इससे इनमें दुहरापन आ जाता है और कवि कार्य-व्यापारको चुनने, किसी विशेष अंशपर बल देने, किसी पताका छोड़ देने आदिपर 'अपनी' मनोवृत्तियों तथा दृष्टिकोणोंको आरोपित करता चलता है। वह एक ही समयमें अग्रभूमिमें चल रहे प्लॉटकी कई घटनाओं तथा वृत्तान्तोंको भी दे सकता है। कविकी आख्यानशैलीके अनुरूप ही लगभग सभी पात्रोंकी कथन-शैलियाँ ढलती चली जाती हैं। अतः संवादोंमें पात्रगत वैचित्र्य काफ़ी कम हो जाता है। एक बात और ध्यातव्य है कि कवि चारण न होकर एक ब्राह्मण-कथावाचक है जिसकी शैली पौराणिक है। वह रामकथा 'गाकर कहता है' और सुजन लोगोंसे

प्रत्याशा करता है कि वे 'सादर' तथा मन लगाकर अर्थात् श्रद्धा और भावविभोरतासे सुनेंगे (मानस, १।३४।७)। वह हमेशा मौजूद रहता है। एक कथासूत्रको छोड़कर 'आगे जो चरित्र जिस प्रकार हुआ' उसे सुनाता है। एक ही कथांशके दो पात्रों अथवा दो घटनाओंकी विभक्तिकी सूचना वह स्पष्ट दे दिया करता है : 'याज्ञवल्क्य भरद्वाजसे बोले कि मैंने उमाका सुन्दर 'चरित्र गाया'; 'अब शम्भुका सुहावना चरित्र सुनो' (मानस १।७४।३)। अपने चुनावके अनुसार वह पताकाओंका संक्षेपमें भी बखान करता है; बीचमें छोड़े गये चरित्रको किसी दूसरे कथांशके बाद पुनः शुरू कर सकता है ('अब सो सुनहु जो बीचहिं राखा'); व्यतीत कथाकी पुनरावृत्ति भी करता है (दशरथके दूत-द्वारा शिवधनुभंगकी घटना सुनाना, हनुमान्-द्वारा रामके विरहका वर्णन करना आदि); तथा कभी-कभी मूल प्लॉटसे असम्बद्ध किसी पताकाको किसी धार्मिक प्रयोजनकी सिद्धिके लिए भी जोड़ सकता है। व्यक्तिकवि धार्मिक होनेके नाते बहुधा अलौकिक पात्र व घटनाके प्रसंगमें 'अनिर्वचनीयता' की बाँह थाम लेता है (जिस नगरमें स्वयं जगदम्बा पार्वतीने अवतार लिया है उसका क्या वर्णन हो सकता है ? जिस नगरमें स्वयं माता भवानी रहती हो वहाँकी ज्योनारका वर्णन कैसे हो सकता है ?)। इस भाँति इतिवृत्तात्मक रूपमें वर्णनकी ये कुछ शैलियाँ प्राप्त होती हैं। 'मानस' में आख्यानवाचक कविके अलावा अन्य भी हैं। ब्राह्मण वक्ता तुलसीके श्रोता तो सुजनवृन्द हैं। लेकिन शिवकी श्रोता पार्वती, याज्ञवल्क्यके श्रोता भरद्वाज, काकभुशुण्डिके श्रोता गरुड़ भी हैं। ये चार वक्ता-श्रोता युगल हैं जो सारी कथाको स्वयंपूर्ण किन्तु अनुस्यूत खण्डोंमें बाँटनेके साथ-साथ एक ओर तो आध्यात्मिक व्याख्याएँ करते हैं, तो दूसरी ओर इतिवृत्तात्मक रूपको प्रश्नोत्तरवाली पद्धतिका भी बना देते हैं। अतः उपदेशवृत्ति प्रधान हो जाती है, कथानक गौण। प्रश्नावली पद्धतिका कारण तत्कालीन पुनर्जन्म-सिद्धान्त है जिसकी वजहसे वक्ता पात्रोंके पूर्वजन्मकी भी कथाएँ कहकर कथाभूमिको लोक और परलोकका विस्तारी रंगमंच दे देते हैं। तीनों वक्ता-श्रोता युगलके उपदेशोंमें भी आख्यानवाचक तुलसीके ही विचार प्रतिपादित हुए हैं जिनका सम्बन्ध या तो रामके ब्रह्मस्वरूपसे है अथवा रामभक्तिसे। जब ब्राह्मणकवि सुजनोंको उपदेश देता है तब वह वर्णाश्रमधर्म, लोकनीति, कलियुगके त्रिताप आदिको भी शामिल करता है। ये संवाद कई स्थलोंपर चलते हैं : तीर्थोंमें, सभाओंमें, राजसभाओंमें, धर्म-समाजोंमें, पात्रोंके वार्तालापोंमें और कविके वक्तव्योंमें। इन संवाद-शैलियोंमें ज्ञान तथा भक्तिपरक शब्दावलीकी बहुतायत है। ध्यान रहे कि संवाद-स्थलों तथा वक्ता-श्रोता युगलोंका ऐसा चुनाव 'मानस'के गठनको कैलाश, प्रयाग, चित्रकूट, ऋषि-

आश्रम, धर्म-सभाओं, राजसभाओंमें फैलाकर एक धार्मिक भास्कर्य ( रिलिजस आर्किटेक्चर )-जैसा स्वरूप प्रदान करता है। इन संवादोंने कथांशोंको अनेक स्वावलम्बी लीलाओंमें वितरित कर दिया है जिनमें-से प्रत्येकके अपने धार्मिक प्रयोजन हैं। ज़ाहिर है कि इसके रूपगठनकी एकता शिथिल हुई है।

'मानस' के कथानकमें आधिकारिक तथा प्रासंगिक कथाओं ( पताकाओं, प्रकरियों ) की 'एकता'के लिए कई तत्त्वोंका इस्तेमाल हुआ है। इनके आपसी सम्बन्धोंसे कार्यव्यापारके गतिशास्त्र ( डाइनैमिक्स ) का अनूठा इज़हार होता है। कथाओंके गठनमें घटनाएँ ( ईवेण्ट्स ) केन्द्र होती हैं जिनके सूत्रमें कार्य-कारण पिरोये हुए होते हैं। तब ये गठन नन्हीं इकाइयाँ बनते हैं। 'मानस'में ताड़का, वाल्मीकि, अहल्या, केवट, निषाद, जटायु, सम्पाति, सुमन्त्र आदि नन्हीं कथा-इकाइयाँ हैं। इन इकाइयोंमें कमसे कम एक नायक होता है जो मूल महाकाव्यके चरितनायकके विराट् कार्यव्यापारमें समाहित हो जाया करता है। लेकिन इकाईके गोलमें वह अपने चरित्रका आंशिक बिम्ब भी आलोकित कर देता है। 'मानस' में ये प्रकरी-नायक-नायिकाएँ आदिम महाकाव्यकी कथानक परिपाटीको ही नहीं ढोतीं बल्कि कविकी भक्ति मीमांसा, या तत्कालीन नयी सामाजिक सम्बन्धता, अथवा किसी नैतिक आचार-व्यवहारका उद्घाटन भी करती हैं। ये सब कथानकको मध्यकालीन बोध देनेवाले सहयोगी हैं। आधिकारिक कथाका वेग इनके बिन्दुओंको छूता हुआ निकलता है। अतः ये एक समाज-रचना भी करते हैं। 'मानस' में बालकाण्डमें राजसभाओंके कई पात्रों, अरण्यकाण्डमें ऋषि-मुनियोंके समुदाय, किष्किन्धामें मित्रोंकी खोज आदिने मिलकर काव्यमें मानवीय तत्त्वोंकी अनिवार्यताकी पूर्ति की है तथा कथानकके फलकको एक सामाजिक दुनियामें जीवित कर दिया है जहाँ राजसभाएँ हैं, पुरोहित-ब्राह्मण-ऋषि हैं, सेवक और मित्र हैं, शत्रु-योद्धा और सूरमा हैं, विविध चरित्रोंवाली नारियाँ ( कौशल्या, मन्थरा, कैकेयी, अनसूया, शूर्पणखा, अहल्या, शवरी, तारा आदि ) हैं। इस भाँति ये नन्हीं कथा-इकाइयाँ मूलतः समाज तथा उसके समूहोंकी विविधताका आधान करनेकी निमित्त हैं। किन्तु 'मानस'में कविने घटनाओं तकको विवरणात्मक (डेस्क्रिप्टिव) पद्धतिसे चित्रित किया है। इसलिए इतिवृत्तात्मक ( नैरेटिव ) रुचि तबतकके लिए स्थगित हो जाती है जबतक कि कवि स्वयं अगली घटनाका बखान नहीं करता। सारांशमें, कवि 'गति' के बजाय 'ध्यान' में लीन हो जानेका आदी है। इसीलिए 'चरित'में 'मानस' की गहराई भी है। ऐसे ही दूर तक चलनेवाली पताका-कथाओं ( लक्ष्मण, हनुमान्, विभीषण, सीता, रावण ) में 'एकता' प्राप्त करनेमें उद्देश्यका कई भागोंमें वितरण हो जाया करता है। ये

पताका-कथाएँ आधिकारिक कथाके प्रयोजनोंको परस्पर बाँट लेती हैं और अन्ततोगत्वा महोद्देश्यमें तिरोभूत हो जाती हैं। उदाहरण : लक्ष्मण-कथा राम-मर्यादा और राम-वैराग्यके वृत्तमें रोमैण्टिक विद्रोह और दण्डनीतिके शौर्यकी पूर्ति करती है; हनुमान्-कथा राम-कार्योंकी गतिको अत्यन्त वफ़ादारीके साथ अतिप्राकृतिक उपायोंके द्वारा भी तेज़ गतिसे आगे भगा ले जाती है; विभीषण-कथा रामके सम्राट्-पक्षको गौण होनेसे बचाती है; सीता-कथा यात्रा और खोजको एक न्यायपूर्ण सार्थकता देती है; तथा रावण-कथा रामके असुरसंहार नामक प्रमुख अवतार-हेतुको सिद्ध करती है। तुलसीने इन कथाओंमें भक्तिभावका इतना अधिक समुपरंजन कर दिया है कि अन्य मनोराग या तो भक्ति-उन्मुख हो गये हैं अथवा कमज़ोर पड़ गये हैं। अतः इतिवृत्त एवं अवधारणाके दोहरेपनका नतीजा मूल कथानकपर भी पड़ा है : एक ओर रामकी वास्तविक यात्राका कथानक है, तो दूसरी ओर रामकी अन्यापदेशिक ( ऐलिगरिकल ) यात्राका भी अवबोध है। अतः रामके सभी कार्यव्यापार लीलाएँ हो जाते हैं; तथा स्वर्णमृग-आखेटसे पूर्व सीताके अग्निवाससे लेकर लंकाविजयके पश्चात् अग्निपरीक्षा तक सीताकी यात्रा भी अन्यापदेशिक तथा रहस्यवादी हो जाती है।

आधिकारिक, पताका, और प्रकरी-कथाओंके नियोजनपर ग़ौर करनेके पहले हम वाचकप्रधान इतिवृत्तात्मक गठनकी तत्सम्बन्धी विशेषता बताना चाहेंगे कि आख्यानवाचक एक ही कालमें कई घटनाओंका वृत्तान्त दे सकता है—चित्रपटलका परिवर्तन, विपर्यय, या निलम्बन करके। इसके अलावा धार्मिक महाकाव्यमें कार्योंपर दैव या प्रारब्धका नियमन होनेकी वजहसे सामान्य कार्य-कारणकी परम्परा भी भंग हो जाया करती है और बहुधा घटना-परिवर्तनमें 'आकस्मिकता' परिव्याप्त हो जाती है। 'मानस' में कथाप्रभेदोंके नियोजनमें इन दोनों प्रवृत्तियोंकी चहल-पहल है। ऐसे विचित्र नियोजनके लिए वाचक कविने कथाओंके उपसर्ग-प्रत्यय रूपमें कुछ क्रियाविशेषण प्रयुक्त किये हैं; यथा : इधर ( यह कथा हुई ) और उधर ( वह चरित चल रहा है ), पीछे ( यह लीला हो चुकी ) और आगे ( इस लीलाका वर्णन होगा ), यहाँ ( राम स्वर्णमृगके पीछे चले गये ) और वहाँ ( सीताका वृत्तान्त सुनो ), इत्यादि। कथाप्रभेदोंको दाखिल करनेका दूसरा हेतु नाना आध्यात्मिक-दार्शनिक प्रतीकोंकी मिथकीय व्याख्या करना होता है; यथा : मुक्तिके लिए सम्पाति, शाप-निवारणके लिए अहल्या, पापोद्धारके लिए जयन्त, अवतार-हेतुओंके लिए हरिकी अनेक पूर्वकथाएँ आदि। कथाप्रभेदोंका तीसरा नियोजन प्रश्न अर्थात् शंकाके उत्तर अर्थात् समाधान-रूपमें एक मिथकीय कथाको प्रस्तुत करनेसे होता है; यथा : सतीको रामके सगुणत्वपर सन्देह होनेकी

वजहसे सती-मोहकी कथा जोड़ी गयी, पार्वतीको काकभुशुण्डि-जैसे कौवे-द्वारा हरिपद पानेकी शंकाके निवारणके लिए काकभुशुण्डिके पूर्वजन्मकी कथा जोड़ दी गयी, इत्यादि। नियोजनकी इन तकनीकोंके कुछ परिणाम हुए : (१) कथाकी कार्यकारण-शृंखला पात्रके पूर्वजन्ममें भी जुड़ जाती है जो मूल कथानककी एकता-के लिए विघटनकारी है; (२) कथाके स्वाभाविक मनोरंजनकी अपेक्षा उसके धार्मिक या नैतिक दृष्टान्तकी महानता प्रमुख हो जाती है जिससे कथा एक धार्मिक प्रतीकका भाष्य होकर स्वयंमें मोहहीन हो जाती है; तथा (३) मूल प्रकट-कथानक-पटलके साथ 'पृष्ठभूमि'में पूर्वजन्मकी मिथकीय कथाओंका अन्तःपटल भी खुलता है। ये धार्मिक खूबियाँ महाकाव्यगत सौन्दर्यतात्त्विक त्रुटियाँ बन जाती हैं। बालकाण्डमें पृष्ठभूमिस्थ पटल-कथाओंमें शिव-चरित, नारद-शाप, मनु-शतरूपा, प्रतापभानु-कपटीमुनि, जलन्धर-वृन्दा, रावण-चरित आदि प्रधान हैं; अन्य काण्डों-में सम्पातिकी आत्मकथा, लंकिनी राक्षसीकी आत्मकथा, काकभुशुण्डिकी आत्म-कथा प्रमुख है। वस्तुतः महाकाव्यचरितकी दृष्टिसे 'मानस'में राम-चरितके साथ-साथ शिव-चरित एवं रावण-चरितका भी आख्यान है (बालकाण्ड)। यह तुलसीपर क्रमशः कालिदासके 'कुमारसम्भव' और 'अध्यात्म रामायण' के उमा-शिव संवाद, तथा जैन रामायणोंके प्रभावकी देन है। इनसे निस्सन्देह प्रबन्ध-सौष्ठव विफल हुआ है।

'मानस'में कथाओंके व्यवस्थापनकी कुछ पद्धतियाँ तो बार-बार दुहरायी गयी हैं। पहली पद्धति है पुरानी कथाकी आवृत्तिकी। इस पद्धति-द्वारा सम्बद्ध चरित्र (मुख्यतः पताका-वृत्तवाले) उन घटनाओंसे परिचित हो जाते हैं जो उनकी अनुपस्थितिमें आधिकारिक चरित्र सम्पादित कर चुके होते हैं। यहाँ एक प्रकारका काल-विपर्यय होता है। उदाहरण : दशरथकी सभामें दूत आकर राम-द्वारा धनुर्भंगकी सारी कथा दुहरा जाता है, मारीच रावणसे रामके विश्वामित्रके साथ जानेकी पूरी कथा दुहरा जाता है; भरत-बाणसे आहत हनुमान् संक्षेपमें पिछली कथा बता देते हैं। विवाह रचाकर लौटे रामसे माताएँ ताड़का-वध आदिकी कथाएँ जान लेती हैं। दूसरी पद्धति है कथापर कथा आरूढ़ कर देनेकी। इस पद्धति-द्वारा 'एक ही प्रासंगिक कथाको दो आत्मनिर्भर कथाओंमें विभक्त कर दिया जाता है। उदाहरण : रतिको वरदान देनेकी कथाके बाद कवि पार्वती-विवाहकी कथा कहता है, शिव पार्वतीसे 'रामचरितमानस' की वह मंगलमयी कथा कहते हैं जिसे काकभुशुण्डिने विस्तारसे कहा तथा पक्षिराज गरुड़ने सुना। तीसरी कविप्रिय पद्धति है कथाके लौटानेकी। यहाँ एक प्रकारका स्थान-सम्बन्धन (स्पेश्‌ल कोरिलेशन) होता है। उदाहरण : रामको सुखपूर्वक चित्रकूटमें निवास

कराकर अर्थात् वनगमनका पूरा सुहावना वृत्तान्त कहकर कवि सुमन्त्रके साथ पुनः अयोध्या लौट आता है और राम-गमनके बाद अयोध्याकी दशाओंका चित्रण करता है ( इस तरह कथाका अगला कालगत प्रवाह स्थगित हो जाता है ); अरण्यकाण्डमें कवि रामका जो विरह-वर्णन उनके नर-चरित्र करनेके भयसे नहीं कर पाता, उसे हनुमान्-द्वारा सुन्दरकाण्डमें पूरा कर देता है ( यहाँ अधूरी घटना-की पूर्ति की गयी है); उधर पर्णकुटीसे हर लायी गयी सीताके साथ कवि अशोक-वन तक चला जाता है राम-लक्ष्मणको छोड़कर। तब पुनः वह सीताको वहाँ छोड़कर इधर राम-लक्ष्मणके पास आता है और सीताहरणके बादका वृत्तान्त कहता है ( यहाँ एक ही कालखण्डकी दो दशाओंका बारी-बारीसे वर्णन है ); सीताहरण-प्रसंगमें युद्ध करता हुआ जटायु पुनः रामको उसी स्थलपर घायल अवस्थामें मिलता है और राम-लक्ष्मणसे सारी बीती कथा बता देता है; सुग्रीव वनमें रहनेके कारणोंको बताते हुए बालि-सुग्रीव-कथा कहते हैं; सुग्रीवकी तरह सम्पाति भी अपनी पिछली कथा कहनेके बाद भविष्यकी सूचनाएँ भी दे देता है। चौथी पद्धति है एक कथाकी घटनासे पूर्वजन्मकी कोई एक कथा जोड़ देनेकी : जामवन्तको बहुत पहले ही रामके वामनावतार तककी कथा मालूम है; दशरथके पुत्र-वियोगके पीछे श्रवणकुमारकी कथा है, इत्यादि।

कथाओंमें मुख्यतः धार्मिक रंगतकी कथानक रूढ़ियाँ ( मोटिब्ज़ ) प्रयुक्त हुई हैं। चरित्रके लिए मतिभ्रम, विधिलेख, शाप और वरदानका प्रयोग हुआ है; घटनाओंके लिए कर्मफल, रूपवेश-परिवर्तन आदि प्रयुक्त हुए हैं; एवं परिणामके लिए स्वप्न तथा भविष्य-सूचनाएँ प्रयुक्त हुई हैं। भरतके आगमनसे पूर्व सीताका दुःस्वप्न तथा रामके लंका-गमनसे पहले त्रिजटाका स्वप्न भविष्यकी घटनाओंके सूचक हैं। भविष्य-सूचनाके लिए या किसी कथांशको पूरा करनेके लिए दैवी पात्रों-का प्रकट एवं अन्तर्धान होना भी इस्तेमाल हुआ है। शुद्ध काव्यगत रूढ़ियोंमें से नायिका-अपहरण केन्द्रमें है। इन अभिप्रायोंके अलावा अन्य पात्रोंने भी कथानकका संचालन किया है। शील-शिल्पनकी दृष्टिसे चरित्र मनोरागों ( पैशन्स )को वशमें किये हैं और कुछ विशिष्ट 'स्वभाव गुणों' ( हैविटचुअल वरटचूज़ ) की वजहसे रूढ़ हो गये हैं। उनके चरित्र-परिवर्तनकी दिशाएँ भक्त होनेकी ओर लक्षित हैं। उनके सारे कार्य भी अनिवार्य गुणोंसे संचालित होते हैं, मनोरागोंसे कम। राम मोहहीन नरलीला करनेवाले हैं और उनका स्वभावगुण है नैतिक मर्यादा। लक्ष्मण और, कुछ अंशोंमें, सीतामें भी मनोराग मिलते हैं जिससे उनके चरित्रोंमें परिवर्तनशीलता तथा रोमैण्टिकता दृष्टिगोचर होती है। नैतिकताके स्वभावगुणकी प्रधानताकी वजहसे 'मानस'के सौन्दर्यका अधिकांश उसकी नैतिकता है। इसलिए

अनेक प्रकरी-पात्र ( शरभंग, सुतीक्ष्ण, अहल्या, अनसूया, शबरी, तापस, केवट, अयोध्या और जनकपुरकी प्रजा, आदि ) केवल भक्त होकर चुक जाते हैं और कथा-शिल्पमें कोई भूमिका नहीं अदा कर पाते। उनकी मात्र आध्यात्मिक सत्ता रह जाती है। कथानकको मोड़ देनेवाले पताका-प्रकरीके पात्रोंमें-से ख़ास विश्वामित्र, मन्थरा, शूर्पणखा, सुग्रीव तथा विभीषण हैं। विश्वामित्र राम-लक्ष्मणको ताड़का-वध कराने ले जाते हैं और रामविवाह, परशुराम-दर्पभंग आदि तकका संचालन कर देते हैं; मन्थरा रामके राज्याभिषेकको राम-वनगमनमें विपरीत गतिसे प्रत्यावर्तित कर देती है; शूर्पणखा राम-सीता-लक्ष्मणके शान्त वनवासी जीवनको भग्न करके खर-दूषण-संघर्ष और सीता-हरणकी भूमिका रचती है; सुग्रीव रामके चक्रवर्तित्व तथा सीताकी खोजके हेतु सहायक बनते हैं तथा विभीषण युद्धके सभी सूत्रोंका परोक्ष संचालन करता हुआ रावण वध और रामकी वापसीके फलागमको पूरा करता है। ये पात्र मूल कथानकको कई ध्रुवान्तोंमें बाँट देते हैं जिससे 'नाटकीय द्वन्द्व' ( बहिर्द्वन्द्व ही )की स्थितियाँ उपजती हैं। राम और परशुराम, रामविवाह और राम-वनवास, सीताविवाह और सीताहरण, अवतार राम और असुर राक्षसगण, ब्रह्मचारी लक्ष्मण और कामिनी शूर्पणखा, खलनायक रावण और रामभक्त मन्दोदरी, कुलभूषण कुम्भकर्ण और कुलनाशक विभीषण, अन्वेषी राम और बन्दिनी सीता, नर राम और अलौकिक हनुमान् आदि ऐसे ही ध्रुवान्त हैं जहाँ इतिवृत्तके रोमांचक उतार-चढ़ाव मिलते हैं। यूँ सम्पूर्ण कथानककी प्रमुख घटनाएँ चार हैं : रामसीता-विवाह, रामसीता-वनवास, सीताहरण और रावणवध।

नाटकीय द्वन्द्वोंके विधानमें तीन बातें मुस्तक़िल हैं : (क) 'शाप' तथा 'वर' नाटकीय सूचक हैं, और देवताओं या ऋषियोंके 'साक्ष्य' सुखान्त मोड़के निमित्त हैं; (ख) नाटकीय द्वन्द्वोंके बीचमें, पहले या बादमें बहुधा कामद विश्रान्ति ( कॉमिक रिलीफ़ ) अथवा त्रासद विश्रान्ति ( ट्रैजिक रिलीफ़ ) के द्वारा इतिवृत्तमें 'कुतूहल' को केन्द्रित किया गया है या फिर विरेचन किया गया है; तथा (ग) ये द्वन्द्व अकस्मात् उपस्थित हो जाते हैं। विश्रान्तियोंकी वजहसे महाकाव्यमें हास्य ( कॉमिक ), भयानक ( टेरर ) तथा किमाकार (ग्रोटस्फ ) के विधान हुए हैं। कुछ प्रतिनिधि उदाहरण लेकर हम नाटकीय द्वन्द्वोंमें प्रयुक्त इन कौशलोंका उद्‌घाटन करेंगे। पार्वती-विवाहके प्रसंगमें एक ओर नारदमें विदूषकत्व ( ठगी ) का सन्धान है तो दूसरी ओर पार्वतीमें हठका। ठग और हठीके स्वभावगुणोंके नाटकीय द्वन्द्वकी गम्भीरतामें सप्तर्षि और नारद दोनों ही परीक्षाके लिए छलका उपयोग करते हैं। फलस्वरूप हास्यके कई छींटे इस गम्भीरताको

कम कर देते हैं। हास्यके आलम्बन कपटी नारद, और बावले-भिखारी-जोगी-नग्न-अमंगलवेषधारी शिव हैं। इस भाँति वरसाक्ष्य और कामद विश्रान्तिका मेल नाटकीय द्वन्द्वको तीव्र कर देता है। दूसरा उदाहरण धनुर्भंग-प्रसंगका है। शिवधनु तोड़नेकी बात क्या, बड़े-बड़े बाहुबली नृपति उसे टससे मस तक नहीं कर पाते। जानकीपक्षमें लोक चिन्तित हो जाते हैं कि ब्रह्माने सीताका विवाह ही नहीं लिखा है। सामने राम हैं। एक अजूबा कण्ट्रास्ट है : एक बालक राम बनाम रावण-बाण-मदमर्दक धनुषका, एक हंसके बच्चेकी तरह राम बनाम मन्दराचल पर्वतकी तरह धनुषका; एक कोमल मृदुगात राम बनाम वज्रसे कठोर धनुषका। 'कुतूहल' और 'भय' घुल-मिल गये हैं जिसके चरमबिन्दुपर राम-द्वारा धनुष तोड़ दिया जाता है। एक विमूढ़ता ( सस्पेन्स ) की मृत्यु हो जाती है। चारों ओर वीररसका समाँ छा जाता है। दूसरा चरण शुरू होता है और रौद्ररसकी तरह किमाकार-रूप परशुराम आ धमकते हैं। दुर्भाग्य ( नेमेसिस ) का चक्र चल पड़ता है। अब परशुराम और लक्ष्मणका वाक्युद्ध यों संयोजित होता है कि क्रोध और हास्यका समतोलन क़ायम हो जाता है। धीरे-धीरे परशुराम तेजहीन होते जाते हैं और अन्ततः राम-भक्त हो जाते हैं। कैथार्सिस भी होता है और इस अन्तिम सुखान्तके पूर्व त्रासद विश्रान्ति भी संयोजित हो जाती है। तीसरा उदाहरण अयोध्याकाण्डमें रामके वनवासके पूर्व राज्याभिषेकका महोल्लास है जो त्रासद विश्रान्तिके कौशलका सर्वोत्तम दृष्टान्त है। रामवनवास एक महान् त्रासदी है जिसके फलस्वरूप दशरथकी मृत्यु होती है, भरत तपस्वी जीवन बिताते हैं, अयोध्या शोकमें निमग्न हो जाती है, लक्ष्मण और सीता भी वनवासी बनते हैं। इस त्रासद श्रृंखलाको राज्याभिषेक तथा वनवासके सुखान्त जीवनके मध्यमें बाँधकर कविने इसके द्वारा ही दोनों विश्रान्तियोंका भावन किया है। एक और उदाहरण है, सुन्दरकाण्डमें हनुमान्के अभिज्ञानका। पतिविरह और रावण-त्रासोंसे विक्रान्त सीता अग्निचिता जलाकर स्वयंको समाप्त कर देनेका निश्चय करती हैं। वह आकाशसे एक तारेके रूपमें अग्निकी याचना करती हैं, अशोकके नव अग्निवर्ण-किसलयसे अग्निकी याचना करती हैं कि हनुमान् अचानक अशोक-वृक्षके ऊपरसे राममुद्रिका डाल देते हैं। सीताको सुप्रिय भ्रम होता है कि अशोकने अंगार दे दिया। सीता हर्षित होकर मुद्रिकाको हाथमें उठाती हैं और आश्चर्यचकित होकर उसे रामनामांकित पाती हैं। सारा वातावरण बदल जाता है। मुद्रिकानिपात और सीताकी अशोकसे याचनाका सूचीभेद्य संयोग हो जाता है। कैथार्सिसकी भूमिका सम्पन्न हो जाती है। गुप्त हनुमान् प्रकट हो जाते हैं। इस अनुक्रममें पिछली गोष्ठीमें चर्चित चरित्रोंका अन्तर्द्वन्द्व-सम्बन्धी विधान भी

शामिल हो सकता है।

इतिवृत्त-परिगठनमें वर्णनों या विवरणों ( डेस्क्रिप्शन्स ) का कार्य 'रूप' का विस्फार करना होता है, जिस तरह घटनाओंका कार्यगतिमें उतार-चढ़ाव लाना होता है। इतिवृत्तात्मक महाकाव्यमें वर्णन विशाल दृश्य-फलक प्रस्तुत करते हैं और कथानकको देश-कालके ऐतिहासिक रंगोंसे भर देते हैं। क्योंकि इतिवृत्तका फलक व्यापक होता है जिसमें गति ( मूवमेण्ट ) कहीं विश्राम करने नहीं देती, इसलिए वर्णन घटनाके वेगसे बचकर देश-कालगत काव्यात्मक विभ्रममें श्रोताओं-को तल्लीन कर देते हैं। वर्णन कार्य, मुद्रा, प्रसंग, वेश-भूषा, नख-शिख, वस्तु आदिको इतने विस्तार तथा सूक्ष्मतासे अर्थात् 'बिम्ब' के रूपमें प्रस्तुत करते हैं कि उनमें मनोरागोंको सीधे संस्पर्श करनेकी क्षमता आ जाती है। वर्णन इति-वृत्तमें कल्पनाके विशुद्ध ऐन्द्रिक आनन्दके हेतु हैं अन्यथा धार्मिक काव्योंमें तो प्रत्येक चरित्र, घटना या प्रसंग दृष्टान्त-जैसा ( पैरेबिल लाइक ) हुआ करता हैं। "वर्णनात्मक कौशल इतिहासकी एक गतिको थाम लेता है, जब कि दूसरी प्रवाहित होती रहती है। यह पृष्ठभूमिमें कार्यव्यापारों तथा अस्तित्वोंकी प्रतीतिको उत्पन्न करता है; यह उन घटनाओंकी प्रतीति पैदा करता है जिनका अनुसरण नहीं हो रहा होता है लेकिन जो किसी भी समय पूर्णत: केन्द्रीभूत होकर उभर सकती हैं।"[१] अत: वर्णन प्रत्येक कार्यमें देर तथा दूर तक रमण कर सकते हैं। ये इतिवृत्तको रोककर घटनाको उसे एक तीसरे अप्रत्यक्ष आयाममें फैला देते हैं। इनकी वजहसे घटना जल्दी परिणामकी ओर अग्रसर नहीं हो पाती। सारांशमें, "वर्णन कथानककी गतिको धीमी बनाते हैं, कुछ अंशोंको विस्तारों तथा बिम्बतन्त्र ( इमेजरी ) से व्यापक बना देते हैं"[२] तथा विचारके बजाय मनोरागकी भावदशाका उद्रेक करते हैं। तुलसीने शिव-बारात, धनुषभंग, सीतास्वयंवर, सीता-रामविवाह, रामविदा, पंचवटी, वर्षा, शरद्, लंकादहन, कुम्भकर्ण व मेघनादके युद्ध, राम-रावण युद्ध आदिके वर्णन किये हैं जो विभिन्न रसोंका विधान करते हैं। इसके अलावा कई पात्रोंके संक्षिप्त और दिव्य सौन्दर्यवर्णन हुए हैं। इनके प्रयोजन उपर्युक्त ही हैं। किन्तु उनके धार्मिक महाकाव्यमें 'वर्णन' की कुछ निजी खूबियाँ हैं : इनमें सौन्दर्य और आचरणकी मर्यादा है, ये मनोरागोंको उभारनेके बजाय उन्हें सात्त्विक या उदात्त करते हैं, इनमें शृंगारिकता और 'जडता' नहीं है; इनके सभी प्रकार रसात्मक विधानोंमें 'अलौकिकता' का घोल है जिससे सभी रस अद्भुतके परिवेशमें घिरे

१. सुशान्ने के० लैंजर : फ़ीलिंग ऐण्ड फ़ार्म, पृ० २८५

२. वही,

हैं, ये उपमाओं और रूपकोंकी लड़ियोंसे बँधे हैं तथा इनमें कई अवसरोंपर मात्र परिगणना कर दी गयी है जहाँ या तो कविका मन नहीं रमा है या उसका अनुभव कम है। उपमाओं-रूपकोंका आश्रय लेकर तुलसीने अपने वर्णनोंको तीन धाराओंसे जोड़ा है: भागवतका आध्यात्मिक वर्णन, संस्कृत काव्योंका रसात्मक वर्णन तथा लोकानुभवोंका विशाल ख़ज़ाना। उनकी उपमाएँ चौपाईकी अर्धाली-की तरह छोटी तथा रूपक पूरे नख-शिखकी तरह बड़े हैं। ये उपमाएँ-रूपक कविताकी सजावटके लिए कम इस्तेमाल हुए हैं ( जैसा कि साहित्यिक महाकाव्योंमें होता है ) बल्कि कथाको अधिक दृश्यात्मक बनाते हैं ( यह आदिम महाकाव्योंकी प्रवृत्ति है )। तुलसीने इन उपमा-रूपकोंके ज़रिये घटनामें बहते हुए श्रोता-मनको अचानक चौंकाकर लोकजीवन या परम्पराके नवल या चिरपरिचित क्षेत्रोंके प्रति जागरूक कर दिया है, श्रोताओंको आत्मरतिकी तन्द्रासे छुड़ाकर कथानकके प्रति चौकन्ना बनाया है, उपमेय और उपमानके दो समानान्तर चित्रोंके द्वारा दो क्षेत्रोंके जीवनकी तुलना कराकर भावगुम्फन कराया है, किसी वस्तु या स्थितिका सर्वांगीण अनुभव कराया है ( क्योंकि उपमान हमेशा उपमेयसे अधिक व्यंजक होते हैं ), तथा आगामी घटनाके अभ्युदय तकके लिए श्रोताका थोड़ा समय अपने लिए हासिल कर लिया है। सांग-रूपकोंके विन्यास करनेमें तुलसी कालिदासकी तरह एक कुशल शिल्पी सिद्ध होते हैं तथा उपमाओंके गूँथनेमें वे लोकचित्तकी अन्यापदेशिक ( ऐलिगॅरिकल ) चेतनाका पूरा अविकल्पन करते हैं। उन्होंने उपमाओंका ग्रामजीवनवाला एक नया स्रोत खोजा है। एक प्रकारसे उपमा-रूपकमें तो दो समानान्तर क्षेत्रोंका जीवन काव्यात्मक विभ्रम ( पोएटिक इल्यूज़न ) की प्रतीति कराता है। इस धार्मिक महाकाव्यमें वास्तविक कथानक ( चरित ) और अवधारणात्मक कथानक ( लीला ) ने मिलकर इसके 'रूप' ( फ़ार्म ) को ही एक दोहरापन प्रदान कर दिया है। इन वर्णनोंमें कवि इस विश्वासके प्रति बेहद होशियार रहा है कि 'मानस'में विषय-रसकी नाना कथाएँ न हों ( मानस०, १।३७।२ )। वस्तुतः यह सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्यों तथा धार्मिक महाकाव्यकी मूलवृत्तिका अन्तर स्पष्ट कर देती है। 'मानस'में सेक्स और शृंगारके सभी 'लौकिक' वर्णन बहिष्कृत हो गये हैं, केवल अलौकिक शृंगारकी झाँकियाँ दी गयी हैं।

इन पहलुओंके अलावा 'मानस'के प्रत्येक काण्डके तकनीकी कौशलपर संक्षेपमें विचार किया जा सकता है।

बालकाण्डमें कथाभूमिमें इहलोक और देवलोक, दो विश्वोंका समावेश करानेके कारण देवताओं, मनुष्यों तथा अवतारोंके चरित्रोंको आपसमें गूँथ दिया गया

है। एक ओर विष्णु, ब्रह्मा और शिवकी अनेक कथाएँ हैं जो रामसे सम्बद्ध हैं; दूसरी ओर परब्रह्म राम और अयोध्या-जनकपुरसे सम्बद्ध पात्रोंके निवेश हैं। इस-लिए देवलोककी कथामें 'कुमारसम्भव'से अनुप्राणित शिव-पार्वती-विवाहकी कथा तथा राम अवतारसे सम्बन्धित कई 'हेतु-कथाएँ' हैं जिनमें 'शाप' और 'वर'के कौशलका प्रयोग हुआ है। इतिवृत्तका ढाँचा 'अध्यात्म रामायण'के आधारपर शिव-पार्वती-संवादके रूपमें है। रामजन्मसे कथा क्रमशः दो राजधानियोंमें छिट-कती है : अयोध्या और मिथिला। अयोध्या-धुरीमें विश्वामित्र तथा मिथिला-धुरी-में परशुरामके चरित्र गुँथे हैं। अयोध्यामें बाललीलाओंकी लिरिकल झाँकियाँ है, मिथिलामें शौर्यवृत्तका क्लैसिकीय रोमांच है। सबसे प्रधान घटना धनुर्भंग तथा सीता-विवाहकी है। इस घटनाके साथ विवाहोत्सवका महोल्लास वर्णित है। यह काण्ड प्रबन्धगठनकी दृष्टिसे शिथिल है क्योंकि लगभग तीन-चौथाई भागमें दार्शनिक नैतिक तत्त्वों तथा रामके अवतार-हेतुओंका ही निदर्शन हुआ है। अयोध्याकाण्डकी प्रधान घटना है रामका निर्वासन। यह कथा भी दो खण्डोंमें बँट जाती है : एक ओर अयोध्याका शोकान्धकार है, तो दूसरी ओर चित्रकूटके वन्य जीवनकी रोमैण्टिकता। अयोध्यामें भय है तो चित्रकूटमें मधुरता। इस काण्डमें दो विपरीत मानवीय स्थितियाँ हैं और कथाका यात्रावृत्त शुरू हो जाता है। कैकेयीके दोष और मन्थराकी दुष्टताने घटनाको चक्रवातकी तरह घुमाकर दुर्भाग्य-अंकमें फेंक दिया है। सीताका तेजस्वी पत्नीत्व तथा भरतका तपस्वी त्याग सारी करुणा और त्रासका 'शुद्धीकरण' ( वर्गेशन ) कर देता है। वनगमन-प्रसंगमें पूर्ववर्ती सामन्तीय वातावरणके स्थानमें केवट, ग्रामवासियों तथा ग्राम-वधुओंके समूह एक 'मुग्ध कुतूहल'का जादू फैला देते हैं। यह तुलसीका अपना नूतन वर्णन है। विवाह-प्रसंगके बाद पुनः रामके सौन्दर्यका अलौकिक प्रभाव छा जाता है। इस भाँति चित्रकूटमें 'आनन्द'की सिद्धावस्थाका अन्तिम उत्कर्ष होता है। वनगमन-प्रसंगमें परब्रह्म रामके बजाय अवतार रामकी प्रधानता है और उनको भक्तोंके सहज सम्पर्क प्राप्त होने लगते हैं। यह अंश घटनावेगको विश्राम देकर वर्णनके द्वारा वातावरणका निर्माण करता है। अरण्यकाण्डके पूर्वार्धमें चित्र-कूटके भक्तिप्रधान वातावरणका वैराग्यमूलक प्रसार होता है जहाँ अत्रि, शरभंग, सुतीक्ष्ण, शबरी आदि ऋषि भी भक्त हो जाते हैं। ये पात्र कथानकको विशेष गति नहीं दे पाते। उत्तरार्धमें राक्षसोंकी प्रधानता है जहाँ शूर्पणखा, खर-दूषण, रावण, कबन्ध, मारीच आदि हैं। यहाँ राक्षस भी रामभक्त ही हैं। फलस्वरूप खलनायकत्ववाला 'संघर्ष' भी हलका पड़ गया है। वेश बदलनेवाली कथानक-रूढ़ि ( जयन्त, मारीच, शूर्पणखा ) का प्रयोग करके जादू-वृत्तका भी समावेश हुआ

है। किन्तु घटनाके मुख्य 'हेतु' दो हैं : कनकमृग और जटायु। कनकमृग प्लॉटमें छद्म-तत्त्व-द्वारा घटनाको पुनः चक्रवातकी तरह घुमा देता है। शूर्पणखाका विरूपण सीताहरणका मूल कारण हो गया है। अतः पूरा कनकमृग-प्रसंग तथा खर-दूषण-वध 'प्रतिशोध'से संचालित होकर घटते हैं। जटायु-प्रसंग कथानकके प्रसार-को निश्चित दिशा अर्थात् 'लक्ष्य' ( प्रयोजन ) देता है। 'अध्यात्म रामायण'से प्रेरित होकर तुलसीने सीताहरणको भी रूपात्मक बना दिया है। हरण मायासीता-का होता है, वास्तविक सीता अग्निवास कर लेती है। यह नैतिक शुद्धीकरण (मॉरल वर्गेशन)की भावना कथानकमें काव्यात्मक 'विभ्रम' उत्पन्न कर देती है क्योंकि भक्तमन सीताको रावणके स्पर्शसे बचानेके लिए अलौकिकताका साधन अपनाता है। इस काण्डसे सीताकी खोजका कथानक-अभिप्राय प्रमुख हो जाता है। किष्किन्धाकाण्ड प्रयत्न-भूमिक है। इस काण्डसे ऋषियोंके बजाय सेवक वानरों और भालुओंके समूह रामसे सम्बन्धित हो जाते हैं। अतः पशुकथा-चरण (फ़ेबिल फ़ेज़) भी जुड़ जाता है। इस काण्डमें सुग्रीव-हनुमान्‌की पताका-कथाएँ भी जुड़ जाती हैं। बालिवध कथा-दिशाकी बाधाको समाप्त कर देता है और सुग्रीव, अंगद तथा हनुमान्-जैसे चरित्रोंकी प्रकरी-कथाओंको संचित कर देता है। वानरों-द्वारा सीताकी 'खोज' कुतूहलको बढ़ाती जाती है। यहाँ पुराणोंकी शैलीमें वर्षा तथा शरद ऋतुके वर्णन भी हैं जो महाकाव्यकी उपदेशात्मक प्रवृत्तिको ही सन्तुष्ट करते हैं। सुन्दरकाण्डमें हनुमान्‌का अतिप्राकृतिक नायकत्व है। हनुमान्‌का मशकरूप, समुद्रलंघन, लंकिनी प्रतिरोध, लंकादहन आदि प्रसंग हनुमान्‌से ही सम्बद्ध हैं और ये मिलकर 'अद्भुत' तथा 'हास्य' रसकी निष्पत्ति करते हैं। सीता-हनुमान्-संवाद इसकी एक मार्मिक स्थली है। इसी काण्डमें विभीषणसे परिचय होता है जो खलनायकपक्षके प्लॉटको कमज़ोर बनाकर रामवृत्तकी नियताप्तिको मज़बूत करता है। हनुमान् और विभीषण लंकाके वियुक्त संघर्षी प्लॉटको नायक-की यात्रा-घटनाओंसे जोड़ देते हैं। इस भाँति सीता एक दूसरे प्लॉट-चक्रमें केन्द्र-बन्दिनी हैं; रामका यात्रा-कथानक तीरकी तरह उस केन्द्रको छू लेना चाहता है। राम और सीताकी विभक्ति भय, क्रोध, करुणा आदिको संचारित करती है। हनुमान् रामके यात्रा-कथानकको उस केन्द्रसे परिचित कराके 'खोज'को सिद्ध कर देते हैं। अब 'प्राप्ति' का प्रयोजन शुरू होता है और विभीषणके द्वारा लंकाके प्लॉटमें-से ही एक अप्रकट प्लॉटकी उद्‌भावना करायी जाती है। 'भक्ति' और 'मोक्ष' के आध्यात्मिक मूल्योंके कारण चारित्रिक परिवर्तनोंमें विविधता नहीं आ पाती। अतएव बाधा-तत्त्व भी एक छल-जैसा ही लगता है। लंकाकाण्डमें 'वीर' और 'रौद्र' का विनियोग है। यहाँ खलनायकवृत्तमें रावण, मेघनाद और कुम्भकर्ण-

जैसे 'रुद्र' योद्धा हैं; तथा नायकवृत्तमें राम-लक्ष्मण-जैसे 'वीर' योद्धा एवं हनुमान्-सुग्रीव-जैसे अतिप्राकृतिक योद्धा भी हैं। सीता-प्राप्तिमें रावण बाधक है। किन्तु रावणके ही प्लॉटमें विभीषणके अप्रकट प्लॉटको गतिमय करनेमें मन्दोदरीका चरित्र भी सहायक हो जाता है। इस तरह खलनायकका कथानकवृत्त विघटित और जर्जरित होता जाता है। इस काण्डमें रामपक्षमें 'अतिमानवीय' तत्त्वों और रावणपक्षमें 'अतिप्राकृतिक' तत्त्वोंका सन्तुलन है। अतः धर्म और जादू, दोनों चक्रोंका परिचालन हुआ है। विकसित घटनाएँ चार हैं : अंगदका दूत-कार्य ('महानाटक'से प्रभावित), लक्ष्मण-मूर्छा, रावणवध और सीताकी अग्निपरीक्षा। अंगदका दूतकार्य कथामें 'शौर्यवृत्त' का सर्वोच्च उभार लाता है जिसके फलस्वरूप अंगद-रावण संवादका विधान हुआ है। यहाँ हास्य और व्यंग्यकी बौछार है। युद्धकी त्रासदीके पूर्व यहाँ 'कामद विश्रान्ति'की अवस्था है। युद्ध-प्रसंगमें मेघनाद, कुम्भकर्ण आदिके माध्यमसे किमाकारका सन्निवेश भी हो गया है। लक्ष्मण-मूर्च्छामें नायकपक्षके 'प्लॉटका प्रत्यावर्तन' (रिवर्सल) होता है किन्तु हनुमान्की हिमालय-यात्रा इसे पुनः अनुकूल दिशोन्मुख कर देती है। लक्ष्मण-मूर्च्छा रौद्रमें भयानकके बजाय 'करुण'का संचार करके विचित्रता लाती है। कुम्भकर्ण-वधसे किमाकारका तथा मेघनाद-वधसे 'जादू'का अन्त हो जाता है। शेष रह जाती है रामपक्षकी अलौकिकता, और रावणकी मायाशक्ति। यात्रा-कथानकको सीताके केन्द्र तक पहुँचानेके लिए रावणवध सम्पन्न होता है। इसके लिए विभीषणका अप्रकट प्लॉट खलनायकपक्षसे टूटकर पूर्णतः रामपक्षमें संश्लिष्ट हो जाता है। रावणवधसे कथानकका संघर्ष खत्म हो जाता है। सीताकी अग्निपरीक्षा-द्वारा सीताकी अन्यापदेशिक यात्रा समाप्त हो जाती है और वास्तविक सीता प्रकट हो जाती है। अब रामकी वापसी यात्रा शुरू होती है। उत्तरकाण्डमें रामका राज्याभिषेक होता है। यह काण्ड काकभुशुण्डि-चरित्रका आधान करता हुआ पुनः अवधारणाओं, आध्यात्मिक आदर्शों (भक्ति, मोक्ष), आदर्श राज्य तथा कलियुग आदिकी दार्शनिक-सामयिक व्याख्याएँ प्रस्तुत करता है। यह 'प्रबन्ध-कौशलकी दृष्टिसे' अनावश्यक है। 'भुशुण्डि-रामायण'के आधारपर इसमें गरुड़-भुशुण्डि संवादकी योजना हुई है।

सारांशमें, तुलसीने वाल्मीकिसे ढाँचा लेकर उसके पैटर्नको 'मानस'में पुनर्गठित किया है जिसमें पूर्ववर्ती रामायणों, लोकानुभवों तथा तत्कालीन मध्यकालीन चेतनाके मेलसे शिल्प-विधान गढ़ा है। यह पुनर्गठन एक धार्मिक महाकाव्यके इतिवृत्तात्मक एवं अवधारणात्मक रूपोंके दुहरेपनको धारण करता है। इसका मूल गठन इतिवृत्तात्मक ही है जो घटना तथा चरित्र-प्रधान है।

इसके इतिवृत्तात्मक रूपमें वर्णन, संवाद, स्तुतियाँ, नैतिक उपदेश तथा आध्यात्मिक व्याख्याएँ, ये पाँचों अन्तर्ग्रथित हैं। पूरा महाकाव्य दोहा-चौपाई छन्दोंमें लिखा गया है जो अपभ्रंश तथा सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्योंकी परम्पराकी देन है।

स्वयं तुलसी भी अपने धार्मिक महाकाव्यके 'दुहरे' गठनके नये तकनीकी सिद्धान्तके प्रति जागरूक हैं। उन्होंने इस सिद्धान्तको 'तालाब' तथा 'नदी'के पूर्णस्वरूप प्रतीकों-द्वारा स्पष्ट किया है। नदी रूपकका व्याख्यान करते हुए उन्होंने अपनी 'कविता'को सरयू तथा 'भक्ति'को गंगा माना है। इस कविता-सरयूका निर्मल जल राम-यश है, किनारे लोकमत-वेदमत हैं; किनारोंपर बसे गाँव-पुरवे तथा नगर तीन प्रकारके श्रोता हैं। यह काव्य-सरयू भक्तिरूपी गंगामें मिल जाती है। बादमें इसमें लक्ष्मण सहित रामसमरका यशरूपी शोणभद्र भी मिल जाता है। इस भाँति युद्धरस-रूपी शोण, काव्यरूपी सरयू तथा भक्तिरूपी गंगाका संगम होता है जो महागंगा होकर रामस्वरूपरूपी समुद्रकी ओर जा रही है। कवि अपनी नदी-तटके आसपासके वन व बाग़को बीच-बीचमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी 'विचित्र' कथाएँ बताता है। इस महागंगाके कमल चारों भाइयोंके बालचरित हैं; नदीमें सुहावनी छवि सीता-स्वयंवरकी कथा है; नदीकी नावें अनेक विचारपूर्ण प्रश्न हैं; नदी-तटपर किया जानेवाला जपयज्ञ भरतचरित है। इस नदीकी छहों सुन्दर ऋतुओंमें हेमन्त शिवपार्वती-विवाह है, शिशिर रामजन्मोत्सव है, वसन्त रामविवाहके समाजका वर्णन है, ग्रीष्म रामवनगमन है, कड़ी धूप व लू मार्गकथा हैं, वर्षा राक्षसोंके साथ घोर युद्ध है, तथा शरद रामका राज्य है। उनकी कविता-सरयूका मूल 'मानस' ( हृदय ) है। यह रूपक महाकाव्यके इतिवृत्तात्मक ( नैरेटिव ) रूप तथा कौशलका पूरा सारांशीकरण कर देता है। इसीके समानान्तर तालाबका सांगरूपक महाकाव्यके अवधारणात्मक रूप और प्रतीकोंका संश्लेषण कर देता है। मानस ( हृदय )-रूपी श्रेष्ठ गहरे स्थानमें रामसुयशकी वर्षाका सगुण लीलावर्णन-रूपी पुराना जल इकट्ठा हो गया है। यह मानो एक तालाब है। इसके चारों ओर चार पवित्र और सुन्दर घाट बने, चार संवादोंके। इस तालाबमें सात सुभग सोपान 'मानस'के सात काण्ड हैं। इन घाटोंपर रामचरितका गायन होता है। इस तालाबके हंस ज्ञान, वैराग्य एवं विचार हैं; जलपक्षी पुण्यात्मा, साधुओं व रामनाम गुणोंका गान है; अमराई सन्तोंकी सभा है, वसन्तऋतु श्रद्धा है; फूल नियम हैं; फल ज्ञान है; फल-रस श्री हरिचरण-प्रीति है। इस तालाबके चारों ओरकी वाटिका और बाग़ कथानक-पुलक हैं; पक्षियोंका विहार कथानक-सुख है; माली निर्मल मन है। इस तरह

यह रूपक महाकाव्यके 'धार्मिक' रूपगठनको उद्घाटित कर देता है जिसमें तालाब, घाट, लीला, तीर्थ, सभा, स्तुति, सत्संग आदिके उपमेय-उपमानों-द्वारा अवधारणात्मक ( कॉन्सेप्ट्युअल ) तथा अभिव्यंजनात्मक ( एक्स्प्रेसिव ) रूपगठनका स्पष्टीकरण हुआ है।

'मानस' महाकाव्यके बाद हम दोनों 'मंगल' काव्योंको लेंगे जो इसके पूर्व रचे गये हैं। हम पहले यह स्थापित कर चुके हैं कि 'पार्वतीमंगल' पहले तथा 'जानकीमंगल' बादमें लिखा गया है किन्तु इनकी विधा ( जेन्रे ) तथा विचार-वस्तु ( थीम ) एक-जैसी हैं। 'पार्वतीमंगल'का मुख्य रूप नाटकीय है किन्तु आरम्भमें आख्यानवाचक कवि सूत्रधारके रूपमें भी आता है। यह 'कालिदास'के 'कुमारसम्भव'से प्रेरित कृति है जिसमें लोकतत्त्वोंकी भरमार है। इस लघु कथाकाव्यके दो खण्ड हैं : पहलेमें शिवको वररूपमें पानेके लिए पार्वतीकी तपस्या है, और दूसरेमें पार्वतीको ब्याहनेके लिए वैवाहिक रीतियाँ हैं। पहले खण्डमें इतिवृत्तकी प्रधानता है, दूसरेमें विवरणकी। पहले खण्डके कथानकमें नारदकी भूमिका कथानकको लक्ष्य दे देती है। नारद ज्योतिषके लक्षणोंके आधारपर कहते हैं कि पार्वतीका वर बावला तो है किन्तु देववन्दित भी है। अतः प्रेमव्याकुल पार्वती तप करके शिवको प्राप्त करनेका अनुष्ठान करती है। इधर पार्वती 'भक्ति'के द्वारा अपने मनको सरस बनाती हैं और उधर शिव 'योग'के द्वारा अपने शरीरको कठोर बनाते हैं। यह कार्य-वैपरीत्य ( कॉन्ट्रास्ट ) है। काम-द्वारा शिवके तपभंगका प्रसंग पार्वतीके अनुकूल तथा शिवके प्रतिकूल पड़ता है। इसके बाद पार्वतीके तपका वर्णन और प्रभाव दिया गया है जिसकी वजहसे स्वयं शिवके द्वारा पार्वतीकी परीक्षाकी कथानकरूढ़िका प्रयोग हुआ है। शिव-द्वारा वेश बदलकर आना दूसरी रूढ़ि है। छद्मवेशी शिव-द्वारा ही स्वयंकी अर्थात् योगी शिवकी निन्दा की गयी है। सारा व्यंग और व्यंग्य बावले, विषम तथा योगी शिव ( की वेशभूषा, स्वभाव आदि ) के चारों ओर केन्द्रित है। एक ओर कामदहन जोगी, जटाधारी, क्रोधी, अमंगलवेशधारी शिवका वृत्तान्त है तो दूसरी ओर सुमुखि सुलोचन, सुहावनी पार्वती। यह दूसरा चारित्र्य-वैपरीत्य है। एक ओर शिव पार्वतीकी प्रेमविह्वलताका रसपान करते हैं दूसरी ओर पार्वतीको अशिष्ट योगीके वचन कर्णकटु लगते हैं। इस वैपरीत्यका निराकरण अलौकिकताके द्वारा होता है : शिव शशिशेखर-रूपमें प्रकट हो जाते हैं। तपके बाद प्रेमपद-प्राप्तिका कथानक-लक्ष्य पूरा हो जाता है। अब कथा विवाहके लक्ष्यकी ओर बढ़ती है। यहाँ तीसरा वर्णन वैपरीत्य प्रस्तुत होता है। शिवकी बारात औघड़ और अवधूतकी है जिसमें भूतगण हैं; सूकर, महिष, स्वान, खर

आदिके वाहन हैं; तथा विष्णु और इन्द्र भी बाराती हैं। बाराती शिव गजछाल-व्याल-कपालमालसे सज्जित और वृषभारूढ़ हैं। पार्वतीकी बारातमें सारी प्रकृति-को निमन्त्रण है। वहाँ गिरि, वन, नदी, समुद्र, सरोवर आदि मानवीयकृत होकर शरीक होते हैं। शिव-बारातके अतिप्राकृतिक-अतिमानवीय परिवेशसे भयका वातावरण छा जाता है। आश्चर्य और भयका यह अनूठा खेल ग्राम-जीवनके परिवेशमें ढल गया है। पुनः अलौकिक चमत्कार घटता है और वे करोड़ों मनोहर मनोजोंसे भी सुन्दर हो जाते हैं। इस भाँति यह शिव-चरित एक नाटकीय वृत्तवाला है जहाँ मुखौटों ( मास्क्स ) और चमत्कारोंका रोमांच-पूर्ण व्यवहार हुआ है। इसके बाद विवाहकी प्रथाओंका आद्यन्त ललित ललाम वर्णन है जो लोक-मनोरंजनकारी है।

'जानकीमंगल'में छद्म-अभिनय तथा चमत्कार लगभग विलुप्त हो गया है। यहाँ तपस्या-रचित विवाहके बजाय स्वयंवर-रचित विवाह है। यहाँ नाटकीय वैपरीत्योंकी विविधता तथा अनेकता नहीं है। विश्वामित्र राम-लक्ष्मणको जनक-की राजसभामें ले आते हैं। यहाँ रामके कोटि मनोजोंके लजानेवाले सौन्दर्यके प्रभावसे सारे वातावरणको रामके अनुकूल बनाकर घटनाके लक्ष्य ( स्वयंवरकी शर्तके फलागम ) को निर्दिष्ट कर दिया है। सभी स्त्रियाँ शिवसे मनाती हैं कि सियाको साँवला वर मिले। मूलतः रामके सौन्दर्यका प्रभाव सारे इतिवृत्त तकको स्तम्भित कर देता है। अब राम तथा धनुषकी तुलनाओंको लेकर कवि विषम परिस्थिति-वैपरीत्योंको उभारता है। जानकीपक्ष रामका शुभाकांक्षी हो जाता है किन्तु अब धनुष ही इस आकांक्षापूर्ति ( राम-सीता-विवाह ) में ज़बरदस्त बाधा-का प्रतीक हो जाता है। यह स्थिति विधाताकी विपरीत गति-जैसी मालूम पड़ने लगती है : कहाँ धनुष और कहाँ ये कुमार ? कहाँ ये किशोर कुँवर और कहाँ यह कुलिश कठोर शिवधनुष ? कहाँ मरालबाल और कहाँ मन्दराचल ? इस भाँति इस कृतिमें उपस्थित सारे अनुकूल समाजके सामूहिक अन्तर्द्वन्द्वोंका अनूठा अवरेखन हुआ है। कई विशेषणों-द्वारा कर्ता राम तथा वस्तुधनुषके विरोधी गुण उभारे गये हैं जिससे यह अन्तर्द्वन्द्व गहराता जाता है। इस द्वन्द्वका निरा-करण राम-द्वारा अद्‌भुत ढंगसे धनुर्भंगमें हो जाता है। इस तरह वैदिक रीतिसे स्वयंवर विवाह सम्पन्न हो जाता है। बादके कथांशमें लौकिक रीतिसे विवाहकी सभी प्रथाओंका उल्लासपूर्ण आद्यन्त वर्णनमात्र है जो लोकतत्त्वोंसे समृद्ध है। गठनकी दृष्टिसे यह 'पार्वतीमंगल' की अपेक्षा शिथिल और वर्णनप्रधान अधिक है।

'रामललानहछू', 'बरवैरामायण' आदि कथाशिल्पकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण

नहीं है। 'नहछू'में नहछूका वृत्तान्त है और कर्मकाण्डमें हाथ बँटानेवाली नाना रमणियोंके यौवन, नखशिख, वेशभूषा तथा उपादानोंकी मांसल और रागोन्मत्त परिगणना है। 'बरवै'में कथाको कुछ वृत्तिमूलक बिन्दुओं ( थिमैटिक पॉएण्ट्स ) में केन्द्रित करके कुछ छन्दोंमें भाषा-संक्षेपणकी निपुणता प्रदर्शित की गयी है। 'नहछू'में संस्कृतकी काव्यशृंगार-परम्पराका निर्वाह हुआ है और चपल सुन्दर रमणियोंकी इस मांसल चित्रशालामें राजस्थानी क़लमके चित्रों-जैसी बारीकी है। रचनामें नाउनकी प्रधानता है। नहछू 'चित्र'के सौन्दर्यशास्त्रको 'काव्य'के सौन्दर्यशास्त्रमें अर्थात् स्थानक-कलाको कालपरक-कलामें तब्दील करनेका अनुपम उदाहरण है।

'गीतावली'में कथानक-क्रमकी अपेक्षा नहीं है। यहाँ मुख्यतः राम-और कृष्णभक्ति-धारासे प्रभावित होकर बाल राम—की ललित और रूपमधुर गीत-झाँकियाँ रचायी गयी हैं। करुण गीतियोंकी भी काफ़ी संख्या है। यहाँ मधुर और करुण भावनाओंको केन्द्र बनाकर अन्तर्मुखी रसास्वादनकी प्रधानता है। रौद्र, भयानक, अद्‌भुत आदि रसोंसे सम्बद्ध वृत्तियोंकी ओर कविने ध्यान नहीं दिया है। इस रचनामें लोकोत्सवों और लोकोल्लासका भी वर्णन हुआ है किन्तु प्रमुख मनोवृत्ति अन्तर्मुखी रही है और कोमल मनोरागोंको ही उभारती है। यहाँ दो छन्दोंमें कथा कहनेके लिए शुक-सारिका संवादकी लोकशैली भी अपनायी गयी है ( २।६६,६७ )। 'कवितावली'में कवित्त-सवैया छन्दोंके उपयोग हैं। यह गीत-परम्परामें न आकर कथागीत ( बैलेड ) परम्परामें आ सकती है। इसमें काव्यशास्त्रीय रस-निरूपणका भी पालन हुआ है। इस रचनामें कवि तीन प्रसंगोंमें रम गया है : लंकादहनके अद्‌भुतरसमें, लंकाकाण्डके वीर और रौद्ररसमें तथा उत्तरकाण्डमें करुणरसमें। सुन्दरकाण्ड तथा लंकाकाण्डमें अलौकिकताकी पृष्ठभूमिने घटनाओं तथा चरित्रोंको अतिमानवीय तत्त्वोंसे मण्डित कर दिया है। उत्तरकाण्डमें कविने एक ओर तो प्रगीतात्मक ( लिरिकल ) वृत्तिमें अपनी आत्मकथा कही है, दूसरी ओर प्रबन्धात्मक वृत्तिसे तत्कालीन समाजका यथार्थ इतिहास लिपिबद्ध करके काव्यके वर्ण्यविषयोंसे सम्बन्धित एक नयी सूचीको सम्मिलित किया है जिसमें धर्म, अर्थ, राजनीति, शासन, क़ानून आदिके क्षेत्र भी शामिल हो गये हैं; तथा तीसरी ओर इतिवृत्त ( कथा ) और वर्णनकी वृत्तियोंको घुलाने-मिलानेके प्रयोग करके एक नयी लोकमुखी भाषाका सन्धान किया है। 'कृष्णगीतावली'में प्रधानतः कृष्णकी बाललीला तथा उद्धव-गोपी संवादको ही पदोंमें प्रस्तुत किया गया है। प्रगीतात्मकताकी दृष्टिसे दोनों गीतावलियाँ एक ही मनोदशाकी उपज हैं किन्तु रामगीतावली तुलसीका लघु 'तुलसी-सागर' है।

बादके कथात्मक काव्यमें पूर्वजन्मकी अन्तर्कथाएँ लुप्त हो जाती हैं तथा केवल संज्ञाएँ बच रहती हैं।

'विनयपत्रिका' तथा 'हनुमानबाहुक' विनयकाव्य हैं जिनमें भावोंकी दृष्टिसे बहिर्जगत्से त्रास ( टेरर ) और आत्मोद्धारकी करुणा ( पिटी ) का वातावरण है। ये दोनों रचनाएँ भी मुक्तक शैलीमें रची गयी हैं। 'विनयपत्रिका'में पद, स्तुतियाँ और बन्दनाएँ हैं तथा 'बाहुक'में कवित्त और कुछ सवैये। दोनों ही अन्तर्मुखी मनोदशाओंकी प्रकाशिका हैं। 'पत्रिका'में आध्यात्मिक पीड़ा है, और 'बाहुक' में भौतिक। दोनोंमें कविकी आत्मकथा भी गुँथी है। दोनों रचनाओंमें एक प्रकारसे चुनौतीके दोनों पक्ष आपसमें घुलमिल गये हैं। 'पत्रिका'में कलिकालसे पीड़ित अतिपातकी तुलसी अपने उद्धारके लिए परब्रह्म, दीनबन्धु, शरणागत-वत्सल रामसे प्रार्थना करते हैं। इस याचनामें भी एक-दो चरित्रोंका वैपरीत्य है। इसी तरह 'हनुमानबाहुक' की चुनौती है। एक ओर वृद्धावस्थामें जर्जरित, बाहुपीरसे तड़पते तुलसी हैं; दूसरी ओर संकटमोचन, महावीर राम-दुलारे हनुमान् हैं। ऐसे दुर्बल तुलसी ऐसे अलौकिक बली हनुमान्को अपनी पीर निवारणके लिए ललकारते हैं। इस भाँति दोनों रचनाओंमें एकपक्षीय द्वन्द्व उभारा गया है और, परिणाममें चुनौतीवाला वैपरीत्य ( कॉण्ट्रास्ट ) परिपुष्ट हो गया है। रूपगठनकी दृष्टिसे 'विनयपत्रिका'का महत्त्व 'रामललानहछू', 'पार्वतीमंगल', 'बरवै' और 'रामचरितमानस'के समकक्ष है। 'मानस'के बाद 'विनयपत्रिका'में कविने एक 'मौलिक रूप'का अन्वेषण किया है।

'विनयपत्रिका'का रूप अर्ज़ी-शैलीका है। इसमें एक क़ानूनी रूप ( लीगल फ़ॉर्म ) को काव्यात्मक निवेदनमें क़दम-ब-क़दम ढाला गया है। क़ानूनी अर्ज़ीमें मुख्य पेंच अपनी समस्या पेश करनेका होता है, उसके लिए सबूत इकट्ठे किये जाते हैं, मुजरिमपर इल्ज़ाम लगाये जाते हैं। मुग़लकालमें यह अर्ज़ी बादशाह सलामतको पेश की जाती थी। इस अर्ज़ीके आगे-पीछे इस्तग़ासे ( ऐफ़िडैविट ) होते थे और एक साधारण आदमीको तो अपनी अर्ज़ी बादशाह तक पहुँचाना भी मुश्किल था। इसके लिए वह सिफ़ारिशें करवाता था और जब ख़ुद बादशाह सही कर देते थे तब उसे चैन मिलता था क्योंकि बीचमें अफ़सर गड़बड़-घोटाला कर देते थे। 'विनयपत्रिका'का रूप ऐसा ही है। तुलसी अपने सारे समाजके धार्मिक प्रतिनिधिके रूपमें त्रिलोकेश्वर रामके दरबारमें अपनी पत्रिका भेजते हैं। इस पत्रिकामें अपराधी कलिकाल है जो दीन, दुर्बल, असमर्थ, लघु और 'पापी-विलासी' ( ? ) तुलसीको दबोचे है। तुलसी भयभीत हैं। अतः वे भक्तिरसपूर्ण 'प्रेम' तथा 'दैन्य' भावसे पुरुषार्थी स्वामीसे अपनी फ़रियाद करते हैं। इस मूल

पत्रिकामें दास तुलसी गीध, अहल्या, गजराज, व्याघ्र, शबरी, अजामिल-जैसे भक्तोंकी याद दिलाकर रामसे तारनेकी प्रार्थना करते हैं। इसके पहले वे गणेश, सूर्य, शंकर, पार्वती, गंगा, यमुना आदि रामके मुसाहिबोंसे विनती करते हैं और पंचदेवोपासनाका इस्तगासा जोड़ देते हैं। सिफ़ारिशके लिए वे हनुमान्, शत्रुघ्न, लक्ष्मण और भरतसे प्रार्थना करते हैं। अन्तमें क़ानूनी वकील लक्ष्मण यह पत्रिका रामको पेश करते हैं और राजा राम इसपर सही कर देते हैं। इस तरह यह पत्रिका भी दो अनुक्रमिक ( सक्सेसिव ) खण्डोंको मिलाकर एक संगठन ( स्ट्रक्चर ) बनाती है। पहले खण्डमें 'स्तुतियाँ' हैं तथा दूसरेमें 'मूल अर्ज़ी' एवं अर्ज़ीके अन्तमें सम्राट्की सही। इस अर्ज़ीमें पेश करनेकी भी सारी तरकीबोंके हलफ़नामे दर्ज हैं। इसकी दूसरी गठनात्मक विशेषता यह भी है कि यह एक अ-कथा होते हुए भी कथाभास देती है क्योंकि कविकी आत्मकथा मध्यकालीन कृषकों और सामन्तोंके समाजकी विषमताएँ-विडम्बनाएँ दार्शनिक प्रतीकोंकी व्याख्याएँ ( जो 'मानस' के बाद पुनः इसमें जोशके साथ प्रकट हुई हैं )—ये तीनों मिलकर इसे अन्तर्कथाका क्रम दे देते हैं। अतएव 'गठन'की दृष्टिसे 'विनय-पत्रिका' तुलसीकी एक अधिक अप्रतिम सूझ और धरोहर है।

'धार्मिक काव्य'में 'मिथक' की पहलकी तरह 'प्रार्थना' की महत्ता भी होती है। यदि मिथक कथाएँ धर्मके सिद्धान्तों, रहस्यवादी विश्वासों, आदिम अनुभवों, जटिल समस्याओं आदिको कथातन्त्र-विधान ( प्लॉट )-द्वारा व्याख्येय बनाती हैं तो प्रार्थनाएँ—'स्तुतियाँ' धर्मके सारतत्त्व और धर्मके मनोविज्ञान ( एसेन्स ऐण्ड साइकॉलॅजी ऑव रिलिजन ) को उद्घाटित करती हैं। मिथकमें विश्वासकी अपेक्षा होती है, प्रार्थनामें आस्था और भक्तिकी; मिथकमें नाना तत्त्व और नाना पात्र हो सकते हैं, स्तुतिमें एक इष्टदेव या विराट्देवकी आराधना होती है; मिथक धर्मका काव्य है, स्तुति धर्मका दर्शनशास्त्र होती है; तथा मिथक मनुष्यके आदिम इतिहासकी चेतना होते हैं एवं स्तुतियाँ मनुष्यका मनस्तात्त्विक ( साइकिक ) इतिहास। फ्यूयेरबाख़के अनुसार "धर्मका अन्तरतम सारतत्त्व धर्मके सरलतम कार्य प्रार्थनाके द्वारा उद्घाटित होता है।" प्रार्थना या स्तुति करना एक मनस्तात्त्विक आवश्यकताकी पूर्ति है। दोनोंके उद्गम आदिम ( प्रिमिटिव ) हैं और दोनों ही कर्मकाण्डों ( रिट्युअल्स ), इल्हामों ( प्रॉफ़ेटिक विज़न ) तथा सामूहिक चेतनासे पूरित हैं।

तुलसीकी अन्य कृतियों तथा 'मानस'को प्रार्थनाएँ-स्तुतियाँ-गीताएँ एक विलक्षण धार्मिक रूप ( रिलिजस फ़ॉर्म ) देती हैं। वास्तवमें तुलसीका 'मानस' तो दो अन्तर्ग्रथित गठनोंका रूपाकार है : 'कथा'का और 'स्तुतियों'का, 'मिथक'

का और 'दर्शन' का। इसीलिए तुलसी या अन्य धार्मिक कवियोंकी रचनाओंमें ये दो पृथक् और अनुस्यूत धाराएँ होती हैं जो समाज और संस्कृतिके निवेशके साथ-साथ धर्मके दर्शन और धर्मके ( विशिष्ट ) मनोविज्ञानका भी संयोजन करती हैं। 'मानस' में यह संयोजन अपने चरमोत्कर्षपर है। उसमें कथाकी धाराओं-उपधाराओं ( सरयू, गंगा और शोण ) को सात काण्डों, चार संवादों, सात दर्शन-विभागोंको रूपकसे सात सीढ़ियों और चार घाटोंमें गठित करके मानो एक पवित्र सरोवरके प्रतीकको ही सर्वत्र वातावरणीकृत किया है। ऐसे वातावरणमें स्तुतियाँ और प्रार्थनाएँ सामूहिक कीर्तन तथा भक्ति-परक वन्दनात्मक गान ( कोरस ) का प्रभाव उत्पन्न करती हैं। 'मानस' का सारा दर्शनशास्त्र इन्हीं स्तुतियोंमें भरा है। इन्हें छोड़नेपर 'मानस' भी मुख्यतः एक सुगठित ललित लौकिक घटनात्मक महाकाव्य रह जायेगा। अतः ये सहगान ( कोरस ) धर्मा स्तुतियाँ-प्रार्थनाएँ रूपगठनका ऐसा संयोजन करती हैं जहाँ—(१) कथानकके पात्र, स्वयं आख्यानवाचक कवि, और श्रोतागण तीनों ही धार्मिक अनुष्ठानमें मिलकर भाग लेने लगते हैं; (२) धार्मिक दुर्बलताका उपचार हो जाता है; (३) धर्मका दर्शन भाष्यरूपमें उपस्थित हो जाता है; (४) विभिन्न युगों और मध्यकालीन सम्प्रदायोंमें ईश्वर और अवतार सम्बन्धी विभिन्न धारणाओंका इतिहास जुट जाता है; (५) मनुष्यके मनस्तात्त्विक इतिहास ( साइकिक हिस्ट्री ऑव मैन ) का अतिरंजित प्रतिबिम्बन हो जाता है; (६) श्रेष्ठतर धार्मिक जीवन जीने तथा ईश्वर-अनुकम्पा प्राप्त करके कल्याणकारी आनन्द प्राप्त करनेकी शक्ति मिल जाती है ( अर्थात् अन्तःकरणकी एक ज़रूरत पूरी होती है ); और (७) काव्यके इतिवृत्तमें श्रोतागण पूरी तरहसे प्रत्येक घटनामें सहगान-द्वारा खुद भी हिस्सा बँटाने लगते हैं।

आदिम मनुष्यकी प्रकृत प्रार्थना वैयक्तिक तथा आवेदनात्मक ( पेटीशनरी ) थी; पुरोहितोंकी प्रार्थना कर्मकाण्डके लिए सामूहिक हो गयी; धार्मिक कवियोंकी प्रार्थनाएँ कलात्मक, आत्मचरितात्मक तथा आत्मस्वीकारात्मक ( कॅन्फ़ेशनल ) हुईं; तथा औसत आदमियोंकी प्रार्थनाएँ स्वास्थ्य, सुख, लाभ आदि लोकोपार्जनोंके निमित्त हुईं। इन सभीमें एक मानस आवश्यकताकी पूर्तिका तथा एक अधिक धार्मिक, अधिक प्रचुर और अधिक गहरी ज़िन्दगी जीनेकी कामना होती है। इनमें ईश्वर या इष्टदेवकी उपस्थितिको ( रहस्यवादी या कर्मकाण्डी ढंगसे ) स्वीकार किया जाता है तथा उसके साथ मानवीय-समाजके-जैसे सम्बन्ध ( भाई, सखा, पति, स्वामी, प्रिय, पिता आदि ) क़ायम किये जाते हैं। इसीलिए धार्मिक काव्यमें प्रार्थनाएँ कथांश भी हो जाती हैं। तुलसीने प्रार्थनाके दो आधारप्रभेदों-

को लिया है : सामूहिक प्रार्थनाके अन्तर्गत 'मानस'में गौरूप पृथ्वीके साथ ब्रह्माकी प्रार्थना, वेदों-द्वारा ( उत्तरकाण्डमें ) रामस्तुति, वाल्मीकिवन्दना, ब्राह्मण-द्वारा रुद्राष्टक ( उत्तरकाण्ड ) आदि सामूहिक कीर्तन और स्तोत्रोंके रूप हैं जिनमें किसी प्रारूप ( मॉडल ) या 'फ़ॉर्मूले' का उच्चार है और ये 'अध्यात्म रामायण' के ढंगपर साम्प्रदायिक हैं। वैयक्तिक प्रार्थनाके अन्तर्गत उन्होंने प्रत्येक काव्यकृतिके आरम्भमें कवि-परिपाटी-निबद्ध-मंगलाचरण, 'कविता-वली' में आत्मचरितात्मक प्रार्थनाएँ, 'विनयपत्रिका' में आत्मस्वीकारात्मक बन्द-नाएँ आदि की हैं। एक बात और स्पष्ट होती है कि 'मानस', और कहीं-कहीं अन्य कृतियोंमें; उन्होंने पात्रोंके मुखसे प्रार्थनाएँ करायी हैं किन्तु बादमें आद्यन्त स्वयं ही प्रार्थी बने रहे हैं। काव्यात्मक होनेके नाते ये सभी प्रार्थनाएँ अतिरंजना तथा सौन्दर्यसे भी आवेष्टित हैं। कई पात्रगत प्रार्थनाएँ सामूहिक होकर भी वैयक्तिक होनेका छद्म पैदा करती हैं; और मुक्तिके चार भेदों तथा भक्तिके नौ रूपोंको भी उद्‌घाटित करती हैं। पात्रगत प्रार्थनाओंमें कविको पात्रोंके हृदयके नितान्त मसृण और गूढ़ गतिविधियोंका ख़याल रखना लाज़िमी होता है तभी वह तदनुकूल प्रार्थनाएँ रच सकता है। इन प्रार्थनाओंमें संस्कृतिकी आधिभौतिक दशा, सामाजिक शक्तिके रूपमें करुणा (पाएटी) की भूमिका, और धार्मिक सम्बन्धता-का गहरा मनोलोक होता है। पात्रों तथा कविकी प्रार्थनाएँ मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे अतिरंजित होती हैं लेकिन उनमें धार्मिक मनोविज्ञानका गूढ़ पर्यवसान होता है। जो प्रार्थनाएँ किसी गहरी मनोवैज्ञानिक व्यथा या यातनासे निसृत होती हैं वे ईश्वरके प्रति आर्त पुकारका रूप लेकर उभरती हैं; जो कविताएँ कविके पापभाव और कमज़ोरियोंके बोधसे उपजती हैं उनकी अभिव्यंजना भक्तिआवेशपूर्ण ( अर्थात् लिरिकल ) होती है; जो कविताएँ रहस्यानुभूतिसे उपजती हैं उनमें हमेशा रूपकों ( मेटाफ़र्स ) और अनिर्वचनीय अनुभवकी आकुलता होती है; जो कविताएँ कर्मकाण्डोंके लिए होती हैं उनमें सामूहिक मनोविज्ञानके अनुरूप आस्था, जादू क्रिया आदिका संयोग होता है। ये प्रार्थनाएँ प्रधानसे चेतनावस्थामें रची जाती हैं तथा काफ़ी यान्त्रिक होती हैं। वैयक्तिक प्रार्थनाएँ स्वजात ऊर्जासे 'फूट' पड़ती हैं और 'एक-विशुद्ध मनस्तात्त्विक तथ्य' की दस्तावेज़ होती हैं। वे चेतना—अवचेतन—के मौलिक अनुभव हुआ करती हैं। इनके मुक़ाबलेमें सामूहिक प्रार्थनाएँ निर्वैयक्तिक होती हैं और उनमें अनुकरण तथा मौलिक अनुभवकी कमी होती है। फ्रीडरिख़ हाइलरके अनुसार 'ईश्वरके व्यक्तित्वके प्रति विश्वास तथा उसकी उपस्थितिके प्रति आस्था ही प्रार्थनाकी दो पूर्वपीठिकाएँ हैं।''....प्रार्थनाके अनुभवके आन्तरिक ढाँचेका निर्माण तीन तत्त्व करते हैं : एक जीवन्त इष्टदेवतामें आस्था,

उसकी वास्तविक तथा तात्कालिक उपस्थितिमें आस्था, तथा उसके साथ एक यथार्थवादी सम्बन्धता।....वैयक्तिक या प्राथमिक प्रार्थनाके आदर्श प्रारूपमें तीन बातें होती हैं : शक्ति, गहराई और स्फूर्ति।[1] सामूहिक प्रार्थनामें दार्शनिक धारणाओंकी बौद्धिकता भी आ जाती है तथा शनैः-शनैः आधिभौतिक एवं नैतिक मूल्योंसे वे जकड़ती जाती हैं और अन्ततः मात्र मानदण्ड रह जाती हैं। कवियों और रहस्यवादियोंके अनुभवमें इष्टदेवताका ध्यान या भक्ति निर्विकल्प शुद्धता और पूर्णताके साथ मिलती है जहाँ आत्मसमर्पणकी अदेहावस्था आ जाती है। इस भाँति प्रार्थनाएँ धर्मके विशिष्ट मनोविज्ञानको धारण करती हैं।

'मानस'में पात्रोंका रामदर्शन या पताका-प्रकरीका फलागम स्तुतियोंसे गुँथा होता है जिससे 'मानस'का कथागायन कीर्तन और सहगानोंकी शैलीको ओढ़ लेता है। बालकाण्डमें ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र, जयन्त, देवतादि, वेद रामकी स्तुतियाँ करते हैं; अरण्यकाण्डमें अत्रि, सुतीक्ष्ण, सनकादि, शबरी आदि रामस्तुतियाँ करती हैं। महाकाव्यमें वाल्मीकि, कौशल्या, अहल्या, मन्दोदरी, जटायु, भुशुण्डि आदि भी प्रार्थनाएँ करते हैं तथा प्रत्येक काण्डके आरम्भमें स्वयं कवि तत्त्व-सिद्धान्त-निरूपक स्तुति करता है। ये स्तुतियाँ महाकाव्यके इतिवृत्तात्मक रूपमें घटनाको स्थिर करके श्रोताओंको आवेशरूप बना देती हैं। 'विनयपत्रिका' की देवोपासनाओंमें आकर पुनः यह रूप प्रकट होता है; अन्यथा बादमें कवि अपने तथा वर्णाश्रमधर्मवाले समाजके लिए अनुकम्पापूर्ण जीवनकी ही 'याचना' करता है। सम्पूर्ण तुलसी-वाङ्मयमें सामूहिक तथा वैयक्तिक प्रार्थनाएँ धार्मिक-मनोविज्ञानकी व्यापक भूमिका देती हैं। धार्मिक अनुभवकी तात्कालिक सहजाभिव्यक्तिके रूपमें वाल्मीकिके द्वारा रामके बसनेके लिए चौदह स्थानोंका निर्देश ( मानस ) मन्दोदरी-द्वारा रामके विश्वरूपकी वन्दना, कौशल्याकी राम-प्रकट-अवसरकी वन्दना मानी जा सकती है। यान्त्रिक फ़ॉर्मूलोंके उद्घाटनके रूपमें वाल्मीकि वन्दनाका उत्तरांश, वेदों-द्वारा स्तुति, रुद्राष्टक, 'हनुमानबाहुक' के आरम्भके छन्द लिये जा सकते हैं। हृदयके आनन्द और उन्मेषके रूपमें ग्राम्यवनिताओंका राम-सीता-लक्ष्मण रूप-दर्शन, सीता-द्वारा गौरीकी वन्दना ली जा सकती है। धार्मिक वस्तुओंमें भी सिद्धिके विश्वासके रूपमें तीर्थराज प्रयाग-की स्तुति ( मानस ), चित्रकूट वन्दना ( गीतावली ), मूर्तिवन्दना ( 'विनय-पत्रिका' में बेनीमाधवकी पूजा ) ली जा सकती है। आत्मविस्मृतिके रूपमें अत्रिवन्दना सर्वोत्तम है। कलात्मक काव्यके रूपमें मुनियों-द्वारा रावणविजयी

---

१. फ़्रीडरिख़ हाइलर : 'प्रेयर'. पृ० ३५४–५७.

रामकी वन्दना ( मानस ), 'मानस' का रामगुण कथन, अयोध्याकाण्डकी शिव-वन्दना ( मानस ), रामका रूपवर्णन ( 'गीतावली' का उत्तरकाण्ड ) सुन्दर उदाहरण हैं। परब्रह्मकी उपस्थितिमें आत्माके महोल्लासके रूपमें जटायु-वन्दना तथा काकभुशुण्डि-वन्दना ली जा सकती है। हृदयवेदनाकी आर्त पुकारके रूपमें सीता-द्वारा हनुमान्‌को सन्देश-रूपमें कही गयी वन्दना है। उल्लासपूर्ण कृतज्ञता-ज्ञापनके रूपमें परशुरामकी रामवन्दना ( मानस ) है। क्षमा और उद्धारके रूपमें अहल्याकी वन्दना है। एक शिशुकी तरह सुख और खुशीकी कामनाके रूपमें 'हनुमानबाहुक' तथा 'कवितावली' में काशीके रोग-निवारण-प्रसंगकी प्रार्थनाएँ मुख्य हैं। नैतिक आदर्शोंके स्थापनके रूपमें वशिष्ठ-द्वारा भरतसे राम-प्रयोजन-कथन ( मानस ) है। स्वार्थपूर्ण प्रार्थनाओंके रूपमें नारद और देवताओंकी प्रार्थनाएँ हैं। कृपा-याचनाके रूपमें 'विनयपत्रिका' का मूल निवेदन-खण्ड है। ईश्वरेच्छाको भी बदलनेके रूपमें पार्वतीकी वन्दना ( पार्वतीमंगल ) है। पूर्ण आत्मसमर्पण और आत्मविस्मृतिके रूपमें सुतीक्ष्णकी रामवन्दना ( मानस ) है। न्यायाधीश ईश्वरके सामने अपनी कथा कहनेके रूपमें बालि, सम्पाति तथा जयन्त-की वन्दनाओंके उदाहरण हैं। परब्रह्मकी प्रशंसात्मक स्तुतियोंके रूपमें तो सारा तुलसी-कृतित्व ही भरा है, किन्तु विभीषण-द्वारा रामस्तुति, शिव-द्वारा राम-स्तुति ( 'मानस', उत्तरकाण्ड ), रामनाम महिमा ( कवितावली, ७।८९-९५, १११-११४ ) है। दास्यभावकी प्रार्थनाओंकी भी ऐसी ही बहुतायत है किन्तु 'गीतावली' के सुन्दरकाण्डमें विभीषण द्वारा शरणागति तथा 'कवितावली' और 'विनयपत्रिका' में आत्मस्वीकारात्मक प्रार्थनाएँ ध्यान देने योग्य हैं। मधुरभावकी प्रार्थनाओंका तुलसीकृतित्वमें अभाव है : 'कृष्णगीतावली'में परोक्ष रूपसे तथा 'मानस'में हनुमान्-द्वारा रामसे सीता-सन्देश-कथन इसके क्षीण दृष्टान्त हैं। इस भाँति प्रार्थनाओंके विषयवस्तुपरक रूपोंके आधारपर मध्यकालीन धार्मिक मनो-विज्ञानका व्यापक प्रकाशन हो सकता है जिसकी बौद्धिक, नैतिक, सौन्दर्यात्मक तथा धार्मिक अन्वेषण-दिशाएँ हैं।

'मानस'में स्तुतियोंके अलावा 'गीताओं' की भी भूमिका है। गठनकी दृष्टिसे प्रार्थनाएँ या स्तुतियाँ गाहे-ब-गाहे कथानकमें अनुस्यूत हो भी गयी हैं लेकिन गीताएँ तो नैतिक 'स्मृतियाँ' तथा धार्मिक 'आगम' बनकर रूपगठनमें विप्रलम्भ-की हालतमें मौजूद हैं। इनसे 'मानस' के धार्मिक-काव्यत्वमें ही गहराई आ सकी है। कुछ प्रधान 'गीताओं' की गिनती करानेसे धार्मिक भूमिके प्रसारका अन्दाजा लग सकता है : शिवगीता रामाद्वैतपर ( पार्वतीके प्रति ) तथा सत्संग-महिमापर ( गरुड़के प्रति ), लक्ष्मणगीता ( निषादके प्रति ), वाल्मीकिगीता

रामके प्रति, अनसूयागीता नारीधर्मपर ( सीताके प्रति ), विभीषणगीता ( रावणके प्रति ), मन्दोदरीगीता ( रावणके प्रति ), भुशुण्डिगीता कलिधर्म, भक्तिमणि, ज्ञान दीपपर ( गरुड़के प्रति ), इत्यादि। इसी तरह स्वयं रामकी तेरह गीताएँ हैं। पहली राजधर्मके सम्बन्धमें भरतके प्रति कही गयी है, दूसरी लक्ष्मणके प्रति कही गयी है जिसमें तत्त्वरहस्य और भक्तियोग अच्छी तरह समझाया गया है; तीसरी शबरीके प्रति है जिसमें नवधा भक्तिकी चर्चा है; चौथी सन्तरहस्यके सम्बन्धमें नारदके प्रति कही गयी है; पाँचवीं अनन्यताके सम्बन्धमें हनुमान्‌के प्रति कही गयी है; छठी मित्रमहिमाके सम्बन्धमें सुग्रीवके प्रति कही गयी है; सातवीं प्रवर्षण गिरिमें वर्षा और शरद्वर्णनकी आड़से धर्म-नीतिके सम्बन्धमें लक्ष्मणके प्रति कही गयी है; आठवीं शरण्यताके सम्बन्धमें विभीषणके लिए सुग्रीवसे तथा फिर विभीषणके प्रति कही गयी है; नवीं धर्मरथके सम्बन्धमें विभीषणके प्रति कही गयी है; दसवीं सत्संग और सन्त-असन्तके सम्बन्धमें भरतके प्रति कही गयी है; ग्यारहवीं भक्तिरहस्यके सम्बन्धमें पुरजनोंके प्रति कही गयी है; बारहवीं भजनके सम्बन्धमें सुग्रीवादि वानरोंके प्रति कही गयी है; और तेरहवीं भक्तिमहिमाके सम्बन्धमें भुशुण्डिके प्रति कही गयी है।'[1] ये गीताएँ संवादोंको भी धर्मशास्त्र-भाषामें रूपान्तरित करके इतिवृत्तको अनिवार्य मनोरंजकताको गौण बना देती हैं। इनमें बौद्धिक, आध्यात्मिक और नैतिक मूल्योंका केन्द्रीकरण हुआ है। वस्तुतः गीताएँ भी स्तुतियोंकी ( मध्यकालीन धर्माचरणके अनुरूप ) व्याख्याएँ तथा भाष्य हैं।

मनुष्य और ईश्वरके सम्बन्धके क्षेत्रोंको लेनेके बाद अब हम मनुष्य-ईश्वर और प्रकृतिके आपसी सम्बन्धोंको लेकर रूपगठनमें 'प्रकृति' ( नेचर ) के शिल्पदानका निरूपण करेंगे।

विवेच्य भारतीय मध्यकालकी धार्मिक धाराके हमारे कविके दृष्टिकोणमें प्रकृति कुछ नयी तकनीकी भूमियाँ भी बनाती है जो लौकिक काव्यकी परम्परामें गौण हैं। इसकी वजह है। लौकिक काव्यमें ईश्वर साध्यमूल नहीं होता। अतः नरक्षेत्र और प्रकृति क्षेत्रकी कान्त मैत्री होती है। धार्मिक काव्योंमें ईश्वर केन्द्रित ( थीयोसेण्ट्रिक ) मानवतावाद होता है। अतः नरक्षेत्र और परलोक ( वैकुण्ठ ) की समरसता क़ायम होती है। इस नये सम्बन्धके अन्तर्गत प्रकृति ईश्वरकी लीला अथवा माया अथवा आदिशक्ति हो जाया करती है। फलतः प्रकृतिका 'अलौकिकीकरण' एवं 'नैतिकीकरण' हुआ है। यहाँ प्रकृति, कृष्ण-काव्यकी

---

१. बलदेव प्रसाद मिश्र : 'तुलसी-दर्शन', पृ० ३३-३४।

अपेक्षा, सौन्दर्यका आधान करनेके बजाय शिवत्वका आधान करती है। दूसरी बात यह है कि तुलसी एक ग्रामीण नींवके कवि हैं। मध्यकालमें प्रकृतिकी शक्तियोंपर वैज्ञानिक विजयके स्थानपर तान्त्रिक और शकुनमूलक विषयपर यक़ीन था। इसलिए मनुष्य और प्रकृतिके रिश्ते रागात्मक और संघर्षमूलक नहीं हो सके। फलस्वरूप प्रकृतिका चेतनाके नाना स्तरोंपर अविकल्पन मात्र हुआ। ग्रामीण नींववाले कवि तुलसीने प्रकृतिके ग्रामीण पक्षोंको दृष्टान्तरूपमें लिया है। इसलिए रामकथाके मिथकीय परिवेशमें प्रकृतिने 'मानस'की रामकथाको तत्कालीन सांस्कृतिक पर्यावरण भी प्रदान किया है जिसमें कल्पनाकी उड़ानोंके बजाय लोकानुभवोंकी साधारणता है, मादक शृंगारिकताके बजाय अलौकिकता व नैतिकता है। तीसरी बात यह है कि प्रकृतिका उद्दीपन-धर्म अप्रधान होकर रूपक-धर्म प्रधान हो गया है। धार्मिक काव्यमें प्रकृति नर ( अवतार ) से कम श्रेष्ठ तथा सुन्दर होती है। बहुधा उपमेयसे उपमान श्रेष्ठतर और चारुतर होते हैं। किन्तु दिव्यपात्रोंकी तुलनामें कम श्रेष्ठ-सुन्दर प्रकृति श्रेष्ठतर नरक्षेत्रको उपमान बनाती है ( उदाहरण : 'सीताके शरीरसे अरुण कमल और सुवर्णने भी कान्ति पायी है'—'गीतावली' )। इसलिए प्रकृति ही पात्रोंकी शोभा और निर्देशोंसे मण्डित और संचालित होती है। चौथी बात यह है कि 'नहछू' तथा 'मंगलकाव्यों'के बाद प्रकृति काम तथा स्थायी भाव-रतिसे अलहदा हो गयी है। इसलिए वह अद्भुतरस और भक्तिरसमें ही मुख्यतः इस्तेमाल हुई है। तुलसीके रामकाव्यकी इन चन्द खूबियोंका ज़िक्र करनेके बाद हम उनके कृतित्वमें प्रकृतिके शिल्पगत पहलुओंका मुआयना करेंगे।

माया, लीला, अथवा शक्ति बनी हुई प्रकृति मध्यकालीन अध्यात्मवादमें आत्मासे युक्त हुई है क्योंकि इसे परब्रह्म रामका दर्शन प्राप्त है। एक ओर समुद्र, गंगा, पशु, ( हरिणी हरिणसे व्यंगपूर्वक कहती है कि भागो मत ! ये तो स्वर्ण-मृगको मारेंगे ), जन्तु ( समुद्र जीव ), रामपर छाया करते मेघ आत्मीकृत होकर रामकी स्तुति करते हैं; तो दूसरी ओर शरद्ऋतुकी काँस वर्षाका बुढ़ापा प्रकट करके मानवीयकृत ( परसॉनिफाएड ) हो गयी है। आत्मीकृत प्रकृतिने पशुकथा-तत्त्व भी ग्रहण किये हैं। अतः मानवीयकृत एवं आत्मीकृत प्रकृति पात्रों तथा रामके साथ कथाको पूरे ब्रह्माण्डका मंच प्रदान करती है। प्रकृति दैवी संकेतके रूपमें शकुन तथा लक्षणोंके रूपमें कथानकके भावी विस्तार या प्लॉट-परिवर्तनका भी विधान करती है। उदाहरण : रामके जनकपुर पहुँचनेपर मंगल शकुन होते हैं तथा रावणवधके पूर्व नाना अपशकुन होते हैं—कुत्तोंका रोना, पुच्छल तारोंका प्रकट होना, बिना ही पर्वके सूर्यग्रहण होना, मेघोंसे रक्त-वर्षा होना आदि।

शकुन और लक्षण कुछ क्षणके लिए प्रकट होकर भावी घटनाओंके शुभ-अशुभ संकेत देकर पुनः लुप्त हो जाते हैं। मध्यकालीन चेतनामें ये प्रकृतिकी विशिष्ट दशाओंके पूर्व-सूचक एवं पूर्व-निर्देशक माने जाते हैं। शकुन पशुओंके, पक्षियोंके, वृक्षोंके, मानव शरीरके होते हैं। कथानकरूढ़ियों और अभिप्रायोंमें शकुनों-लक्षणोंका महत्त्वपूर्ण दाय रहा है। मानवीयकृत, आत्मीकृत, तथा शकुनपरक प्रकृतिकी तरह धार्मिक काव्यमें मिथकीय प्रकृतिका भी प्रयोग होता है जहाँ कथारूप-प्राकृतिक घटनाएँ ( शेष, कच्छप, मन्दराचल, वृत्र आदि ) महाकाव्यकी घटनाओंको अलौकिकतासे मण्डित कर देती हैं; जैसे 'मानस'के सुन्दरकाण्डमें रामसेना-प्रयाणके मौक़ेपर दिशाओंके हाथी डगमगा उठते हैं, पृथ्वी डोलने लगती है, पर्वत चंचल हो जाते हैं, सर्पराज शेष भी सेनाका बोझ सह न सकनेकी वजहसे पुनः-पुनः कच्छपकी पीठ दाँतोंसे पकड़ते हैं। धार्मिक काव्योंमें प्रकृतिके तान्त्रिक प्रयोगकी ( बीभत्सरसमें ) भी एक ऐसी परम्परा रही है कि लौकिक काव्योंमें भी उसे ग्रहण किया गया है। यहाँ प्रकृति एक मायावरण (हैल्यूसिनेशन) फैलाती है जिसमें अपशकुनों और अतिप्राकृतिकका मेल हो जाता है। उदाहरण : राम-खरदूषण युद्धके मौक़ेपर चील, काक, शृगाल आदि कठोर तथा भयंकर कट्-कट् शब्द करते हैं ( अपशकुन ); भूत-प्रेत और पिशाच खोपड़ियाँ बटोरते हैं ( अतिप्राकृतिक ), तथा वीरवैताल खोपड़ियोंपर ताल देते हैं और योगिनियाँ नाचती हैं ( तान्त्रिक )। बीभत्समें तुलसीने रक्तनदीके लम्बे सांगरूपकका भी सहारा लिया है ( ६।८६,८७।१-५ ) मायावरणीय प्रकृतिका उपयोग रावणने भी युद्धमें किया है जिससे किसी एक केन्द्रीभूत कार्य ( युद्ध ) में चारों ओर दिग्भ्रान्ति फैल जाती है और संघर्ष क्षीण हो जाता है। मायावरणीकृत प्रकृतिका उपयोग सीताको धोखा देनेके लिए भी किया गया है जिसकी चर्चा हम अगली गोष्ठीमें करेंगे। इस भाँति तुलसीने अपने धार्मिक काव्यमें प्रकृतिके लघु प्रयोगोंके अन्तर्गत आत्मीकृत प्रकृति, मानवीयकृत प्रकृति, शकुनपरक प्रकृति, मिथकीय प्रकृति, अतिप्राकृतिक प्रकृति, तान्त्रिक प्रकृति, रूपक प्रकृति, मायावरणीकृत प्रकृति आदिका नया तकनीकी इस्तेमाल किया है।

आलम्बन रूपमें प्रकृतिका प्रयोग तुलसीने बेहद कम किया है। धार्मिक काव्योंमें बहुधा आलम्बन-रूप प्रकृति दिव्य होती है, अथवा दिव्य स्थलों या वस्तुओंकी पवित्र प्रकृति होती है। तुलसीने 'गीतावली' में चित्रकूट, 'मानस' में तीर्थराज प्रयाग तथा 'कवितावली' में काशीकी पवित्र प्रकृतिका वर्णन किया है। इन वर्णनोंमें कमल, मोर, हंस, कोयल मुख्यतः आये हैं। तुलसीकी धार्मिक या पवित्र प्रकृतिके चित्रणके चार दृष्टिकोण हैं : सम्पत्ति, महिमा, प्रसन्नता, और

सबसे बादमें मनोहरता ( गीतावली, २।४६ ) । ये वर्णन 'धार्मिक स्वच्छन्दतावाद' के अन्तर्गत आ सकते हैं । लौकिक आलम्बन रूपमें भी प्रकृतिके कुछ चित्र उन्होंने दिये हैं जो मिथकीय और आध्यात्मिक वातावरणमें तत्कालीनताका समावेश करनेके जबरदस्त साधन हैं । उनके कुछ ग्रामचित्र, वनचित्र, ग्रामपोखरचित्र बड़े ही जीवन्त हैं । अरण्यकाण्ड ( मानस ) का पम्पासर एक ओर तो संस्कृतकी ललित परिपाटीके अनुसार वर्णित है तो दूसरी ओर ग्राम्य जीवनसे प्रतिबिम्बित है । एक ओर चक्रवाक, बगुले, सघन पुरइन हैं तो दूसरी ओर जलमुर्गों और पक्षियोंकी ध्वनियाँ हैं जो रास्तेमें जाते हुए पथिकोंको बुला लेती हैं । शुद्ध ग्रामतालमें तो कौवे, गीध-बगुले और सुअर रहते हैं ( वहाँ हंस नहीं आते ) तथा अमृत-सा जल सूकरी गहडोरि देती है ( विनयपत्रिका, १८५, २५८ ) । 'कवितावली' तो ग्राम्य भूचित्रों ( रूरल लैण्डस्केप्स ) से जगरमगर करती है जिसमें लोकजीवन पिरो दिया गया है । 'मानस' के एक ग्राम्य भूचित्रमें रास्तेमें गाँव तथा पुरवे बसे हुए दीखते हैं । मार्गमें बटोही आ बसते हैं । सीताको थकी जानकर राम समीप ही एक बरगदका वृक्ष और ठण्डा पानी देखकर ठहर जाते हैं । सुन्दर वन और तालाब ग्राम्य भूचित्रकी जरूरी रचना है । तुलसीके धार्मिक काव्यमें किस तरह चारु प्रकृति दिव्य प्रकृतिमें रूपान्तरित हो जाती है, इसे स्पष्ट करनेके लिए हम दो मिसालें लेंगे । राम वनका भयानक चित्रण करते हुए स्वभाव-भीरु सीताके साथ चलनेके निश्चयको दुर्बल करनेके लिए कहते हैं कि वन बड़ा 'कठिन' और भयानक' है । रास्तेमें कुश-काँटे और नाना कंकड़ हैं । उनपर बिना पनहियोंके पैदल चलना होगा । कन्दराएँ, खोहें, नदी, नाले, नद इतने अगम्य और गहरे हैं कि उनकी ओर देखा तक नहीं जाता । भालू, बाघ, भेड़िये, सिंह और हाथी ऐसे भयानक नाद करते हैं कि सुनकर धीरज भाग जाता है । पहाड़का पानी बहुत लगता है । भीषण सर्प, भयानक पक्षी, स्त्री-पुरुष चुरानेवाले राक्षसोंके झुण्ड-के-झुण्ड रहते हैं । हे मृगलोचनि, तुम तो स्वभावसे ही भीरु हो ! ( 'मानस', अयोध्याकाण्ड ) इस वर्णनमें भीषण, भयानक, अगम्य, गहरे, विराट्, विशाल आदि विशेषणोंके द्वारा कार्यव्यापारको नायिकाका मनोबल क्षीण करके मोड़नेकी कोशिश है । यह एक नितान्त यथार्थ वनचित्रण है । यही ललित यथार्थ किस तरह दिव्य हो जाता है इसका एक प्रतिनिधि उदाहरण लें : "जिन तालाबों और सरिताओंमें राम स्नान करते हैं उनकी बड़ाई देवसरोवर और देवसरिताएँ तक करती हैं । जिस वृक्षके नीचे प्रभु जा बैठते हैं उसकी बड़ाई कल्पवृक्ष करते हैं । जहाँ-जहाँ राम चलते हैं वहाँ-वहाँ मेघ उनकी छाया करते हैं । राम पर्वत, वन, पशु-पक्षियोंको देखते हुए चले जा रहे हैं ।

उन्हें बिना पनहीका देखकर पृथ्वी कोमल हो गयी और कुश, काँटों, कंकड़ी, दरारों आदि कड़वी-कठोर वस्तुओंको छिपा लिया। वृक्ष फल-फूल उठे हैं। पर्वत, वन, नदी शोभासे छा गये हैं और दिनोंदिन अधिक सुहावने लगने लगे हैं। पक्षी और पशुओंके समूह आनन्दित रहते हैं।" यह दूसरा वर्णन कुछ तत्त्वोंको उद्घाटित करता है : (१) दैवीनायकके सम्पर्कसे साधारण प्रकृति इतनी भव्य और दिव्य हो गयी है कि स्वर्गकी प्रकृति (कल्पवृक्ष, देवनदी, देवसरोवर) भी उसकी प्रशंसा करती है; (२) दैवी नायकके प्रति प्रकृतिका सेवा तथा आत्मसमर्पणका धार्मिक भाव है; (३) दैवी पात्रोंके सम्पर्कसे प्रकृति अपने वैज्ञानिक नियमोंको त्याग कर चिरन्तन उल्लास, चिरन्तन वसन्तमें शाश्वत हो जाती है; तथा (४) इस वातावरणमें एक श्रेष्ठतर जीवन, आनन्द और सुख उमड़ता है। 'मानस' में दिव्य प्रकृति कमोवेश तौरपर इन चार तत्त्वोंसे ही मण्डित हुई है। यह दिव्य प्रकृतिका सालोक्य गुण है। दूसरे गुणके अन्तर्गत वह सारूप्य-धर्मा हो जाती है। सारूप्य गुणवती प्रकृति नरक्षेत्रको शोभित करनेके बजाय दैवी जगत्से स्वयं श्री-शोभित होने लगती है। दैवी पात्रोंके सौन्दर्य-युगके आगे उसके उपमानोंकी क्षीणता तथा साधारणता लजाने लगती है। उदाहरण : बालमृगनयनी सीता जहाँ-जहाँ देखती है वहाँ मानो श्वेत कमलोंकी क़तार बरस जाती है; तीनोंके कोमल एवं लाल चरणोंको छूते ही पृथ्वी वैसे ही सकुचा जाती है जैसे हमारे हृदय; सीताके शरीरसे अरुण कमल और सुवर्णने भी कान्ति पायी है, इत्यादि। वीररसमें यह दिव्य प्रकृति शूरवीरके सम्पर्कमें अलौकिक करिश्मे भी दिखाती है। हनुमान्-प्रसंग आश्चर्यपूर्ण वीररसका उदाहरण है जहाँ विराट् और भीषण प्रकृति सहायता करनेके लिए अथवा बाधा उत्पन्न करनेके लिए (सुरसा, मकरी आदि) पहले तो और अधिक विराट् तथा भीषण होती है, लेकिन सहायता करनेके बाद या बाधा देनेमें नाकामयाब होनेपर लघु और वशपूर्ण हो जाती है। यह प्रकृतिकी अतिप्राकृतिकताका तीसरा तकनीकी गुण है।

तुलसीने भागवतकी परिपाटीके अनुसार अपने प्रकृति-वर्णनमें सौन्दर्यकी सिद्धिके बजाय नैतिकताकी साधनाको प्रधानता दी है। इस तरहका प्रकृति-वर्णन दो भागोंमें विभक्त है : पहलेमें ऋतु अथवा वस्तुका वर्णन है और यह उपमेय-अंग है; दूसरेमें ऋतुके तत्त्वों अथवा वस्तुके खण्डोंके लिए धार्मिक, नैतिक, आध्यात्मिक भाष्य हैं और ये उपमान-अंग हैं, तथा उत्प्रेक्षा-विधिसे आये हैं। इस तरह ऐसा प्रकृति-वर्णन भक्तिरसमें उत्प्रेक्षांशका नैतिक-धार्मिक-आध्यात्मिक विधान करता है। इसमें उपमेय-उपमान दोनोंमें अलौकिकता नहीं होती, शृंगारिकता नहीं होती, तथा उपमान ऊहा जैसे हो जाते हैं। 'मानस'में वर्षा और

शरद् वर्णन ( किष्किन्धाकाण्ड ) तथा पम्पासर-वर्णन ( अरण्यकाण्ड ) इसी तरहके हैं। अपने कथनको स्पष्ट करनेके लिए हम इनमें-से कुछ उदाहरण देंगे : पृथ्वीपर पड़ते ही पानी गँदला हो गया है जैसे शुद्ध जीवसे माया लिपट गयी हो; भारी वर्षासे खेतोंकी क्यारियाँ फूट चलीं जैसे स्वतन्त्र होनेपर नारियाँ बिगड़ जाती हैं; चारों दिशाओंमें मेंढकोंकी ध्वनि ऐसी लगती है मानो बटुक समुदाय वेद पढ़ रहे हों; मोरोंके झुण्ड बादलोंको देखकर नाच रहे हैं जैसे वैराग्यमें अनुरक्त गृहस्थ किसी विष्णु-भक्तको देखकर अनुरक्त होते हैं; शरदृतुमें खंजन पक्षी आ गये हैं जैसे समय पाकर सुकृत ( पुण्य ) सुहावने लगते हैं; जलके कम होनेसे मछलियाँ व्याकुल हो रही हैं जैसे अबुध गृहस्थ धनके बिना व्याकुल हो जाता है; फूलनेसे तालाब कैसी शोभा दे रहा है जैसे निर्गुण ब्रह्म सगुण होनेपर शोभित होता है; मच्छर और डाँस जाड़के डरसे इस प्रकार नष्ट हो गये हैं जैसे ब्राह्मणद्रोही कुलका नाश हो जाता है; घनी पुरइनोंकी आड़में जलका जल्दी पता नहीं मिलता जैसे ढँके रहनेके कारण निर्गुण ब्रह्म नहीं दीखता, इत्यादि। ऐसे वर्णन कलात्मक दृष्टिसे रसभंग करनेवाले होकर भी प्रकृतिको वैष्णव-सम्प्रदायकी प्रतिपत्तियोंसे जोड़नेके साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक और कृषक-जीवनसे भी जोड़ देते हैं। 'गीतावली' में भी इस तरहका प्रयोग हुआ है।

जब तुलसीने प्रकृतिको उपमान-कोषके रूपमें बटोरा है तब उसे संस्कृतकी परिपाटीके अनुसार भी प्रयुक्त किया है, लेकिन इससे अधिक प्रयोग किसानी आधारोंमें (दृष्टान्त रूपमें) इस्तेमाल करनेके लिए किया है। इस तरह प्रकृति कृषक-जीवनका 'अमरकोश' भी बनी है। हम इस देनको ग्राम्यीकरणके अन्तर्गत ले चुके हैं। संस्कृत परिपाटीके दो-तीन उदाहरण हैं : सीता इस तरह चकित है मानो डरी हुई मृगछौनी सकल दिशाओंमें देख रही हो, जयमाला डालती हुई सीता ऐसे लगती है मानो दो सनाल कमल चन्द्रमाको डरते हुए जयमाला दे रहे हों, घायल वीर कैसे शोभित हो रहे हैं जैसे फूले हुए पलाशके पेड़, दोनों भाई शिरीषके फूलके समान सुकुमार हैं, भरत भरद्वाजके आश्रमकी ओर चले मानो किसी तृषातुर गजने दारुण घाम लगनेपर किसी तड़ागको देख लिया हो, इत्यादि। कृषक-जीवनसे सम्बद्ध उपमान लोकज्ञान-कोश भी बढ़ाते हैं। इस क्षेत्रमें हम अन्योक्तियोंको भी शामिल करेंगे। कुछ चुने हुए उदाहरण हैं : कौओंको बड़े प्रेमसे पालो पर क्या वे कभी मांसत्यागी हो सकते हैं; मानसरोवरके जलमें पली हुई हंसिनी कहीं खारे समुद्रमें जी सकती है; कहीं पोखरेका क्षुद्र कछुवा भी मन्दराचल उठा सकता है; जगत्में जो भी कामी और लोभी होते हैं वे कुटिल कौवेकी तरह सबसे डरते हैं; दशरथ अत्यन्त बुरी हालतमें पड़े हैं मानो

सिंहनीको देखकर कोई बूढ़ा गजराज सहमकर गिर पड़ा हो; प्रेमपियासे ग्रामके नर-नारी ऐसे थकित रह गये जैसे दीपकको देखकर हिरनी और हिरन; राजा तड़पने लगे मानो मछलीको माजा (पहली वर्षाका जल) व्याप गया हो; कौशल्यादि माताएँ ऐसे दौड़ीं मानो नयी ब्यायी हुई गौएँ हुँकार करके थनसे दूध चुआती हुई अपने बछड़ोंको देखकर दौड़ी हों; रामकी शीतलवाणीको सुनकर कौशल्या वैसे ही सहमकर सूख गयी जैसे बरसातका पानी पड़नेपर जवास सूख जाता है; राजाके वचनोंको कैकेयी टेढ़ा करके जान रही है जैसे समान जलमें जोंक टेढ़ी चालसे ही चलती है; नगरके लोग ऐसे व्याकुल हैं जैसे शहद छीन लिये जानेपर मधु-मक्खियाँ; एक कैकेयी ही इस तरह हर्षित दीखती है मानो जंगलमें आग लगाकर आनन्दित हो; रावण ऐसा अभिमानी था जैसे टिटिहरी पक्षी पैर ऊपर करके सोता है ( मानो आकाश थाम रहा हो ); रामकृपासे वानर सेनाका बल उसी प्रकार बढ़ गया जैसे घास पाकर अग्नि बहुत बढ़ जाती है; दुष्ट बिना किसी स्वार्थके साँप और चूहेके समान अकारण ही दूसरोंका अपकार करते हैं; सीता पतिवियोगमें तो दुखी है किन्तु पुत्रसुख पाकर प्रसन्न भी है जिस प्रकार अग्निपर रखा हुआ दूध उफनने लगता है परन्तु सलिलसे सींचने-पर फिर सकुचा जाता है; इत्यादि । इन उपमानोंमें तुलसीके व्यापक, गहरे तथा सूक्ष्म किसानी ज्ञानकी दुनियाका पता चलता है । इनकी वजहसे भी तुलसी-कृतित्व ग्राम्यजीवनके ज्ञानका सन्दर्भकोश हो गया है । यहाँ वे संस्कृतके शूद्रककी तरह मौलिक हैं ।

वेश-भूषा, नख-शिख, भावदशा, मुद्रा, वस्तु आदिके स्पष्टीकरण, गुम्फन और मर्मभेदनमें भी उन्होंने प्रकृतिसे उपमान लिये हैं जिनमें काव्यशास्त्रकी परम्पराकी प्रधानता है । शायद इस सन्त कविकी कल्पनाको पूरी आज़ादी इसी क्षेत्रमें मुमकिन हो सकी है । इसलिए उसने उपमाओंकी अपेक्षा उत्प्रेक्षाओंकी वर्षा की है । प्रत्येक चौपाई 'जनु', 'जिमि', 'कैसे-जैसे', 'मनहु', 'ज्यों' आदिके प्रयोगोंसे बराबर-बराबर बँट गयी है : एक खण्डमें सरल कथन है तो दूसरेमें उसकी काव्यात्मक अभिव्यंजना । इन्हें हम अगली गोष्ठीमें बिम्ब और प्रतीक-चर्चामें शामिल करेंगे । परम्पराके आधारपर, विरक्त तुलसीको भी, वसन्तसेना-के सांगरूपक बाँधने पड़े हैं जिनपर गहरा मुग़ल प्रभाव है (देखिए, 'मानस' ३।३७,३८; 'कृष्णगीतावली' ३२, तथा 'गीतावली', २।४९) । जिस तरह भागवतके आधारपर प्रकृति-वर्णनका महत्त्व है उसी तरह तुलसीके कृतित्वमें वसन्त-सेनाके ये तीन सांगरूपक प्रकृतिको तत्कालीन सामन्तीय फ़ौज-संगठनसे जोड़ देते हैं । इनमें-से 'कृष्णगीतावली'के पदमें कामदेवकी मिल्कियतपर मुग़ल-

प्रशासनकी पूरी व्यवस्था लागू हुई है।

इस तरह हमने तुलसीके कृतित्वके शिल्प-विधानके निरूपणका समापन किया।

अब अगली गोष्ठीमें हम यह वार्ता करेंगे कि तुलसीकी रचनाओंमें सौन्दर्य-बोध-शास्त्र ( एस्थेटिक्स ) के कौन-से सिद्धान्त और समस्याएँ अन्तर्निहित हैं, क्या उनके सौन्दर्यतत्त्वमें मध्यकालीन सौन्दर्यबोधकी विशिष्टता है?

■

## छठी गोष्ठी

**"स्याम गौर किमि कहौं बखानी, गिरा अनयन नयन बिनु बानी" :**
अर्थात् तुलसीमें सौन्दर्यबोध-शास्त्र ( एस्थेटिक्स ) का कैसा अधिष्ठान है ? कवि और सहृदयके सम्बन्धमें कौन-सी अवधारणाएँ हैं ? सौन्दर्य-शोभाके रूप-गुण-धर्म क्या हैं ? अनिर्वचनीयता एवं सौन्दर्यात्मक प्रति-बोधकी समस्याएँ क्या हैं ? हास्य एवं किमाकारके क्या सिद्धान्त हैं ? कौतुक और जादूके क्या रिश्ते हैं ? टोटेमकी क्या पहल है ? अलौकिक एवं अतिप्राकृतिकके क्या दाय हैं ? बीभत्स एवं भयानकसे कैसी त्रासद दशाएँ उत्पन्न की गयी हैं ? एक धार्मिक भाषाकी संरचनाकी कौन-सी विशेषताएँ हैं ? रूपक एवं बिम्ब-विधान कैसे हैं ? क्या इन सबके द्वारा एक विशिष्ट मध्यकालीन सौन्दर्यबोध-शास्त्रकी पीठिका भी निवेदित हुई है ?

सन्त तथा कवि तुलसीका सौन्दर्यबोध शास्त्रीय रस-परम्परासे अधिक धार्मिक भक्ति-परम्परासे जुड़ा है । उसमें कलाके आनन्दको ब्रह्मानन्दमें स्थानान्तरित करनेकी हरचन्द कोशिश हुई है । इसलिए तुलसीने मध्यकालीन सौन्दर्यबोध-शास्त्रकी पीठिका भी प्रस्तुत की है जिसकी कई विशिष्टताएँ हैं । सूर, तुलसी, कबीर और जायसीने मिलकर मध्यकालीन सौन्दर्यबोध-शास्त्रकी जो रूपरेखा बनायी है, उसपर विचार करते ही पश्चिमके आगस्ताइन सन्त थॉमस तथा दान्ते-जैसे तुलनीय मध्यकालीन ईसाई सन्त और कवि याद आ जाते हैं । तुलसीने 'काव्य' और 'भक्ति' का संयोग कराके सौन्दर्यबोध-शास्त्रमें एक मध्यकालीन समीकरण ( ईक्वेशन ) ढूँढ़ा । इस समीकरणमें 'सुन्दर' और 'पावन' का साध्यवसान हो गया । फलतः नैतिक और आध्यात्मिक 'सौन्दर्य' के अधिष्ठानपर 'सत्य' की प्रतिष्ठा हुई, वातावरणमें अलौकिकता छा गयी, चरित्रकरणोंमें वैचित्र्य ( लीला, विराट् रूप, अवतार ) जुड़ गया, 'माया' और 'भक्ति' की अवधारणाओंके द्वारा मनोवेगोंके विशिष्ट रूपायन हुए, तथा अनिर्वचनीयता एवं साधारणीकरणके नये अन्वेषण हुए । सारांशमें कलात्मक सौन्दर्यके बजाय नैतिक सौन्दर्य और आध्या-

त्मिक सौन्दर्य ही तत्कालीन रुचिका प्रतिमान हुआ। 'सौन्दर्य' में दैवी तथा दिव्य धर्म जुड़ गये। इसलिए सुख बहुत ही सीमित दूरी तक कलात्मक आनन्दसे सम्बद्ध हुआ। यही नहीं, सौन्दर्यका सम्बन्ध मानवत्व और प्रकृतिके साथ-साथ देवत्वसे भी हुआ। देवत्वमें सत्यकी परिणति होती है। इसलिए 'सौन्दर्य' दैवी सत्यकी ओर उन्मुख हुआ, तथा केवलमात्र ईश्वर या इष्टदेवतामें अन्तर्भूत होकर 'नाम' और 'रूप'में केन्द्रित हो गया। सौन्दर्य सत्य हो गया, तथा सत्य शुभ। दैवी होनेके कारण सत्य विशुद्ध आत्मा और स्थूल जगत्के बीच प्रतीक रूपमें अवतार-हेतुसे—संचरणशील हुआ। इस भाँति आध्यात्मिक प्रतीकोंके 'द्वारा' इस जगत्की 'यथार्थता' का मूल्यांकन हुआ। माया, मोह, भवबन्धन, मिथ्यात्व आदिने जगत्के विषयमें आध्यात्मिक तर्कशील भ्रान्तियोंका उपदेश किया। सृष्टिकर्ता केन्द्रीभूत सत्य हुआ, तथा कृति ( सृष्टि ) बहिरंग 'आवरण' बनी। मध्यकालीन सौन्दर्यबोधात्मक चेतनाके अनुसार यह सृष्टि दैवी सत्यको ढाँक लेती है ( माया )। अतः सौन्दर्यात्मक भ्रान्तियोंने काव्यके साधारणीकरणमें चमत्कृतिको मिला दिया। अब यह सृष्टि 'दर्पण' न होकर 'आवरण' बन गयी। इसलिए नाम-रूप, शब्द-अर्थ, चरित्र-लीलाके बीच द्वैत-सा क़ायम हो गया। साराका सारा मध्यकालीन धार्मिक काव्य मनुष्यके प्रकृत गुणोंको जगानेकी अपेक्षा उसके अतिप्राकृतिक संकायोंके प्रति ही अभिभूत हुआ अर्थात् संवेगोंके बजाय 'आत्मा'के प्रकाश और आनन्दकी भूमिका प्रस्तुत हुई। इसलिए "सुख ( प्लेज़र ) और विलास, उपयोगिता और अलंकार आदिको वस्तुओंको असुन्दर बनानेवाला माना गया क्योंकि मनुष्यकी आत्माकी सर्वोच्च क्षमता अर्थात् सुमति ( रीज़न ), निरन्तर विवेकके संयममें, दैवी उपाधियोंसे सहकार करती है।"[१] भारतीय मध्यकालीन चेतनामें जगत्की वस्तुएँ ईश्वर-रचित होकर भी ईश्वर-प्रतिबिम्ब नहीं हैं, बल्कि जड और मिथ्या हैं। उनमें अन्तर्निहित आत्मा ही ईश्वर-अंश है ( ईश्वर-रूप नहीं )। सन्त ऑगस्ताइन आदि इस करुणापूर्ण जगत्-को भी सुन्दर मानते हैं क्योंकि वह ईश्वरका सन्देश या प्रतिबिम्ब है। दोनों ही ईश्वरको एक तथा सर्वकर्ता मानते हैं। किन्तु सन्त थॉमस ब्रह्माण्डको ईश्वरका दोषयुक्त प्रतिबिम्ब मानते हैं। फलतः ब्रह्माण्डके जीव ईश्वरकी सरलता और सरलपूर्णताका एकता, सामंजस्य, सन्तुलन आदिके द्वारा अनुकरण करते हैं। समानान्तर भारतीय धार्मिक चिन्तामें 'उद्धार' और 'मोक्ष' की प्रधानता है और इन दोनों तत्त्वोंने क्रमशः चरित्र तथा काव्य-प्रयोजनोंपर भी अपना अटल

---

१. गिलबर्ट और कुह्न : 'अ हिस्ट्री ऑव एस्थेटिक्स', पृ. १५६, १९५४ संस्करण।

प्रभाव जमा दिया है। सम्पूर्ण मध्यकालीन धार्मिक सौन्दर्यतत्त्वमें 'क्रूर' और 'वासनापूर्ण' संवेगों या मनोरागोंके वर्जन या दमनका विधान है। शुभ लक्ष्योंके द्वारा इनका शुद्धीकरण भी किया गया है। बीभत्स, भयानक और शृंगारका उदात्तीकरण तथा शुद्धीकरण करके तुलसीने इनमें शिवत्वका आधान किया है। तुलसीने मध्यकालीन धार्मिक सौन्दर्यबोध-शास्त्रसे प्राकृत जनों तथा लोकरसों-वाले काव्यको निष्कासित कर दिया क्योंकि उसमें वासना, काम, मनोविकार और अमर्यादादि होती हैं। दूसरे, उन्होंने सौन्दर्य और ईश्वरको, सौन्दर्य और सत्यको पारसरूप कर दिया। तथा, तीसरे, उन्होंने यथार्थताका भी आध्यात्मि-कीकरण कर दिया क्योंकि ( उनके अनुसार ) इसकी मायाका उच्छेदन ही यथार्थ है; तथा इसके परिवेशमें ही तो निर्गुण परब्रह्म सगुण होकर 'अवतरित' होता है। मध्यकालीन धार्मिक कवियोंके निजी प्रबल अन्तर्मुखी द्वन्द्व थे; जैसे चरित्र और लीलाके बीच, पाप और पुण्यके बीच, देवत्व और दानवत्वके बीच, आत्मा और शरीरके बीच, लोक और परलोकके बीच। उन्होंने इनका निराकरण आध्यात्मिक और रहस्यवादी सामंजस्यके द्वारा किया। यूरोप तथा भारत, दोनोंके मध्यकालोंमें सुदीर्घ ऐकस्थिरताके कारण सन्तुलन ( बैलेन्स ) और सम-रूपता ( सिमेट्री ) के विचार सर्वोपरि हैं, यद्यपि मध्यकालीन निर्मितियोंमें अनेकता तथा तत्स्फूर्तिकी भी प्रचुरता है।"[1] त्रिमूर्तिके सृष्टि-स्थिति-संहार कार्य, प्रकृति के सत्त्व-रज-तम गुण, समाजके चार वर्ण तथा आश्रम, जीवोंकी समानता, ईश्वरकी समानता, ईश्वरकी समान कृपा आदिकी धारणाएँ परम्परागत मध्य-कालीन सन्तुलन तथा समरूपताके विचारोंका ही प्रतिफलन हैं। तुलसीमें ये तत्त्वविरोधोंके समतोलन ( सिनीसथीसिस ), नाटकीय द्वन्द्वोंके सन्तुलन (बैलेन्स) तथा नर-नरोत्तमके समन्वय ( सिन्थिसिस ) में प्रकट हुए हैं। सारांशमें, मध्य-कालीन धार्मिक चेतना और आस्थाकी ये कुछ मूल दिशाएँ हैं जो तुलसीके सौन्दर्य-तत्त्वोंको विविधता और सन्तुलन प्रदान करती हैं।

सौन्दर्यतात्त्विक दृष्टिसे खुद तुलसीने महाकाव्यके मूल तत्त्वों और अपने काव्यके व्यावहारिक तत्त्वोंको क्रमशः सरोवर और नदीके रूपकोंके ज़रिये स्पष्ट किया है। सरोवरके रूपकमें रामचरितकी महिमा है तो नदीके रूपकमें 'रामचरित मानस' नामक कृतिकी मीमांसा। दोनों मिलकर धर्म और कला, काव्य और भक्तिके अन्तःसम्बन्धोंका इज़हार करते हैं। ( मानस, १।३४-४२ )। महाकाव्यके बुनियादी तत्त्वोंकी स्थापनासे यह साफ़ हो जाता है कि रामचरित हृदयके शुद्धीकरण तथा ईश्वरके महिमागानके निमित्त है। रूपकमें हृदयको

---

१. गिलबर्ट और कुह्न : 'अ हिस्ट्री ऑव एस्थेटिक्स', पृ. १५६, १९५४ संस्करण।

मानस बताया गया है जहाँ रामयश-रूपी जल इकट्ठा हो गया है। रामकी निर्गुण एवं निर्बाध महिमा इसकी गहराई है। इस भाँति विषयवस्तुकी रोचकताके स्थानपर उसकी अलौकिक महिमाकी प्रतिष्ठा हुई है। रूप ( फ़ॉर्म ) को विषयवस्तु ( कॉण्टेण्ट ) नेतृत्व देती है; और विषयवस्तुको दैवी आदर्श संचालित करते हैं। गहरे आध्यात्मिक तात्पर्योंवाली ऐसी विषयवस्तुसे रूपका जन्म होता है। रामचरित्रके हृदय-मानसमें उपमाएँ तरंग-विलास हैं; सुन्दर चौपाइयाँ पुरइन हैं, युक्तियाँ मंजु मणि-सीपियाँ हैं; सुन्दर छन्द-सोरठे-दोहे बहुरंगी कमलोंके समूह हैं; अनुपम अर्थ, ऊँचे भाव एवं सुन्दर भाषा क्रमशः परागरज, मकरन्दरस और सुगन्ध हैं. एवं ध्वनि, वक्रोक्ति, गुण आदि बहुभाँतिकी मनोहर मछलियाँ हैं। विषयवस्तुसे ही रूपके उद्भवका सिद्धान्त स्वीकृत हुआ है, और यह रूप भाषा-काव्यों ( प्रेमाख्यानक महाकाव्यों ) की परम्पराका भी दर्पण है। रूप विषयवस्तु-रूपी जलका शोभाकर होकर अंगीकार हुआ है। धार्मिक महाकाव्यके निर्णयमें भावनाकी अपेक्षा कर्मकाण्ड और 'विवेक' प्रधान होते हैं। रामचरित्रके मानसके जलमें ज्ञान-वैराग्य तथा विचार ही हंस हैं; एवं जप, योग तथा वैराग्य जलचर जीव हैं। धार्मिक महाकाव्यका आनन्द विषयी लोग ( कौवे तथा बगुलेरूपी ) नहीं ले सकते। इसके ग्रहणके लिए रागके बजाय 'आदर', रतिके बजाय 'हरि-पद-रति' चाहिए। ऐसे महाकाव्यमें नवरस तो हैं ही; धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष भी है। यही नहीं, ज्ञान-विज्ञानका विचारपूर्ण कथन भी है। सारांशमें, धार्मिक महाकाव्यमें 'नवरस'के साथ-साथ कर्ममूलक 'चतुर्वर्ग' और ज्ञानमूलक 'साधनावस्थाओं'का त्रित्व क़ायम हुआ है। फलस्वरूप महाकाव्यका प्रभाव 'शान्ति' और रागविहीन 'सुख' तथा आध्यात्मिक 'आनन्दपरक' हो गया है। कला धर्मकी अनुगामिनी हो गयी है। इसीके समानान्तर नदी-रूपक-द्वारा 'रामचरितमानस' शीर्षक कलाकृतिका विवेचन करके कविने काव्य और भक्तिके भावनका तादात्मीकरण किया है। यह नदी रामके निर्मल यशरूपी जलसे परि-पूरित है जो हृदय-रूपी मानसरोवरमें इकट्ठा था। अतः कविकी कविता-रूपी सरयू नदी मानस-सरोवरकी पवित्र कन्या है अर्थात् कविकी कृतिका मूल पवित्र रामयश लीलाएँ हैं। यह सरोवरकी तरह इकट्ठी न होकर प्रवाहित है अर्थात् इसमें विकास और कथानक-गति भी है। कविकी काव्य-नदीमें इतिवृत्तको अनु-शासित करनेवाले लोकमत एवं वेदमत दो किनारे हैं अर्थात् एक ओर तो कविने आर्षपरम्परासे आते हुए रामचरितकी शास्त्रसम्मति ग्रहण की है तो दूसरी ओर अपने युगकी सांस्कृतिक-नैतिक धारणाओंके अनुसार उसकी पुनर्रचना भी की है। यह काव्यनदी रामयश गान करनेके कारण कीर्ति-प्रधान कही गयी है।

यह नदी सुहावनी है। दूसरे चरणमें यह रामभक्ति-रूपी गंगामें मिल जाती है अर्थात् कविने रामयश गाथाके सौन्दर्यका रामभक्तिके अध्यात्ममें पर्यवसान किया है। भक्तिरूपी गंगा ज्ञान एवं वैराग्य-सहित शोभित है। तीसरे चरणमें इसमें राम-लक्ष्मण एवं रावण-युद्धका महानद शोण भी आ मिलता है। इस तरह काव्य-सरयू, भक्ति-गंगा और असुरसंहार-हेतु-शोणसे मिलकर 'रामचरितमानस' ( सरोवरसे नदी होकर ) कृति-रूपमें रचा गया ( बह निकला )। अतः काव्य-का सौन्दर्य एवं कीर्ति भक्तिके ज्ञान और वैराग्यमें तिरोभूत हो गयी। किन्तु सभीमें 'सौन्दर्य' ( सुहावन ) अर्थात् कलात्मक बोधत्व विन्यस्त है। यह सौन्दर्य भक्ति-रंगमें रँगा और ज्ञान तथा वैराग्यसे उद्भूत है। यह पवित्र सौन्दर्य, आध्यात्मिक सौन्दर्य है। सारांशमें, तुलसी अपने काव्यके धार्मिक रूपायनको सरयू, शोण तथा गंगाके रूपकों-द्वारा मुखर करते हैं। जिस तरह उन्होंने महा-काव्यके मूलतत्त्वोंको सरोवर-रूपकमें तरंग विलास, पुरइन, मणिसीप, कमल-समूह, जलचर जीव आदिके द्वारा प्रतीकीकृत किया था, उसी तरह अपनी महा-काव्यकृतिकी भी व्याख्या की है। उनके काव्यकी पवित्र सरयूमें शिवपार्वती-विवाहके बाराती जलचर जीव हैं ( सरोवरमें जप-तप, योग-वैराग्य हैं ), चारों भाइयोंके बालचरित्र कमल हैं ( सरोवरमें सुन्दर छन्द-सोरठे-दोहे हैं ), सीता-स्वयंवरकी कथा नदीमें सुहावनी 'छवि' है, विचारपूर्ण प्रश्न नावें हैं ( सरोवरमें ज्ञान, वैराग्य, विचार हंस हैं ), परशुराम-क्रोध भयानक धारा है, रामके श्रेष्ठ वचन सुन्दर बँधे घाट हैं, भरतचरित्र नदी-तटका जपयज्ञ है, दुष्टोंके अवगुण कौवे-बगुले हैं (सरोवरमें संसारके दुष्ट एवं विषयी लोग कौवे-बगुले हैं); इत्यादि। इस रूपकमें कविने अपने कृतित्वमें राम-यश, ज्ञान, वैराग्य, वीर-शृंगार आदिके स्थलोंका निर्देश किया है जिसपर विचारों और श्रेष्ठ वचनोंका अनुशासन है। अन्ततः अपने काव्यके छह श्रेष्ठ प्रसंगोंको चुनकर कविने ऋतुचक्र रूपक पूरा किया है : शिवपार्वती-विवाह वर्णन हेमन्त है, रामजन्मोत्सव शिशिर है, राम-विवाह-समाजवर्णन वसन्त है, वनगमन ग्रीष्म है, राक्षसोंसे घोर युद्ध वर्षा है, तथा रामराज्य शरद् है। स्पष्ट है कि कविने अरण्य, किष्किन्धा एवं सुन्दर काण्डों-को कम महत्त्व दिया है। यह भी स्पष्ट है कि कविने 'अपने काव्य' में साहित्य-शास्त्रकी प्रकट उपेक्षा व्यक्त की है ( यद्यपि 'महाकाव्य' के तत्त्वान्वेषणमें कविने इसे शामिल किया है ); और कीर्ति ( कथानक ) तथा भक्ति ( दर्शनशास्त्र ) पर ही नज़र गड़ायी है।

धार्मिक काव्यमें ज्ञान, वैराग्य तथा विचारके नियन्त्रणकी वजह है। अद्वैत-वादी होनेके कारण सन्तकविने जगत्को माया अर्थात् आवरण माना है, न कि

ईश्वरका दर्पण । इस मायाको भ्रम तथा भवबन्धन माना गया है जो मोहक और छली हैं । इसलिए पुनश्च एक दृष्टान्त-द्वारा कविने मायाको नर्तकी तथा भक्तिको ईश्वरकी सुप्रिया माना है । फलस्वरूप रसके आयाममें व्यापकता आयी है । नौ प्रकारकी वासनाओंके स्थायीभावसे रसमें परिपाकके स्थानपर तुलसीने रामकी 'पदरति' के स्थायीके परिपाकको ही 'रस' माना है एक नया 'भक्ति-रस' । इस भक्तिरसमें सभी स्थायी रतियों ( शान्ति, प्रीति, प्रेय, अनुकम्पा, कान्ता या मधुरा ) में इष्टदेव आलम्बन विभाव है तथा दर्शन और उपासनाएँ उद्दीपन । स्तम्भ, वेपथु, स्वरभंग, अश्रु, रोमांच, मूर्छा आदि इसके अनुभाव हैं । तुलसीने दास्य भावसे भक्तिरसकी सिद्धि की है जिसमें प्रीति-रतिकी प्रधानता है अर्थात् रामरूपमें भक्तकी चित्तवृत्ति पूर्णतः ढल जाती है, और आश्रयकी दीनता एवं आलम्बनकी महत्ताका बोध क़ायम रहता है । दास्य भक्तिके उदाहरणरूप भरत हैं जिनकी ग्लानि एवं दीनता आदर्श हैं । इसमें कविनिबद्ध प्रौढोक्तियोंमें दैन्यताकी करुणा छायी रहती है । इस तरह दास्यभक्ति एक ऐसा सौन्दर्यात्मक वातावरण ढालती है जहाँ प्रकृति और मानवजगत् और पशुपक्षी-चराचर आदि सभीपर करुणा तथा दयाका आच्छादन रहता है । मध्यकालीन सौन्दर्यबोधमें नवरसों तथा भक्तिरसका एक 'विचित्र' संयोग है । तुलसीने इसमें मर्यादावादका परिपाक भी किया है । यह विचित्रता ही चरित्रको 'लीला' में, निर्गुणको सगुणमें, सौन्दर्यको शिवत्वमें भी रूपान्तरित करती है । इष्टदेवकी धारणामें यह विचित्रता लक्षित हुई है; अद्वैतके निर्गुण ब्रह्म और भक्तिमार्गके सगुण ब्रह्ममें अभिन्नता है । इसीलिए राम मिथ्या नहीं हैं; सगुण मिथ्या नहीं है; लेकिन परब्रह्म-सगुण-रामके लौकिक कार्य अर्थात् उनका नायकत्व, मोहहीन नरलीला, नटवत् क्रीड़ा, कपटचरित हैं । इस धारणापर नाट्यशास्त्रकी 'नट' धारणाका प्रबल प्रभाव है क्योंकि नट अपने पात्रका छद्म अभिनय करता है, वह स्वयं पात्र नहीं होता । सन्त ऑगस्ताइनने भी कलाको धार्मिक संरक्षण देते हुए इसी तरह कहा है कि अपने विशिष्ट मिथ्यात्वकी वजहसे ही कलाकृति सच्ची है । नाटकमें जो 'झूठा' हेक्टर ( यूनानी नायक ) नहीं है, वह 'सच्चा' त्रासद अभिनेता नहीं हो सकता; एक घोड़ेका बिम्ब सच्चा नहीं हो सकता, यदि वह झूठा घोड़ा नहीं है; दर्पणमें मनुष्यका प्रतिबिम्ब झूठा मनुष्य होगा यदि वह सच्चा बिम्ब बनना चाहता है । दोनों समानान्तर दृष्टान्त भ्रम एवं वास्तविकताके विचित्र संयोगको नाटकीय शब्दावलीमें उद्घाटित करते हैं । तुलसीके मोहहीन नरलीला-कर्त्ता परब्रह्म रामकी अन्य विचित्रताएँ भी हैं : वे निषाद एवं कपटी रीछ-बन्दरों और राक्षसों तकसे भाईचारा क़ायम कर लेते हैं, ग़रीबोंका आदर करते हैं, बिना कारण

पर-उपकारी हैं, प्रेमके अधीन होकर अधम तथा असाधुओंको इकट्ठा करते हैं, दीनोंका उद्धार करते हैं (विनयपत्रिका, १६५,१८०), इत्यादि। परब्रह्म रामका शीलवैचित्र्य 'लीला' है। लीला एक निहायत खूबसूरत सौन्दर्यात्मिक तकनीक है जो महाकाव्यको 'नायक' के संग-संग उसमें अन्तर्भूत 'अभिनेता' भी प्रदान करती है। रामकी लीलाएँ नटवत् हैं और रामका चरित्र नाटकवत्। यहाँ काव्यात्मक साधारणीकरण और नाटकीय भ्रान्तिका मेल हो जाता है। काव्यकथाके साथ हम साधारणीकरण करते हैं, किन्तु लीलाके साथ हम एकदम एक मनोतात्त्विक दूरी (साइकियल डिस्टेन्स) पर भी खड़े हो जाते हैं। इस भाँति यथार्थताका आध्यात्मिकीकरण हो जाता है। यही नहीं, लीला पूरे कथानकको स्वतन्त्र किन्तु अनुस्यूत खण्ड-प्रखण्डोंमें बाँट देती है। फलतः महाकाव्यकी प्रत्येक घटनाको नाटकीय पूर्णता भी मुकम्मिल करनी पड़ती है। इस विधिसे कवि महाकाव्यके कलात्मक माध्यममें भी रामके नायकत्वसे अधिक उनके परब्रह्मत्वका बोध बरक़रार रखता है। तात्पर्य यह है कि राम काव्यात्मक पात्र और आध्यात्मिक प्रतीक दोनों स्वरूपोंमें सहअस्तित्वशील हैं। रामलीला और कृष्णलीलाके बीच भी कलात्मक अन्तर है। कृष्णलीलाओंका सम्बन्ध अन्तर्वृत्तियोंसे है। अतः वे प्रगीतात्मक हैं और मणिपुरी, कथकली, कत्थक नृत्योंमें भी ढल गयी हैं। ये अजीब कौशलसे नृत्य और संगीतको मिलाये हैं, जिसकी परिणति रासलीला है। इसके मुक़ाबलेमें रामलीलाएँ नृत्य-संगीत-प्रधान होनेकी अपेक्षा नाटकप्रधान हैं। अतः ये बहिर्वृत्तिप्रधान हैं। इसीलिए रामलीला कृष्णलीलाकी भाँति मन्दिरोंके गर्भगृहमें न होकर गाँव या शहरके 'खुली हवावाले रंगमंचों' पर खेली जाती है। यही इसकी व्यापक सामाजिकताका कुतुबनुमा है। इसलिए रामलीलामें लोकतत्त्वोंका बहुत ज्यादा आधान हुआ है। लीलाविधिके कारणसे धार्मिक काव्यमें सर्वत्र अलौकिकता विद्यमान है। इसलिए मध्यकालीन सौन्दर्यबोध धार्मिक काव्यमें नवरस तथा भक्तिरस, चरित्र तथा लीला, मर्यादा तथा शीलवैचित्र्यका संयोग करता है। इसके सौन्दर्यानुभवके भी समानान्तर दुहरे स्तर गतिमान हो उठते हैं, और यथार्थता-भ्रान्तिकी समस्या भी जटिल हो जाती है।

शब्द और अर्थके सम्बन्धमें भी मध्यकालीन सौन्दर्यबोधकी दार्शनिक दृष्टियाँ हैं जिनकी चर्चा हम 'धार्मिक भाषा' के प्रसंगमें करेंगे। मामूली तौरपर कवि शब्द या वाणी (गिरा) तथा अर्थको जल और वीचिके समान अभिन्न मानता है, लेकिन साथ-साथ शब्दार्थोंके साहित्यको अपूर्ण मानता है, क्योंकि शब्दके नेत्र नहीं होते, तथा नेत्रोंके वाणी नहीं होती। स्पष्ट है कि कवि

शब्दोंकी भाषाके अधूरेपनको चित्रकलाकी अनिर्वचनीय 'भाषा' से पूरा करना चाहता है। यह पहली बात है जो कालपरक कला ( काव्य ) तथा स्थानपरक कला (चित्र) को एकरूप करके ऐसी भाषा रचना चाहता है जिसमें गिराके साथ-साथ नेत्र (रूप) की इन्द्रिय भी भागी हो अर्थात् जो अर्थोंसे परे संदर्शन—अन्तर्दर्शन—वाली भी हो। दूसरी बात यह है कि मध्यकालमें नामकी शक्तिकी अलौकिकतापर विश्वास था। नाम अर्थात् संज्ञाएँ मिथक-चेतनासे संयुक्त होनेके कारण मन्त्र थे। इसी वजहसे तुलसीने भी नाम और रूपमें-से नामको अधिक महत्त्व दिया है। नाम और रूप दोनों ही अनादि सुन्दर तथा ईश्वर-उपाधि हैं, किन्तु राम अपने नामका अनुगमन करते हैं। नाम जान जानेपर रूप-विशेष प्रेमके साथ हृदयमें आ जाता है। तुलसीने नामको निर्गुण-सगुणके बीच यथार्थ ज्ञान करानेवाला चतुरभाषिया, तथा इन दोनोंसे भी बड़ा माना है। भाषामें संज्ञा-चरणकी महत्ताने क्रिया-चरणकी जो उपेक्षा की, उसका परिणाम काव्यमें समाधि या अन्तर्ध्यानकी प्रधानता हुआ। अतः काव्यका रस साधन बन गया भक्तियोगके लिए। एक-एक लीला भी एक 'नामरूप' हो गयी तथा उसकी व्याख्यामें वैष्णव शास्त्रोंका पूरा व्यास-पीठ सन्नद्ध हो गया।

इन कारणोंसे तुलसीने धार्मिक काव्यका अपना भाष्य दिया। धार्मिक काव्य 'मानस' में पात्र रामकी अमित प्रभुताको समझकर यह भक्त-कवि पात्रकी रचना नहीं करता क्योंकि कथा रचनेमें उसका मन हिचकता है। वह परब्रह्मकी लीलाओंका गान करता है क्योंकि उसका पात्र तो दिव्यशरीरी है। यही नहीं, वह रचयिता होनेका दावा नहीं करता। वह तो मात्र एक माध्यम ( देवदूत ) है। पवित्र 'मानस' की रचना तो शिवने की है और इसे रचकर अपने मनमें रख लिया। शिव-कृपासे यह कवि-हृदयमें विकसित हुई है और उसने केवल लिपिबद्ध कर लिया है। इस भाँति रचनाका दैवीकरण तथा सृजनात्मक क्रियाको देवकृपासे अनुकरण मात्र मानना भक्तकवियोंका शील रहा है। ऐसा काव्य 'सुन्दर' तो है ही, 'पावन' भी है; क्योंकि यह हरियश वर्णन है। इस तरह धार्मिक दृष्टिसे कवि घोषणा करता है कि बिना 'विमलमति' के ऐसी कविता नहीं होती। ऐसी कवितामें वाग्देवी शारदा स्वयं सहायिका होती हैं; ऐसी कवितामें अक्षर, अर्थ, अलंकार, छन्द, प्रबन्ध, भावों व रसोंके भेदके बजाय रघुनाथका उदार नाम होता है जो पवित्र है, श्रुति-पुराणका सार है, कल्याण-भवन है तथा अमंगलहारी है। यहाँ काव्यके प्रयोजनोंका पूर्णतः परिवर्तन हो गया है। इसी जीवनदृष्टिके आधारपर तुलसी कविताके स्वरूपको स्थिर करते हैं : कविता वही उत्तम है जो गंगाकी तरह सबका हित करनेवाली

हो, वही कविता आदर-योग्य है जो सरल हो तथा जिसमें निर्मल चरित्रका वर्णन हो, कविता विमल मतिके द्वारा ही हो सकती है, रामनामके बिना सुकवि-की विचित्र भणिति भी शोभा नहीं पाती, कवितामें रूप उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी विषयवस्तु तथा रूपकी उपेक्षा करनेवाली (भदेस) कविता भी यदि लोकमंगल करनेवाली हो तो कीर्ति तथा सम्पत्तिकी तरह उत्तम है। ज़ाहिर है कि तुलसी शिल्पके बजाय 'श्रेष्ठ विचार' की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हैं। उनके अनुसार हृदय सिन्धु है, बुद्धि सीप है, सरस्वती स्वाति नक्षत्र है। यदि इसमें श्रेष्ठ विचार-रूपी जल बरसता है तो मुक्तामणिके समान चारु कविता होती है। इस तरह तुलसीने भावनापूर्ण काव्यकी चारुता श्रेष्ठ-विचाराश्रित मानी है। विचारोंकी श्रेष्ठता देवमत तथा लोकमत निर्धारित करते हैं। ऐसे धार्मिक काव्यके प्रयोजन हैं—वाणीको पवित्र करना, उत्तम फल (मोक्ष एवं भगवत्प्रेम) देना, गंगाकी तरह सबका 'समान' हित करना, कलिमल (त्रिदोष, पाप, त्रिताप) हरण करना तथा, सुमंगलकारी होना। धार्मिक काव्य स्वान्तः-सुखाय बिलकुल नहीं होता। तुलसीने एक बार यह कहा तो ज़रूर है लेकिन क़दम-क़दमपर स्वयं इसका प्रतिवाद किया है कि रामकथा समाजमें गायन, वाचन, पाठन और समझनेके निमित्त है। उनके काव्यके प्रयोजन भी इस वैयक्तिक कथनको ग़लत साबित कर देते हैं। प्राकृत जनके गुणगानको तिलांजलि देकर भी तो स्वान्तःसुखाय मतका प्रतिवाद किया गया है। जब कवि शिवकी कृपा और शारदाके सहयोगसे अभिभूत है, जब वह दैवी प्रेरणाके वशीभूत स्वयंको कर्ता भी नहीं मानता, तब काव्य कविके लिए स्वान्तःसुखाय किस तरह हो सकता है? धार्मिक काव्यमें कवि दैवी कृपा और दैवी सहयोगके बोधमें आस्थानिबद्ध रहता है। काव्यका आरम्भ मंगलसे तथा समाप्ति लोकमंगलमें होता है। अलबत्ता यह लोकमंगल साम्प्रदायिक मतसे अन्वित होता है।

काव्यप्रयोजनोंकी तरह 'सहृदय' की धारणा भी बदली है। नवरस और भक्तिरसके संयोगके कारण अब विशिष्ट काव्य रसिकके बजाय सरल, अशिक्षित, भोले और निर्मल जन 'भी' धार्मिक काव्यके नये 'भक्त-सहृदय' हो गये। 'भक्त' वे हैं जो निर्मल 'मति' तथा निर्मल 'मन' वाले हैं और दुष्ट नहीं हैं। 'सहृदय' वे हैं जो रामपद-रति रखते हैं। 'भक्त-रसिक' की यह संरचना तत्कालीन धार्मिक रुचिकी दिशाका बोध भी कराती है। इस भाँति उन्होंने भक्त, कवि और पण्डितके त्रियोगसे 'भक्त-सहृदय' की अवधारणाकी रचना की है। ऐसा सहृदय 'साधु-विवेकी' है क्योंकि उसके समाजमें ही धार्मिक काव्य सम्मानित होता है; क्योंकि वह काव्यका रसास्वादन ही नहीं, आदर भी करता है, वह

भावुक ही नहीं, बुद्धिमान् भी है। ऐसे सहृदयकी विशेषता है विवेक, क्योंकि वह रामचरित-रूपी मानसरोवरका 'हंस' है। यह सहृदय सत्संग-प्रिय सहृदय है। अतः ऐसे 'साधु-विवेकी-भक्त-सहृदय' की पंचेन्द्रियोंके धर्म भी विशिष्ट होंगे : उसकी 'जीभ' हंस-सी रामके गुणसमूह-रूपी मोती चुगती है, उसकी 'नासिका' रामके सुन्दर पवित्र प्रसादको ग्रहण करती है, उसकी 'त्वचा' रामके सौन्दर्यरूपी मेघकी एक बूँदसे सुखी हो जाती है, उसके 'नेत्र' चातकको तरह रामके दर्शन-मेघको सदा लालायित रहते हैं, तथा उसके 'कान' समुद्रकी भाँति रामकी सुन्दर कथारूपी अनेक नदियोंसे निरन्तर भरते रहते हैं। ऐसे सहृदयकी रामचरणोंमें प्रीति ही 'वासना' है जो अभिव्यक्ति होकर उज्ज्वल 'आनन्दरूपा' हो जाती है ( 'मानस', वाल्मीकि-द्वारा राम-वन्दना )।

ऐसे विशिष्ट काव्यके कवि तथा सहृदय 'सौन्दर्य' का आधान भी विलक्षण ढंगसे करते हैं। धार्मिक काव्यमें—मध्यकालीन वैष्णव सौन्दर्यबोधमें—ईश्वर या परब्रह्म या इष्टदेवताका सौन्दर्य एक निर्विकल्प सौन्दर्य है। रामवृत्तमें इस 'सौन्दर्य'-के साथ शक्ति और शीलका भी त्रित्व बनाया गया है। यह सौन्दर्य बहिर्मुख है और हम इसे वातावरणमें घनीभूत पाते हैं। दैवी सौन्दर्य होनेके कारण यह अनुपम, अद्वितीय, अतुलनीय, अनन्त और अमृतमय है जिसमें मनोरागका मेल नहीं है। यह निर्विकल्प तथा पवित्र है। यह अलौकिक भी है। प्रकृति तथा नरलोक इस सौन्दर्यकी अनन्त रमणीयताके अनुग्रहमें तल्लीन हैं। यह सौन्दर्य मोहनरूप होकर उज्ज्वल रसपूर्ण तथा निर्मल ज्ञान-धर्मा भी है जो शृंगार और कामसे वियुक्त है। सौन्दर्यका कथन कार्यकारण-न्याय ( लक्षणा ) अथवा तुलना-न्याय ( रूपक )-द्वारा नहीं हो सकता। इसलिए इसके अविकल्पनके लिए कवि शुद्ध और निर्विकल्प धारणाओंका सहारा लेता है। जैसे : राम-शोभा कोटि मनोजोंको लजानेवाली है, इस शोभाका वर्णन शेष और ब्रह्मा तथा सरस्वती भी नहीं कर सकती, इसका वर्णन करनेमें अच्छे-अच्छे कवि भी संकोचित हो जाते हैं, यह उपमानकी भी छवि हरनेवाला है, आदि। सौन्दर्यके प्रत्ययों (आइडिया) के रूपमें तुलसीने लक्ष्मी, रति और मनोजके 'कोटि' संख्यावाचक विशेषण-युक्त मिथक-प्रतीकोंको प्रतिमान बनाया है जो स्वयं राम या सीताकी शोभाके सम्मुख लजा जाते हैं। सौन्दर्य-वर्णनमें यह तुलसीकी बेहतरीन तकनीक है। जब वे निर्विकल्प धारणाओंसे उतरते हैं तब सौन्दर्यका प्रभाव वर्णित करके उसका अनुमान देते हैं; बहुधा 'दिव्य सौन्दर्य' चित्त चुरानेवाला होता है, रूप-रस पान करनेवाले भोक्ता ( ग्राम युवतियाँ, वृद्ध, बाल, भक्त, मुनि आदि ) वृन्द 'अनिर्वचनीयता'में डूब जाते हैं, उनके 'शरीर पुलकित' हो जाते हैं तथा उनके 'नेत्रोंसे जल' बहने

लगता है। यह धार्मिक मधुरोपासनावाली रूपासक्ति है। सौन्दर्यप्रभावकी दूसरी तरकीब है प्रकृतिका मानवीयकरण तथा शक्तिकरण। एक ओर तो प्रकृति भी मनुष्योंकी तरह मनोरागमयी होकर राम-सेविका तथा भक्तिन हो जाती है, तो दूसरी ओर ईश्वरकी शक्ति होकर प्राकृतिक नियमोंकी परवाह न करके (ऋतुक्रमको भूलकर) रामके सम्पर्कसे पूर्ण वसन्त-प्रसारिका या तापशापिता हो जाती है। सौन्दर्यप्रभावकी तीसरी विधि है शब्दार्थोंकी भाषाको अपूर्ण घोषित करके साक्षात् दर्शन या प्रत्यक्ष अनुभवको अधिक समर्थ बताना। सारांशमें, अनिर्वचनीयता, निर्विकल्पता तथा अलौकिकता इन तीनों सौन्दर्यबोधात्मक मनोवृत्तियों ( ऐटिटयूड्स ) के द्वारा तुलसीने दैवी शोभाके आनन्द-सन्दोहका अनुमापन किया है। वचनीय स्तरपर उन्होंने रूपवर्णनकी परिधिमें नखशिख तथा वस्त्राभरणोंको एक साथ लिया है; और मुख, चरण तथा बाँहोंको प्रधानता दी है। इस तरह उन्होंने नखशिख और वस्त्राभरण वर्णनकी समग्रताको नामंजूर किया है। दूसरे, उन्होंने राम-लक्ष्मण, राम-सीता, तथा राम-सीता और लक्ष्मणके गात-रंगों और व्यूह-अवतारको लेकर मिथक-प्रतीकों तथा प्रकृतिके अमूर्त बिम्बोंकी ललित रचना की है। बहुधा राम-लक्ष्मणकी जोड़ी मधु-माधव, नारायण-नर ऋषि, हरि-हर, वसन्त-कामदेवके द्वित्वके रूपमें व्यंजित की गयी है। राम और लक्ष्मणके बीच सीताके इस त्रित्वके लिए कई उत्प्रेक्षाओंकी झड़ी लगायी गयी है—मानो चन्द्रमा और श्रीहरिके मध्य साक्षात् लक्ष्मी हो; मानो मेघ और चन्द्रमाके मध्यमें अति ललित विद्युत् अपनी चंचलता छोड़कर विराज रही हो; मानो रति और वसन्तके साथ साक्षात् कामदेव ही मुनिवेश धारण किये हों; मानो पृथ्वी इन्द्रनील, सुवर्ण और मुक्तामणिका हार पहने हुए हों, इत्यादि। रामके श्यामनील ( घनश्याम ) वर्ण और सीताके स्वर्णगौर वर्णके इस संयोगने तुलसीकी रंग-चेतनाको मोहक रंग-प्रभावमें वशीभूत रखा है। ये दोनों वर्ण कॉण्ट्रास्टके हैं और परस्पर एक-दूसरेकी दीप्तिको तेज्र करते हैं। राम और सीताके कान्त साहचर्यको मेघ-बिजली, कामदेव-रति, तथा सच्चिदानन्द शरीर-भक्ति, इन अप्रस्तुतोंके द्वारा तदेकात्मरूप बनाया गया है। अतः त्रित्वकी समरूपता (सिमेट्री) तथा द्वित्वका सन्तुलन ( बैलेन्स ) इन सौन्दर्य-सिद्धान्तोंके द्वारा कविने रमणीयताका आनयन किया है जिसमें 'चित्रकला' के गुणोंका भी समुपरंजन हुआ है। प्रकरणबद्धताके आधारपर भी तुलसीने पात्र और सारे परिवेशके चारुत्वको रस-विग्रहों-द्वारा मूर्तिमान् किया है : धनुषयज्ञ प्रसंगमें मानो वीररस ही मुनि परशुरामका शरीर धारण कर आ जाता है, 'पार्वतीमंगल' में मानो शान्तिरस ही कैलाशवासी शिवका शरीर धारण कर लेता है, सीताके शोभा-विधानमें मानो

श्रृंगाररस ही परम अनुपम मूर्ति धारण किये हो। तुलसी इस शैलीमें 'शिल्पकला'-के गुणोंका भी अंगीकार करते हैं। यह भी उनके सौन्दर्य-कथनका एक कौशल है। इसके अलावा उन्होंने परम्परागत रीतिसे भी रूढ़ उपमानों तथा उपमाओं-द्वारा रामका नखशिख वर्णित किया है ( देखिए 'गीतावली'के उत्तरकाण्डके आरम्भिक सोलह गीतोंमें रामका नखशिख वर्णन )। इस भाँति उनके सौन्दर्यानुभव तथा सौन्दर्याभिव्यंजनाके कुछ सूत्रोंका उद्घाटन हो जाता है; अनिर्वचनीयके लिए दूसरी विधियाँ हैं, तथा वचनीयके लिए दूसरी रीतियाँ।

सौन्दर्य वर्णनोंके विवेचनमें सुन्दरताके आयत्तीकरणपर कुछ और प्रकाश पड़ता है। बाल रामके रूप-वर्णनमें दैवी शिशु और मानव शिशुका मेल है। बाल रामके नखशिखके अन्तर्गत चरणोंमें ध्वजा, वज्र, कमल और अंकुशके चिह्नोंका वर्णन हुआ है तो पाँवोंमें नूपुरोंका भी; छातीपर बाघनखका भी अंकन है तो भृगुचरण—चिह्नोंका भी। यदि काकभुशुण्डिके साथ बाल राम अपनी अनन्त भुजा फैलाकर तथा कौशल्याके सामने अपनी चारों भुजाओंमें आयुध-आभूषण पहने हुए प्रकट लीलाएँ करते हैं तो दशरथ-गृहमें अपनी परछाँही देखकर नाचते हैं, कौवेके निकट आनेपर हँसते तथा उसके भाग जानेपर रोते हैं, अपना प्रतिबिम्ब देखकर डरते हैं। माताएँ उबटन लगाकर स्नान करानेके बाद गोरोचन तिलक, नेत्रकाजल, भृकुटि बिन्दी आदि लगाती हैं। कविने बाल रामके घुँघराले बालों, नीलकमल लोचनों, दो-दो दँतुलियों, लाल ओठों, चिह्नांकित चरणों तथा नूपुर-करधनी, पीली और महीन झंगुली, सौरमण्डल-जैसी लटकन आदिका उत्प्रेक्षाओंसे जगरमगर चित्रण किया है। बाल-शोभामें मुखपर ज़्यादा बल है तथा अरुण वर्णकी नाना सुषमा-छायाएँ ( कान, कपोल, अधर आदिके लिए ) उभारी गयी हैं। किशोर राममें भी कोमलता और शिशुका भोलापन मौजूद है। वे कर-कमलोंमें छोटा-सा धनुष, तनमें पीताम्बर तथा चरणोंमें मनोहर जूतियाँ भी धारण कर लेते हैं। किशोर राम युवक रामके वामनीकरण मात्र हुए हैं। लक्ष्मण भी इसी तरहके हैं: बस श्याम शरीरके स्थानपर गौर शरीरका इशारा कर दिया गया है। दूलह रामके रूपवर्णनमें पीत और स्वर्ण रंगोंकी दमक-चमक है: पीत पुनीत मनोहर धोती, पीला जनेऊ, कमरमें स्वर्णिम कटिसूत्र, पीला दुपट्टा। यहाँ दामिनी और रति और कामदेवकी छवियाँ भी अपहृत हो गयी हैं। वनवासी रामके सिरपर जटाजूटका मुकुट तथा तनपर मुनियोंके वल्कलादि वस्त्र वर्णित किये गये हैं। तपस्वी वेशमें भी राम वीर हैं: कमरमें तरकश कसे तथा हाथोंमें धनुष बाण लिये। श्रृंगार और शौर्य घुलमिल गये हैं। वीर राम भी कोटिमनोज लजावनहारे हैं और कोमल हैं।

युद्धरत राममें ओज, शरीरकी कठोरता और वीरताकी अलौकिकताका अन्योन्याश्रय हो गया है। लाल नेत्रोंवाले राम कमरमें फेंटा तथा तरकश कसकर हाथमें कठोर शार्ङ्गधर धनुष ले लेते हैं; उनके भुजदण्ड पुष्ट हैं, मनोहर छाती चौड़ी है और ज्यों ही वे धनुष-बाण लेकर हाथमें गिराने लगे त्यों ही ब्रह्माण्ड, दिग्गज, कच्छप, शेष, पृथ्वी, समुद्र, पर्वत सभी डगमगा उठे। रामका रौद्र रूप भी है। उनके बाण रावणके अस्थिपंजरको फोड़कर निकल जाते हैं; उनके शरीरपर रुधिर-छीटोंकी छटा है, मुखपर पसीनेकी बूँदें हैं, कमलके समान नेत्र कुछ लाल हो रहे हैं; शरीरपर रक्त कण ऐसे लगते हैं मानो मरकतके 'विशाल पर्वत' पर सुन्दर बीरबहूटियाँ फैली हों। वीर राम तथा रौद्र रामके शोभांकनमें अतिमानवीयता विद्यमान है : वे मनोहर और कठोर, शान्त और उत्साही, घायल और ब्रह्माण्डको डगमगानेवाले, दोनों प्रकारकी विचित्रताओंके सामंजस्य हैं। अतिप्राकृतिक-अतिमानवीयका समतोलन हुआ है। सारांशमें, रामके अंग-लक्षण उनके विष्णु-रूपका, उनका नखशिख उनके निर्विकल्प सौन्दर्यसाध्यका तथा वेशभूषा उनके सामाजिक एवं भावात्मक परिवेशका विधान करती है। तुलनाके लिए 'शत' तथा 'कोटि' संख्यावाचक विशेषणों (शत शेष, कोटि मनोज) का, और वर्णनके लिए बखानमें असमर्थ शेष, शारदा एवं ब्रह्माका सन्धान कविका एक तकनीकी करिश्मा हो गया है। 'मानस' में आध्यात्मिक सौन्दर्यकी प्रभुता है, 'गीतावली' में शास्त्रीय शृंगारकी रीति, तथा 'कवितावली' में लोकतात्त्विक सौन्दर्यका यथार्थ। इनके सौन्दर्यविधान प्रधानरूपसे क्रमशः श्रुति-पुराण-रीति, रस-रीति और लोक-रीतिसे अनुप्राणित हैं; तथा इनमें क्रमशः अध्यात्म, लालित्य और यथार्थका प्रतिबोध हुआ है। एक तथ्य और भी ग़ौर करने लायक़ है कि राम अथवा राम-सीताके सौन्दर्य-वर्णनको एक 'प्रार्थनाविधा' भी बनाया गया है जिसमें दिव्य-सौन्दर्यके सम्मुख मनुष्य मांसल मनोरागोंसे परिशुद्ध होता है। एक प्रकारसे यह शृंगारिताके शुद्धीकरण (पर्गेशन)की विधि भी है। फलस्वरूप सौन्दर्य-बोधकी एक दिशा प्रार्थना-रूपमें भी प्राप्य है जहाँ पूर्णरूपेण निर्मल मनसे आत्मसमर्पणपर आग्रह है। यह प्रार्थना-रूप सौन्दर्यबोधलोकसे वैकुण्ठकी ओर ले जानेवाला है। धार्मिक शोभा वर्णनमें यह सिद्धान्त सर्वमान्य होता है।

नारी-सौन्दर्यके सम्बन्धमें वैष्णव सौन्दर्यशास्त्रको दो पूरक दृष्टियाँ हैं : कृष्णकाव्यधारामें लोकमर्यादाको तोड़कर नारी-सौन्दर्यका विधान हुआ है, और रामकाव्यधारामें लोकमर्यादामें बाँधकर सौन्दर्यका संकेत हुआ है। रामवृत्तमें मर्यादाके प्रबल आग्रहके कारण नारीकी नखशिख शोभा और राग-परिवृत्त

( षड्ऋतु, बारहमास ) का चित्रण नहीं हो सका है। कृष्णभक्ति काव्यमें नारियाँ राधा भी—अधिक रूप-लावण्य-शोभा तथा राग-मोह युक्त हैं, किन्तु रामकाव्यमें—संन्यासवृत्तिके कारण—पुरुष अधिक पूर्ण हैं। उनमें शक्ति-शील-सौन्दर्यका त्रित्व है। रामकाव्यमें स्वकीया प्रीति तथा कृष्णकाव्यमें परकीया प्रीति भी एक कारण है। रामकाव्यमें नारी या तो अपावन है, अथवा आद्यन्त दिव्य। उसे दीपशिखाके प्रतीकसे रमणीय बनाया गया है। उसके प्रति तन्मयी-भवनमें पवित्रता और मातृत्वकी प्राथमिकता है। सौन्दर्यतात्त्विक दृष्टिसे इन बातोंका ध्यान रखना बेहद लाज़िमी है। तुलसीके रामकाव्यमें सीताकी सुन्दरता सुन्दरको भी सुन्दर करनेवाली है। सीता सुन्दरताकी सीमा हैं। सीताकी शोभा अनुपमेय है क्योंकि वे लौकिक नारी न होकर जगज्जननी हैं। पार्वती भी ऐसी ही हैं (यों 'पार्वतीमंगल' में उमाकी शोभाका गुन्थनमात्र भी हुआ है)। सीताकी सुन्दरताका वर्णन नहीं हो सकता क्योंकि कविकी बुद्धि थोड़ी है और मनोहरता अधिक है। इस प्रकारके कलात्मक तर्कोंमें हम वर्णनका निरास तथा तन्मयीभवनका निरन्तर विकास पाते हैं। इसलिए सीताकी शोभा 'उपमानों-द्वारा वर्णित' न होकर 'प्रतीकों-द्वारा अभिप्रायपूर्ण' हुई है। कविने दिव्य नारी शोभाके लिए एकमात्र कविकल्पित उपमान गढ़ा है : मानो छवि-गृहमें दीपशिखा जल रही हो। एक दूसरा अ-सौन्दर्यात्मक अर्थात् नैतिक कारण भी है। कवि सीता और पार्वतीको जगज्जननी मानता है। अतः वह क्रमशः उनके शृंगार या भोगविलासका वर्णन करना पाप समझता है। तीसरा कारण है : उपमान (जो अतिशयतापूर्ण होते हैं) उपमेय (जो यथातथ्य होते हैं) से क्षीण लगने लगे हैं; किंवा उपमेय अतिशयगुणवान् और, तुलनामें, उपमान तुच्छ हो गया है। इसलिए कविमें वर्णन या चित्रणकी पद्धतिके बजाय एक नये माध्यमकी खोजकी छटपटाहट भरी है। अतः अपने पर्युत्सुकी भावके अन्वेषणमें उसने प्रतीकीकरणकी विधिको पा ही लिया। एक ओर तो उसने छविगृह, दीपशिखा, कोटि लज्जित रतियों, नवीन लक्ष्मी आदिके सौन्दर्यात्मक तथा मिथकीय प्रतीक 'आलोकित' किये, तो दूसरी ओर प्रकृतिको सीताके सौन्दर्यसे अभिभूत कर दिया। सीता प्रकृतिकी स्वामिनी ( आद्याशक्ति ) हो गयी जिनके प्रत्येक संचालनसे सारी प्रकृति स्वयं अपना शोभा-शृंगार कर उठती है, या फिर अपने गर्वको खत्म कर देती है। उदाहरण : जिस ओर सीता देखती है उसी ओर कामदेव नील कमलोंकी झड़ी लगा देता है (जानकीमंगल); सीताके रंगके साथ समता करते हुए चित्तमें अत्यन्त निराश केतकीने अपना हृदय विदीर्ण कर दिया (बरवै रामायण); उनके अंगमें सुनहले रंगवाला चम्पकहार

छिप जाता है; स्वर्णकान्तिवाली सीताके अंग कोमल हैं पर स्वण कठोर; सीताका मुख-कमल रातदिन प्रफुल्लित रहता है जब कि कमल रातमें मुँद जाते हैं (उपमानकी क्षीणता—'बरवै'); इत्यादि। दिव्य सौन्दर्यके अनुभवकी अभिव्यक्तिकी एक शैली और है। जब धार्मिक काव्यमें दोनों ही पात्र दैवी होते हैं और एक कवि दर्शककी जगह अख्तियार कर लेता है तब सीता और राम, या सीता और नितान्त भोले ग्राम्यजन अथवा सीता और हनुमान्के सौन्दर्य-सम्भारमें सलोने मानवीय-संस्पर्श भी झमक-महक उठते हैं। ऐसे स्थलोंपर कवि और श्रोताकी नेपथ्य-उपस्थिति हो जाती है; और पात्रोंका एकान्त संवाद-जैसा वातावरण मुखर हो जाता है। 'कवितावली' में वनगामिनी सीता, और 'मानस' तथा 'कवितावली' की अशोक वनवासिनी वियोगिनी सीताकी छवियाँ ऐसी ही हैं। वनमार्गमें वे धैर्य धारण करके दो डग-भर चलीं कि इतनेमें ही उनके ललाटपर जलके कण भरपूर झलकने लगे तथा दोनों मधुर अधरपुट सूख गये; वियोगिनी सीताके हाथ-पाँव 'गढ़े-से', कर्ण 'मढ़े-से' (स्थापत्य गुण) हैं; और वे पुकारनेपर भी नहीं सुनतीं; नववधू सीता एक किसानवधूकी तरह मुनिवेशी रामकी सेवा करती है; इत्यादि। एक बात और। जब कभी तुलसीने मानो भूलकर सीताका शोभांकन किया है तब अकसर एक अतिप्रिय रूपककी ओर मुखातिब हुए हैं। उदाहरण : राम नील कमल एवं मेघके समान सुन्दर हैं तथा सीता बिजलीके समान गोरे शरीरवाली। सारांशमें, उन्होंने तीन पक्षोंसे शोभाभिव्यंजना की है : विराट्-रूप, लीला-रूप और मनुष्य-रूपसे।

इस प्रसंगमें हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि सौन्दर्यात्मक शोभाका वर्णन ही नहीं किया गया। ऐसा वर्णन 'नहछू' तथा दोनों 'मंगलकाव्यों' में हुआ है और बादमें लुप्त हो गया है। 'नहछू' में उत्सवमें भाग लेनेवाली सुन्दर और कामिनो रमणियोंकी मांसल चित्रशाला है जो संस्कृत काव्योंकी कामप्रवीणा नारियोंकी भी याद दिला देती है। यहाँ मनोजन्मा सौन्दर्य झिलमिला उठा है। 'जानकीमंगल'में सुहागिनी नारियाँ मंगल लक्षणोंके रूपमें भी भीड़ बाँधकर आती हैं : वे सोनेके कमलकी कलियोंकी तरह हैं, पिकबैनी और गजगामिनी हैं, वे अपने तन-भारको सँभाल न पानेवाली प्रमदाएँ हैं। 'मानस'में भी वे मात्र सुआसिनियोंके रूपमें इकट्ठा हैं। लोकोल्लासके चित्रोंमें कविने खेल और सुखभोगके तत्त्वोंको सामाजिक घटनाओंके दर्पणके रूपमें अंकित किया है। 'जानकीमंगल' का बारात वर्णन, 'गीतावली' का नगरोल्लास वर्णन (बालकाण्ड) तो उत्सव, आमोद-प्रमोद, कर्मकाण्ड तथा दावतोंके निमित्त है। 'गीतावली' के हिंडोल-उत्सवमें मधुरोपासनाकी मन्दिर झाँकी है। यूँ तो

'गीतावली' में 'आनन्दकी सिद्धावस्था' ही परिव्याप्त है, किन्तु इस प्रसंगमें प्रेम और भोग परमप्रेयान् है। हिंडोलामें शृंगार और उज्ज्वल रस अन्तर्लीन हो गये हैं। झूलनेके लिए सोलह शृंगार किये हुए युवतियोंके झुण्ड चल पड़ते हैं; कुसुम्भी साड़ी और आभूषणोंसे सजी मृगनयनी बालाएँ सुन्दर स्वरमें सारंग और गौड़ रागमें 'रामसुयश' गाती हैं। झूलनेवाली रमणियोंकी घुँघराली अलकें बिखर जाती हैं, हवा लगनेसे वस्त्र उड़ने लगते हैं, आभूषण बिखर जाते हैं (गीतावली, ७।१९,१८)। यहाँ प्रशमित प्रमदरागों तथा उदात्त सौन्दर्यका अनूठा सन्तुलन हुआ है। ऐसे सौन्दर्यबोधात्मक सन्तुलनके उदाहरण परशुराम तथा हनुमान्के रूपमें भी हैं। परशुरामके शोभायनमें सौन्दर्य और रौद्र (क्रोध) का समतोलन हुआ है ( देखिए : 'मानस' )।

कविने सौन्दर्यके दो विपरीत ( विरुद्ध नहीं ) पक्षोंको सहवर्ती क्रम या अनुक्रमसे पेश करके भी आवेशोंका समतोलन ( सिनीसथीसिस ) क़ायम किया है। हम पिछली गोष्ठीमें इसके तकनीकी पहलुओंपर प्रकाश डाल चुके हैं। धार्मिक सौन्दर्यबोधात्मक दृष्टिसे शिवको इस सिद्धान्तका प्रतीक बनाया गया है। अशुभवेशी शिव भी कल्याणधाम कृपालु होते हैं, इस सूत्रके भाष्यके लिए तुलसीने 'मानस' में उनका एक चित्र विवाह-अवसरका दिया है ( साँपोंके कुण्डलहार जनेऊ, विभूतिका लेप, बाघम्बरका वसन, नरमुण्डका हार, त्रिनेत्र ); तथा दूसरा चित्र शान्त कैलासवासका ( कुन्द-इन्दु-कम्बु-सा गौर शरीर, प्रलम्ब भुजाएँ, मुनि-चीर, तरुणअरुण अम्बुज-से चरण, शरच्चन्द्र-सा मुख, नीलकण्ठ )। दैवी मंगलकी महिमाके अलावा उन्होंने समतोलनके तकनीक-द्वारा उदात्त ( सब्लाइम ) और किमाकार ( ग्रोटस्क ) का विभेद भी उभारा है। 'पार्वतीमंगल' में शिव पहले तो अपनी बरातमें गजचर्म, सर्प और मुण्डमालसे विभूषित हैं; भूत-प्रेत-पिशाचोंसे घिरे हैं; सुअरों, कुत्तों, भैंसों, गदहोंके वाहन उनके साथ हैं; तथा बकरे, उल्लू और भेड़िये शब्द करते हैं। भयानक और अपशकुन एकत्र हो गये हैं। शिवके लिए यह 'विनोद' है किन्तु लौकिक गतिके लिए 'भय'। अतः वे तुरन्त अपने इस किमाकार रूप-परिवेशको उदात्त मण्डलमें रूपान्तरित कर देते हैं। अब शिव सौ करोड़ कामदेवोंसे भी अधिक सुन्दर हैं, गजचर्म नीलाम्बर हो गया, सर्प मणिमय आभूषण हो गये तथा भूत-प्रेत-पिशाच मंगलवेश मदनमोहन हो गये। समतोलनका तीसरा उपयोग सौन्दर्य और कुरूपताके द्वन्द्वको प्रकट करनेमें हुआ है। शिव नाटक करके अर्थात् तापस वेश बनाकर पार्वतीके सामने इधर स्वयं शिवकी निन्दा करते हैं कि शिव क्षार लपटानेवाले, जटाधारी जोगी, पंचमुख, तीन आँखोंवाले तथा काममद-मोचन हैं। उधर पार्वतीका रूप है : सुमुखि,

सुलोचनि पार्वती। एकमुख और एकलोचना! पार्वती प्रकट सौन्दर्यमूर्ति है, और शिव छद्म कुरूपता। शोभाके समतोलनके अतिरिक्त सौन्दर्य-बोधात्मक (एस्थेटिक) समतोलनके कुछ उदाहरण हैं जो दो विपरीत या विरोधी आवेशोंका सह-अस्तित्व स्थापित कर देते हैं। उदाहरण : जनककी स्वयंवर सभामें एक सखी कहती है कि कहाँ शंकरका कठोर धनुष और कहाँ ये मृदुगात श्यामल किशोर, वहीं परशुराम लक्ष्मणसे कहते हैं कि शिवका यह महाधनुष क्या नन्ही 'धनुही' के समान है, और लक्ष्मण हाज़िर-जवाब देते हैं कि हमारे जाने तो सभी धनुष एक-से हैं; रावण रामको मात्र नररूप ( विरही, मानुष, तापस, निर्वासित ) बताता है और मन्दोदरी उनके विश्वरूपको बताती है (मानस, ६।१४।१-१५); लक्ष्मण-मूर्च्छापर विलाप-आतुर रामके सामने अचानक संजीवनी बूटी लेकर हनुमान् आ जाते हैं, 'जैसे' करुणरसमें वीररस आ गया हो; 'पार्वतीमंगल' में एक ओर शिवकी किमाकार बरात है तो दूसरी ओर पार्वतीपक्षसे नदी, सिन्धु, शैलगणों-की बरात; कहाँ सुमुखि सुलोचनि गिरिजा और कहाँ पंचमुख विषमवेश जोगी शंकर; इत्यादि।

तुलसीके धार्मिक काव्यमें चरित्रके एक साथ ही दिव्य, नट और पात्र ( त्रिमूर्त ) होनेके कारण सौन्दर्यात्मक प्रतिबोध ( एस्थेटिक ऐटिटयूड ) की अनु-पम अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं। फलतः एक ही वस्तु, स्थिति, दशाके घेरेमें विभिन्न कोटिके पात्रोंकी प्रतिक्रियाओंके अन्तर कलात्मक प्रतिरोधोंकी विभिन्नता-को निखार देते हैं। इतिवृत्तात्मक धार्मिक काव्योंमें तो नाना प्रकारके परस्पर विरोधी पात्र होते हैं, तथा श्रोतागण और कवि भी कथामें हिस्सा बँटानेवाले होते हैं। अतः उनमें एक परिवेशके दायरेमें विभिन्न व्यक्तिगत कलात्मक प्रति-बोध अनूठा सौन्दर्यात्मक सन्तुलन प्रस्तुत करते हैं जिसमें 'अनेकतामें-एकता' अनुस्यूत होती है। सौन्दर्यात्मक प्रतिबोधकी एकता विविधतामें ही गौरवान्वित होती है। पात्रोंके प्रतिबोधोंके निरूपणमें कविने कुछ धार्मिक जीवनदृष्टियाँ स्थापित कर ली हैं जिससे इनकी एकताकी सर्वांगीणता सीमित हुई है। कवि मानता है कि मैं देवतादिका शृंगार वर्णन नहीं कर सकता क्योंकि वे जगत्के माता-पिता हैं ( जगत मातुपितु सम्भु भवानी, तेहि सिंगारु न कहउँ बखानी )। वह लौकिक शृंगारको अपवित्र मानता है ( ऐसा कौन कवि है जो रामकी तुलना कामदेवसे करके इस अपराधके कारण आवागमन-रूपी भवकूपमें पड़ेगा 'बरवै', ६)। वह इस वर्णनमें भक्तके व्यक्तिगत सम्बन्धोंको सर्वप्रधान मानता है क्योंकि राम-लक्ष्मण-को कोई नर और नारायण ऋषि बताता है, कोई विष्णु और शिव, कोई वनमें विचरण करते हुए वसन्त तथा मनसिज (बरवै २२)। वह दिव्य शोभाके वर्णनमें

लौकिक उपमानोंको जूठा तथा तुच्छ मानता है क्योंकि वे लौकिक स्त्रियोंके अंगोंकी अनुरागिनी हैं ( मानस, १।२४६।१ )। सो, इन चार दृष्टियोंने सौन्दर्यात्मक प्रतिबोधको प्रवृत्त्यात्मक ( टेण्डेन्शस ) बना दिया है। तिसपर भी हमें सौन्दर्यतत्त्वके अध्ययनके लिए विपुल सामग्री मिल जाती है। सामूहिक स्थितिमें पात्रोंके वैयक्तिक प्रतिबोधोंकी वैजयन्तीमाला स्वयंवर-प्रसंगमें पिरोयी गयी है ( मानस )। एक चलचित्रकी भाँति यह स्थिति चार बार विभिन्न मनोरागदशाओंसे गुज़रती है : राम-लक्ष्मणका स्वयंवर-सभामें आना, धनुष तोड़नेके पूर्व राजाओंका समूह, धनुष टूटनेका नतीजा और राम-विवाह। इन चारों सामूहिक दशाओंमें वैयक्तिक प्रतिबोधोंकी गहरी चारित्रिक तथा मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता निर्दशित हुई है। राम-लक्ष्मणके स्वयंवर-सभामें आनेपर राक्षसोंने उन्हें प्रत्यक्ष कालके समान देखा; नगरवासियोंने नरभूषण एवं लोचन-सुखदायकके रूपमें देखा; स्त्रियोंने अपनी-अपनी रुचिके अनुसार देखा मानो श्रृंगार रस ही परम अनुपम मूर्ति धारण किये हो; विद्वानोंने विराट् रूपमें देखा; जनकने सगे-सम्बन्धीके रूपमें देखा; रानियोंने बच्चोंके समान देखा; योगियोंने शान्त, शुद्ध, सम और स्वत: प्रकाश परमतत्त्वके रूपमें देखा; हरिभक्तोंने इष्टदेवके समान देखा तथा सीताने जिस भावसे देखा वह स्नेह व सुख अनिर्वचनीय है। ये प्रतिक्रियाएँ 'सम्बन्धन्याय' से हुई हैं और इनमें रामको पात्र, परब्रह्म तथा नट ( छद्म ), तीनों रूप-सम्बन्धताके आधारपर प्रकट हुए हैं। धनुष तोड़नेसे पूर्व समूहगत प्रतिबोध प्रस्तुत हुए हैं : अविवेकी अन्ध राजा लोग विवाह न होने देनेका फ़ैसला करते हैं तथा धर्मात्मा हरिभक्त सीताके जगज्जननी रूपका अभिज्ञान कर लेते हैं। यह साम्प्रदायिक अभिव्यंजना है। धनुष टूटनेपर अनुकूल तथा प्रतिकूल भावदशाओंका दिग्दर्शन है : अभिमानी राजा-रूपी कुमुद संकुचित हो गये, कपटी राजा रूपी उल्लू छिप गये तथा मुनि एवं देवता-रूपी चकवे शोकरहित हो गये। विवाहावसरपर धार्मिक कर्मकाण्ड तथा सामाजिक उल्लासकी विभावना हुई है। इस तरह चतुरंग स्वयंवर-प्रसंग प्रत्येक दशामें सौन्दर्यबोधात्मक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक दृष्टियोंके अनुसार प्रतिबोधोंको उकेरते हैं। इस प्रसंगमें प्रतिक्रियाएँ, तथा तज्जन्य सौन्दर्यबोधात्मक प्रतिबोध अभिव्यक्त हो गये हैं क्योंकि यहाँ नाना कोटिके समूह या वैयक्तिक सम्बन्धोंके पात्र मिल-जुलकर मौजूद हैं। किन्तु रामके वनगमनपर अयोध्यामें जिस लोकमतका संग्रह हुआ है उसमें एक समवाय प्रतिकूल प्रतिबोध है जिसमें मतभेद नहीं है बल्कि मतमें विभिन्न गहराइयाँ हैं। सामूहिक संवेग ( कलेक्टिव इमोशन ) के प्रतिबोधका एकमात्र उदाहरण वनमार्गपर राम-सीता-लक्ष्मणका ग्रामीणोंपर रूप-प्रभाव है। ग्रामीण लोग ( वृद्ध,

बाल, युवतियाँ, पुरुष ) सभीके सौन्दर्यात्मक प्रतिबोधमें एकधर्मिता है—कालिदास-सम्मत 'पर्युत्सुकीभाव' की ! सब अपने कामकाजको भूलकर उन्हें देखने चल देते हैं। नेत्रोंका परमफल पाकर वे सुखी होते हैं। प्रेमानन्दमें मग्न हो जाते हैं। उनके नेत्रोंमें जल भर आता है और शरीर पुलकित हो जाता है। इस भावका सौन्दर्यौदात्य उस वेलामें आता है जब ग्राम्यनारियाँ तीनोंके पास जाती हैं किन्तु अत्यन्त स्नेहके कारण पूछते सकुचाती हैं : "हे सुमुखि ! अपनी सुन्दरतासे करोड़ों कामदेवोंको लजानेवाले वे तुम्हारे कौन हैं ?" सीताका अनुभावपूर्ण उत्तर इसी भावकी पूरकता है। अन्तमें विशुद्ध सुन्दरताके प्रति सौन्दर्यात्मक प्रतिबोधका एकमात्र कलात्मक उदाहरण लंकाकाण्डमें चन्द्रोदयके प्रति पात्रोंके वैयक्तिक प्रतिबोध हैं जो उनकी मनोदशाओंका रहस्योद्घाटन करते हैं। पूर्वमें उदित चन्द्रमाको देखकर राम कहते हैं कि कैसा 'सिंह' के समान निडर है जो अन्धकाररूपी मतवाले हाथीके मस्तकको विदीर्ण करके आकाशवनमें निर्भय विचर रहा है ! पुनः वे पूछते हैं : "चन्द्रमामें जो कालापन है वह क्या है ?" सुग्रीवका उत्तर है कि चन्द्रमामें पृथ्वीकी छाया दिखाई दे रही है। एक अज्ञात पात्रका उत्तर है कि चन्द्रमाको राहुने मारा था जिससे वही चोटवाला दाग़ हृदयपर पड़ा हुआ है। कोई कहता है कि ब्रह्माने रतिका मुख बनानेके लिए चन्द्रमाका सारभाग निकाल लिया जिससे यह छिद्र उसके उरमें मौजूद है और जिसकी राहसे आकाशकी काली छाया उसमें दिखाई पड़ रही है। राम भी उत्तर देते हैं कि विष चन्द्रमाका बहुत प्रिय बन्धु है। अतिप्रिय विषको उसने अपने हृदयमें बसेरा दिया है। विषयुक्त किरणें फैलाकर यह वियोगी नर-नारियोंको जलाता है। 'युद्धवीर राम' को पहले चन्द्रमा सिंहके समान लगा था; और थोड़ी देर बाद वह विष किरणें फैलाकर 'वियोगी राम' को जलानेवाला लगने लगा। इस कोमल अन्तरसे यह स्पष्ट होता है कि एक ही परिस्थितिमें भी भावदशाके बदलते ही किसी वस्तुके प्रति हमारी भाव-प्रक्रिया भी तदनुकूल बदल जाती है। अन्तमें हनुमान्का उत्तर है कि चन्द्रमा आपका प्रिय 'दास' है। आपकी सुन्दर श्याम मूर्ति उसके उरमें बसती है, वही श्यामताकी झलक चन्द्रमामें है। अतः अन्ततोगत्वा इस भावदशाकी परिणति भी आध्यात्मिक हो जाती है। सौन्दर्यबोध-शास्त्रीय दृष्टिसे ये ऊहात्मक प्रतिबोध-प्रसंग बेजोड़ हैं जिनमें कवि-समयों, मिथकों तथा उत्प्रेक्षाओंका संयोग है।

दैवीपात्रोंके प्रति मानव-क्षेत्रके अलावा 'प्रकृति-क्षेत्र' में ही यह प्रतिबोध साक्षात् हुआ है। प्रकृति अवतार-रामकी भक्तिमें तन्मय हो जाती है और उनकी सेवा तथा सहायता करती है। वह उनके सुखसे सुखी और उनके दुःखसे दुःखी

भी होती हैं। सारांशमें, प्रकृति राम-रूपी दीपकका चेतन-दर्पण हो जाती है। जब राम वन जाते हैं तब पशु-पक्षी और हिरनों तकने कुछ आहार नहीं किया; जहाँ-जहाँ रघुनाथ जाते हैं वहाँ-वहाँ बादल शीतल छाया करते हैं; जबसे रामने पर्णकुटीमें वास किया तबसे पर्वत, वन, नदी और तालाब शोभासे छा गये तथा पशु और पक्षियोंके समूह आनन्दित रहने लगे। भरतको रामके प्यारे जानकर उनके साथ भी प्रकृति यही सम्बन्ध जोड़ लेती है। प्रकृतिका सर्वचेतनवाद भी मुखर उठा है : जब राम सेतुबन्धके तटपर चढ़कर समुद्र-विस्तार देखने लगे तब करुणाकन्दके दर्शनके लिए सब जलचर वृन्द (सौ-सौ योजन विशाल शरीरोंवाले नाना मगर, नाक अर्थात् घड़ियाल, मच्छ और सर्प) प्रकट होकर प्रभुका दर्शन करने लगे और हटानेसे भी नहीं हटे। प्रकृतिकी वस्तुओंका मानवीयकरण भी हुआ है; जब सीताको खोजनेके लिए हनुमान् जिस पर्वतपर पैर रखकर चले तो वह धँस गया तब समुद्र मैनाकपर्वतको रघुपति-दूतका श्रमहारी होनेका आदेश देता है।

प्रकृतिका दूसरा सौन्दर्यबोधात्मक उपयोग पशु-मनोविज्ञानके सूक्ष्म एवं मार्मिक अंकनसे हुआ है। तुलसी-काव्यमें बन्दरोंकी उछल-कूद, दाँतोंका किटकिटाना, पूँछसे लपेटना, हूह-ध्वनि करना, शाखोंको तोड़कर मारना, उपवनका विध्वंस करना, नखोंसे घायल करना, झुण्डके झुण्ड रहना आदिका वर्णन सबसे ज्यादा हुआ है। घोड़ोंका मनोविज्ञान मार्मिक दृष्टिसे अंकित हुआ है। वे दक्षिण दिशाकी ओर ( जिस ओर राम गये थे ) देख-देखकर 'हिनहिनाते' हैं; न तो घास चरते हैं न पानी पीते हैं, केवल आँखोंसे जल बहाते हैं। वियोगी घोड़े रथमें जुतनेपर ठोकर खाकर गिर पड़ते हैं, कभी घूमकर पीछेकी ओर देखने लगते हैं; और जब कोई राम, लक्ष्मण या जानकीका नाम लेता है तब 'हिंकर-हिंकर' कर उसकी तरफ़ प्यारसे ताकने लगते हैं ( इस वर्णनमें मानवत्व भी संयुक्त हो गया है )। इसी तरह सुअर प्रतापभानुके घोड़ेकी आहट पाकर 'घुरघुराता' हुआ 'कान उठाये' चौकन्ना होकर देखता रहता है तथा कभी प्रकट होता कभी छिप जाता है; सुनहला हरिण कभी नज़दीक आता, कभी दूर भाग जाता, कभी प्रकट होता, कभी छिप जाता है; भेड़ियेके कूदनेसे भेड़ोंके 'झुण्ड' भयानक 'रव' करते हुए भागते हैं। प्रकृतिका तीसरा सौन्दर्यतात्त्विक प्रयोग काव्यात्मक सत्यों अर्थात् 'कविसमयों' के कल्पित विश्वासोंके रूपमें हुआ है। कविसमय कल्पना-कृत्रिम उपमानोंके रूपमें आये हैं। ये प्रत्येक संस्कृतिमें होते हैं। वस्तुओंको गोपनता तथा कुतुहल प्रदान करते हैं। तुलसीने कमल, कुमुदिनी, चकोर, हंस, साँप, अशोक, चम्पक, भ्रमर आदिके

कविसमयोंका, और शेष, मन्दराचल, सुमेरु, दिग्गज, कच्छप आदिके 'मिथक-समयों' का भरपूर उपयोग किया है। कविने प्रकृतिमें सौन्दर्यके आधानके चार हेतु माने हैं : सम्पत्ति, प्रमोद, महिमा और मनोहरता, अर्थात् क्रमशः उपयोग, आनन्द, अध्यात्म और सौन्दर्य ( गीतावली, २।४६) ।

तुलसीने चित्रात्मक शोभापानके ग्राहक नेत्र माने हैं। नेत्रोंके धर्म हैं : सम्बन्धता (मिलन-वियोग, प्रिय-अप्रिय), लालच और रूपरसिकता ( कृष्णगीतावली, २४) । सौन्दर्यका अलौकिक प्रभाव है तीनों तापोंका हरण ( कृष्णगीतावली, २१ ) । इस शोभापानकी विधिको कविने मन और शरीरके प्रतीकों-द्वारा स्पष्ट किया है। गोपियोंका मन तो श्यामसुन्दरमें तन्मय हो चुका लेकिन शरीर वियोगसे दुःखी है अर्थात् दोनोंकी पृथक् सत्ता और गुणधर्म हैं। मनने शरीरको परस्पर दूध पानीकी तरह मिलना नहीं सिखाया। मन शरीरको त्याग देता है और ख़ाली शरीर शेष रह जाता है। यह सौन्दर्यानुभवका एक महत्तम गूढ़ रहस्योद्घाटन है (कृष्णगीतावली, २५) । चित्रछविके प्रभावोंको कविने मूर्तिकलाके धर्मोंसे प्रकट किया है। यहाँ चित्रकला और मूर्तिकलाके संयोगसे शब्दको बिन्दु-लम्बाई-चौड़ाई-ऊँचाईके चारों आयाम देनेकी कलात्मक कोशिश है। 'कवितावली' में ऐसी कोशिशोंका इज़ाफ़ा है। पुरसे निकलती हुई दो डगमगाते क़दमोंको रखते ही श्रमकणमें नहायी रघुवीर-वधू एक चतुःआयामी विग्रह हो गयी है; वनमार्गमें तीनोंको जाते हुए देखकर नर-नारी चित्रशालाके चित्रोंकी तरह स्तब्ध हो जाते हैं; तीनोंकी मूर्तियाँ विलोकनेसे मन अपहृत हो जाता है; तीनोंकी मूर्ति हृदयमें बस जाती है; इत्यादि। अन्ततः एक सूत्र और देना बाक़ी है। कवि केवल रागमें ही सौन्दर्यका अधिष्ठान नहीं मानता, बल्कि योग, यज्ञ और वैराग्यके लिए पवित्र वस्तुमें भी सौन्दर्यका अधिवास मानता है; क्योंकि उनमें मिथकीय अथवा धार्मिक महिमा निहित होती है ( 'कवितावली' का सीता-वट-स्थलका प्रसंग ) । इसके अलावा कवि ब्रह्मानन्द-सहोदर आनन्द अर्थात् रसानन्दसे अधिक ब्रह्मानन्द अर्थात् भक्तिरसके आनन्दको श्रेष्ठ मानता है ( "यदि मुझे राम ही मीठे लगें, तो साहित्यके नवरस तथा भोजनके षड्रस नीरस व फीके पड़ जाते हैं विनयपत्रिका, १६९ ) । यहाँ कोरमकोर सौन्दर्य-प्रबोधके बजाय योग-यज्ञ वैराग्य दृष्टिकी पावनताको प्राथमिकता है। सारांशमें, कवि शोभाका औचित्य लौकिक क्षेत्रके बजाय दैवी क्षेत्रमें स्थित करता है। यद्यपि सुन्दरताका जन्म लौकिक है, किन्तु उसका औचित्य अलौकिकतामें है। एक काव्य-समयके द्वारा कवि इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहता है कि मणि, माणिक और मोती क्रमशः साँप, पर्वत और हाथीके मस्तकपर

( उत्पन्न होकर भी ) वैसी शोभा नहीं पाते जैसी राजाके मुकुट तथा नवयुवती-के शरीरपर। वैसे ही 'सुकविता' उत्पन्न कहीं और होती है, शोभा कहीं अन्यत्र पाती है ( मानस )।

इतने उपायोंके बावजूद भी सौन्दर्यानुभव और सौन्दर्याभिव्यक्तिके बीच कहीं दूरी बनी रहती है। इसलिए 'अनुभवकी अनिर्वचनीयता' की सौन्दर्य-बोधात्मक पहेली उत्पन्न हो जाती है। तुलसी-कृतित्व, और विशेष रूपसे 'मानस', अनिर्वचनीयताकी सौन्दर्यशास्त्रीय खदान है जिसमें अनेक कलात्मक रत्न भरे हैं। वास्तवमें धार्मिक काव्योंमें रहस्यानुभूति और अभिनव स्वयंप्रकाश्य-ज्ञान ( इण्ट्युइशन ) अनिर्वचनीयताकी पहेलीसे सर्वाधिक आक्रान्त रहते हैं। पहले हमें यह मानना पड़ेगा कि अनुभूति और अभिव्यक्तिके बीच निर्विकल्प एकतानता कभी नहीं हो सकती क्योंकि एक अमूर्त वैयक्तिक अनुभव कला-माध्यम-द्वारा मूर्त तथा निर्वैयक्तिक होकर अभिव्यक्त होता है और माध्यम ( शब्द, रंग, प्रस्तर, स्वर आदि ) के स्वभावमें रूपान्तरित होकर ही बहिर्गत हो पाता है। हाँ, वह वचनीय अवश्य होता है। किन्तु वह अतिवचनीय अथवा अनिर्वच-नीय भी हो सकता है। वचनीय क्या है? जब हमारी सतर्क संकल्पवृत्ति ( विल ) बेहद द्रुत गतिसे आगे 'सक्रिय' होकर (माध्यमको वशमें करके) सृजनमें रूपा-न्तरित हो जाती है ( किन्तु इस रूपायनके 'पहले' एक दीर्घ तथा श्रमसाध्य विवेक ( तकनीक ) का होना अपेक्षित है ) ऐसी दशामें 'वचनीयता' का आधान होता है। जब माध्यम क्षीण पड़ जाता है और संकल्प प्रबल, तब 'अतिवच-नीयता' का आधान होता है। जब संकल्प और माध्यममें पूर्ण मैत्री हो जाती है तब वचनीयताका आधान होता है, और जब संकल्प तथा माध्यममें असंगतियाँ होती हैं तब अनिर्वचनीयताका उन्मेष होता है। अनिर्वचनीयतामें वर्णन या इतिवृत्त-कौशल अनुपयुक्त या अपूर्ण हो जाता है, तब संकेतों और प्रतीकोंसे उसका अवबोध हो पाता है। धार्मिक काव्यमें बहुधा स्वयंप्रकाश्य ज्ञानकी ही प्रचुरता रहती है। दैवी पात्र, या रहस्यवादी अनुभव, या आकस्मिक सम्पर्क, या नितान्त वैयक्तिक मनोराग, या अपरिचित अनुभूतिसे पूर्णतः अभिभूत होकर कवि अन्तर्मुखी सौन्दर्यानुभवमें या मनको हरनेवाली मनोहरतामें डूब जाता है। वह इस अनुभवका शब्दों-द्वारा मूर्तिकरण नहीं कर पाता अर्थात् एक विलक्षण सैद्धान्तिक क्रियात्मकताको व्यावहारिक क्रियात्मकताके अनुशासनमें नहीं ढाल पाता। ऐसी दशामें वह 'वर्णन' या 'इतिवृत्त' में असमर्थ होकर भाषाकी अपू-र्णता, शब्दार्थोंकी सीमाकी बारम्बार घोषणा करता है। तब वह संकेतों ( उप-मानों ), मिथकों, आत्मरत घोषणाओं-द्वारा नयी अभिव्यंजना-शक्तिकी खोजमें

अग्रसर होता है। तुलसीके लिए रामका नाम तथा रूप दोनों ही ईश्वरकी उपाधि होनेके कारण 'अकथनीय' ( अनिर्वचनीय ) हैं। उनके अनुसार मानव-कविके बाद सबसे बड़े दैवी वर्णनकर्ता वेद, ब्रह्मा तथा शेष हैं। किन्तु ये भी परब्रह्म रामकी निर्विकल्प शोभामें अपना मन हार जाते हैं। अतः ये भी वर्णन नहीं कर सकते। यह केवल अनुभव है, अभिज्ञान है। जिन्होंने कभी 'स्वप्न' में देखा है वही इष्टदेवताकी शोभाको 'जानता' है। अतः धार्मिक नींवपर यहाँ एक 'नये' अनुभवकी विपुलता है जो 'स्वप्नदर्शन' और 'स्वयंप्रकाश्यज्ञान' में तो उपलब्ध है किन्तु व्यावहारिक क्रियात्मकताके द्वारा अनिर्वचनीय है। यह अनिर्वचित नहीं, अनिर्वचनीय है। अनिर्वचित तो कविके घटियापनका सबूत है। वस्तुतः धार्मिक रहस्यवादमें अनिर्वचनीय अकसर वर्णनातीत हो जाया करता है। भक्तों व सन्तोंके लिए तो अनिर्वचनीयताकी समस्या इसलिए भी प्रबल हो जाती है कि वे पवित्र मनोरागों, शुद्ध उपमानों, योग-दशाओं और श्रद्धाभावसे अपने पात्रमें साधारणीकृत ही नहीं, आसक्त भी रहते हैं। इनमें-से कई तत्त्व (योग, जप आदि) पात्रके साथ सौन्दर्यात्मकके बजाय आध्यात्मिक सम्बन्ध आदि ) मूलतः सौन्दर्य क्षेत्रके भी नहीं हैं, और काफ़ी बाधक हैं। इसीलिए सीताकी सुन्दरताका बखान करनेमें कवि अमूर्त प्रतीकों ( रति, शृंगार रस, विग्रह ) का ही सहारा ले पाता है। वह यह स्वीकार करता है कि मुझे काव्यकी सभी उपमाएँ 'तुच्छ' लगती हैं क्योंकि वे लौकिक स्त्रियों ( के लिए प्रयुक्त होनेके कारण ) की अनुरागिनी हैं। अलौकिक जगदम्बिका-रूप सीता तो अन्य देवियोंसे भी भिन्न है। यह दुहरी पहेली है जिसे काव्य-भाषाकी विधियाँ नहीं सुलझा सकतीं। कविको न लौकिक स्त्रियोंकी अनुरागिनी उपमाएँ भाती हैं, न अपेक्षाकृत अपूर्ण अलौकिक स्त्रियोंमें सम्पूर्णता मिलती है ( मानस, १।२४६।३ )। अतः वह मिथकीय और अमूर्त प्रतीकों-द्वारा आत्मानुभूतिकी एक नयी भाषा गढ़नेकी कोशिश करता है : "यदि छवि-रूपी अमृतसिन्धु हो, परम रूपमय कच्छप हो, शोभारज्जु हो, शृंगार-रूप मन्दराचल हो, और स्वयं कामदेव अपने हाथोंसे मथे तब ऐसी 'नयी लक्ष्मी' ही सीताके समान होगी।" भक्तकी अनिर्वचनीयताका मूल मर्म यही है। यह उपमाओंकी अनिर्वचनीयता है। कभी-कभी कवि अपनी अभिव्यंजनाकी मौलिकताकी खोजमें भी परम्परागत भाषाका त्याग कर देता है ( "सारी उपमाओंको कवियोंने जूठा कर दिया है। मैं विदेहकुमारीकी कैसे उपमा दूँ ?" ); कभी-कभी दैवी-प्रेरणासे उपमाएँ मिल भी जायें तो वे उपमेयसे अत्यन्त क्षीण प्रतीत होती हैं ( "चारों मनोहर जोड़ियोंको देखकर सरस्वतीने सारी उपमाओंको खोज डाला पर कोई उपमा नहीं मिलती क्योंकि उन्हें सभी बिलकुल तुच्छ जान पड़ीं" )

और हमेशा वह यही घोषणा करता हुआ मिलता है कि दैवी रूप शब्दार्थ एवं वर्णन इतिवृत्तसे परे है, क्योंकि वह सुन्दरताकी सीमा है ("जिस वर्णनको 'सैकड़ों' शारदा, शेष, वेद, ब्रह्मा और गणेश भी नहीं कह सकते उसे भला मैं किस प्रकारसे बखानकर कहूँ ?")। सूत्ररूपमें कविने दैवी रूपको सुन्दरता तथा मनोहरताकी सीमा तथा अति माना है, एवं मानव कविकी मति (बुद्धि) को लघु। अनुभूति विपुल है, अभिव्यक्ति विरल।

अनिर्वचनीयताका एक अन्य प्रबल कारण है नाना भाँतिकी अनुभूतियों तथा स्वयंप्रकाश्य ज्ञानोंको केवल शब्द (काव्य) के माध्यमसे बाँधनेकी भगीरथ आकांक्षा। कई कलात्मक रूपोंके सौन्दर्यानुभवोंको केवल काव्यरूपमें बाँधना असम्भव है। अतः कवि उनका वर्णन नहीं कर पाता। वह चित्रकलाको काव्य-भाषा नहीं दे सकता, न ही काव्यकलाका चित्रदर्शन दे सकता है। (गिरा अनयन, नयन बिनु बानी)। कविमें केवल कविका ही नहीं; चित्रकार, संगीत-कार, मूर्तिकार आदिका भी निवास है। तुलसीमें तो कवि, भक्त तथा लोकनेताका भी निवास है। तुलसीने स्वयंको मुखर काव्य-विधाके माध्यमसे किया है। अतः उनमें चित्रकला, शिल्प, संगीत आदिके सौन्दर्यात्मक स्वयंप्रकाश्य पर्युत्सुक हो उठते हैं। उन्हें शब्द-माध्यममें पूरा विरेचन-उदात्तीकरण-द्वार नहीं मिल पाता। अतः वे स्वप्न, प्रत्यक्ष, ज्ञान, आदिकी भाववाचक संज्ञा होकर अभिव्यक्ति-कुण्ठित हो जाते हैं। वे संवेदनाओं, अनुभूतियों, मनोरागों, मनोवृत्तियों आदिके रूपमें मचलते हुए काव्यभाषाकी अनिर्वचनीयताको उधार देते हैं। "गिरा अनयन, नयन बिनु बानी" के अलावा कविने इस प्रकारकी कई दशाएँ बतायी हैं। वह कहता है कि रामके दहेजकी अनेक वस्तुओंको जिन्होंने 'देखा' है वही जानते हैं, उनका वर्णन नहीं किया जा सकता; अनेक प्रकारके मेवा, पकवान और भोजनकी सुस्वादु सामग्री है जो बखानी नहीं जा सकती; सुन्दर चँदोवेकी शोभा कहते नहीं बनती, जिन्होंने 'देखा' है वही जान सकते हैं; चित्र-कूटकी जैसी शोभा है उसको हज़ार मुखवाले जो लाख शेष हों वे भी नहीं कह सकते; रामकी सेवाका 'वर्णन' तो करोड़ मुखोंसे भी नहीं हो सकता, इत्यादि। इस सन्दर्भमें दो बातें उभरती हैं। एक यह कि कवि प्रत्यक्षको अभिव्यक्तिसे अधिक समर्थ मानता है क्योंकि धार्मिक अनुभवोंका प्रत्यक्ष एक महान् मायावरण (हैल्यूसिनेशन) या भ्रान्ति (इल्यूज़न) होती है जिसमें इलहाम और रहस्यवाद विचित्र अवचेतन स्तरपर उद्बुद्ध रहते हैं। दूसरी बात यह है कि कविने अपने वैयक्तिक स्वयंप्रकाश्य ज्ञानकी गहराई और अनिर्वचनीयताकी सतहकी तुलना करनेमें गणितके अंकोंका अद्भुत जोड़ लगाया है : जैसे कोटि मनोज, सैकड़ों

शारदाएँ, अरबों इन्द्र, लाख शेष, हज़ार मुखवाले लाख शेष, इत्यादि। उसने अनन्त, अपार, परम, विपुल, सुहावन-जैसे विशेषणों-द्वारा भी अनिर्वचनीयताकी उद्विग्नताका अन्दाज़ा दिया है।

यह तो मुख्य रूपसे सुन्दरताकी अनिर्वचनीयता है। मनोहरताकी अनिर्वचनीयताकी भी कुछ समस्याएँ हैं, क्योंकि इसका सम्बन्ध भाव-दशाओंसे है। इसके कई भेद हैं। जब लघु अनुभवकी इतनी विपुलता हो जाती है कि वह विराट् और महान् होता चला जाता है क्योंकि उसमें कवि समाधिस्थ होता जाता है, तब वर्णन विराट् और महान्‌को पूरा धारण नहीं कर पाता। कविने उदाहरणार्थ स्वयं कहा है कि जीभ एक है और विवाह-मंगल महान् है, फिर भला वर्णन करके उसे किस प्रकार समाप्त किया जा सकता है; राम-रावण युद्धका चरित्र यदि सैकड़ों शेष, सरस्वती, ब्रह्मा, बेद और कवि 'अनेक कल्पों'तक गाते रहें तो भी उसका 'पार' नहीं पा सकते; यह अकथनीय कहानी है। जब किसी अनुभवसे अचानक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है तब चकित और चमत्कृत दशा कुछ कहते न बननेकी अनिर्वचनीयताका सन्धान करती हैं। रामके विराट् रूपके प्रसंग ऐसे ही हैं। ऐसे अवसरोंपर रहस्यात्मक प्रार्थना-प्रतीक ही प्रकट हो पाते हैं। जब अनुभव अपरिचित हों, तब भी अनिर्वचनीयताका सन्धान होता है। तुलसीने नारी-मन और नारी-सौन्दर्यमें जो अत्यधिक अनिर्वचनीयताका सन्निवेश किया है उसमें एक कारण यह भी है। जब अनुभव हमें पूरी तरहसे आवृत करके हमारा मन हर लेता है तब भी उसकी अभिव्यक्ति मुश्किल हो जाती है। उदाहरणार्थ, कवि कहता है कि लक्ष्मण और शत्रुघ्न मनको बड़े 'मनोहर लगते' हैं, किन्तु त्रिभुवनमें भी उनकी कोई उपमा नहीं है।

अनिर्वचनीयताका वास्तविक संकट माध्यमको लेकर मौजूद होता है। कवि किसी अनुभूत या अभिलषित अनुभवकी अभिव्यंजना खोजना चाहता है। वह कई उपाय करता है: मन, वचन और कर्मसे। किन्तु अभिलषित अभिव्यंजना साकार नहीं हो पाती क्योंकि उसकी स्वयंप्रकाश्य प्रतीति, बेहद अन्तर्मुखी होनेके कारण, शब्दके माध्यममें अँट नहीं पाती। उसका विश्वास है कि अभिव्यंजनाका अस्तित्व तो है लेकिन वह उसे उपलब्ध नहीं है। उसे रूप (फ़ॉर्म) नहीं मिल पाता। यदि वह मिलता भी है तो सृजनके क्षण सीमित हैं। इसलिए कविने कहा है कि भरत-मिलापके समय भरतका जैसा प्रेम था वह कविके लिए तो अगम है, शेष भी नहीं कह सकते; भरतके मिलनकी प्रीति कैसे बखानी जाये? वह तो कवि-कुलके लिए कर्म-मन-वाणी तीनोंसे अगम है। उस श्रेष्ठ प्रेमको कौन प्रकट करे? कविकी बुद्धि किसकी छायाका अनुसरण करे? कविको तो अक्षर और

अर्थका ही सच्चा बल है।

और यह मनोहर अनिर्वचनीयता शब्दार्थसे परे है। यही अनिर्वचनीयताका मूलभूत संकट है : वर्णन कैसे प्रत्यक्ष हो जाये ? कैसे काव्यजगत् तथा दिव्यजगत्-के माध्यम तिरोभूत हो जायें ? कैसे काव्यके ध्यानसे लोग धर्मके कर्मको एकतान कर दें ? कैसे दैवी पात्रोंका मानुषवत् चित्रण हो ?

सारांशमें, अनिर्वचनीयतामें शब्दार्थोंकी भाषा वाणीविहीन होकर चुक जाती है, और आत्मानुभूतिकी एक नयी प्रतीक-भाषा संकेत करने लगती है। अभि-व्यंजना-विधियोंकी अपूर्णताका एहसास कविमें आद्यन्त चित्रात्मक तथा नाटकीय चाप (पिक्टोरियल ऐण्ड ड्रैमैटिक स्ट्रेन) उत्पन्न करता है। अन्ततः अनुपम, आश्चर्य, अलौकिक, तथा दैवीके सम्पर्कसे कविके धार्मिक काव्यमें अनिर्वचनीयता एवं वर्णनातीत्यकी पर्युत्सुकता छा गयी है।

इस पृष्ठभूमिमें 'अलौकिकता'की सौन्दर्य-तात्त्विक मीमांसा समीचीन होगी। जो लोककी परिधिके बाहर हो, या लौकिक कार्यकारणन्यायसे संचालित न हो, वह अ-लौकिक (रसकी 'अलौकिकता'से भिन्न) है। इस तरह अलौकिकताके दायरेमें नियति या भाग्य, जादू, अतिप्राकृतिक तथा अतिमानवीय आ जाते हैं। जिस क्षण अलौकिकतामें ऐतिहासिक चेतना या तर्कपूर्ण व्याख्याका समावेश हो जाता है उसी क्षण वह क्षीण होने लगती है। वस्तुतः अलौकिकता किसी कालमें किसी समाजकी सामाजिक यथार्थताका प्रतिबिम्ब भी है। तुलसी या शेक्सपियरके युगमें लोकजन क्रमशः दैवी करिश्मों या भूतों-प्रेतों-प्रेतनियोंपर विश्वास भी करते थे। अतः वे उनके आचरणों तथा चरित्रोंको प्रभावित करते थे। धार्मिक काव्यमें अलौकिकताका समावेश संस्कारतः विश्वासके कारण, तथा रसात्मक काव्योंमें कथानक रूढ़ि या अभिप्रायकी कलात्मक-विधिके कारण, होता आया है। अलौ-किकतामें अथवा अलौकिक शक्तियोंमें विश्वास करना एक आदिम प्रवृत्ति है जो आदिम धर्मोंमें सर्वाधिक होती है। दुर्खीम तथा टाइलर, फ्रेज़र तथा पॉल रेडिन आदिने नृतत्त्वशास्त्रीय अध्ययनोंमें इसे समाजके एक जीवन्त बिम्बके रूपमें सिद्ध किया है। अलौकिकता असामान्य, विचित्र और चमत्कारपूर्ण होती है। यह अव्याख्येय है। धार्मिक काव्योंमें जब यह देवताओंकी शक्ति होती है तब ब्रह्माण्ड-शुभ (कॉस्मिक गुड) का निमित्त होती है; तथा जब राक्षसों, प्रेतों, ऐन्द्रजालिकोंके पास होती है तब ब्रह्माण्ड-अशुभ करनेवाली होती है। दोनों ही पक्षोंमें अलौकिकतामें रहस्यात्मकता निहित हुआ करती है। यह आश्चर्य, आतंक तथा रोमांच इन तीन दशाओंका आवरण फैलाती है। इसका प्रभाव बहुधा अनिश्चयतापर आश्रित है क्योंकि यह नैसर्गिक कारणको ढाँक लेती है और

तर्कज्ञानकी उपेक्षा करती है। भाग्यके रूपमें अलौकिकता वह रहस्यात्मक, अनिश्चित तथा आकस्मिक विधान है जो संसार तथा मनुष्य दोनोंपर शासन करता है; जादूके रूपमें यह वह संकल्प है जिसमें नियन्त्रणका घोर स्वार्थ होता है; और धर्मके रूपमें यह वह धारणा है जिसमें अलौकिक इष्टदेवताके सम्मुख पूर्ण समर्पण कर दिया जाता है। सारांशमें अलौकिक शक्ति एवं लौकिक आवश्यकताके बीचके अन्तर्विरोधमें अलौकिकता पहली ही अधिनायिका होती है। तुलसीमें अलौकिकताके उपयोगकी कई धार्मिक, सौन्दर्यतात्त्विक तथा जादुई उपच्छायाएँ (शेड्ज़) हैं। धार्मिक उपच्छायाके अन्तर्गत उन्होंने अलौकिकताका आधान ब्रह्माण्ड-शुभ (कॉस्मिक गुड)के लिए किया है। परब्रह्म रामकी अवतार-गाथामें देव-देवियाँ भी सीधे, अथवा वेश बदलकर अथवा अवतार लेकर, भाग लेते हैं : रामकी विवाह-लग्नका शोध स्वयं ब्रह्मा करते हैं; राम-विवाहपर देव-पत्नियाँ वेश बदलकर आनन्द मनाती हैं; सरस्वती मन्थराकी मति फेरकर चली जाती है; अग्निपरीक्षाके समय अग्नि वास्तविक सीताका हाथ पकड़कर रामको समर्पित करते हैं; जब सीता गंगाकी पूजा करती है तब विमल जलसे आशीष-वाणी होती है, इत्यादि। आकाशवाणियोंके कई प्रसंग कार्यव्यापारके भविष्य तथा कार्यके औचित्यका निर्देशन करते हैं। राम-व्यूहके पात्रोंकी लीलाएँ भी अलौकिकतासे 'विचित्र' हो गयी हैं। इसीलिए कविने भी हमेशा विचित्र कथा, विचित्र चरित, विचित्र लीलाकी याद बारम्बार दिलायी है। वास्तवमें 'मोहहीन नरलीला'की धारणा और 'परब्रह्मके विराट् रूप'का दिग्दर्शन, दोनों दो लोकों (जगत् व परलोक)का एक सम्बन्ध करनेवाले अलौकिक तत्त्व ही हैं। लेकिन परलोककी अलौकिकता ही इहलोककी लौकिकतामें अवतरित होती है जिससे रहस्य, आश्चर्य और फलस्वरूप श्रद्धा-विश्वासकी वृद्धि होती है। कुछ विलक्षण उदाहरण लें : जितनी सासुएँ थीं, सीताने उतने ही वेश बनाकर उनकी एक-सी सेवा की; सुतीक्ष्ण मुनिके न जागनेपर रामने अपने राजरूपको छिपा लिया और उनके हृदयमें अपना चतुर्भुज रूप प्रकट किया; जटायुने गृद्ध-देह त्याग कर हरि रूप धारण किया और बहुत-से दिव्य आभूषण तथा पीताम्बर पहने; सुग्रीव-दूत हनुमान् रामको पहचानते हुए भी पहले उनका परिचय पूछते हैं क्योंकि वह परिस्थितिके अनुकूल है; बालि-सुग्रीव-युद्धके समय रामने सुग्रीवके शरीरको हाथसे छुआ जिससे वह वज्रके समान कठोर हो गया और सारी पीड़ा जाती रही; राम इन्द्रसे युद्धमें मरे हुए वानरोंको जिलानेको कहते हैं और इन्द्र अमृत बरसाकर उन्हें जिला देते हैं; इत्यादि। यहाँ लीलाओंवाले उदाहरणमें अलौकिकता लौकिकताका छद्म भी रचाती है तथा दो प्रकारके पात्रत्वको पृथक् कर देती

है (गृद्ध-सारूप्य मुक्ति, राजरूप-चतुर्भुजरूप, एक सीता-अनेक सीता)। दैवी स्पर्शसे अप्राप्य शक्ति प्राप्त हो जाती है, तथा दैवी कृपासे लौकिक कार्यकारण-न्यायके अनुसार घटता हुआ कार्यव्यापार अपना परिणाम बदल देता है, यह दूसरी विशेषता है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड-मंगलकारी अलौकिकतामें आश्चर्य और रोमांचकी अधिकता होती है; लेकिन आतंक नहीं होता। लेकिन चरित्रपरक अलौकिकताको जिस रूपमें तुलसीने पेश किया है वह साहित्यशास्त्रीय साधारणीकरणमें जटिलता उत्पन्न करती है क्योंकि यहाँ तन्मयीभवनके दो धरातल हैं: लीला एवं चरित्रके, कौतुक एवं कार्यके, मोहहीनता एवं रागलीनताके! वस्तुतः तुलसीने साधारणीकरणके दो समानान्तर धरातल रचे हैं। वे चाहते हैं कि अवतार राम तथा नायक रामका साधारणीकरण सहृदय तथा भक्त, व्यक्ति तथा समष्टि, दोनों ही एक साथ करें। किन्तु वे बड़ी जल्दीमें धरातल बदलते हैं। जब सहृदय रामको नर समझने लगता है तब वे तुरन्त उसे रामके देवत्वके प्रति जागरूक करके भक्त बना देते हैं; जब भक्त परब्रह्म रामकी लीलामें लीन होने लगता है तो वे चुपचाप रामको नायक बनाकर नवरसके घेरेमें गतिमान कर देते हैं। इस तरहके अदल-बदलसे रसपरक साधारणीकरण तथा भक्तिपरक साधारणीकरणका भावन हुआ है जिससे 'रस' और 'भक्ति' दोनोंका अन्तर्भावन भी हो गया है। कविने अँगुली पकड़कर दोनों तरहके पार्थक्यको क़ायम रखा है तथा दोनों दशाओंका साधारणीकरण कराया है।

रावणपक्षमें अलौकिकताका विधान ब्रह्माण्ड-अशुभके रूपमें हुआ है। रावण रामकी अलौकिकताके शुभसे अभिभूत होकर आत्मसमर्पण नहीं करता; बल्कि अपने स्वार्थके लिए अलौकिकतापर अधिकार पाता है। इस तरह वह अलौकिकताको काले जादू या 'माया'की तरह इस्तेमाल करता है। वह प्राकृतिक शक्तियोंपर क़ाबू पा लेता है। युद्धमें वह रामको अपनी माया दिखलाता है। आकाशमें चढ़कर बहुत-से अंगारे, पीप, खून और हड्डियाँ बरसाता है। पुनः वह बहुत-से हनुमान् प्रकट करता है जो पत्थर लेकर दौड़ते हुए चारों ओरसे रामको घेर लेते हैं। पुनः वह माया प्रकट करता है: राम सेनामें जितने रीछ-वानर थे उतने ही रावण जहाँ-तहाँ प्रकट हो जाते हैं। जब राम रावणके सिर और भुजाएँ काटते जाते हैं तो काटते ही वे फिर नयी हो जाती हैं। वस्तुतः एक ही पात्रका अपने असंख्य रूपोंमें प्रकट होना आदिम अनुकरणमूलक जादू (होमियोपैथिक मैजिक)का परिष्कृत रूप है; और तुलसीने जादूके इसी मायारूपका सबसे अधिक इस्तेमाल किया है। ब्रह्माण्ड-अशुभपरक अलौकिकतामें रोमांच तथा आतंककी प्रबलता होती है। 'मानस'में जादूके अन्य प्रकार भी आये हैं; जैसे

हनुमान्को पृथ्वीके अन्दर एक गुफामें कौतुक दिखाई देना; हनुमान्-द्वारा एक राक्षसीका मारा जाना जो आकाशमें उड़ते हुए जीव-जन्तुओंकी परछाइँ पकड़कर उन्हें बाँध लेती और खा जाती थी (संक्रामक स्पर्शी जादू—कॅण्टेजियस मैजिक—का उदाहरण); हनुमान्-द्वारा एक ओर तो सर्पोंकी माता सुरसाको चकमा देनेके लिए उसके शरीरसे दुगुना शरीर बढ़ाना और अन्तमें अतिलघुरूप करके बाहर निकल आना, तथा दूसरी ओर जाम्बवान्के द्वारा अपने पवनके समान बलकी याद दिलाये जानेपर पर्वताकार हो जाना (संकल्पशाली जादूका उदाहरण)। जादूके सभी तत्त्व हनुमान्से सम्बद्ध हैं और ये सभी शक्तिबलपर केन्द्रित हैं। निषेधमूलक जादू (टैबू मैजिक)पर आदिम विश्वासका एक अकेला सलोना उदाहरण है: राम रावणके हृदयमें बाण इसलिए नहीं मारते कि उसके हृदयमें वैदेही बसती हैं (मानस, ६।९८।७)।

अलौकिकताको कलात्मक कौशलके रूपमें भी व्यवहार करनेके कुछ उदाहरण शिव-बरात प्रसंग ( पार्वतीमंगल ), शिवधनुष प्रसंग ( मानस ), परशुराम और लक्ष्मण संवादके कुछ अंश, किसी बाहुबलवाली घटनासे ब्रह्माण्डकी वस्तुओंका डगमगा जाना, आदि हैं। अद्भुतरसके अन्तर्गत इस विधिका सर्वाधिक ग्रहण हुआ है।

निष्कर्ष रूपमें कहा जा सकता है कि 'अलौकिकता' या तो अन्धविश्वासों-पर आश्रित है या आध्यात्मिक विश्वासोंपर। इसमें आश्चर्य ( वण्डर ), रोमांच ( आँ ) तथा आतंक ( टेरर ) की मनोदशाएँ उत्पन्न होती हैं। यह रहस्यात्मकताकी प्रवृत्तिवाली होती है जो विवेकीतर्क ( टैरानैलिटी ) से वियुक्त रहती है। इसका उपयोग आत्मकल्पनाके मनोरंजक पलायनमें भी होता है तथा स्तम्भ ( सस्पेन्स ) उत्पन्न करनेमें कलाकौशलके रूपमें भी यह ग्रहण की जाती है। कलात्मक प्रयोजनोंके सन्दर्भोंमें अलौकिकताका पात्रगत या घटनागत विधान 'मनस्तात्त्विक दूरी' ( साइकियल डिस्टेन्स ) के सिद्धान्तको धारण करता है। केवल 'मानस' में, अन्य कृतियोंमें नहीं, एक ओर 'भक्त-सहृदय' अपने वैयक्तिक संस्पर्शोंसे असम्पृक्त होता है और दूसरी ओर राम-व्यूहके समूहावतारी पात्र एवं रावण-व्यूहके राक्षस पात्र भी अपने मानवत्वसे असम्पृक्त होते हैं ( मोहहीन नरलीला, 'माया' कर्म )। इनके तथा सहृदयके बीचमें एक मनस्तात्त्विक दूरी क़ायम हो जाती है जो 'विशिष्ट प्रेषणीयता' का सूक्ष्म अधिष्ठान करती है। इस दूरीकी वजहसे रहस्य-कुतूहल और अलौकिक वातावरण छाया रहता है। मानो यह वातावरण ही दोनों पक्षोंके पात्रोंको अधिक तीव्र रूपमें उभार देता है। अतः सहृदय और पात्रके बीच यह

मनस्तात्त्विक दूरी वैयक्तिक और मानवीय दोनों प्रकारके सम्बन्धोंको निथार-छान देती है। कलापरक स्थानगत दूरी ( स्पेशल डिस्टेन्स ) चित्रकलामें होती है और दर्शनके कोणों ( पर्सपेक्टिव्ज़ ) की आकृतियोंमें प्रकट होती है; कलापरक कालगत दूरी ( टेम्पोरल डिस्टेन्स ) कालबिन्दुसे नापी जाती है और युग-रुचियोंके सन्दर्भमें हमारी आशंसाको गतिमान करती है। मनस्तात्त्विक दूरी इन दोनों दूरियोंके संयोगोंसे उत्पन्न मनस्तात्त्विक एवं सौन्दर्यात्मक प्रभाव हैं।

अलौकिकताकी ही एक विशिष्ट लघुविधा 'कौतुक' है जो शनैः-शनैः अपने भेदको खोलता चला जाता है। कौतुकमें भेद या रहस्यको कुछ लोग जानते हैं और कुछ लोग नहीं। कौतुकके निर्माणकी यही विशिष्टता है। अलौकिकतामें रहस्य सर्वव्याप्त रहता है, कौतुकमें आधा पक्ष रहस्यका; तथा आधा उद्‌घाटनका होता है। अलौकिकतामें रहस्य और रोमांचकी दशाएँ होती हैं और कौतुकमें रोमांच तथा 'खेल' प्रधान हो जाता है। इस भाँति कौतुकमें रहस्य-ज्ञान-सामंजस्य, छद्म और खेलके तत्त्व होते हैं। कौतुककी कई झाँइयाँ ( शेड्ज़ ) हैं। इनमें-से वेश बदलना या रूप-परिवर्तनका उपयोग मध्यकालीन धार्मिक एवं लौकिक काव्योंमें इतना अधिक हुआ है कि ये कथानक रूढ़ि (लीजेण्डेरी मोटिव्ज़) तक हो गये हैं। वेश तथा रूप परिवर्तनमें तीन अधिष्ठान हैं : जादू ( मैजिक ), मुखौटा लगानेवाले अभिनय ( मास्क ऐक्टिंग ) तथा टोटेम। मूल रूपमें यह टोटेमीय श्रद्धा और टोटेमीय प्रतीकीकरणसे उद्‌भूत हैं। इसके द्वारा दूसरे पक्षको कपटता, या विचित्रता, या मनोहरता अथवा अनुकूलताके भुलावेमें फँसाकर घटनाके स्वाभाविक परिणाम तथा कार्यव्यापारकी दिशाको मोड़ा या रोका जाता है। 'मानस' में मुनिवेश और ब्रह्मचारी-वेशका बहुत उपयोग किया गया है ( प्रतापभानु और मुनिवेशी कपटी राजाका मिलन, रावणका इसी वेशमें सीताके समीप आना; हनुमान्‌का ब्रह्मचारीवेशमें रामका पता लगाना, हनुमान्‌से मिलनेवाले राक्षसका मुनिवेशी होना, आदि ); क्योंकि नैतिक ढाँचेमें ये पूर्णतः अभयदान पाये हुए हैं। रूपधारणका उपयोग पशु-पक्षीके साथ भी हुआ है। इन्द्र-पुत्र जयन्त कौवेका रूप धारण करके छल करता है, मारीच विचित्र कपट-मृग बनकर छल करता है, नागिनके समान भयानक शूर्पणखा सुन्दर रूप धरकर रामके पास आती है। इस भाँति राक्षस और देवता ही मनुष्य या पक्षी हो सकते हैं। किन्तु इस कथाके केन्द्रमें परब्रह्म राम हैं। इसलिए यह वेश-रूप-परिवर्तनवाला कौतुक अवश्य ही उद्‌घाटित कर दिया जाता है और तदुपरान्त वह मात्र भ्रान्ति ( नाटकीय भ्रान्ति ) के रूपमें मौजूद होता है। उद्‌घाटनकी दो विधियाँ हैं : मरते समय ( मुक्ति पानेपर ) छद्मपात्र अपना असली रूप प्रकट करते हैं, तथा

कार्य पूर्ण होनेपर अपने सहज रूपमें आ जाते हैं। कौतुकका 'दूसरा' उपयोग खेलके रूपमें हुआ है। 'मानस' के बालकाण्डमें कामका कौतुक लाक्षणिक-विधान-द्वारा पेश किया गया है और इसमें यौन प्रतीकों तथा यौन कार्योंका पंचप्रभाव है; शिव-बरातका कौतुक भी खेल है जिसमें भय और किमाकारके तत्त्व हैं। कौतुकका 'तीसरा' प्रयोग जादुई तमाशेके रूपमें हुआ है : सिन्धुसेतुपर राम सेना-के प्रयाण, तथा हनुमान्-द्वारा लंकादहन ( 'मानस' एवं 'कवितावली', दोनोंमें ) मौक़ोंपर। सेतुबन्धपर भारी भीड़के कारण वानर आकाशमार्गमें उड़ने लगे और दूसरे कितने ही जलचर जीवोंपर चढ़-चढ़कर पार जाने लगे। दोनों भाई भी ऐसा कौतुक देखकर हँसते हुए चले। हनुमान्की पूँछमें आग लगाना एक वानरके भयानक कौतुकी खेलको फैला देता है जिसका परिणाम प्रकृत्या सुखद न होकर दुःखद होता है। 'कवितावली' में लंकादहनका कौतुक अनुपम है। अंगद-द्वारा रावणके दरबारमें अपने पाँवकी स्थापना भी ऐसा ही कौतुक है जिसमें क्षीण अद्भुतका चमत्कार है। अन्ततः कौतुकका 'चौथा' प्रयोग भोलेभाले पात्रोंकी मनोदशाको अंकित करनेमें हुआ है : वनवासी रामके आनेपर सब अपना-अपना काम भूलकर दौड़े; उनके मनमें बहुत लालसाएँ भरी हैं पर वे उनसे नाम-गाँव पूछते सकुचाते हैं। इस तरह वेशरूप बदलना, खेल, तमाशा आदिके कौतुक नाटकीय भ्रान्तियों ( ड्रैमैटिक इल्यूज़न्स ) के निमित्त हैं।

काव्यात्मक भ्रान्ति ( पोएटिक इल्यूज़न ) के रूपमें कौतुकका सर्वप्रमुख उपयोग सौन्दर्यबोधात्मक है। इसमें भी एक पक्ष या एक व्यक्ति 'भ्रान्ति'का शिकार होता है, और दूसरा व्यक्ति या दूसरा पक्ष 'यथार्थका' ज्ञाता। इस प्रकार 'एक' ही परिवेश दो पक्षोंमें बँटकर दो दृष्टियोंसे अन्वीक्षित होकर, भ्रान्ति और यथार्थताका द्वैत रचता है। 'मानस'के 'लंकाकाण्ड'के सौन्दर्यात्मक प्रति-बोधवाले प्रसंगमें उसी उदित होते हुए चन्द्रमाको देखनेके पश्चात् राम विभीषण-को दक्षिण दिशाकी ओर दिखाकर कहते हैं कि देखो, काला बादल कैसा घुमड़ रहा है और बिजली चमक रही है, भयानक बादल मधुर-मधुर ध्वनिसे गरज रहा है कि कहीं कठोर ओलोंकी वर्षा न हो। रामकी इस भ्रान्तिका निराकरण करते हुए विभीषण कहते हैं कि यह न तो बादलोंकी छटा है न बिजली। वस्तुतः लंकाकी चोटीपर स्थित एक महलमें दशग्रीव सिरपर मेघाडम्बर छत्र ( बादल-की काली छटा ) धारण करके नाचगानका अखाड़ा देख रहा है जिसमें अनुपम ताल और मृदंग बज ( भयानक बादल मधुर-मधुर ध्वनिसे गरज रहा है ) रहे हैं, तथा मन्दोदरीके कानोंमें जो कर्णफूल हिल रहे हैं वही मानो दामिनीकी चमक है। यह प्रसंग चित्रकलात्मक स्थानगत दूरीका तो अनुपम उदाहरण है

ही, जहाँ लम्बी दूरीपर-के बिम्ब ( यथार्थ ) मृगछल ( भ्रान्ति ) उत्पन्न करते हैं अर्थात् रावणका मेघाडम्बर-छत्र बादल और मन्दोदरीके कर्णफूलोंकी चमक बिजली बन जाती है। सौन्दर्यतात्त्विक दृष्टिसे यह अंश यथार्थको कल्पनामें रूपान्तरित करनेकी प्रक्रियाका 'एकमात्र' बहुमूल्य उदाहरण है। यह अंश उत्प्रेक्षा-विधानके रहस्यको भी खोल देता है। जहाँ 'प्रत्यक्ष' साम्य न होकर मात्र कल्पनात्मक या 'धुँधली' तुलनाएँ होती हैं, जहाँ भ्रम ( जनु ) या आकांक्षा ( जैसे ) दोनोंका संयोग होता है, जहाँ लोकसिद्ध उपमानोंका परित्याग करके कवि-कल्पित उपमानोंकी उद्भावना की जाती है, और जहाँ बिम्बकी रचनामें साहचर्य-नियम ( लाज़ ऑव ऐसोसियेशन ) दिवास्वप्नमें मुक्त हो जाते हैं। काव्यात्मक भ्रान्तिका एक बेहद सलोना और लुभावना उदाहरण 'मानस'में ही सीता-विवाहके मौक़ेपर मिलता है : राम और सीताकी सुन्दर परछाइयाँ मणियोंके 'अनेक' खम्भोंमें जगमगा रही हैं मानो कामदेव और रति 'बहुत-से' रूप धारण करके विवाह देख रहे हैं। यहाँ भ्रान्तित्व ही कविकी उत्प्रेक्षा-सृष्टिमें रूपान्तरित हो गया है। अतः उत्प्रेक्षा भ्रान्तिको कल्पनामें रूपान्तरित कर देती है। तीसरी मिसाल सती-मोह प्रसंगकी है : रामके परब्रह्मत्वके प्रति सन्देह रखनेवाली सती जब सीताका वेश धारण करके रामके सामने आती हैं तब वे आगे-पीछे, इधर-उधर जिधर भी देखती हैं वहीं राम सीता और लक्ष्मणके साथ दिखाई देते हैं। एक पात्रका अनेक तद्रूप पात्रोंमें गुणनका उपयोग अलौकिकता या मायाके स्पष्टीकरणमें किया गया है।

हास्य ( लॉफ़्टर ) तथा किमाकार ( ग्रोटस्क ) हमें 'आरोही' कौतुकसे निकालकर क्रमशः 'अवरोही' सामान्य एवं अ-सामान्य दशाओंमें ले आते हैं। अब हम लौकिक या अलौकिक भ्रान्तिमें फँसे पात्रकी अज्ञानतासे उत्पन्न ग़लतियोंका अथवा स्वांग किये हुए पात्रकी भी असफलताओंका प्रत्यक्षीकरण करते हैं, तब हास्य उत्पन्न होता है। जब भ्रान्ति फैलानेवाले पात्रके सफल क्रिया-कलापोंका प्रत्यक्षीकरण किया जाता है तब आश्चर्य-मिश्रित हास्य होता है जिसमें मनुष्यकी मूर्खताओंके प्रति अपेक्षित जागरूकता शेष नहीं रहती। इसी तरह जब कौतुकके आश्चर्यमें विरूपीकरण ( डीफ़ॉर्मिटी ) तथा अन्यथाकरण ( डिस्टॉर्शन ) की वजहसे 'अन्तस्सन्तुलन' तथा बाह्यसमरूपता' भंग होती है, तब भय अथवा जुगुप्सा मिश्रित किमाकारत्वका बोध उद्भूत होता है। नारदका मोह, हनुमान्का सुरसासे मुक़ाबला, तथा कुम्भकर्णकी आकृति-आकार – ये क्रमशः हास्य, अद्भुत, हास्य और किमाकारकी बेहतरीन मिसालें हैं।

हास्यके सिद्धान्तोंमें अनेक 'मनस्तात्त्विक गहराइयाँ' ( साइकियल डेप्थ्स )

हैं। हास्यकी ही दशा एक ऐसी दशा है जहाँ सौन्दर्यबोधात्मक एवं लौकिक प्रतिक्रिया एक समान होती है अर्थात् हँसीकी 'मनःशारीरिक' अनुभूति भी होती है। हास्य मूलप्रवृत्तिसे सम्बन्धित है और स्वीकारात्मक है। यह एक मनोनुकूल अनुभूति है, और कलात्मक सौन्दर्यका एक प्रतिरूप जो क्रियाशक्तिमें रूपान्तरित हो जानेपर भी सौन्दर्यबोधात्मक बना रहता है। अतः हास्य सुन्दर और मनोनुकूल है। भरतने इसका स्थायी भाव हास माना है जिससे हाससे हास्य तक एक व्यापार संक्रमित होता है। हास्यका सौन्दर्यात्मक गुण बहिर्वस्तुकी अपेक्षा भोक्ताकी अन्तर्दशामें ही है क्योंकि हास्यका आलम्बन स्वयं हासमें भाग नहीं लेता। हास्यमें कौतुक या खेलके तत्त्व अनुस्यूत रहते हैं। अतः हास्यमें गम्भीरता नहीं होती। गम्भीरता आनेपर हास्य क्षीण होता चलता है और व्यंग्य ( सैटायर ) उभरता आता है। अतः हास्य पीड़ाविहीन और हानिविहीन होता है, और इसमें गम्भीरताके बजाय भोलेपनका परिवेश मौजूद रहता है। हास्यका सम्बन्ध मूलतः हृदयसे होता है, किन्तु व्यंग्यका मस्तिष्कसे भी। हास्यमें पात्रके प्रति सहानुभूति बनी रहती है, किन्तु व्यंग्यमें पात्रके प्रति घृणा या उदासीनता भी शामिल हो जाती है। व्यंग्यमें मनुष्यकी मूर्खताओंसे मनोरंजन होता है, उसके दुर्गुणोंपर नैतिक अप्रसन्नताका इज़हार होता है एवं सुधारकी भी प्रवृत्ति अन्तर्निहित होती है। यहाँ आदर्श पात्र और आलोच्य आलम्बनकी तुलना करके विरोधोंको उभारा जाता है। अतः सौन्दर्यबोधमें हास्य एवं व्यंग्यका साहचर्य रहता है। कामद दशाओंमें जो हास्य-विधान होता है उसमें सरलहास्यमें व्यंग्य अर्थात् बौद्धिक तुलनाका भी मेल होता है। बिना व्यंग्यके हास्य सामाजिक आयामों तथा सामाजिक आलोचनाका धारण नहीं कर पाता जो कामदीके लिए अनिवार्य है।

हास्यका उद्भव तब होता है जब मनुष्य स्वयंकी अपनेसे 'निचले' स्तरके विषयों ( ऑब्जेक्ट्स ) से तुलना करता है। जब इस तुलनामें कोई भद्दापन, कोई विरूपता, कोई अ-समरूपतापर ध्यान जाता है तब बहुधा अकस्मात् हास्य उत्तेजित होता है। भरतके अनुसार विकृत वेशालंकार, बहानेबाज़ी, प्रलाप, अस्थिरता, दर्शन-दोषादिके कारण हास्य उत्पन्न होता है (स च विकृतवेषालंकारधाष्टर्चलौल्यकलहासत्प्रलापव्यंगदर्शनदोषोदाहरणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते (४०)। विश्वनाथके अनुसार तुलनामें 'श्रेष्ठता' की अनुभूतिसे मानसमें जो उन्नग्रन होता है वही हास्यका उत्पाद्य है। हास्यमें तत्काल हर्षकी अभिव्यक्ति होती है। यह अपने शुद्ध रूपमें एक सुखात्मक आश्चर्यसे अभ्युदित होता है जहाँ आलम्बन किंचित् असमंजसकी हालतमें होता है। इसका अधम स्वरूप

पशुवत् तुष्टिमें होता है जहाँ यह ध्वंसात्मकता-द्वारा शक्ति-सम्पन्न होकर घृणा या उदासीनताकी सुरक्षित धाराओंमें बह जाता है। इस अधम स्वरूपकी परिणति शत्रु या खलनायकके पतनमें होती है। अतएव सुखात्मक आश्चर्य एवं पशुवत् तुष्टि हास्यके दो ध्रुवान्त ठहरते हैं। दूसरे ध्रुवान्तमें एक पक्षको पीड़ा तथा दूसरे-को सुख मिलता है। 'मानस' का परशुराम-प्रसंग तथा लंकादहन-प्रसंग इसके सामान्य उदाहरण हैं।

हास्य-विधानके कई हेतु होते हैं। पहला सरलतम हेतु है स्वयंवस्तुमें उप-हास्य पक्षोंका सन्निवेश। किमाकार हास्यके भी कारण होते हैं। बरातमें 'बावले' वर शिव; गधों, कुत्तों; भैंसों, सुअरों आदिके वाहन; विकृतवेशालंकार आदिमें लक्ष्य वस्तुओंमें ही उपहासास्पद बातें मौजूद हैं। शब्द-श्लेषके द्वारा असम्भाव्य घटनाओंका एक खेल उत्पन्न करके कामद कपट ( कॉमिक इण्ट्रीग ) की रचना की है। एक स्थितिमें त्रुटि सरल न होकर संयोगिक हो जाती है। 'मानस' की नारदमोह-कथामें श्रीहरि-द्वारा नारदको हरि (बन्दर) रूप प्रदान करनेका वरदान एक गोपनीय स्थिति उत्पन्न करता है। इसी तरह पार्वती-प्रसंगमें मैना-का यह कथन कि यदि पार्वतीके योग्य वर न मिला तो सब लोग कहेंगे कि पर्वत (हिमवान) स्वभावसे ही जड ( पर्वत ) होते हैं। इस सम्भावनामें बौद्धिक निराशा है जो विराट् सम्भावना और क्षुद्र उपलब्धिकी तुलना करनेपर हाथ लगती है। अतः कपटका विपरीतों (कॉण्ट्रैरीज़) की अन्तरक्रीड़ाके द्वारा विस्तार किया जाता है। हास्यमें शब्द-श्लेषके अलावा वाक्चातुर्यकी भी विशिष्टता होती है। जब असम्भव सम्बद्धताएँ जुड़ जाती हैं तब उनको खारिज करनेके बाद ( त्रुटि या मूढ़ताके उद्घाटनके कारण ) भी हास्य उत्पन्न होता है। 'कवि-तावली' में केवट-द्वारा रामके चरण धोकर नौकापर चढ़नेकी प्रार्थना करना, सीता-द्वारा अहल्याकी याद करके रामके चरण छूनेमें भयभीत होना आदि ऐसी ही असम्भव सम्बद्धताओंके परदाफ़ाश होनेसे उत्पन्न हास्यके उदाहरण हैं। विपरीतोंकी अन्तरक्रीड़ाकी मिसालें शिवके चरित्र, तथा परशुराम-लक्ष्मण-संवाद-में मिलती हैं। योगी और भोगीके द्वन्द्वमें शिव विभक्त हैं। इसीलिए हास्यकी स्थिति मौजूद हुई है कि स्वभावसे अकेले रहनेवाले योगी शिव, कामदहन शिव, के घरमें भी भला क्या कभी स्त्रियाँ टिक सकती हैं! ऐसी स्थितियोंमें व्यंग्य भी संयुक्त हो जाया करता है।

त्रासद विपर्यय चिन्ता और भय पूर्ण होते हैं; किन्तु काम; विपर्यय ( कॉमिक रिवर्सेज़ ) साहसिक तथा चकित दशाओंकी वृद्धि करते हैं। कामद-विपर्ययमें ही हास्यके रहस्योंकी बुनियादें छिपी हैं। इन विपर्ययोंके अकस्मात् घटनेपर हास्यकी

वृद्धि होती है। इन आकस्मिक घटनाओंकी पकड़में बुद्धिका इम्तहान होता है। जब आकस्मिक घटनाओंकी आकस्मिक सम्बद्धताएँ पकड़में आ जाती हैं तभी हास्योदय हो सकता है। दूसरी ओर यह भी ज़रूरी है कि हास्यमें वर्जित आवेशोंको हम सहन कर सकें। परशुराम-लक्ष्मण-संवादमें हम लक्ष्मणके कारण ही साहसिक दशाको, तथा परशुरामके कारण चमत्कृत दशाको पाते हैं। लक्ष्मण-का मर्यादा-अतिक्रमण सहन करनेपर ही हम हास्यकी सहजताको पाते हैं; तथा संवादमें सेवक-स्वामी, द्विज-क्षत्रिय, दूधमुहाँ-विषमुख, धनुष-धनुही, गर्वोक्ति-व्यंग्योक्ति, बालक-बुजुर्ग आदिकी विपरीत स्थितियोंकी बौद्धिक पकड़के द्वारा हास्य और व्यंग्यकी छटामें मुग्ध होते हैं। इसी तरह अंगद-रावण-संवादमें अंगद-द्वारा रावणकी गर्वोक्तियोंके छूँछेपनको उद्घाटित करनेपर हास्य मुखर हो उठता है। अंगदके चरण हटानेकी शर्त तथा मुकुट फेंकनेकी घटनाएँ आकस्मिक हैं; और यह रावणपक्षकी मूर्खताओंके फलस्वरूप मनोरंजनकारी खेल भी हो जाता है। कामद-विपर्ययके अन्तर्गत वेशरूप-परिवर्तनके द्वारा कपट ( इण्ट्रीग ) को गतिवान किया जाता है और अन्तमें इसका परदाफ़ाश। यहाँ कुतूहलकी अधिकता होती है क्योंकि 'किसी भी' कोनेसे रहस्यके उद्घाटनकी आशंका क़ायम रहती है। रहस्यके मुखौटेके खुलते ही हास्य फूट पड़ता है: 'पार्वती-मंगल' में शहरके निकट आते ही विष्णु देवताओंसे अपने-अपने समाजोंको अलग करनेको कहते हैं; राम जयन्तका भेद जानकर उसे एक आँखका काना करके छोड़ देते हैं; नारदकी सज्जनताके उद्घाटित होते ही उनका कपटी मन खुल पड़ता है और वे एक चुग़लख़ोर, घर मिटानेवाले, बहकानेवाले हास्य-व्यंग्यके आलम्बन हो जाते हैं। त्रासदीमें वेशरूप-परिवर्तनसे रहस्यका अन्वेषण ( डिस्कवरी ) होता है तो कामदीमें इससे मूर्खता अथवा ठगीका उद्घाटन। ये कामद कपटके साधन हैं। सारांशमें, जब कपट ( इण्ट्रीग ) का विपर्यय हो जाता है और कपटीके इरादे नहींके बराबर हो जाते हैं तब एक मखौलकी स्थिति बच जाती है। लंकाकाण्डमें रावणके माया-खेल भी इसी कारण अन्ततो-गत्वा मखौल बन जाते हैं। कभी-कभी मूर्खता अथवा ठगीका यह उद्घाटन त्रासद हास्य अर्थात् विध्वंसता-प्रकाशक हास्यमें रूपान्तरित हो जाता है और यह खलनायक-पक्षके प्रति तीव्र घृणाका विरेचक होता है: लक्ष्मण-द्वारा शूर्प-णखाके नाक-कान काटना, भरत-द्वारा कुबड़ी मन्थराकी मरम्मत करना, इसकी मिसालें हैं।

कामद नाटकीय कटाक्ष (आइरॅनी) हास-उपहास होता है। ये सभी दिशाओं-पर धावा बोलकर प्रयोजनकी स्फीतिको तन्वंगी बना देते हैं। ये तीर भी हैं

और नश्वर भी। उपरिवर्णित संवादोंमें इसका वैभव देखते ही बनता है। दो-तीन उदाहरण लें : लक्ष्मण (परशुरामसे) "आप जो वचन बोल रहे हैं मानो फूल झड़ रहे हैं" "खड़े-खड़े पैर दुखने लगे होंगे, बैठ जाइए"। कैकेयी (दशरथसे)—"राम साधु हैं, आप सयाने साधु हैं।"

मानवीय स्थितियोंमें शुद्ध क्रीड़ा रूपमें भी हास्य पैदा होता है जब दो श्रेष्ठतर-निम्नतर साहचर्य जुड़ जायें। सुन्दरकाण्डमें महज़ कौतुकके लिए अपनी पूँछपर ममता रखनेवाले बन्दरकी पूँछमें आग लगाकर उसे पूँछहीन करनेके खेल-में सारी भीड़ मशग़ूल हो जाती है (कवितावली, मानस)। हास्यके लिए भीड़की-महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है क्योंकि ज्ञात भीड़ (सीता-स्वयंवरकी, या लंका नगरीकी) सक्रिय और उद्दाम होती है। त्रासदीमें यह भीड़ एकरूप होती है किन्तु कामदीमें बहुरूप (शिव-बरात, लंका-समाज)। क्रीड़ाका दूसरा मौक़ा युद्धमें है जहाँ अद्भुत हास्य है : सुग्रीवने कुम्भकर्णके नाक-कान दाँतोंसे काट लिये; रावणने पूँछ पकड़ ली तो हनुमान् उसको साथ लिये हुए ऊपर उड़े; वानर मणियोंको मुँहमें लेकर फिर उन्हें अखाद्य समझकर उगल देते हैं; नल-नीलके खेलमें तैयार सेतुपर हूहूध्वनि करते हुए वानर-भालू चलते हैं; इत्यादि।

कविने 'हास्य-बिम्बों'की रचना कम की है। कुछ यों हैं : यह बूढ़ा जटायु मेरे हाथ-रूपी तीर्थमें शरीर छोड़ेगा (रावण); रावणके सभी मूर्ख मन्त्री ठकुर-सोहाती करते हैं तथा गाल फुला-फुलाकर वचन कह रहे हैं; गाल क्यों बजाता है (अंगदके प्रति); यदि रघुनाथ पैदल चलेंगे तो अवनीपर शिलाएँ नहीं रहने पावेंगी (गीतावली, १।५८); इत्यादि।

निष्कर्ष रूपमें तुलसीने केवट, नारद और शिवको प्रधान रूपसे; तथा शूर्पणखा, मन्थरा और कुम्भकर्णको द्वितीय रूपसे हास्यका आलम्बन माना है।

इसके बाद किमाकार (ग्रोटस्क)के सौन्दर्यतत्त्वकी पहेली पेश होती है। आदिम तथा मध्यकालीन समाजोंमें क्रमशः दैत्योंकी लोमहर्षक कल्पनाओं, तथा दरबारोंमें शत्रुओंके भड़ौआ-नामरूपों (कैरिकेचर्स)को गढ़नेमें ही किमाकारके उद्गम हुए हैं। मध्यकालमें राजसभाओंके विदूषक (बफ़ून्स ऑर जेस्टर्स) तथा धार्मिक क्षेत्रकी नरक-सम्बन्धी धारणाओंने दैत्य तथा भड़ौआ तत्त्वोंका मेल कर दिया। इसीके साथ-साथ प्रकारान्तरसे मनुष्यके शरीरमें पशु-शरीरोंका संयोग, और पशु-शरीरोंमें मनुष्य-शरीरका संयोग, एक ही अंगकी आवृत्ति (दशशीश), या अंगोंका ग़लत-सही जगहोंमें प्रस्थापन (भूत-प्रेतादि), अथवा अंगोंके सही प्रस्थापनमें भी उनका अनुपातका विराट् या लघु हो जाना, आदिने भी विचित्र किमाकार रूप गढ़े हैं। किमाकार सौन्दर्यतात्त्विक कुरूपता (एस्थेटिक अगलीनेस)-

के विधायक हैं। भारतीय किमाकार-संविधानमें यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, कुबेर आदिकी सूरतें अथवा मुखौटे भी किमाकारका बोध प्रदान करते हैं। आकृतिके किसी विशेष अंगको बढ़ा-चढ़ा देना या किसी विशेष दुर्बलताको प्रतीक रूपमें जोड़ देना (मूर्खताको सिरपर गधेके सिरसे अभिव्यक्त करना, वैभवको कुबेरके मटके-जैसे पेटसे प्रकट करना, आदि) भड़ौआ (कैरिकेचर)के उदाहरण हैं।

वस्तुतः किमाकारका पहला नैसर्गिक विधान मनुष्यों और पशु-पक्षियोंकी तुलनामें हुआ है। गधेकी तरह मूर्ख, लोमड़ीकी तरह चालाक, बगुलेकी तरह धूर्त, कुत्तेकी तरह गुलाम आदि विशेषताओंने लक्षणाधर्म धारण किया और बादमें यह तुलना ही अन्यापदेश (ऐलिगॅरी) हो गयी; तथा विशिष्ट चरित्रवाले मनुष्यका अंकन पशु-रूपमें ही होने लगा। दो चारित्रिक ख़ूबियोंके मेलने किमाकार-को अधिक असलियत दी; जैसे—मनुष्य शरीर और सिंह-मुख या वराह-मुखका मेल (नृसिंह, वाराह) अथवा हाथीके मुख और सिंह-शरीरका मेल (गजसिंह)। इसी बिन्दुसे मध्यकालीन व्यंग्य और पशु-कथाओं दोनोंका व्यापक विकास हुआ है।

किमाकारका दूसरा विधान मुखौटों ( मास्क्स ) से हुआ है। मन्दिरोंके द्वारों, नालियों, खम्भोंमें जो किमाकार-अलंकरण है वह दैत्याकार मुखौटोंकी देन है। वस्तुतः दैत्याकार और किमाकार ( मॉन्स्ट्रस ऐण्ड द ग्रोटस्क ) की सौन्दर्यात्मक कुरूपताके क्षेत्रमें वैसी ही अद्भुत दोस्ती है जिस तरह सौन्दर्यात्मक शोभाके क्षेत्रमें प्रकृति और नारीकी कान्त मैत्री। यह सौन्दर्यशास्त्रका एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। मानवेतर किमाकार दैत्याकार अथवा विषम अनुपाती होता है, मनुष्यके कार्योंका अनुकरण करनेवाला किमाकार ( मिथिक ग्रोटस्क ) भड़ौआ होता है; जैसे – बौने, कुबड़े, क्लीव, विदूषक, नपुंसक आदि। शिव-विवाह और शिव-ताण्डवमें भारतीय किमाकारके तत्त्वोंका बहुमूल्य अनुसन्धान हो सकता है जिसमें पशु-पक्षी, भूत-प्रेत, सर्प-बाघ आदि सभीका 'गड्डमड्ड' हो जाता है। यूनानके आदिम जीवनमें डियोनीसस दावतोंमें किंपुरुष-वेशादि किमा-कारके उद्गम हैं। अतः इस विधानमें किमाकार गोपनवेशभूषा ( डिस्गाइज़ ) से विकसित हुआ है जहाँ गोपनीयताका लोप करके दोनों वस्तुओंको एक कर दिया गया। किमाकार मुखौटोंका उपयोग कामद हास्य तथा विशिष्ट पात्रके भड़ौआ, दोनोंके लिए हुआ है। मध्यकालीन काव्यमें मुखौटा लुप्त हो गया और उसके स्थानपर वेशरूप-परिवर्तन ही कथानक-रूढ़ि बन गया।

किमाकारका तीसरा विधान निशाचरोंको दैत्यरूप तथा दैत्याकार प्रदान करनेमें मिलता है। उनकी रचनामें परम कुरूपता, अन्धविश्वास, और त्रास,

इन तीनोंका संयोग हुआ। मध्यकालमें राक्षस तत्कालीन अन्धविश्वास होनेके साथ-साथ ज़बरदस्त खलनायक या प्राप्त्याशा नामक कार्यव्यापारके संचालक होते थे। 'मानस'में प्रधानतः हनुमान्को कई विरूप विषम निशाचरों-भूतोंका सामना करना पड़ता है। दैत्योंके रूपों ( फ़ॉर्म्स ) के सम्बन्धमें मनुष्यकी अजीब या विचित्र वृत्तियोंका उद्घाटन होता है। बीभत्समें ये जोगिनियों, पिशाच, प्रेतों, भूतोंकी किमाकार सेना होकर भयपूर्ण जुगुप्सा और नरकके वातावरणकी व्याप्ति कर देते हैं जिससे बादमें 'शान्त विश्रान्ति' ( पीसफ़ुल रिलीफ़ ) मिले। भारतीय सौन्दर्यबोधमें बीभत्सके पश्चात् शान्तका विधान होना एक रूढ़ि है। अतः हास्य 'त्रासद विश्रान्ति' ( ट्रैजिक रिलीफ़ ) के निमित्त होता है, और बीभत्सपरक किमाकार 'शान्तविश्रान्ति'के। बीभत्सके अलावा दैत्यरूप किमाकारमें नामोंका प्रतीकीकरण बहुतायतसे होता है : 'मानस'में कुछ राक्षसों-के नाम कुम्भकर्ण, मेघनाद, खर-दूषण, दुर्मुख, अकम्पन, बज्रदन्त, धूमकेतु, अतिकाय, शूर्पणखा आदि हैं। दैत्योंकी विराट् दुनिया एक मिथकीय वातावरणमें ही मुमकिन हो सकती है। राजसभाओंके वातावरणमें लोमड़ी, भेड़िये, मृग, शृगाल आदिके गुणात्मक माध्यमसे तो शत्रुओंकी खिल्ली उड़ायी गयी है अथवा तत्कालीन समाजकी कुरीतियोंका परदाफ़ाश किया गया है। तुलसीने झूठे साधुओं-के लिए बगुला, कामुक पुरुषोंके लिए कुत्ता, धूर्तोंके लिए कौवाका उपयोग समाजालोचनाके लिए किया है, किन्तु कभी-कभी उपमाओंके दोषोंके कारण उनसे 'किमाकार-बिम्बों'की रचना हो गयी है : यथा – रामकथा भ्रमरूपी मेंढकोंको खानेके लिए सर्पिणी है, बड़ा भारी मोह विशाल महिषासुर और रामकथा भयंकर कालिका है, रामनामके दो अक्षर जीभरूपी यशोदाके लिए हरि और हलधर ( कृष्ण और बलराम ) के समान हैं, इत्यादि। दैत्यरूप किमाकारका अनुपम उदाहरण कुम्भकर्ण है। भारतीय साहित्यमें कुम्भकर्ण किमाकारके तत्त्वों-का चरमोत्कर्ष है। कुम्भकर्ण भूधराकार शरीर है : मानो स्वयं काल ही शरीर धारण कर बैठा हो। उसने रावणसे 'करोड़ों' घड़े शराब और 'अनेक' भैंसे मँगाये। वह वानर राजा सुग्रीवको काँखमें दबाकर चला। सुग्रीवने उसके नाक-कान दाँतोंसे काट लिये। बिना नाक-कानके भयंकर कुम्भकर्ण और भी भयानक हो गया। वह करोड़ों वानरोंको एक साथ पकड़कर खाने लगा : मानो पर्वतकी गुफामें टिड्डियाँ समा रही हों। भालू और वानरोंके ठट्टके ठट्ट उसके मुख, नाक और कानोंकी राहसे निकल-निकलकर भाग रहे हैं। वह क्रोध करके पर्वत उखाड़ लेता है। यह राक्षस दुर्भिक्षके समान है। भुजाओंके कट जानेसे वह बिना पंखके मन्दराचल-जैसा हो गया। रावणका किमाकारत्व भी पर्वतकी विराट्ता-

के इर्दगिर्द ही बुना गया है, किन्तु उसमें अंगकी अनेकता है ( दशशीश ) और चरित्रका प्रतीकीकरण ( सिरपर गधेका मुख )। रावण प्राणयुक्त कज्जलगिरिके समान है। उसकी भुजाएँ वृक्षोंके तथा सिर पर्वत-शिखरोंके समान हैं; रोमावलि मानो बहुत-सी लताएँ हैं और मुख-नाक-नेत्र-कान पर्वतकी कन्दराओं तथा खोहों-के बराबर हैं। नाक-कान-विहीन शूर्पणखा भयानक किमाकारकी मिसाल है। इसी तरह रौद्ररस-रूप हनुमान् भयानक किमाकार रूप और सुन्दर किमाकार रूप, दोनोंके योग हैं : उदयकालीन सूर्यके समान शरीरवर्ण, आजानुबाहु, डरावनी सूरतवाले मानो कालके भी काल हों, सुवर्णपर्वतके समान शरीरवाले, वज्र-तुल्य नख, पीले नेत्र, विकराल भौंहें, जीभ-दाँत व मुख, भूरे रंगके बाल तथा कठोर पूँछ ( हनुमानबाहुक, १, २ ) ज़ाहिर है कि तुलसीने दैत्यरूप किमाकारके लिए 'पर्वत'का उपमान चुना है और 'भय' तथा आतंक, 'बीभत्स' तथा आश्चर्यका उद्रेक कराया है। अंगोंका गुणन, या शरीर-रचनामें उनके लोप-द्वारा भी तुलसीने किमाकारका विधान किया है : शिव-समाजमें कोई बिना मुख-का है तो किसीके बहुत-से मुख हैं, कोई बिना हाथ-पैरका है तो किसीके कई हाथ-पैर हैं, किसीके बहुत-सी आँखें हैं तो किसीके एक भी नहीं है, कोई बहुत मोटा है तो कोई बहुत ही क्षीणतन है, और कोई पवित्र तथा कोईकोई अपवित्र वेश धारण किये हैं। यहाँ विरोधों ( ऑपोज़िट्स ) की तुलना है। शिव-बरातमें ही विरोधोंका सामंजस्य भी किमाकारका विधान करता है जहाँ एक ओर देवतादि हैं तो दूसरी ओर बहुत प्रकारके प्रेत, पिशाच और जोगियोंकी जमातें हैं, एक ओर देवरथ आदि हैं तो दूसरी ओर सुअरों, भैंसों, गदहों, कुत्तों आदिकी वाहिनी है। शिवका रूप भी किमाकार है। वे पंचमुख और त्रिनेत्र हैं। उनकी वेशभूषामें विषमता-औचित्य है, वे भयंकर गहने पहने तथा हाथमें कपाल लिये हैं। इस तरह कुम्भकर्ण और शिवको तुलसीने क्रमशः भयंकर दैत्यरूप किमाकार, एवं विषम मंगल-देवरूप किमाकारके प्रारूपों ( मॉडल्स )के रूपमें अनूठी पूर्णताके साथ तराशा है। यहाँ किमाकार-रूपत्व है। किमाकार-स्थिति ( ग्रोटस्क सिटचुएशन ) का उदाहरण शिव-बरात है जिसका सूत्र है : 'मूल वस्तुके अनुरूप सारे साहचर्य भी ढल जाते हैं' ( 'जस दूलह तसि बनी बराता', और दूलह 'वामदेव' तथा 'बावला' है )।

निष्कर्ष रूपमें कहा जा सकता है कि मध्यकालमें किमाकारका उपयोग सौन्दर्यतात्त्विक कुरूपताके विधान; चारित्रिक प्रतीकीकरण; और अवचेतनके भयपूर्ण, आतंकपूर्ण; बीभत्सपूर्ण एवं आश्चर्यपूर्ण मुक्त साहचर्योंके निर्माणमें हुआ है जिसमें दैत्योंसे लेकर पशु-पक्षियों और दरबारोंके विदूषकों तकका योगदान

रहा है। किमाकारके प्रति रुचिका होना मनुष्यताकी दुर्बलताओंकी ( हास्यसे भी अधिक सशक्त ) आलोचना है। मनुष्यों तथा पशुओं, मनुष्यों तथा पक्षियों, पशुओं तथा पशुओं, पशुओं तथा किम्पुरुषों आदिके मिश्रणके द्वारा विचित्र सूरतों, विचित्र अंगरचनाओं तथा विचित्र अनुपातोंकी रचना करके मध्यकालीन समाजने कुरूपता और किमाकारके प्रति अपनी अभिरुचियोंको प्रदर्शित किया है। मन्दिरों, प्रासादों और तोरणोंमें तो किमाकार शिरों और मुखोंकी इफ़रात है। "मध्यकालीन कलाकारोंकी प्रीति भयंकर वस्तुओं तथा उपहासपूर्ण वस्तुओंके निर्माणपर थी, यद्यपि अपने आतंकोंमें वे निरन्तर किमाकारकी ओर भागते चले जाते थे। इन शिल्पाकृतियोंकी बग़लमें हम पीड़ाके माध्यमोंको भी पाते हैं जिन्हें पीड़ितोंकी आकृतियोंपर प्रतिभाचातुर्यके साथ प्रदर्शित किया गया है। मध्यकालकी साम्प्रदायिक चेतनाने इस अभिरुचिमें विलास करनेकी बेहद गुंजाइश बख्शी क्योंकि इसमें 'नरक' और 'यमलोक' के अनन्त विविधतावाले आतंक सन्निहित थे।[1]

टोटेम किमाकारके पूर्वरूप हैं जिनमें कुरूपताके बजाय आदिमधर्मकी श्रद्धा और प्रतीकीकरणका मेल है, किन्तु दो शत्रु-टोटेमिक क़बीलोंके लिए एक दूसरेके पवित्र प्रतीक किमाकार-बोध प्रदान करते रहे होंगे। 'मानस' में जो टोटेमीय तत्त्व आये हैं वे तुलसीके युगके न होकर रामकथाकी यात्राके किसी प्राचीन चरणके अवशेष हैं। अलबत्ता तुलसीने तो उनमें 'अलौकिकता' का विधान कर डाला है। ऋक्षराज जामवन्त तथा गृद्धराज वृद्ध जटायु क़बीलेके कुलज्येष्ठ ( पैट्रियार्क ) रहे होंगे। इसी तरह वानरराज सुग्रीव, कन्दरावासी सम्पाति टोटेमवाली जाति, अनेक जातियोंके वानर ( टोटेम ), काकभुशुण्डि आदिमें टोटेम, जादू, और कौतुकका ऐसा मिश्रण हुआ है कि तुलसीके युगमें इन्हें एकधर्मी बना दिया गया।

'बीभत्स' और 'भयानक' की समस्याको हम कई प्रसंगोंमें उठाते चले और उनके तत्त्वोंका छिटपुट निरूपण करते आये हैं। धार्मिक काव्यमें हमने बीभत्स और भयानकको सहचर रूपमें इसलिए रखा है कि दोनोंमें ही अतिप्राकृतिक और अलौकिक, रहस्य और रोमांचका मेल है। सौन्दर्यतात्त्विक दृष्टिकोणसे तो भयानकके भयकी सृष्टि तब होती है जब प्रधान कथातन्त्र ( रामपक्ष ) का विरुद्ध कथातन्त्र ( रावणपक्ष ) विध्वंस करनेवाला होता है; अथवा उसपर हावी हो जाता है, किन्तु पूरा विध्वंस नहीं कर पाता अन्यथा 'शोक' का उद्रेक होगा। तुलसीने स्त्रियोंको स्वभावसे भीरु माना है ( 'मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाएँ' )

---

१. थॉमस राइट : "अ हिस्ट्री ऑव कैरीकेचर ऐण्ड ग्रोटस्क", पृ० १४८; प्रकाशक : चैटों ऐण्ड विण्डस, १८७५।

जो एक सामन्तीय काव्यशास्त्रीय धारणा है ( स्त्रीनीचप्रकृति—विश्वनाथ )। भयमें आश्रय निस्सहाय और कमज़ोर पड़ जाता है तथा आलम्बन प्रचण्ड और विकृताकाररूप होता है ( व्याघ्र, हिंसक जीव, भयानक वन, शत्रु आदि ) तुलसी-ने अयोध्याकाण्डमें वनकी भीषणताका ( मानस, २।६१,६२।१-२ ), लंकाकाण्डमें युद्धकी भयानकताका विशेष रूपसे वर्णन किया है। क्योंकि तुलसी कृतित्वमें राम परब्रह्म हैं, अतः शत्रु रावणपक्षमें भयानकताके बजाय मायामय अलौकिकता-का विन्यास हुआ है। 'विनयपत्रिका' तथा 'कवितावली' में कलिकालकी संहारकताका धार्मिक संचारियोंके द्वारा मौलिक उपस्थापन हुआ है। बीभत्सके अन्तर्गत उन्होंने शास्त्रीय आलम्बन ही प्रयुक्त किये हैं, किन्तु यौगिक-तान्त्रिक आलम्बनोंकी अलौकिकताका जाल भी डाला है। बीभत्सका सौन्दर्यतात्त्विक अनुभव दो स्थलोंपर कराया गया है : खरदूषण-युद्ध, तथा रामयुद्धके मौक़ेपर। पहलेमें योद्धाओंके अंगोंका क्षत-विक्षत होकर गिरना; चील, कौवों, गृद्धों, शृगालों आदिके भयंकर शोरोंका उठना; भूत-प्रेत-पिशाचों, वीरवैतालों तथा योगिनियोंके जुगुप्सापूर्ण नृत्यके आयोजन आदिके द्वारा भय और जुगुप्साका संयोग हुआ है (मानस ३।१९-छन्द)। रामयुद्धके अवसरपर अपवित्र रक्त-नदीके एक सांगरूपक-के द्वारा मरणका आयोजन हुआ है। बीभत्सका घिनौनापन धार्मिक काव्योंमें विरतिकी ओर अग्रसर करनेवाला होता है। यह युद्धकी भयानकता और मृत्युकी क्रूरताका निदर्शन करता है।

अन्तमें 'धार्मिक भाषाकी संरचना'की मीमांसा शेष रहती है। भाषाकी अर्थमीमांसा (सिमैण्टिक्स)पर कार्य करनेवालोंमें कॉज़िबस्की, हायाकावा, चेज़, विटगेंस्टाइन, न्यूराथ, कार्नाप, फ़्रैंक; व्हाइटहेड, रसेल, ऑग्डेन, रिचार्ड्स, आयर तथा साइबर्नेटिक्स एवं 'सिम्बॉलिक लॉजिक'के अनुकर्ता आदि हैं। लेकिन भाषाके धार्मिक उपयोगपर कार्य करनेवालोंमें सन्त ऑगस्ताइन, टिल्लिच, रेण्डॉल, ब्रेथवेट आदिका भी खासा योगदान रहा है। अतः हम यहाँ अप्रासंगिक बातोंमें नहीं उलझेंगे। धार्मिक भाषा, और उसमें भी रहस्यवादकी भाषाकी अर्थगत एवं प्रतीकगत विशिष्टताएँ हैं। यह काव्यभाषा और वैज्ञानिक भाषासे कई दृष्टियोंसे भिन्न है। इसपर तो संकेतों (सीमियोटिक)का सिद्धान्त लागू होता है। इसकी प्रेषणीयता अभिधा-लक्षणा-व्यंजना नामक शब्द-शक्तियोंसे परे, तथा अतिरिक्त है। व्हाइटहैड, रसेल और विटगेंस्टाइनने 'लॉजिकल पॉज़िटिविज़म'की धाराके अनुसार इस बातको सिद्ध किया कि कुछ वक्तव्य ऐसे होते हैं जिनका प्रमापन (वेरिफ़िकेशन) असम्भव है। अतः उनपर बहस निरर्थक है। वक्तव्योंकी एक कोटि ऐसी है जो विश्लेषण करनेपर यथार्थके बाबत न

होकर भाषाके बाबत होते हैं। अर्नेस्ट कैसिरर (१८७४-१९४५)के अनुसार अर्थमीमांसक तथ्यात्मक ज्ञान तथा तर्कात्मक ज्ञानके क्षेत्रोंमें उलझे रहे और प्रतीकनिर्मात्री क्रियाके प्रति कम जागरूक रहे जिससे मिथकोंकी सृष्टि होती है। उनके अनुसार भाषा उस अनुभवका अवधारण (कॉन्सेप्टचुएलाइज़) तथा प्रतीकांकन (सिम्बॅलाइज़) इसके बहुत पहले ही कर डालती है जब वह बहस और तर्कका साधन बनता है। अवधारण एक बीज-कर्म है तथा प्रतीकांकन अवधारणाका स्थैर्यकर्ता ! आल्फ्रेड कार्ज़ीबस्की (१८७९-१९५०)ने भाषा और यथार्थताके सम्बन्धोंकी तुलना करके अपने 'सामान्य अर्थमीमांसाशास्त्र' के अनुसार सिद्ध किया कि शब्द वे वस्तुएँ 'नहीं हैं' जिनका प्रतिनिधित्व करते हैं, शब्द किसी वस्तुके बाबत 'सब-कुछ नहीं' कह सकते, तथा शब्दके बाबत शब्द, और शब्दका तात्पर्य कथन अनन्ततः सम्भव है क्योंकि शब्द 'आत्म-प्रकाशक' हैं। जब हम कहते हैं कि 'कमल लाल है' तो यहाँ 'कमल' और 'लाल' दोनों स्थिरांक नहीं हैं। कमल किस देशका ? किस ऋतुका ? लाल कैसा ? क्योंकि लाली तो उषाके रंगसे लेकर आलक्तकके रूपके बीच नाना वर्णकी होती है। अतः 'कमल लाल है' यह वक्तव्य पूर्णतः सत्य नहीं है। यह 'केवल' सीमाओंके भीतर ही सत्य हो सकता है। अब एक दूसरी तरहका कथन लें : "भगवान् राम स्वामी हैं"। यहाँ न तो 'रामस्वामी'का यथातथ्य सम्बन्ध है, न ही अनेकार्थक शब्दवाला विपरीत या असम्बद्ध अर्थोंवाला सम्बन्ध है, बल्कि एक समदृश्य (ऐनेलॉजिकल) सम्बन्ध है अर्थात् हमें ईश्वर-रूपसे नीचेके मानुष-रूपमें इसके सम्बन्ध-सादृश्यको ढूँढ़ना पड़ेगा। जिस तरह मनुष्य-रूपमें स्वामी-सेवकका सम्बन्ध होता है उसी तरह ईश्वर और मनुष्यका बहुत कुछ सम्बन्ध है, यद्यपि मानवीय और ईश्वरीय स्वामित्वमें अन्तर भी है। अतः इस वक्तृत्वमें भेदमें सादृश्य, एवं सादृश्यमें भेद है। यह वक्तृत्व ईश्वरकी पूर्णताका मूर्त-कथन न करके इंगित-कथन करता है और 'स्वामी' शब्दके अर्थका स्वयंप्रकाशन (इण्टचुइटे) भी करता है। यह धार्मिक अर्थोंकी जटिल समस्या है। 'ईश्वर राम'के द्वारा हमने अर्थकी व्यंजनाको थोड़ा-सा नियत प्रकरण भी दिया है। निर्गुण तो अनन्त, अनादि, अनीह आदि है; किन्तु सगुण राममें मानवीय गुण भी है (स्वामित्व, प्रीति, मर्यादा, लोकमंगल आदि'। अवतार-धारणाके कारण निर्गुण ब्रह्ममें मानवीय गुण निहित हो गये। इसलिए यह प्रदर्शन मुमकिन हो गया कि जिस तरह अवतार रामने स्वामित्वका प्रकाशन किया वही ईश्वरके स्वामित्वका अभिज्ञान है। धार्मिक भाषाकी मूलभूत समस्या है कि उसमें कथानक तथा कथोपकथन अन्ततोगत्वा दृष्टान्त (पैरेबिल्स) तथा प्रतीक (सिम्बॅल्स)में रूपान्तरित हो जाते हैं, अर्थात् चरित्र 'लीला'में एवं

संवाद 'गीता'में रूपान्तरित हो जाते हैं। इसलिए हमें "ईश्वरको दृष्टान्त रूपमें समझना पड़ता है" (आयन क्रॉम्बी)। अतएव जब अवतार राम दृष्टान्तोंमें बात करते हैं तब कवि भी ईश्वरसे दृष्टान्तोंमें ही बात करता है, यद्यपि 'सत्य' उन दृष्टान्तोंमें प्रस्तुत भाषिक सत्य जैसा नहीं होता। अतः क्या दृष्टान्तों, प्रतीकों मिथकों और आत्मप्रकाशक शब्दोंकी धार्मिक भाषाका तार्किक चरित्र होता है ? आज धार्मिक भाषाके कई सिद्धान्त उसे अ-ज्ञानात्मक सिद्ध करते हैं (मनोवैज्ञानिक अर्थमें)। पॉल टिलिचने धार्मिक भाषाकी प्रतीकात्मक प्रकृतिका, तथा चार्ल्स मॉरिसने धार्मिक भाषाकी रहस्यवादी प्रकृतिका अन्वेष किया है। 'धार्मिक' भाषाके प्रतीक हमारे सम्मुख उस यथार्थताका उद्घाटन करते हैं जो अन्य तरीक़ोंसे हमारे लिए अगम्य हैं" (—टिलिच)। यही काम कलात्मक भाषाके भी प्रतीक करते हैं, किन्तु दोनोंमें ही उद्घाटित यथार्थता क़तई 'सम्पूर्ण' नहीं होती। धार्मिक भाषाके प्रतीकोंको बल देनेमें मिथकोंका महत्तम योगदान होता है, और ये अ-प्रतिवस्तुपरक (नॉन रेप्रेज़ेण्टेशनल) एवं अ-ज्ञानक्रियात्मक (नॉन-कॉग्निटिव) होते हैं, और ये किसी अन्य वस्तुका सम्प्रेषण न करके स्वयंको ही सक्रिय बना उठते हैं (देखिए—रेण्डॉल : 'की-रोल ऑव नॉलेज इन वेस्टर्न रिलीजन' पृ० ११४)। इसके अलावा धार्मिक कथन किसी नैतिक कार्यका भी निर्देश करते हैं। अतः उनमें कार्य या कर्मका आह्वान होता है और उस कर्मके प्रति श्रद्धाभाव। इस वजहसे हम धार्मिक भाषाको आचरणों तक क्रियान्वित करके ले जाते हैं। 'ईश्वर राम स्वामी हैं' के कथनमें कथकका यह उद्देश्य है कि हम दास्य सम्बन्धोंपर आधारित धार्मिक जीवनका पालन करें। इस तरह धार्मिक कथाओं एवं धार्मिक जीवनविधिके बीच सौन्दर्यात्मकसे अधिक नैतिक एवं मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध क़ायम हो जाता है; और धार्मिक कथाएँ आचरण-नीतियोंकी व्यावहारिक व्याख्याएँ बन जाती हैं। इसलिए धार्मिक भाषामें दृष्टान्तों (पैरेबिल्स) और मिथकों (मिथ्स) के द्वारा एक ही आचरणके प्रति मनोवृत्तियोंमें अन्तर उत्पन्न हो जाता है; मसलन, सगुणधारा और निर्गुणधाराके एक ही साध्य होनेके बावजूद भी मिथकों और दृष्टान्तोंके द्वारा उनकी आचरणनीतियों, जीवनदर्शनमें फ़र्क़ हो जाता है। सारांशमें, "धार्मिक कथनका लक्ष्य किसी आचरणनीतिको क्रियान्वित करना होता है" (ब्रेथवेट : 'ऐन इम्पिरिसिस्ट व्यू ऑव द नेचर ऑव रिलिजस बिलीफ़, पृ० ३२)। तुलसीने धार्मिक भाषा और काव्यभाषाके अन्तरको दूसरे ढंगसे समझा है जब कहते हैं कि देश-काल और अवसरके अनुकूल वचन बोलना चाहिए। उनके द्वारा रची गयी प्रार्थनाएँ और संवाद एक ओर तो क्रमशः मनोवैज्ञानिक सम्बन्धों और नैतिक सम्बन्धोंको कर्ममें सम्पादित करनेका

आह्वान हैं, तो दूसरी ओर धार्मिक प्रतीकों एवं दृष्टान्तोंके प्रकाशक हैं। लीलाओंकी परिणति दृष्टान्तकथा-जैसी हो गयी है, और हर लीला एक सक्रिय आचरण-नीतिका प्रतिमान होकर प्रतिष्ठित हो जाता है। दृष्टान्तों-द्वारा कथक तुलसीने असंख्य धार्मिक वक्तव्य दिये हैं। एक उदाहरण धनुर्भंगके मौक़ेका है जब सखियाँ कहती हैं : "तेजवानको (देखनेमें छोटा होनेपर भी) छोटा नहीं गिनना चाहिए। कहाँ घड़ेसे उत्पन्न होनेवाले मुनि अगस्त्य और कहाँ अपार समुद्र! कहाँ छोटा लगनेवाला सूर्य और कहाँ त्रैलोक्यका अन्धकार! महान् गजराजको छोटा-सा अंकुश वशमें कर लेता है! कामदेवने फूलोंका ही धनुष-बाण लेकर समस्त लोकोंको अपने वशमें कर रखा है। इसी तरह उन्होंने मणि, दीपशिखा, गंगा, कल्पतरु, कामधेनु, चातक, हंस आदिके प्रतीकों-द्वारा अनुभवकी नयी विलक्षणताओंको अभिव्यक्त करनेकी कोशिश की है। उन्होंने इन प्रतीकों-द्वारा मनुष्यको कर्मप्रेरित भी किया है जैसा कि धार्मिक प्रतीकोंका स्वभाव हुआ करता है। यदि दृष्टान्तको व्यापक रूपमें ग्रहण कर लें तो हम सम्पूर्ण तुलसी-कृतित्वमें अन्योक्तियोंकी भरमार पाते हैं जो येन केन प्रकारेण नैतिक क्रियात्मकताको सबल और विश्वासपूर्ण बनानेकी कोशिशमें संलग्न हैं। तुलसीका भी बहुत कुछ ऐसा ही विश्वास था कि लौकिक काव्यात्मक वाग्विलासमें गल्प (फ़िक्शन)होता है, किन्तु अलौकिक काव्यात्मक कथनोंमें तथ्य (फ़ैक्ट्स) एवं 'भक्ति'की विलक्षण अनुभूति। ग्रन्थिक तुलसीकी इतिवृत्तात्मक शैलीमें सभी पात्र रामसे बात करते समय "हे स्वामी! ····हे प्रभु!....हे नाथ!" आदि सम्बोधनोंका उपयोग करते हैं और उनके गुण तथा चरित्रका बखान करते हैं। वे सभी 'अत्युक्ति'में बातें करते हैं। फलस्वरूप राम और ईश्वरका मेल होकर 'ईश्वर राम' वाक्यांश एक शब्द हो जाता है और तुरन्त एक आचरणनीति सारी भाषा-द्वारा आन्दोलित-आमन्त्रित हो उठती है कि ईश्वर रामसे एक विशिष्ट सम्बन्ध होना चाहिए, तथा हमें तदनुरूप वैसा ही जीवन जीना चाहिए। धार्मिक भाषामें मिथकका उपयोग वक्तव्योंकी 'सत्यता' तथा विशिष्ट आचरण-पालनके 'प्रमाण'के रूपमें होता है। बिना मिथकों और प्रतीकों और दृष्टान्तोंके काव्यात्मक धार्मिक भाषाका अस्तित्व असम्भव और बे-बुनियाद है।

धार्मिक भाषामें 'क है क' जैसा अर्थ नहीं हो सकता। उसमें 'क है अ-क' तथा 'क है ख' जैसा अनुभव भी हो सकता है। इसीलिए रहस्यवादी धार्मिक भाषा अन्तर्विपरीतों ( पैरेडॉक्सेज ) और अन्तर्विरोधों ( कॉण्ट्रैडिक्शन्स ) वाली होती है। कबीरके अनुसार जलके बीचमें मछली प्यासी है (अन्तर्विरोध), घटके भीतर नौ लाख तारे हैं, तथा नदी नहीं बहती पुल बहता है ( अन्तर्विपरीत )।

ऐसे विशेष अनुभवोंमें अन्तर्विपरीतों तथा अन्तर्विरोधोंवाली भाषा स्वाभाविक होती है। क्यों ? ऐसी भाषामें भाषापूर्व ( प्री-लैंग्वेज ) संकेत भाषोत्तर ( पोस्ट-लैंग्वेज ) संकेतोंमें (उदाहरण : गोदीके शिशुओंकी चीखवाले भाषापूर्व संकेतों, आकाशमें एक तारेकी तरह चमकनेवाले बिन्दुका भाषोत्तर 'स्पुतनिक' के रूपमें प्रत्यक्षीकरण ) प्रकट होना चाहते हैं जिससे मूल भाषा-संकेत नगण्य हो जाया करते हैं ( —चार्ल्स मॉरिसकी प्रस्थापना )। ऐसे अनुभवोंका भोक्ता स्वयंको उन व्यक्तियों और वस्तुओंके रूपमें विभिन्न समयों और स्थानोंमें चिह्नित कर सकता है। वह 'प्रतीकरूप' में यहाँ और अभी स्थित स्वयंसे पृथक् एक विषय हो जाता है; वह प्रतीक रूपमें पर्वतको लाँघ सकता है, एक सूर्य हो सकता है, एक चन्द्रमा हो सकता है, कमल हो सकता है, बहुरिया हो सकता है; और तिसपर भी 'अस्तित्वरूप' में वह स्वयं रह सकता है—यहाँ, और अभी स्थित स्वयं ! अतः वह यहाँ भी होता है और यहाँ नहीं भी; वह नदीको बहते देख सकता है और पुलको भी बहते हुए अनुभव कर सकता है। उसका यह प्रत्यक्षीकरण गूढ़ और जटिल है। यह प्रत्यक्षीकरण भाषोत्तर संकेतोंमें प्रकट होता है। मिथक, धर्म, जादू, टोटेम आदिमें यही गूढ़ भाषोत्तर प्रत्यक्षीकरण होता है। धार्मिक भाषामें कवि या रहस्यवादी प्रतीकोंसे अनुशासित न होकर खुद प्रतीकोंपर अनुशासन करता है। अतः उसके वैयक्तिक गूढ़ अनुभव ( भाषापूर्व संकेत ) बहुधा 'अनिर्वचनीय' हो जाया करते हैं। तुलसीमें रूप-दर्शन और मनोहरताके प्रभावकी अनिर्वचनीयता-की बारम्बार पुकार मिलती है। धार्मिक भाषामें पहले तो अन्तर्विरोध तथा अन्तर्वैपरीत्य मिलता है और बादमें निषेधात्मकता। उदाहरण : 'इन बातोंका बखान नहीं हो सकता', 'इनका अनुभव नहीं कहा जा सकता' इत्यादि। इसकी वजह यही है कि धार्मिक कवि या रहस्यवादी अस्तित्व रूपमें तो यहाँ और अभी है, किन्तु प्रतीकरूपमें न-यहाँ है, न-अभी है। इसीलिए अन्तर्विरोधोंकी सृष्टि होती है, या फिर अतिशयोक्तियोंके अनुमान ! वह वस्तुओंसे प्रतीकात्मक तादात्मीकरण कर लेता है। अतः उसे वस्तुका बदला हुआ रूप-दर्शन होता है : मेघ बदलकर राम-की छाया करनेवाले हो जाते हैं, बाण ब्रह्मास्त्र हो जाते हैं, समुद्रका ज्वार-भाटा सुरसा हो जाता है, वानर दैवी हो जाते हैं, इत्यादि। सूत्ररूपमें, 'अब वस्तुएँ प्रतीकात्मक नयनों' से देखी जाती हैं जो ब्रह्माण्ड यात्राओंसे विस्फारित हो चुकी होती हैं' ( चार्ल्स मॉरिस : 'कमेण्ट्स ऑन मिस्टिसिज़्म ऐण्ड इट्स लैंग्वेज़' )। तुलसीने 'मानस' में ही धार्मिक भाषाकी जटिलताओंका सामना किया है, किन्तु उनके पास काव्यात्मक भाषाकी विशाल विरासत तथा संस्कार थे। अतः उन्होंने दोनोंका जमकर मेल किया। कबीरने स्वयंको काव्यभाषा परम्परासे उतना नहीं

जोड़ा। अतः उन्हें भाषोत्तर प्रतीकोंवाली रहस्यवादी भाषाका काव्यात्मक विधान करनेमें अनेक कलात्मक, भाषातात्त्विक, ध्वनिविज्ञानपरक समस्याओंसे जूझना पड़ा है। फिर भी उन्होंने एक बेहद मौलिक और नयी भाषा गढ़ डाली है। तुलसी-ने काव्यात्मक भाषाका जो उपयोग किया है उसकी धार्मिक भाषासे सन्धिकी अनुपम मिसाल 'मानस' का वर्षा तथा शरद-वर्णन है। काव्यभाषाके भेदोंमें उन्होंने अतिशयोक्ति, व्यंग्योक्ति ('कुलघालक', 'धनुही', 'नर राम' को लेकर उठाये गये प्रसंग), शब्दश्लेष (नारद मोहमें 'हरि', तथा 'पार्वतीमंगल' में 'जड' को लेकर रचे गये घटना-विधान), वक्रोक्ति (अंगद-रावण-संवादके हनुमान्-प्रसंगमें अंगद द्वारा हनुमान्के 'हरकारेपन' की महत्ताका बखान) आदिका सबसे ज़्यादा सहारा लिया है। 'मानस' में इतिवृत्तात्मक भाषाके विधानकी वजहसे तुलसीको नाना प्रकारकी कथन-शैलियोंके प्रयोगके बेहतरीन मौक़े मिले हैं। संवादोंमें तर्क-संयोजन-के लिए उन्होंने चार प्रकारकी तर्क-शैलियाँ विकसित की हैं : (१) प्रश्नोत्तर-रूपमें लोकानुभवी तर्क-शैली। इसमें निषेधात्मकता होती है और अन्तमें अज्ञान प्रदर्शित कर दिया जाता है। उदाहरण : 'क्या कभी जलके बिना नाव चल सकती है? तपके बिना क्या तेज फैल सकता है? जल तत्त्वके बिना संसारमें क्या रस हो सकता है? इसी प्रकार, हरिभजन बिना जन्म-मृत्युके भयका नाश नहीं होता।' (२) पौराणिक शैलीमें प्रश्न व प्रश्नमें ही उत्तरका विधान। इसमें स्वीकारात्मकता होती है और अन्तमें मूढ़ता उद्घाटित की जाती है। उदाहरण : "अरे अभागे दशशीश, राम मनुष्य क्योंकर हैं? कामदेव भी क्या धनुर्धारी है? गंगा क्या नदी है? कल्पवृक्ष क्या पेड़ है? सहस्रफण क्या सर्प है? वैकुण्ठ भी क्या लोक है? रघुनाथकी अखण्ड भक्ति भी क्या लाभ है? अतः राम नर होकर भी परब्रह्म हैं"। (३) तुलनात्मक शैली। इसके द्वारा अतिशयोक्तिकी व्यंजना होती है। उदाहरण : "रामका अरबों कामदेवके समान सुन्दर शरीर है, अरबों आकाशोंके समान उनमें अनन्त अवकाश है, अरबों सूर्योंके समान प्रकाश है।" (४) असम्भव सम्भाव्यों तथा चिरन्तन क़ानूनोंके बीच तुलना करके किसी धार्मिक सिद्धान्तको इनसे भी बड़ा और नियमातीत सिद्ध करना। उदाहरण : 'कछुवेकी पीठपर भले ही बाल उग आयें, बाँझका पुत्र भले ही किसीको मार डाले, किन्तु रामविमुख जीव सुख नहीं पा सकता। बर्फ़से भले ही अग्नि प्रकट हो जाये, खरगोशके सिरपर भले ही सींग निकल आयें, अन्धकार भले ही सूर्यका नाश कर दे, किन्तु रामविमुख होकर कोई सुख नहीं पाता'। (ये चारों उदाहरण 'मानस'-से लिये गये हैं)।

निष्कर्ष रूपमें कहा जा सकता है कि इतिवृत्तात्मक काव्यभाषाका इस्तेमाल

करनेके कारण तुलसीने 'मानस' में अनेक प्रकारकी वक्रोक्तियों तथा तार्किक-विधियोंका व्यवहार किया है; तथा उन्होंने धार्मिक भाषा तथा काव्यात्मक भाषा, इन दोनोंका भी विचित्र संयोग किया है एवं धार्मिक भाषाका अनुपम सरलीकरण किया है।

इसी भाषा-विधान-प्रसंगमें तुलसीके रूपकों ( मेटेफ़र्स ) तथा बिम्बों ( इमेजेज़ ) के विधानोंपर मुख्तसिर ग़ौर हो सकता है। आधुनिक व्याख्याओंमें रूपक तथा संस्कृतिका अन्योन्याश्रय माना गया है। बहुधा रूपकको विशिष्ट संस्कृतिका दर्पण भी सिद्ध किया गया है।

'रूपक'में दो तरहकी सम्बन्धता होती है : ( क ) यह सादृश्य या साधर्म्य-का कथन न होकर तादात्म्य-कथन है जहाँ समाजके दृष्टिकोणका प्रकाशन होता है; जैसे श्रद्धा-गौ, धर्म-रथ। अतः रूपक तथ्यका वक्तव्य होता है। रूपक 'कालान्तर'में 'रूपी', 'जिमि', 'जनु' आदिके द्वारा उपमा बन जाता है, और यह एक सामाजिक घटना है। ( ख ) रूपकका तादात्म्य-कथन अपने विशेष देश और काल अर्थात् इतिहास और भूगोलसे अपनी सम्बन्धता प्रतिबिम्बित करता है। अतः रूपकमें तुलसीकी मौलिकताके बजाय उनकी इस देश-काल सम्भूत सम्बन्धता-का ज्यादा महत्त्व है। इसीलिए रूपक एक पूरे समाज और सभ्यताका अन्त-र्भावन करते हैं। तुलसीने बड़े अनूठे सांगरूपकोंकी रचना की है। जिस तरह होमरकी होमरीय उपमाएँ, दान्तेके संदर्शन, कालिदासकी उपमाएँ, कबीरके प्रतीक अपनी मौलिक और सांस्कृतिक छाप रखते हैं, उसी तरह तुलसीके 'सांगरूपक' उनके समय और समाजकी समग्रता, हिन्दू जातिकी धार्मिक चेतना तथा वेदलोक-सम्मत सामाजिक व्यवहारका प्रकाशन करते हैं। जिस तरह आजके युगमें हम जिन रूपकोंका इस्तेमाल करते हैं वे या तो मनुष्य और मशीनका तादात्मीकरण करते हैं, अथवा मिथक ( सिसिफ़स'; ओडीपस, प्रोमे-थ्यूस, त्रिशंकु, बृहन्नला, कुन्ती, अभिमन्यु आदि) कथाओं और वर्तमान संस्कृति-का तथ्यीकरण करते हैं। वास्तवमें विचार एवं आचरणके नियामक घटक या तो सामाजिक सांस्कृतिक हैं, या मनोयौनपरक अथवा स्नायु-अर्थपरक ( सोश्यॅ-कल्चरल, साइको-सेक्स्युअल, न्यूरो-लिमैण्टिक )। भाषा और संस्कृतिको ये रूप-गठन देते हैं। तुलसीके सांगरूपकोंमें-से श्रद्धा-गौका रूपक एक सम्पूर्ण कृषक-भारतसे सम्बन्ध रखता है, भक्ति-गंगा रूपक पवित्र नदीके किनारेके धार्मिक जीवनसे सम्बन्ध रखता है, धर्म-रथ रूपक ( महाभारतसे प्रभावित होकर ) आध्यात्मिक मूल्य-चक्रकी रचना करता है, रामचरित-मानस रूपक धार्मिक स्नानके माहात्म्यसे जुड़ा है, मणिदीप रूपक मन्दिरोंके उपचारोंसे सम्बद्ध है, तथा रक्तनदी

रूपक कुम्भीपाकनदको याद दिलाता है।

'बिम्ब-विधान'की दृष्टिसे तुलसीने संस्कृतकी क्लैसिकल परम्पराओंसे आगे बढ़कर उनमें ग्राम्यीकरणका जबरदस्त समावेश किया है। यह उनकी 'ग्रामीण सौन्दर्यबोध-शास्त्र'को महत्तम देन मानी जायेगी। संक्षेपमें, उनके बिम्ब-विधानकी निम्नलिखित कोटियाँ हैं :

( १ ) पम्पासर, वर्षा, शरद् वर्णनमें 'धार्मिक-नैतिक 'बिम्ब' ( इनका निरूपण हो चुका है ):

( २ ) 'लोकानुभवी बिम्ब' ( इनका भी निरूपण हो चुका है );

( ३ ) 'मिथकीय बिम्ब' ( इनका निरूपण आगे होगा );

( ४ ) ब्रह्माण्डपरक बिम्ब' ( इनका भी निरूपण आगे होगा );

( ५ ) 'अन्योक्ति, सूक्ति, दृष्टान्तपरक बिम्ब'; जैसे : कहीं पोखरेका क्षुद्र कछुवा भी मन्दराचल उठा सकता है, नवरसालवनमें विहरणशील कोकिला क्या करीलके जंगलमें शोभा पाती है, कौवोंको बड़े प्रेमसे पालो पर क्या वे कभी मांसत्यागी हो सकते हैं, सन्त-असन्त एक साथ जगत्में पैदा होते हैं किन्तु उनके गुण कमल व जोंककी तरह अलग-अलग हैं, साधुका चरित्र कपासके फलकी तरह होता है, जैसे बगुले हंसपर तथा मेंढक पपीहेपर हँसते हैं वैसे ही मलिनमन निर्मलवाणीपर हँसते हैं, इत्यादि;

( ६ ) 'कवि-समयपरक बिम्ब'; सर्पमणि, सूर्य-कमल, मोती-सीप, गज-मुक्ता आदिसे सम्बन्धित;

( ७ ) 'शकुन-अपशकुन सूचक बिम्ब'; जैसे : मंगल बधावे बजने लगे, कलश सजा दिये गये, देवता फूल बरसाने लगे, सुआसिनियाँ मंगल गाती हैं, बहुत-से स्यार गदहे और कुत्ते रोते हैं, आकाशमें जहाँ-तहाँ पुच्छल तारे प्रकट हो गये, पृथ्वी हिलने लगी, आकाशसे वज्रपात होने लगा, इत्यादि;

( ८ ) 'मुद्रात्मक बिम्ब'; जैसे : जयमाला डालती हुई सीता मानो दो सनाल कमल चन्द्रमाको डरते हुए जयमाल दे रहे हों, रामसे मिलते हुए मुनि ऐसे शोभित हो रहे हैं जैसे सोनेके वृक्षसे तमालका वृक्ष भेंट रहा हो, हनुमान् ऐसे निःशंक खड़े रहे जैसे सर्पोंके समूहमें गरुड़, अंगद सिंहकी-सी ऐंड़से इधर-उधर देखने लगे, कुम्भकर्ण ऐसा अचल रहा जैसे मन्दारके फलोंके भारसे हाथीपर कुछ असर नहीं होता, वानरोंकी बहुत-सी पूँछें आकाशमें छायी हुई हैं मानो सुन्दर इन्द्रधनुष उदय हुए हों, चारु चरन नख लेखति धरनी, आदि;

( ९ ) 'भाव एवं विचार बिम्ब'; जैसे : सीता इस तरह चकित हैं मानो डरी हुई मृगछौनी सकल दिशाओंमें देख रही हो, प्रेमप्रफुल्लित रानियाँ ऐसी

सुशोभित हो रही हैं जैसे मोरनी बादलोंकी गरज सुनकर प्रसन्न होती है, कैकेयी ऐसे देखती है मानो भूखी बाघिनी हरिणियोंको देख रही हो, भरतकी दशा कैसी है जैसी जलप्रवाहमें जल-अलिकी गति होती है, सब अतुलनीय बलवान् तीर ऐसे चले मानो काजलकी आँधी हो, लंकाके लोग हनुमान्को याद कर डरसे सूख गये और छिपने लगे जैसे बाज़के झपटनेपर लवा पक्षी छिप जाता है, अन्य व्याकुल व्यक्ति भी भरतके साथ हो गये जैसे वनको भयंकर दावानलसे जलता देखकर पक्षी और मृग उससे निकल भागने लगते हैं, भरत भरद्वाजके आश्रमकी ओर चले मानो किसी तृषातुर गजराजने दारुण घाम लगनेपर किसी तड़ागको देख लिया हो, वियोगिनी धूलि-धूसरित सीता ऐसी लगती थी मानो कामदेव भूलसे अपनी मोहिनी मणिको भूल गया हो, 'बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी, पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी', कैकेयीका हृदय कुम्हारके आँवेके समान जलने लगा, सासुओंकी बुरी दशा देखकर सीताको ऐसा लगा मानो राज-हंसिनियाँ बधिकके वशमें पड़ गयी हों, कैकेयी तू अन्तमें पछतायेगी जो नहारू ( ताँत ) के लिए गायको मार रही है, विधाताकी बुद्धि बड़ी टेढ़ी है जो दूधफेन-जैसी कोमल वस्तु-को वज्रकी टाँकीसे फोड़ रहा है, भरत अयोध्यामें इस प्रकार अनासक्त होकर बस रहे हैं जैसे चम्पाके बागमें भौंरा, रोमांचसे मुनिका शरीर कटहलके फलके समान हो गया, इत्यादि;

(१०) 'ऐन्द्रियिक बिम्ब' (पंचेन्द्रियों तथा उनके संयोगोंसे सम्बन्धित); जैसे : युवती स्त्रियोंका शरीर दीपककी लौके समान है, राम-लक्ष्मण बालहंसोंका सुन्दर जोड़ा है, बालमृगनयनी सीता जहाँ-जहाँ देखती है वहाँ मानो श्वेत कमलों-की क़तार 'बरस' जाती है, सखियोंके बीच सीता इस प्रकार शोभित हो रही है मानो बहुत-सी छवियोंके मध्य महाछवि हो, मतवाले गज घण्टोंसे सुशोभित होकर चले मानो सुन्दर बादलोंके समूह गरजते हुए जा रहे हों, अटारियों-पर सुन्दर व चपल स्त्रियाँ प्रकट होती व छिप जाती हैं मानो चारु चपल दामि-नियाँ दमक रही हों, तीनोंके कोमल और लाल चरणोंको छूते ही पृथ्वी वैसे ही सकुचा जाती है जैसे हमारे हृदय, रामका मोरके कण्ठकी-सी कान्तिवाला श्याम शरीर है, रामका नवीन तमालके वृक्षके रंगका शरीर शोभा दे रहा है, बिना नाक-कानके शूर्पणखा विकराल हो गयी मानो पर्वतसे गेरुकी धारा बह रही हो, सीता कुररी पक्षीकी तरह विलाप कर रही है, हनुमान्-मेघनाद लड़ने लगे मानो दो गजराज भिड़ गये हों, घायल वीर कैसे शोभित हो रहे हैं जैसे फूले हुए पलाशके पेड़, निशाचरोंकी सेनारूपी तीतरोंके समूहका नाश करनेके लिए हनुमान् बाज हैं, प्रभुके अरुणवर्ण होठ-हाथ और चरण ऐसे

जान पड़ते हैं मानो श्रृंगार-सरोवरमें उत्पन्न सोनेके कमल हों, दोनों भाई शिरीषके फूलके समान सुकुमार हैं, सीताके शरीरसे अरुण कमल और सुवर्णने भी कान्ति पायी है, युद्धविजयी रामके श्याम शरीरपर पसीनेकी बूँदों तथा उनके बीच-बीचमें रुधिरकण ऐसे लगते हैं मानो मरकत शैल-शिखरपर जुगनुओंके समूहमें बीरबहूटियाँ शोभा पा रही हों, रामको देखता हुआ मुनियोंका समुदाय ऐसा सुशोभित है मानो चकोरोंका समुदाय शरच्चन्द्रको देख रहा हो, इत्यादि;

(११) 'शुद्ध प्रकृति बिम्ब'; जैसे : तालाबके ऊपर चकवे-बगुले और हंस उड़ रहे हैं, बहुत-से गदहे स्यार और कुत्ते रोने लगे, पर्वत चंचल हो गये और समुद्र खलभला उठे, नदियाँ झिग-झिग-झिग करती हुई जलतरंगिणियाँ झरती हैं, बटके पत्ते नीले व सघन हैं और उसमें लाल फल लगे हैं, वर्षाकालमें गगनमें छाये हुए गरजते मेघ परम सुहावने लगते हैं, धातुओंसे रँगे हुए गिरिशिखरोंपर मधुर-मधुर शोर करते हुए मेघ शोभायमान होते हैं, घन घमण्ड नभ गरजत घोरा, इत्यादि····।

इन कोटियोंमें-से भेदपरक सं० (१०), (९) तथा (८) को छोड़कर शेष क्षेत्रपरक हैं। यहाँ 'बिम्ब' का विश्लेषण करनेमें बहुत विषयान्तर हो जायेगा किन्तु कुछ दिशाएँ इंगित दे सकती हैं—

एक—बहुधा उन्होंने तुलनात्मक बिम्ब लिये हैं और तुलनाके लिए विभिन्न पशु, पक्षी, फूल, इत्यादिके अनेक रूपात्मक पक्षोंको लिया है। दो—उन्होंने एक ही तुलनीयको विभिन्न रूपोंमें इस्तेमाल किया है; जैसे (हंस) : नीरक्षीर-विवेकी हंससे भरत, मानसरोवरपर तैरनेवाले भक्तरूपी हंस, सीता सखियोंके साथ राज-हंसिनी-सी चली, दोनों भाई राजहंसका सुन्दर जोड़ा है, तुम हंसगामिनी वन-योग्य नहीं हो, इत्यादि [ इसके लिए वारान्निकोव-कृत 'मानसकी (रूसी) भूमिका' पृ० ९२-१०३ देखें ]। तीन—तुलनामें रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा आदिका ढाँचा रखा है। चार—बहुधा एक बिम्बके दो भाग हैं जिनमें पहलेमें वक्तव्य है और दूसरेमें बहुधा दो लोकसिद्ध उपमानोंको जोड़कर बनाया गया कवि-कल्पित उपमान अर्थात् उत्प्रेक्षा है। पाँच—यदि पहले वक्तव्य खण्डमें भी कोई बिम्ब है तब दूसरे बिम्ब-खण्डमें 'संयोगिक' बिम्ब आ गया है ( उदाहरण : भोरके अरुण आकाशमें तारागण ऐसे जान पड़ते हैं मानो सूर्यरूप बालमृगराजने अन्धकाररूप गजराजको दलित कर उसके अत्यन्त सुन्दर मुक्ताफल बिखेर दिये हों। छह—इन बिम्बोंकी शैलीमें वक्तव्य-बिम्बका समवाय तो है ही, इसके अलावा इनमें सौन्दर्यात्मक प्रतिबोध भी है; बहुधा कविने पहले वक्तव्य देनेके बाद 'बीच' में 'ऐसा लग रहा है' या 'ऐसा सुशोभित हो रहा है' इत्यादि वाक्यों-

को जोड़कर 'अन्त' में उत्प्रेक्षात्मक; रूपकात्मक या उपमात्मक बिम्ब गढ़ा है। सात—'शोभन' और 'मोहन' को ही बिम्बमें अभिव्यक्त करनेकी ऊहात्मक चेष्टाएँ हुई हैं; और वक्तव्य तथा बिम्ब-खण्डोंका अन्तर ज़ाहिर करनेके लिए 'कैसे-जैसे' 'जनु' 'जिमि', 'मनहु', 'ज्यों' आदि सम्बन्धसूचक अव्यय इस्तेमाल हुए हैं। तुलसीके बिम्ब-अवबोधकी ये विशेषताएँ हैं।

**अब** अगली एवं अन्तिम गोष्ठीमें हम मिथक, मिथकीयकरण तथा प्रतीकीकरणके प्रकाशमें तुलसीके व्यक्तित्व तथा कृतित्वका अनुशीलन करेंगे।

■

# सातवीं गोष्ठी

•

**"प्रति अवतार कथा प्रभु केरी, सुनु मुनि बरनी कविन्ह घनेरी" :**
अर्थात् मिथक ( मिथ ), मिथक-रचना, मिथकीयकरण तथा प्रतीकीकरण-के आलोकमें तुलसीका व्यक्तित्व कैसा है, और कृतित्वकी क्या भूमिकाएँ हैं ?

मिथककी मीमांसा संस्कृति और कलाको एक बिलकुल 'नये' आयामका दीदार करा देती है। लौकिक बोध, सौन्दर्यबोध, वैज्ञानिक बोधकी तरह मिथकीय बोधका भी अपना अलग सुहावना प्रभामण्डल है जिसके घेरेमें कवि, पात्र, जगत्, समाज, घटना आदि नया स्वयंप्रकाश्य ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। खूबसूरत मिथक-लोकमें आद्यादि एवं सर्वाधिक सार्वभौम ( यूनिवर्सल ) सौन्दर्यबोधात्मक अतिशयकल्पना ( फ़ैण्टेसी ) का प्रतिवस्तुस्थापन होता है। मिथक केवल बोधात्मक ही नहीं, क्रियात्मक ( फ़ंक्शनल ) भी हैं। विज्ञानका चरम मूल्य सत्य है, मिथकका सम्भावना, इतिहासका तथ्य तथा धर्मका शुभ। किन्तु मिथकमें इन सभी मूल्योंका प्रकारान्तरसे 'विशिष्ट' सामंजस्य हुआ है। गियाम बैटिस्टाविको मिथकशास्त्रके जनक माने जाते हैं। उनके अनुसार मानवीय संस्कृतिकी सच्ची एकताका प्रतिनिधित्व भाषा, कला एवं मिथकके त्रित्वमें होता है। उसेनेरके अनुसार मिथकशास्त्र धार्मिक प्रतिवस्तुस्थापनों ( रेप्रेज़ेण्टेशंस ) का रूपविज्ञान ( मॉरफ़ॉलॅजी ) है जो देवताओंका सारतत्त्व उनके 'नामों' एवं उनके नामोंके 'इतिहास' में पढ़ लेता है। अर्न्स्ट कैसीरर ( १८७४-१९४५ ) के अनुसार "जब चेतनाके लिए यह जगत् अनुभववादी वस्तुओंकी सम्पूर्णता तथा अनुभववादी तत्त्वोंकी जटिलता-जैसा प्रतीत हुआ, तब इसके बहुत-बहुत पहले वह मिथकीय शक्तियों और प्रभावोंके एक औसतके रूपमें भासमान हो चुका था।"[1] कैसीरर सारे मिथकशास्त्रका स्रोत तथा उद्भव भाषाका द्वैत ( दो अन्तर्विरोधी गुणोंमें-से एकका, या दोनोंका आयतन, ( अर्थात् ऐम्बिवैलेन्स ) मानते हैं। यह उनके

१. कैसीरर : 'द फ़िलॉसफ़ी ऑव सिम्बॉलिक फ़ॉर्म्स,' भाग २, पृ० १।

'प्रतीकात्मक रूपोंके दर्शन' का निचोड़ है। मर्सिया ऐलियादे मिथकको "घटनाओं-का वह वृत्तान्त मानते हैं जो आदिमें एक आदिम ( प्राइमॉर्डियल ) और काला-तीत वेलामें पवित्र काल ( सेक्रेड टाइम ) की बेलामें—घटा था।"[१] यह पुनीत काल ( सेक्रेड टाइम ) क्या है ? मिथकके दर्शनशास्त्रमें पुनीत काल और धर्मनिरपेक्ष काल ( प्रोफ़ेन टाइम ) ये दो धारणाएँ हैं। मिथकीय इतिहास पुनीत कालमें घटता है, तथा कार्यकारणकी शृंखलासे संचालित अनुभवगम्य इतिहास धर्मनिरपेक्ष कालमें घटता है। मिथकीय इतिहासमें यथार्थता अनिवार्य रूपसे पुनीत भी है अर्थात् जो यथार्थता है वह पावनता भी है। यथार्थ और पुनीत समीकरणबद्ध हैं। मिथकीय काल कालातीत ( नॉन-टेम्पोरल ) है जो बिना क्रम और चक्रके घटनेके कारण प्रत्यावर्तित ( रिवर्ट ) भी हो जाता है। इसलिए मिथकमें 'प्रतीकात्मक शाश्वतता' होती है। मिथक इसलिए सत्य है क्योंकि वह पुनीत है। हिन्दीकी बौद्धिक परम्परा ( हिन्दी इण्टेलेक्टचुअल ट्रैडीशन ) से परिचय करानेके लिए हम विषयान्तर करके भी मिथककी थोड़ी लम्बी भूमिका देना चाहेंगे।

मिथकमें 'यथार्थता' और 'काल' का बोध कई मायनोंमें पृथक् है। मिथकीय कालका कोई निश्चित स्वरूपगठन (स्ट्रक्चर) नहीं होता। उसमें अतीत-वर्तमान-भविष्य, तीनों घुले व गुँथे रहते हैं; भूत कभी व्यतीत नहीं होता। वह हमेशा 'यहाँ' और 'अभी' मौजूद रहता है। तिसपर भी मिथकीय चिन्तन कार्य एवं कारणके बीचमें एक प्रकारकी 'निरन्तरता' की सृष्टि करता है जिसकी वजहसे मध्यम सन्धियोंकी एक क़तार रची जाती है जो आरम्भिक तथा अत्यन्तिम अवस्थाओं-को जोड़ती है। यह निरन्तरता कार्य-कारणके ऐकान्तिक नियमके अनुसार नहीं होती; बल्कि तर्कपूर्व चिन्तन ( प्री-लॉजिकल थॉट ) के अनुसार क़ायम होती है। तर्कपूर्ण विश्लेषणमें कार्यको अलग-अलग एवं सरल किन्तु क्रमानुसार 'प्रक्रियाओं' में खण्डित किया जाता है, जब कि तर्कपूर्ण मिथकीय चिन्तनके अन्तर्गत प्रक्रियामें एक मूर्त या इदम् वस्तु दूसरी वस्तुमें विशेष ढंगसे रूपान्तरित (परिवर्तित नहीं ) हो जाती है। यह विशिष्ट परिवर्तन अन्तररूपान्तर ( मेटेमॅर-फ़ोसिस ) के नियमसे अभिहित किया जाता है। अत: मिथकीय चिन्तन तर्कपूर्ण चिन्तन होता है जिसमें चिन्तनकी अपेक्षा अनुभूतिका सत्त्व होता है, और ज़िसपर अन्तररूपा-न्तरका नियम लागू होता है। "मिथकीय अन्तररूपान्तर हमेशा एक वैयक्तिक घटनाका आलेख होता है : एक वैयक्तिक तथा मूर्त पदार्थ रूपसे दूसरेमें परिवर्तन।

१. मर्सिया ऐलियादे : 'इमेजेज ऐण्ड सिम्बॅल्स', पृ० ५७।

ब्रह्माण्ड समुद्रकी गहराइयोंसे मथकर निकाल लिया जाता है या एक कछुवेसे ढाल लिया जाता है, धरती एक महाकार शरीरसे अथवा जलमें तैरते हुए एक खिले कमलसे गढ़ ली जाती है, सूर्य पत्थरसे निर्मित कर लिया जाता है, और मनुष्य वृक्षों तथा शिलाओंसे। अपनी 'मामूली' विषयवस्तुमें अराजक तथा नियमहीन लगनेवाली ये मिथकीय व्याख्याएँ जगत्के प्रति एक और एक-समान 'आबोध' का उद्घाटन करती हैं ( मिथकीय चिन्तनमें )। शुद्ध कार्य-कारण सिद्धान्तका स्थानान्तर प्रयोजन-सिद्धान्त-द्वारा हो जाता है।....( यहाँ ) सम्पूर्ण या अंगीके अंश या अंग नहीं होते, और न ही वह उनमें विभक्त होता है; बल्कि अंश या अंग ही तुरन्त सम्पूर्ण 'हो जाता' है, और उसी रूपमें सक्रिय रहता है।....यह सिद्धान्त आदिम तर्ककी नींव है।....यह सम्बन्धता न तो बौद्धिक है न प्रतीकात्मक, बल्कि 'वास्तविक' और भौतिक है। मिथकीय धारामें अंश या अंग वैसी ही वस्तु है जैसा सम्पूर्ण या अंगी।''[१] मिथकके तत्त्व सभी देशोंमें लागू होते हैं : तुलसीने रामकी मिथक-कथामें ऐतिहासिक चेतनाके मेल भी कराये हैं। किन्तु उनमें भी मिथकीयकरणके सभी बुनियादी तत्त्व मौजूद हैं। उनके लिए, और उस युगके हिन्दू समाजके लिए, राम यथार्थ हैं, रामकी सभी यथार्थता अनिवार्य रूपसे पावनता भी है। राम कालातीत हैं, वे प्रति कल्पमें अवतार लेते हैं। अतः रामका काल कभी व्यतीत नहीं होता। ( त्रेतायुगमें अवतारका पुराण ऐतिहासिक चेतनाकी देन है )। रामकथा सभी कालोंमें प्रवाहित है। वे शिवके भक्त रावणसे भी जुड़े हैं, वे पूर्वावतार परशुरामके भी साथ हैं, उनके वामनावतारके समयमें जामवन्त युवक थे, वे कुषाणकालीन वाल्मीकिसे मिलते हैं तथा मुग़लकालीन 'तापस' तुलसीको भी दर्शन देते हैं। वे सर्वव्याप्त हैं। इस चेतनामें धर्मके प्रतीकोंका जो योगदान हुआ है उसकी चर्चा यथास्थान होगी। राम सम्पूर्ण हैं और उनके अंश, समूह, व्यूह रूप भी उसी तरह रूपान्तरित ( अवतार लेकर : अन्तररूपान्तर ) होकर सम्पूर्ण होते हैं। रामकथामें रूपसे भी बड़ा है नाम, और नामका इतिहास अर्थात् रामकथा अनेक धार्मिक प्रतीकोंसे जगमगा उठी है। रामकथामें मध्यम सन्धियाँ सभी वस्तुओं और घटनाओंको ईश्वर-अंश या प्रभुमहिमामें रूपान्तरित कर देती हैं। रामकथाके अंश अलग न होकर सम्पूर्ण कथाके समान पूर्ण हैं। इसीलिए प्रत्येक 'लीला' स्वयंपूर्ण है। हमने सूत्ररूपमें इन तत्त्वोंको बताया है। तुलसीके मिथकीयकरणकी मौलिक चेतना यही है। मिथकीय चिन्तनमें पुनीत कालकी

१. अर्न्स्ट कैसीरर : 'दि फ़िलॉसॅफ़ी ऑव सिम्बॉलिक फॉर्म्स', भाग दो, पृ० ४७, ४९, ५०।

भावना इसलिए होती है कि उसमें कालके माध्यमसे निर्गुण अवतार लेता है और मिथकीय इतिहासकी रचना करता है। इसलिए कलिकाल अर्थात् ऐतिहासिक काल अर्थात् प्राकृतजनोंका काल अपवित्र और अयथार्थ ( माया, भ्रम ) हो जाता है। इसलिए अवतार मिथकीय इतिहास हैं; मिथकीय इतिहासमें यथार्थता तर्कपूर्व है, और पावनतासे सन्निहित है। सारांशमें, मिथकका नाम और काम मनुष्यको पुनीतसे तभी साधारणीकृत कर सकता है जब वह अपने ऐसिहासिक अस्तित्वकी यथातथ्यता (कलिकाल) और मूर्तता ( = वर्णाश्रमधर्म तथा लोकरीति-का लोप आदि ) से दूर पलायन कर जाये। तुलसी यह पूरी तरह नहीं कर पाये, और 'मानस' के पवित्र कालसे बिदा लेकर 'कवितावली' के ऐतिहासिक कालमें तार्किक विश्लेषण भी करने लगे। उनमें मिथकीय बोधसे ऐतिहासिक बोधकी ओर प्रयाणके दर्शन होते हैं। ऑल्टीज़रके मुताबिक़ मिथक प्रारम्भके आदिम ( प्राइमॉर्डियल ) कालको केवल तभी यथाकृत कर सकता है, जब मूर्त स्थान एवं कालके अनुभव तथा अन्तःश्रेणियाँ विलीन हो जायें। कथक तुलसी इसी विलयनके लिए पार्वती और गरुड़की शंकाओंको ले आते हैं। श्रोताओंको बार-बार आगाह करते हैं कि रामकथा तो पूर्वजन्मोंसे लेकर मृत्युपर्यन्त तक कालातीत अर्थात् एकतान है, तथा मिथकीय राम ( परब्रह्म ) ऐतिहासिक राम (नर) नहीं हैं। अपने युगकी ऐतिहासिक चेतनाके विश्वास-अविश्वासके तनावके बीच उन्हें बारम्बार यह कहना पड़ा कि इतिहास तो मात्र भ्रम ( मोहहीन नरलीला ) है। यहाँ पुनः धार्मिक प्रतीकोंने भी दस्तन्दाज़ी की है। हक़ीक़तमें मिथक 'स्थान' और 'काल' की धर्मनिरपेक्ष दुनियाका निषेध करता है। मिथक जिस यथार्थताका उद्‌बोधन करता है वह अपने प्रभावमें इतनी पुनीत होती है कि कमसे कम कुछ समयके लिए वह सभी निर्मल चेतन अनुभवोंको छिन्न-विच्छिन्न कर डालती है (ऑल्टीज़र )। 'मानस' के धार्मिक-मिथकीय वृत्तमें श्रद्धा और विश्वास तथा भक्तिकी प्रगाढ़ तन्मयताके मूलमें इसी विशिष्ट यथार्थताका उद्‌बोधन हुआ है। बादमें तो ऐतिहासिक यथार्थताके संघातसे 'हनुमानबाहुक' में पवित्र यथार्थताके प्रति कविका मोहभंग भी हुआ है। इतिहास अर्थात् कालमें कार्य-कारण-परम्परासे मिथकीय चेतना अनभिज्ञ है। वह कालातीत चेतना है। ऐतिहासिक कालमें 'मोक्ष', 'निर्वाण' की जो धारणाएँ प्रधान हो गयीं उनमें कालका विपर्यय ( रिवर्सिबिलिटी ) है, जन्म-मृत्युके भौतिक तथ्यसे मुक्ति है तथा आदिम अहंकी आत्माके प्रतीकमें प्रतिष्ठा है। मिथकीय काल हमेशा 'यहाँ' और 'अभी' होता है।

ऐतिहासिक काल तथ्योंसे प्रारम्भ होता है। ऐतिहासिक चेतनाके आनेपर

अनुभववादी (इम्पीरिकल) यथार्थता (पवित्र यथार्थताके स्थानपर)का अधिष्ठान होता है। ऐतिहासिक बोध कार्य-कारणकी पुरोगामी शृंखलाका अनुसरण करता है। ऐतिहासिकबोध-सम्पन्न कवि, दार्शनिक और सर्जक अतीत-द्वारा छोड़े गये भौतिक तथा सांस्कृतिक अवशेषोंका वर्तमानमें अनुशीलन करता है। इस तरह ऐतिहासिक बोध स्मरणपर आश्रित है। ऐतिहासिक वस्तुओंका सच्चा अस्तित्व तबतक रहता है जबतक वे याद किये जाते हैं। उनके स्मरणमें ही संस्कृतिकी दुनियाकी उपलब्धि होती है। अतः कविका ऐतिहासिक बोध अतीतका निर्माण नहीं कर सकता, वह अन्तर्मुखी चेतनासे उसका पुनर्निर्माण करता है। संस्कृतिका यह ऐतिहासिक पुनर्निर्माण कविकी अन्तर्मुखता और बहिर्गत समाजकी दशाके मिलन-द्वारा ही होता है। अतः कवि या सर्जक अतीतकी व्याख्या करता है। इस तरह इतिहास-चेतनाकी निरन्तरतामें एक अतीतकी कई व्याख्याएँ संचित होती रहती हैं। इसीलिए कभी-कभी एक मिथकके देवता या इतिहासके वीर-नायकके विषयमें कई 'प्रतीकात्मक पुनर्निर्माण' संचित हो जाते हैं। रामकथाके कई पुनर्निर्माण हुए हैं। तुलसीने उस पुनर्निर्माणमें 'अवतारवाद' और 'भक्ति'का समन्वय किया है। यह मिथकीय चेतनापर उनकी विशिष्ट ऐतिहासिक और सांस्कृतिक चेतनाका आरोपण है। अतः अवतारवाद और भक्तिके द्वारा तुलसी-ने मिथकको वैष्णव सम्प्रदायपरक ऐतिहासिक बोध प्रदान किया है। स्वयं तुलसी भी मिथकीय व्याख्याओंके अन्तरसे वाक़िफ़ थे। इसीलिए उन्होंने कहा है कि "हरि अनन्त हैं और हरिकथा अनन्त हैं', कवियोंने रामके प्रति अवतारको कथा-का वर्णन किया है तथा मेरी कथा भी विचित्र है।" यह 'विचित्रता' उनकी ऐतिहासिक चेतनाकी अन्तर्मुखता है। यह विचित्रता मिथकके संस्कार रूप द्वैतकी भी है। पवित्रता सम्बन्धी मूल मिथकीय धारणाका नैतिक पावनता सम्बन्धी धारणासे इतना कम मेल है (देखिए : आरम्भिजातकों, जैन रामायणों व वाल्मी-किमें इनके अवशेष)कि दोनोंके बीच चारित्रिक तनाव, एक ध्यातव्य विरोध भी उभर सकता है जो मिथकीय बोधके अनुसार पवित्र है, जो धार्मिक बोधके अनुसार वर्जनीय और अपावन भी हो सकता है। तुलसीको भी इस समस्याका ज़बरदस्त सामना करना पड़ा और उन्होंने इसका समाधान कार्यके द्वैतके द्वारा किया। सीताहरणका जीवन्त प्रसंग मायासीताके अपहरणमें बदल गया, जयन्त-द्वारा सीताके स्तनोंमें आघातकी बात चरणोंमें आघातको बात हो गयी, लक्ष्मण-का पिताद्रोह कटुवाणी-द्वारा मात्र ध्वनित कर दिया गया, इत्यादि। इससे एक रहस्य खुलता है : ऐतिहासिक चेतना मिथकीय चेतनाकी जो व्याख्याएँ करती हैं उनके लिए वह पुनः एक नयी नैतिक पावनताकी भूमि तैयार करती है, नये

कारण बतानेमें नयी पताका और प्रकरी कथाएँ जोड़ती है, तथा अनुभववादी बहिर्मुखी दुनियाके विकासको भी शामिल कर लेती है। इस तरह हम मिथकीय बहिर्गत जगत्के विकास तथा अनुभववादी बहिर्गत जगत्के विकासके बीच एक निश्चित समदृश्य (ऐनैलेजी) पाते हैं। मिथकीय चेतनामें 'पुनीत' और 'धर्मनिरपेक्ष'के बीचका यह मूल विभाजन सभी आदिम सृष्टियोंमें मिलता है, और मिथककी सर्वोच्च रूप-रचनामें भी।"[1] इस कारणसे मिथक-निर्माणके दो स्वरूप हो जाते हैं: (क) आदिम मनुष्य (आर्केक मैन)के मिथक, तथा (ख) विकसित ऐतिहासिक मनुष्य (हिस्टॉरिक मैन)के मिथक। इस तरह मिथक पुनीतकालसे धर्मरनिपेक्ष कालमें भी सदा जीवित रहते हैं। एक ओर तो वे इन दो विरोधोंकी 'एकता' क़ायम करते हैं, दूसरी ओर सातत्यका भी धारण करते हैं। ऐतिहासिक बोधके कारण उनकी सार्वभौमिकता (यूनिवर्सैलिटी) में विशिष्टता (पर्टीक्युलैरिटी) का भी मेल हो जाता है। ऐतिहासिक बोध वास्तवमें स्थान एवं कालकी धर्मनिरपेक्ष दुनियामें उनकी मात्र व्याख्या करता है। यद्यपि मिथक 'गल्पात्मक' (फ़िक्टीशस) होते हैं, लेकिन वे चेतनके बजाय 'अवचेतन गल्प' होते हैं। ऐतिहासिक बोध उनमें तर्क (रीज़न) और चेतन (कॉन्शस)का स्पर्श भी करा देता है। तुलसीने मिथक-निर्माणके दोनों स्वरूपोंका योगायोग किया है—एक साम्प्रदायिक दर्शनदृष्टिसे। इसी वजहसे उनके 'मानस'का प्रत्यक्षीकृत ढाँचा उनके ज़मानेके ग्रामीण हिन्दुस्तानका है। दोनों स्वरूपोंके इस मेलको हम 'मिथकीयकरण' तथा 'ग्राम्यीकरण' नामक पारिभाषिक शब्द दे चुके हैं। तुलसीकी महानताकी कुंजी ये दो 'करण' ही हैं। एक बात और ध्यानमें रखने लायक़ है कि तुलसीने 'ब्रह्म', 'आत्मा', 'माया', 'मोक्ष' आदि आधार-प्रतीकोंकी सहायतासे मिथकमें ऐतिहासिक निर्णयों (हिस्टॉरिक जजमेण्ट्स)का आधान किया है। आधार-प्रतीकोंकी इस अन्तःश्रेणी (कैटिगरी)ने स्वयंको अपनी 'मिथकीय' जड़ोंसे पूर्णतः वियुक्त कर डाला है। ये आधार-प्रतीक मिथकीय चेतनाके बजाय रहस्यवादी 'ज्ञान'की अभिव्यंजना करते हैं। ये चेतनाके विलयनपर आश्रित हैं। मिथकीय चेतना अवचेतन-प्रसूत होती है। "मिथक प्रादिम मनुष्यकी दुनियाके होते हैं, और हमारे चिन्तनकी मूलभूत अन्तःश्रेणियोंको चुनौती देते तथा उनकी अवज्ञा करते हैं। उनके तर्क—यदि कोई तर्क हैं तो—हमारे अनुभववादी एवं वैज्ञानिक सत्योंकी धारणाओंसे अमापनीय हैं।"[2] 'मानस'में तुलसीकी मिथकीय चेतना अपने सांगोपांग चरमोत्कर्षपर है। इसके बाद उनमें इसके आवेश-क्षण ही मिलते

१. अन्स्र्ट कैसीरर: 'द फ़िलॉसॅफ़ी ऑव सिम्बालिक फ़ार्म्स', भाग दो, पृष्ठ ७१।
२. अन्स्र्ट कैसीरर: 'ऐन एसे ऑन मैन', पृ० ७३।

हैं (गीतावली, कवितावली, विनयपत्रिका), अन्यथा ('मानस'के बाद) उन्होंने ऐतिहासिक बोधका ही आयत्तीकरण किया है। 'मानस'में मानो पुरातन तुलसीने नूतन जॉएस तथा काफ़्काकी तरह उनसे विराट् एक 'मिथकीय संदर्शन' (विज़न) की रचना की है। किन्तु इन दोनोंमें पुनीत काल और दैवी, अध्यात्म, नहीं है, जब कि उन तुलसी और सूरमें ये दोनों प्रादिम मिथकीय तत्त्व विद्यमान हैं। मिथकीय संदर्शन (मिथिकल विज़न)में जीवन और मृत्युके भौतिक तथ्य महत्त्व नहीं रखते। लेकिन इतिहासमें मृत्यु-बोध और परिवर्तनका ज्ञान छाया रहता है। इसलिए ऐतिहासिक पुनर्निर्माणमें मृत्युके प्रति मदिररागात्मक विरोध मिलता है। इसीलिए इतिहासमें अमरता तथा परिवर्तनकी पुनर्व्याख्याएँ की जाती हैं। यहाँ धर्म निर्विकल्प प्रतीकोंके साथ शामिल होता है। अमरताकी व्याख्यामें जगत् मिथ्या और ब्रह्म सत्य, फलतः आत्मा अमर सिद्ध की जाती है; और परिवर्तनकी व्याख्या 'कर्मसिद्धान्त' एवं 'मोक्ष'के द्वारा की जाती है। इस तरहसे इतिहास और कालकृत मृत्यु और परिवर्तनपर मनुष्यकी प्रादिम अवस्थाकी विजय स्थापित होती है।

मिथक और धर्म, तथा मिथक और जादूके सम्बन्ध संश्लिष्ट हैं। नृतत्त्व-शास्त्र और धर्मका आधुनिक इतिहास कर्मकाण्डको धर्मरूढ़िके पहले मानते हैं (रिट्युअल इज़ प्रायर टु अ डॉग्मा)। धर्मका सम्पूर्ण इतिहास मिथकीय तत्त्वोंसे सराबोर है। यह तय करना भी नामुमकिन है कि कब मिथककी समाप्ति और धर्मकी शुरूआत होती है। वस्तुतः स्वयं मिथक ही शक्ति-निष्पन्द धर्म है। इसीलिए मिथकके 'पुनीत काल'में घटनेकी धारणा सबको मंज़ूर है। धर्म मिथक-को गत्यात्मक ऊर्जामें तबदील कर देता है। मिथक और जादूके सम्बन्धोंमें दोनोंमें देश तथा कालमें उसके अंशके ही सम्पूर्ण होनेका अन्धविश्वास है। रावणके हृदयमें सीताके प्रतिबिम्बके होनेकी वजहसे रामने वहाँ बाण नहीं मारा क्योंकि सीता घायल होती (कालपरक जादू), और लक्ष्मण पर्णकुटीके चारों ओर रेखा खींच गये क्योंकि वह स्थान मिथकीय भूमि-केन्द्र हो गया है (देशपरक जादू)। मिथकीय महाकाव्योंमें बहुधा शत्रुका आर्केटाइपल बिम्ब होता है। दुर्गुणोंके अवतार-रूपमें, तथा दैत्य-दानव या राक्षस-रूपमें। ऐसेमें नगरकी रक्षा जादूमय रक्षामें, एवं शत्रुका फ़ौजी हमला राक्षसी हमलेमें अन्तररूपान्तरित (मेटेमॅरफ़ोज़्ड) होता है।[1] इस भाँति शत्रुके साथ माया (जादू), और नायकके साथ धर्म बँध जाता है। द्वैतकी गहराई उभर पड़ती है। एक ओर अन्ध-

१. मार्सिया एल्यादे : 'इमेजेज़ ऐण्ड सिम्बॅल्स', पृ० ३९।

विश्वासकी जादुई ताक़तें इकट्ठा होती हैं तो दूसरी ओर औचित्यकी शक्ति एवं धर्मके साध्य-मूल्य। मिथकीयकरण करनेवाले कवि तुलसीमें यह द्वैत खुलकर उभरा है, किन्तु भक्त तुलसीने सभी शत्रुओंको अप्रकट रूपमें रामभक्त तथा मुक्तिकामी बनाया है। तुलसी इन दोनों स्थितियोंमें सन्तुलन नहीं रख सके क्योंकि उनको मिथकीय पवित्रताके मुक़ाबलेमें इतिहासप्रसूत नैतिक पावनता अधिक प्यारी है जिसपर वेदरीति और लोकरीतिकी मर्यादाका आच्छादन है। हाँ, उन्होंने शत्रुके आर्कटाइपल बिम्बको परम्परासे प्राप्त 'राक्षस', रूपमें, तथा उसकी शक्तिको 'माया'के रूपमें ही विश्वासा है। समाजोंमें श्रमके विभाजनने भी मिथक-रचनाके धार्मिक विचारोंको प्रभावित किया है। श्रमविभाजनके फलस्वरूप सक्रिय देवतागणोंके बाद वैयक्तिक या इष्टदेवताओंका, तथा आदिम साम्यवादके बाद वर्गोंका अधिष्ठान हुआ; और जादूके घटनेपर धर्मके औचित्यकी शक्तिपर अधिक विश्वास बँधा। सारी वैष्णव चिन्तनधारा और भक्ति-भावनाका आधार कृषि समाज है जहाँ रामभक्तिकी केन्द्रापसारी और कृष्णभक्तिकी केन्द्राभिसारी शक्तियोंका सम्यक् सन्तुलन हुआ है और इष्टदेवताओंसे भक्तके नये रिश्ते क़ायम किये गये हैं। तुलसीने रामके साथ हनुमान्-जैसे ग्रामदेवताकी भी क्रान्तिकारी प्रतिष्ठापना की है जिससे पूर्ववर्ती नाथों-सिद्धों द्वारा फैलाये गये अलौकिक अन्धविश्वासी करिश्मोंका काफ़ी उच्छेदन हो गया।

मिथकके प्रारूप (मॉडल)पर दुर्खीम और कैसीररने काफ़ी विचार किया है। दुर्खीमके अनुसार "मिथकका प्रारूप प्रकृति न होकर समाज है। उसमें प्रकृति सामाजिक दुनियाका बिम्ब हो गयी है।" कैसीररने इसका विस्तार करते हुए बताया है कि मिथकीय तथा धार्मिक अनुभूतिके लिए प्रकृति एक महासमाज हो गयी है—जीवनका समाज। इस समाजमें मनुष्य और पशु, पशु और वृक्ष आदि सभी एक ही धरातलपर क़ायम हैं: बालिवधके समय राम जब शेषावतार लक्ष्मणके पाँवका अँगूठा दबाते हैं तो कुण्डलाकार सर्पके शरीरपर उगे सातों ताड़के पेड़ एक रेखामें चलकर आ जाते हैं और राम उन सातों वृक्षोंको तीरसे बेधनेकी शर्त पूरी करते हुए बालिका वध कर देते हैं ('अग्निवेश रामायण'), सेतुबन्ध-निर्माणके समय गिलहरी भी सहायता करती है ('कृत्तिवास रामायण'), राम जटायुको गले लगाकर उसे स्नेह देते हैं (मानस), गंगा सीताको आशीष देती हैं (मानस), इत्यादि। इस अवस्थामें हम प्रकृतिका मानवीयकरण, सर्वचेत-वाद, पशुकथाचरण आदि सभी प्राप्त कर लेते हैं। प्रकृतिचर्चाके अन्तर्गत हम इन बातोंपर रोशनी डाल चुके हैं।

मिथकीय 'स्थान' ( मिथिकल स्पेस ) भी मिथकीय 'भूगोल' के अनूठे-

अक्षांश-देशान्तरोंका जगत् देता है जहाँ स्वप्न तथा बहिर्गत यथार्थताकी दुनियाओं-के बीच अन्तरावलम्बन है। हर संस्कृति अपने मिथकोंको सौरमण्डल और नक्षत्रों तथा धरतीपर बिखरा देती है। मिथकमें 'पुनीत काल' की तरह 'पुनीत स्थान या देश' भी होता है। मिथकीय भूगोलमें यही पुनीत स्थान यथार्थ है, शेष या तो अपवित्र हैं या अयथार्थ हैं, अथवा अस्तित्व ही नहीं रखते। मिथकीय इतिहास-चरणमें जिन-जिन स्थानोंका दैवो घटनाओं तथा पात्रोंसे सम्बन्ध अथवा सम्पर्क रहा है वे हमेशाके लिए पुनीत, अलौकिक क्षमताओंसे पूर्ण, सुहावनी और स्वयं भी दिव्य ( खण्डका सम्पूर्णमें अन्तररूपान्तर ) हो जाती है। मिथकमें पुनीत स्थान मूलतः यथार्थ स्थान भी है। मिथकीय कालमें ईश्वर अवतार लेता हैं तथा मिथकीय देशमें वह कार्य अथवा लीलाएँ करता है। इस तरहसे मिथकमें ईश्वर और पृथ्वीके दो प्रतीक सार्वभौम हो उठते हैं। तुलसीने पृथ्वीको मनुष्यत्व दिया है। वह पर्वतों, नदियों और समुद्रोंका बोझ धारण किये हुए है और धर्मा-चरणकी वजहसे स्थिर है। लेकिन धर्म-विपरीत आचरणों और राक्षसोंकी नृशंसता-से वह अत्यन्त भयभीत और व्याकुल भी हो जाती है। अतएव वह 'गौरूप' धारण करके मुनियों और देवताओंको अपना दुःख सुनाती है, तथा ब्रह्मासे बातचीत भी करती है (मानस, १।१८३।२-४)। मिथकीय चेतनाने मनुष्य, पृथ्वी और गौको एक ही धरातलपर प्रतिष्ठापित किया है। तुलसीने इसी तरह शेषनाग, मन्दराचल, सुमेरु, कल्पवृक्ष, कच्छप, दिग्गज दिक्पाल आदिके द्वारा मिथ-कीय भूगोलका अधिष्ठान किया है। तीर्थोंमें अयोध्या, काशी, चित्रकूट, सीतावट, प्रयाग, भरतकुण्ड आदिके बाबत दो समानान्तर दृष्टियाँ दी हैं इनमें-से प्रत्येकका एक रूप मिथकीय है और दूसरा रूप ऐतिहासिक। 'मानस'का चित्रकूट तथा 'कविता-वली' एवं गीतावलीका चित्रकूट क्रमशः मिथकीय और ऐतिहासिक हैं; 'कविता-वली'में काशीका पूर्व-रूप मिथकीय तथा उत्तर-रूप ऐतिहासिक है। मिथकीय भूगोलकी यह ख़ूबी होती है कि कोई भी गाँव, कोई भी नदी, तालाब, शिखर चाहे वह कितना भी असम्बद्ध हो मिथकीय भूगोलके नक़्शेमें 'पुनीत स्थान' बन जाता है। शिमलाका जाखू शिखर भी पुनीत स्थान है क्योंकि पर्वत लाते समय हनुमान् यहाँ रुके थे, नैनीताल भी पुनीत है क्योंकि भीमके पाँवके धँस जानेसे वह उत्पन्न हुआ था (आकृति-साम्य), और आपके किसी शहर-गाँवके किनारे-पर वटवृक्ष पुनीत है क्योंकि वनगामिनी सीताने वहाँ विश्राम किया था। इस तरह केवल दिशा-साम्य या वस्तु-साम्यके आधारपर ही मध्यकालीन समाजने अपने चारों ओरकी भौगोलिक प्रकृतिका मिथकीयकरण कर डाला है। मिथकीय स्थान बहुधा 'पृथ्वीके केन्द्र' हो जाया करते हैं। सारी सृष्टि वहीं घटी हुई होती

है उन्हें दैवी संस्पर्शका सौभाग्य प्राप्त होता है। इस भाँति पुनीत स्थानोंको पृथ्वी-केन्द्र मानकर मिथकीय भूगोलका नक़्शा विकसित हुआ। ऐसे कई केन्द्र मिलकर एक द्वीप बने जिस तरह एक हज़ार महायुग मिलकर एक कल्प (ब्रह्माके जीवनके एक दिनके बराबर) हुए। ज्यामितिका 'कहीं' मिथकका 'मात्र यहीं' हो जाता है। अर्न्स्ट कैसीररके मुताबिक़ मिथकीय 'स्थान' प्रत्यक्षीकरणके 'स्थान'से नज़दीकी सम्बन्ध रखता है और ज्यामितिके तार्किक 'स्थान'के नितान्त विरुद्ध है। मिथकीय स्थानमें बिन्दुपद (पोज़ीशन) और दिशाका दृढ़ एकत्व नहीं है। मिथकीय स्थानमें 'यहाँ' और 'वहाँ' मामूली यहाँ और वहाँ [सार्वभौम सम्बन्धकी सामान्य शब्दावली] हो जाता है। शारीरिक स्थान मेट्रिक प्रणालीवाले स्थानसे भिन्न है क्योंकि इसमें दायें और बायें, आगे और पीछे, ऊपर और नीचे, आपसमें परिवर्तित नहीं हो सकते। इनमें-से किसी भी दिशामें गति किसी विशिष्ट ऐन्द्रिक संवेदनासे जुड़ी होती है। शुद्ध गणितशास्त्रका 'स्थान' कार्यधर्मपरक (फ़ंक्शनल) होता है, जब कि मिथकका 'स्थान' स्वरूपगठनात्मक (स्ट्रक्चरल) होता है। सारी स्थानक दुनिया, और इसके साथ ब्रह्माण्ड, एक सुनिर्धारित प्रारूप (मॉडल)के अनुकरणपर बना प्रतीक होता है जिसका कि विराट् रूप हो सकता है तथा वामन रूप भी। लेकिन रूप, चाहे छोटा हो या विशाल, वह रहता एक-समान है। शेषनाग, कच्छप, सुमेरु, सप्तसिन्धु आदिको लेकर भारतीय मिथकीय स्थानका स्वरूपगठन अविकल्पित हुआ है।[1] मिथकीय भूगोलमें दसों दिशाओंके देवता तथा दिग्गज (आठ) होते हैं जो विशिष्ट शक्तियोंके अधिष्ठाता हैं। भारतीय मिथकीय भूगोलमें दस दिक्पाल हैं : इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर, ईशान, ब्रह्मा और अनन्त। इनके दस आयुध हैं : वज्र, शक्ति, दण्ड, खड्ग, पाश, अंकुश, गदा, शूल, पद्म तथा चक्र। ये सब रामयन्त्रमें पूजित होते हैं किन्तु ये सब धार्मिक प्रतीक हैं। इन दिशाओंके आधारपर भूतों (अग्नि, जल, वायु, आकाश आदि) तथा ऋतुओंका आधान हुआ है। इन दिक्पालों तथा उनके आयुधोंके आधारपर दिशाओंके चरित्रका भी मिथकीय आख्यान हुआ है।

सारांशमें उद्यमकर्म और उद्यमकर्त्ता क्रमशः आयुध और दिक्पाल प्रतीकसे गुँथ गये। हुआ यह कि प्रत्येक आयुध और प्रत्येक कर्मके लिए भी मिथक-कथा जोड़नी पड़ी जिससे आयुध भी दिव्य पुरुष हो गये। गुप्तकालीन प्रतिमाओंमें विष्णुके विग्रहके साथ-साथ उनके आयुधोंकी भी अवतारी प्रतिमाएँ बनने लगीं।

---

१. फ़िलॉसॅफ़ी ऑव सिम्बॉलिक फ़ार्म्स, भाग दो, पृ० ८४-८५, ८८-८९।

आयुध (धनुष, परशु, गदा, वज्र, शक्ति—रामवृत्तमें इनको प्रधानता मिली है) तथा इनके साथ लांछन, वास्तवमें प्राकृतिक एवं ऐतिहासिक वस्तुएँ हैं जो 'पुनीत वस्तु' होकर धर्मक्षेत्रमें प्रविष्ट हो जाते हैं और विषयगत धार्मिक प्रतीक बन जाते हैं। आयुध एक ओर कार्योंके प्रतीक हैं तो दूसरी ओर किसी धार्मिक मनोवृत्तिको प्रतीक-बोध देनेवाली वस्तुओंके प्रतीक। परशु और धनुष प्रागैतिहासिक आखेटक तथा कृषि समाजके योद्धाके कार्योंका, गदा और शक्ति अतिमानवीय तथा अलौकिक शक्तियोंका संकेत करती हैं। अतः इनमें जादुई और दण्डविधायक शक्ति निहित है। ये धार्मिक प्रतीक पुनीत शक्तिसे सन्निहित हो गये हैं, और धार्मिक कार्य उनकी ओर अभिमुख रहता है। रामके द्वारा मारे जाकर मुक्ति पानेकी इच्छा राक्षसोंमें भी बलवती हो गयी है और यह वध एक धार्मिक कार्य हो गया है। इस धार्मिक कार्यको दैवी तथा दानवीके संघर्ष-द्वारा प्रखरतर बना दिया गया है। "धार्मिक चेतना अपने विषयोंको प्रतीक-रूपमें स्वीकार करनेकी हमेशा विरोधिनी रही है क्योंकि जब भी वैज्ञानिक आलोचना प्रभावपूर्ण हो जाती है तब पुनीत प्रतीक धर्मनिरपेक्ष प्रतीक बन जाया करते हैं। यह उनकी अवनति है क्योंकि तब वे प्रतीक न रहकर मात्र लक्षण या चिह्न हो जाते हैं और उनके प्रतीकात्मक चरित्रका परदाफ़ाश हो जाता है।[१] इसीलिए तुलसी वास्तविक सीताहरणको अस्वीकार करके मायासीताके हरणको ही स्वीकार करते हैं, इसीलिए रामके उस हरेक कार्यको 'मोहहीन नरलीला' कह देते हैं जिसमें मानवीय भावनाओंकी सबलता-दुर्बलता आकस्मिक कार्योंके प्रति अज्ञानता होती है।

इस तरह मिथक आधिभौतिक जीवनका मूलभूत सार हैं। ये कभी रूप व नाम बदलकर, कभी उदात्त होकर, कभी खण्डित होकर, और कभी अवनत होकर प्रवाहित होते रहते हैं। हेनरी जे० मरेके अनुसार मिथककी रूपात्मक या गुणात्मक परिभाषाएँ यों हैं: मिथक किसी अनुमान की गयी विलक्षण अथवा आवृत्त घटनाका बोधात्मक तथा नाटकीय प्रतिवस्तु-स्थापन है (घटना अतीत, वर्तमान या भविष्य, इनमें कहीं घट सकती है); यह घटना किसी महत्त्वपूर्ण विचारवस्तु (थीम)को धारण करती है जो प्रथमतः मस्तिष्कमें प्रतिनिधित्व पाती है (बिम्बात्मक मिथक) और द्वितीयतः शब्दोंमें (इतिवृत्तात्मक मिथक), अर्धकार्योंमें (अभिनीत मिथक), या किसी कलात्मक रूपमें (चित्रांकित मिथक)।[२]

१. पॉल टिलिच: 'रिलीजस सिम्बल' शीर्षक लेख; रोलोमें-द्वारा सम्पादित सिम्बालिज़्म इन रिलीजन ऐण्ड लिटरेचरसे उद्धृत, पृ० ९५।

२. 'डेडालस' स्प्रिंग १९५८ अंक, पृ० २१५।

अब हम इतमीनानके साथ मिथक-व्याख्याओं (एक्सप्लनेशन्स) और व्याख्या-विधियोंकी चर्चा छेड़ सकते हैं। मिथकोंका पुनरुद्धार अन्यापदेश (ऐलीगॅरी), दृष्टान्त (पैरेबिल), समदृश्य (ऐनैलॅजी) पूर्वरूपायन (प्रिफ़िगरेशन), अथवा व्याख्याकी अन्य पद्धतियोंके ज़रिये होता है। किन्तु हम कभी भी पूरी सत्यता या तत्त्व नहीं पा सकते। ये व्याख्याएँ आर्केटाइपल बिम्बोंको थोड़ा-बहुत ढूँढ़ लाती हैं।

मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदायोंने मिथककी व्याख्याके लिए अपने धार्मिक प्रतीकोंको साधन बनाया—(१) मिथकका नया नामकरणसंस्कार 'लीला' हुआ, मिथक-व्याख्याके लिए जिस दृष्टिकोणका धारण हुआ वह भक्तोंका 'रंजन' कहलाया एवं मिथकीय चेतना दैवीपात्रकी आनन्द निमित्त 'नटवत् क्रीड़ा' हो गयी; ।

(२) 'अंश'का ही 'सम्पूर्ण'के समान हो जानेकी मिथकीय चेतनाके कारण मुख्यतः अंश तथा आवेश अवतार ग्रहण किये गये, और पूर्वावतारका आध्यात्मिकीकरण हो गया;

(३) कथात्मक उपादानोंकी नयी सृष्टि नहीं की गयी बल्कि उन्हें पुराणोंसे ही ले लिया गया। इसलिए वाल्मीकि तक मिथक लीलामें रूपायित नहीं हो पाये हैं, वह नरचरित्र ही हैं; तथा

(४) नैतिक पावनतासे मेल न खानेवाली मिथकीय पवित्रताको संशोधित कर डाला गया है—या तो उसका संकेत कथन है या नटद्वैत-जैसी कोई उद्भावना है।

तुलसीकी मिथकीय व्याख्याओंमें भी ये चार विधियाँ ही मिलती हैं। इन चार मार्मिक भरतसूत्रोंके आधारपर ही हम मिथकीय-व्याख्याओंका महाभाष्य रच सकते हैं। ये सर्वाधिक महत्त्ववाले हैं।

तुलसीने मिथक-व्याख्यामें 'मोक्ष' या 'मुक्ति' तथा 'कर्मसिद्धान्त'का सर्वाधिक उपयोग किया है। अब मिथक या लीला भक्तोंका रंजन करती है, तथा असुर-संहारके बजाय असुर-उद्धारका हेतु अंगीकार कर लेती है। अतः राक्षस भी हरिभक्त हो जाते हैं इस 'लीला'में मिथकीय काल तथा ऐतिहासिक कालका भी संयोग क्रमशः रामके अवतार-रूप और परब्रह्म-रूपके सहअस्तित्वपूर्ण प्रतीकोंद्वारा हुआ है। तुलसीने यह संयोग सर्वाधिक किया है। इसी कड़ीमें हर मिथक या लीलाको खण्डमें बाँटकर प्रत्येकको पूर्ण भी बना दिया गया है और उसे 'दृष्टान्त-धर्म' प्रदान किया गया है। धनुर्भंग, विभीषण-शरणागति, जटायु-मोक्ष, बालिवध आदि दृष्टान्त-धर्मा लीलाएँ भी हैं। तुलसीने रामकथाके मिथककी

वैष्णव व्याख्या की है। उनसे पहले 'अध्यात्मरामायण'में वेदान्ती व्याख्या, 'आनन्दरामायण'में रसवादी व्याख्या, जैन रामायणोंमें स्याद्वादी व्याख्या, और बौद्धजातकोंमें बौद्ध व्याख्याएँ हो चुकी थीं। सारांशमें, मध्यकालमें मिथक व्याख्यामें साम्प्रदायिक प्रतीकोंका आच्छादन हुआ है।

मध्यकालीन मिथक-व्याख्यामें पूर्वतार्किक चिन्तन न होकर रहस्यवादी और साम्प्रदायिक चिन्तन मिलता है। आवेशरूप मिथकीय रामका विराट् परब्रह्म रूप भी देख लेते हैं; शेष पात्र रामको पहचानकर भी लोकरीति ( इतिहासके इतिवृत्तात्मक कथानक अर्थात् क्लैसिकल मिथक ) के पालनके हितार्थ मूल मिथकके निहित कथानकके अनुसार कार्य करते हैं। इस भाँति मिथकके दोनों मूल पक्ष—प्रथम प्रत्यक्षीकृत पक्ष और दूसरा धारणात्मकपक्ष—घुलमिलकर न चलकर समानान्तर एवं अन्तरावलम्बित होकर चलते हैं। फलतः आदिम मिथकीय द्वैत ( ऐम्बिवैलेन्स ) अवचेतन स्तरके बजाय चेतन स्तरपर आ जाता है तथा चरित्रका दुहरापन मिथकको धर्म-अनुशासनमें जकड़ देता है। राम ( परब्रह्म-नर ), सीता ( मायासीता-वास्तविक सीता ), रावण ( हरिभक्त-हरिशत्रु ) आदि सभी नटवत् क्रीड़ा करनेवाले हो जाते हैं।

मध्ययुगीन मिथक-व्याख्याके अन्तर्गत किसी भी घटना या कार्यको स्पष्ट करनेके लिए कारणरूपमें पूर्वजन्मकी कोई एक कथा जोड़ दी जाती है। इस तरह इस जन्मके किसी कार्यका कारण अतीतमें, तथा परिणाम वर्तमान अथवा भविष्यमें गूँथ दिया जाता है। फलस्वरूप तीनों कालोंका मेल हो जाता है। और ईश्वर एकमेव कालातीत इकाई हो जाता है। कारणको मिथक-कथाके द्वारा कहनेकी यह पद्धति 'मानस'में सर्वाधिक है, यद्यपि पूर्ववर्ती रामायणोंमें भी यही परम्परा बरक़रार है। इसे स्पष्ट करनेके लिए हम कुछ उदाहरण लेंगे : जय और विजय क्रमशः हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु बने तथा वाराह और नृसिंह-द्वारा मारे गये, वे ही पुनः कुम्भकर्ण और रावणके रूपमें अवतीर्ण हुए और राम-द्वारा मारे गये; जलन्धर-पत्नीके 'शाप'के कारण विष्णुने रामावतार धारण किया और जलन्धर रावणके रूपमें अवतीर्ण हुआ; ब्रह्मा-द्वारा शोधित विवाह-लग्नके बावजूद भी राम-सीता वियोग इसलिए हुआ कि चन्द्रमाने नर्तकी-रूप धारण करके लोगोंको ऐसा मन्त्रमुग्ध किया कि मुहूर्त ही निकल गया ( 'कृत्तिवास रामायण' ); सीताको विरह इसलिए झेलना पड़ा कि उन्हें उनके द्वारा पिंजड़ेमें क़ैद परिन्दोंने शाप दिया था; सीता-हरण इसलिए हुआ कि विष्णु-अवतार रामको वृन्दा, भृगु और नारदके शापोंका फल झेलनेके लिए पत्नीवियोग सहना पड़ा; बालिवध सर्पके प्रतिशापके कारण हुआ ( 'आनन्द रामायण' ),

रामका ताम्बूल रस एक दासी पी जाती है इसलिए उसे राधा होनेका वरदान मिलता है ( 'आनन्द रामायण' रसकाण्ड, २१वाँ सर्ग ); राम दण्डकारण्यवासी कामातुर ऋषियोंको वरदान देते हैं कि वे उनके कृष्णावतारके समय गोपियाँ बनेंगे ( पद्मपुराण ); रामाश्वमेधके समय राम-द्वारा ब्राह्मणोंको १६०० सुवर्ण-मूर्तियाँ प्रदान करनेके पुरस्कारस्वरूप कृष्णावतारमें १६००० गोप-पत्नियाँ मिलीं ( आनन्द रामायण )। अतएव हम यह पाते हैं कि मध्यकालमें प्रादिम मिथक-पर पौराणिक कथाएँ और आध्यात्मिक प्रतीक आरोपित कर दिये गये हैं जिससे उनका स्वरूप छद्मवेशी तथा उदात्त तथा शुद्धीकृत, तीनों ही हो गया है। सारांशमें, मिथककी व्याख्यामें स्पष्टीकरणके बजाय आध्यात्मिकीकरण और रसात्मकीकरण होता गया, तथा शनैः-शनैः उनमें अनेक कथाओंके गुँथनेकी वजहसे उनका भागवत-आकार होता गया।

सारांशमें, मिथकका मध्यकालमें व्यापक रूपमें 'लीला' शीर्षक नामकरण हो गया। लीलाएँ मिथककी ( प्रादिम आर्केक ) मनस्तात्त्विक साइकिक दुनियाको तो छू भी लेती हैं, किन्तु वे उनका आध्यात्मिकीकरण कर डालती हैं जिससे जटिलता और भी बढ़ जाती है। मध्यकालमें मिथक और धर्मके सम्मिश्रणमें-से धर्म अगुआई करने लगता है और मिथकीय भाषाका दर्जा धार्मिक भाषा ले लेती है जिसमें प्रतीकों ( मिथकोंकी अपेक्षा ) की व्याख्या प्रधान हो जाती है।

इसलिए प्रादिम मनस्तात्त्विक दुनियाके आर्केटाइपल बिम्बोंकी खोजकी दृष्टि रखकर हम रामकथाकी मिथकीय व्याख्या ( विश्लेषण आसान नहीं है ) करनेकी कोशिश करेंगे—

तुलसीकृतित्वमें मिथक 'लीला'में रूपायित हो गये हैं और कलाके द्वारा उनकी अभिव्यंजना हुई है। अतः हम एक नये पारिभाषिक शब्द 'लीला-मिथक' को गढ़ सकते हैं। लीला-मिथकमें धार्मिक और परम्परागत दोनों प्रकारका प्रतिनिधित्व होता है। ये मिथकीय स्रोतोंसे भी बँधे रहते हैं। इस प्रकार कलामें लीला-मिथकका प्रतिवस्तु-स्थापन ( रेप्रेज़ेण्टेशन ) इतिहास और मिथक दोनों कालोंमें अन्तररूपान्तरित ( मेटेमॅर्फ़ोज़्ड ) होकर प्रस्तुत होता है। अतः यह पूर्णतः यथार्थ नहीं होता। इसमें मिथकीय यथार्थ ( पुनीत ) भी शामिल होता है। कवि या दार्शनिक इनमें अपने अवचेतन तथा जातीय अवचेतन, दोनोंका समावेश करता है। नाना प्रकारके आर्केटाइपल रूपाकार अवचेतनसे चेतन कलाकृतियोंमें खिलकर क्लैसिकल महाकाव्यका ढाँचा रच देते हैं। इन धार्मिक लीला-मिथकोंमें भक्त और पुरोहित देवताओं तथा अर्द्धदेवताओं ( अंश तथा आवेश-अवतारों ) से हृदयसंवाद करते हैं। आर्केटाइपल बिम्बोंसे गर्भित ये

लीला-मिथक केवल गल्प ही नहीं होते। ये ऐतिहासिक संस्मरण-द्वारा प्रमाणित घटनाओं अथवा मिथकीय चेतना-द्वारा निवेदित आस्थासे परिपूर्ण होनेके कारण यथार्थ-प्रतीति भी होते हैं। इनके रचनेवाले इन्हें कदापि मिथक या प्रतीक नहीं मानते। इनके प्रतीकात्मक अर्थोंको ढूँढ़नेवाले तो आधुनिक लोग हैं। सुग्रीव, सम्पाति, खरदूषण, जटायु, जाम्बवान्, रावण आदि क़बीलोंके पूर्वजमुखी प्रक्षेपण हैं। अतः मिथक और प्रतीक एक प्रकारसे अनुसन्धानके साधन या औज़ार हैं। एरिक कोहलर प्रतीकोंको औज़ार ( टूल्स ) मानते हैं। जिस तरह औज़ार प्रकृतिके साथ सम्प्रेषण क़ायम करते हैं उसी तरह प्रतीक यथार्थताके उन गहरे पक्षोंका उद्घाटन करते हैं जो ज्ञानके अन्य किसी साधनके बसमें नहीं हैं। "मिथक और प्रतीक दोनोंकी शक्ति एक ओर तो दमित, अवचेतन, आदिम कामनाओं, भयों और अन्य मनस्तात्त्विक विषयोंको सचेतन करती है, और दूसरी ओर नये लक्ष्यों, नयी नैतिक अन्तर्दृष्टियों एवं सम्भावनाओंका उद्घाटन भी करती है।....इस तरह मिथक और प्रतीक संश्लेषणके उच्चतर धरातलोंपर समस्याका समाधान करनेवाले साधन हैं।....वे अन्वेषण ( डिस्कवरी ) के हेतु हैं। वे हमारे और 'प्रकृति' के, तथा हमारे अपने 'अस्तित्व'के सम्बन्धोंके स्वरूपगठनोंको प्रगत्यात्मक ढंगसे उद्घाटित करते हैं, नये नैतिक रूपोंको उद्घाटित करते हैं।"[1] इस तरह ये मिथक और प्रतीक जिस यथार्थताका अनुसन्धान करते हैं वह 'बहिर्गत' भी होती है। इसी वजहसे शायद पृथ्वी गौ-रूप होकर भयाकुल हो जाती है; मेघपर सूर्यकी किरणोंका पड़ना जलन्धर ( आकाश ) की पत्नी ( मेघावली ) से विष्णु ( सूर्य ) का सम्भोग करना हो जाता है; चन्द्रमा, बृहस्पति और रोहिणी ताराका एक राशिमें आ जाना चन्द्रमाका बृहस्पति-स्त्री ताराके साथ जार-कर्म हो जाता है; समुद्रके ज्वार-भाटों और पवनकी आरोही-अवरोही क्रीड़ा हनुमान्-सुरसाका कौतुक बन जाती है; अहल्या-शिला ( जिस कठोर भूमिपर हल न चलाया गया हो ) का मेघ-राम-द्वारा उद्धार हो जाता है; इत्यादि।

तुलसीकी रामकथाके लीला-मिथकके विकासकी भी एक रोचक व्याख्या है। इसमें एक ओर तो मिथकीय ढाँचा है, दूसरी ओर ऐतिहासिक बोध, तीसरी ओर वैष्णव सम्प्रदायके धार्मिक प्रतीकोंके अन्यापदेश, चौथी ओर टोटेमीय जातियोंके समाज; पाँचवीं ओर वैदिक युगकी बहुत पुरानी घटनाएँ; छठी ओर

---

१. 'सिम्बॉलिज्म इन रिलीजन ऐण्ड लिटरेचर'में रोलोमे-कृत लेख 'प्रतीकोंका महत्त्व', पृ० ४५।

गुप्तोंके स्वर्णयुगकी पौराणिक संस्कृति; सातवीं ओर कविकी अन्तर्मुखता; आठवीं ओर काव्यशास्त्रीय रसदृष्टि; नवीं ओर लौकिक काव्योंकी साहित्यिक परम्पराएँ तथा दसवीं ओर उनके युगका दारुण कृषक-जीवनका भी संश्लेषण एवं समन्वय हो गया है। रामकथाकी मिथक-रचनापर याकोबी, वेबर, वॉन नेगैलैन, फ़ादर कामिल बुल्के आदिने अपने दृष्टिकोण पेश किये हैं। "हनुमान्के सम्बन्धमें याकोबीका अनुमान है कि वे कोई कृषि-सम्बन्धी देवता थे, सम्भवतः वर्षाकालके अधिष्ठातृ देवता। वह तो वायुका पुत्र (मारुति) है। वह दक्षिण दिशाकी ओर, जहाँसे वर्षा आती है, सीता अर्थात् कृषिके सम्बन्धमें शुभसमाचार लानेके लिए रामके पास पहुँचता है।····डॉ० वॉन नेगैलैनके अनुसार सीता पृथ्वीके मानवीय-करणका परिणाम है।····डॉ० याकोबीने प्राचीन यक्षपूजाके साथ भी हनुमान्का सम्बन्ध स्थापित किया है। मैक्स वेबरके अनुसार 'रामायण'का समस्त काव्य एक रूपकमात्र है जिसके द्वारा दक्षिणकी ओर आर्योंकी सभ्यता और कृषिका प्रचार दिखाया जाता है। प्रधान पात्र सीता, जिसका हरण और पुनः प्राप्ति काव्यकी कथावस्तु है, कोई ऐतिहासिक वस्तु न होकर खेतकी सीता (लांगल पद्धति)का मानवीयकरण-मात्र है जिसे आर्यकृषिका प्रतीक मानना चाहिए। ····उसकी बहन उर्मिलाके नामका अर्थ लहराता हुआ खेत समझना चाहिए। ····याकोबीके अनुसार 'रामायण'की कथावस्तुके स्पष्टतया दो स्वतन्त्र भाग हैं: प्रथम भाग अयोध्यासे सम्बन्ध रखता है और ऐतिहासिक घटनाओंपर निर्भर है, द्वितीय भागकी आधिकारिक कथावस्तु (सीताहरण तथा रावणवध)का मूलरूप वैदिक साहित्यमें विद्यमान है। सीता, राम, तथा रावणका व्यक्तित्व क्रमशः वैदिक सीता (कृषिकी अधिष्ठात्री देवी) इन्द्र तथा वृत्रासुरसे विकसित हुआ है। सीताहरणका मूल स्रोत पणियों-द्वारा गायोंका अपहरण है, तथा रावणवध वृत्रासुरका विकसित रूप है।"[1] इन शीर्षस्थ विद्वानोंके अनुमानोंके बीचकी नाना असहमतियोंमें-से यह एक सहमति-सूत्र अवश्य मिलता है कि सीताका सम्बन्ध कृषिसे है और कृषि-कर्मको लेकर ही एक सम्पूर्ण आर्केटाइपल पैटर्न रचा गया होगा जिसमें राम, हनुमान्, लक्ष्मण, रावण, मेघनाद आदि अन्तररूपान्तरित मिथकीय यथार्थता होंगे। आर्योंने जो महत्त्व गायोंको दिया था वही महत्त्व कृषकोंने खेतोंको दिया। अतः गौहरणका सीताहरणमें अन्तर-रूपान्तर हुआ होगा—यह दूसरा सूत्र है। तीसरा सूत्र यह भी मिलता है कि रावणके पक्षके

---

१. फ़ादर कामिल बुल्के: 'राम-कथा (उत्पत्ति और विकास)' द्वितीय संस्करण १९६२, पृ० १०६।

योद्धाओंके नामोंमें-से अधिकांश नाम वर्णनात्मक हैं : कुम्भकर्ण, मेघनाद, विभीषण, महोदर (घाटी), अकम्पित (पर्वत), प्रहस्त (वृक्ष) आदि। जैन रामायणोंमें रावणके दस शिर नहीं हैं। वह दस दर्पणोंसे जड़ी एक माला पहनता है जिसमें प्रतिबिम्बित होकर वह दशशीश दिखता है। इन तीनों सूत्रोंकी पकड़से हम इस लीला-मिथककी अधिक व्यापक और सारयुक्त व्याख्या कर सकते हैं। हमें इसमें तीन स्रोत मिलते हैं : दसों दिशाओंमें फैले हुए अन्धकारका दसों दिशाओंमें रश्मि-रथ ले जानेवाले सूर्य-द्वारा विनाश, खेतको बोये जानेसे लेकर अन्न इकट्ठा करने तकको प्रक्रिया; और किसी इक्ष्वाकुवंशीय निर्वासित राजकुमारकी ऐतिहासिक घटना। अदितिका पुनर्नाम दशरथ हुआ क्योंकि उनका रथ दसों दिशाओंमें जाता है। उनके पुत्र राम हैं जो सूर्यवंशी हैं। 'खण्डके ही सम्पूर्ण हो जाने' वाले मिथकीय पूर्वतर्कके मुताबिक़ राम सूर्य हैं जिनका रश्मिरथ दसों दिशाओंमें जाता है। दूसरी ओर दशरथके समान दशशीश भी है : काला घोर अन्धकार, दसों दिशाओंमें व्याप्त तमोगुण ! इस तरह दशरथ-दशशीशका एक चक्र प्रवर्तित हो जाता है। दशरथ कालरथ हो जाते हैं ( कालनेमि )। दशरथ नियति है और दशशीश संहारोपरान्त सृष्टि। धार्मिक प्रतीकने दशरथको सत् और दशशीशको असत्में रूपान्तरित कर दिया है। राम वर्ण और प्रेम और कृपा तीनों दृष्टियोंसे मेघधर्मा हो गये हैं। दूसरे स्रोतमें सीता केन्द्रमें आती है : सीता अर्थात् खेत या कृषिकी अधिष्ठातृदेवी। वरुण और मित्रमें विरोध है। दक्षिणमें सिन्धु है, उत्तरमें सूर्य। इसलिए रामको सिन्धु बाधा देता है; और हनुमान्को सुरसा। अँधेरेमें घिरी हुई कृषि मानो रावण-द्वारा हरण की गयी सीता है। हनुमान् सीता अर्थात् कृषिके सम्बन्धमें शुभसूचना लानेके लिए दक्षिणकी ओर जाते हैं। हनुमान् पवन और मेघके मिथकीय प्रतीक हैं। हनुमान् श्रीराम अर्थात् सूर्यके अनुचर हैं। इस भाँति सूर्य, पवन, मेघ आदिका संयोग अन्धकारमें बन्दिनी कृषिको मुक्त कराता है। राम-रावण-युद्ध वर्षा और सूर्यतेज (ब्रह्मास्त्र तथा माया: 'बरषा घोर निसाचर रारी') का प्रचण्ड रूप है। राम अर्थात् सूर्यके साथ लक्ष्मण अर्थात् शुभ लक्षण भी हैं। अन्तमें दसों दिशाओंमें व्याप्त अन्धकार नष्ट होता है और सीताका उद्धार होता है। अग्निपरीक्षाके कई अर्थ हैं : ( क ) अग्निदेव पापोंको भस्म करते हैं ( धार्मिक प्रतीक ); ( ख ) अग्नि खेतोंकी फ़स्लोंको पकाती या जोती गयी धरतीको उर्वर बनाती है ( धर्मनिरपेक्ष प्रतीक ); ( ग ) अग्नि रजस्वला नारीका शुद्धीकरण करती है (कर्मकाण्डी प्रतीक )। इस कथामें अग्निपरीक्षा या तो कृषिको उर्वर बनाती है या रजस्वलाधर्मके शुद्धीकरणका प्रतीक-कथन करती है। बादमें सीतासे लव ( जव ) और कुश उत्पन्न होते हैं और सीता पुनः अपने मिथकीय छद्मको

उतारकर धरतीमें समा जाती है : अर्थात् "सीता = धरती" का मानवीयकरण प्रकट हो जाता है। इस तरह अदितिसे लेकर सीताके पाताल-प्रवेश तक, दशरथसे लेकर दशमुख तक, रामसे लेकर रामराज्य तक एक भौगोलिक घटनाको मिथकीय रंगोंसे रँगा गया है जहाँ क्रमका गड्डमड्ड हुआ है। तीसरे स्रोतमें रामकी राजनीति, रामके मित्र-शत्रु, रामके विष्णु अवतारवादी हेतु, रामके प्रति भक्ति, रामकी नैतिक मर्यादाएँ और अयोध्या, चित्रकूट, किष्किन्धा, सुवेल, लंका आदिके घटनात्मक चरित्र भी जुड़ गये हैं। हम यह स्वीकार करते हैं कि इस तीसरे स्रोतको भी अनुस्यूत करनेपर ही यह व्याख्या पूर्ण हो सकती है, किन्तु मिथक-अंकन ( माइथोग्रैफ़ी ) के द्वारा हमें इतनी ही कामयाबी हासिल हो सकी है।

मिथकोंके साथ-साथ 'प्रतीकों'की चर्चा बिना यह प्रसंग अधूरा-सा रह जायेगा। यहाँ शुरूमें ही स्पष्ट कर देना चाहेंगे कि प्रतीक तुलसीने नहीं गढ़े, बल्कि 'हमने' उनका ( प्रतीकोंका) अनुसन्धान किया है। धार्मिक चेतना प्रतीकको माध्यम नहीं मानती, उसके लिए दैवी और मानवीय सम्बन्ध तथा अनुभव यथार्थ हैं, श्रद्धा हैं, और भक्ति हैं। अतः ऐसेमें प्रतीक-बोध असम्भव होता है। पॉल टिलिचने प्रतीकके तीन उपलक्षण गिनाये हैं : ( १ ) प्रतीकमें अलंकार-गुण होता है; ( २ ) प्रतीकमें प्रत्यक्षीकरण होता है अर्थात् जो प्रकृत्या अदृश्य, आदर्श, या अनुभवातीत है वह प्रतीकमें प्रत्यक्षीकृत होकर बहिर्मुखता धारण करता है, और ( ३ ) प्रतीकमें संस्कारतः शक्ति होती है जो इसे चिह्न ( साइन )से पृथक् कर देती है। व्यक्ति एक साथ तीन धरातलोंसे प्रतीकका अनुभव करता है : व्यक्तिमें अन्तर्निहित प्रादिम और आर्केटाइपल गहराइयाँ व्यक्तिके जैविक तथा मनोवैज्ञानिक अनुभवोंसे उभरनेवाले प्रतीक-बोध, तथा व्यक्तिकी संस्कृतिमें परिव्याप्त मूल्य और प्रतीक ( देखिए—रोलोमें ) प्रतीकोंमें हमारी अन्तर्निहित भावनाएँ और आवेश कमल, चातक, सिंह, रथ, नौका, नदी आदिकी आकृतियोंमें प्रकट होकर प्रतीक हो जाते हैं। तुलसीकी स्वामीके प्रति भावना दास्यभावकी प्रीति होकर, तथा रामके प्रति सम्बन्ध अवतार-प्रतीक होकर पूर्ण हुए हैं। इस तरह प्रतीक अन्तर्वृत्ति तथा बहिर्जगत्के बीच सेतु हैं। इन प्रतीकोंको कथानकके आवरण पहनानेपर मिथक-निर्माण होता है। इस तरह प्रतीक और मिथक मिलकर अनुभव और अर्थका एक सम्पूर्ण सम्प्रेषण करते हैं। मनुष्य प्रतीकोंका निर्माता और भोक्ता होता है। प्रतीक-रूपमें उसके अनुभव अधिक प्रखर, अधिक गहरे और अधिक अनुसन्धाता हो जाते हैं। प्रतीकोंके भोगके फलस्वरूप ही मनुष्य इच्छाओंको कर्ममें परिवर्तित तथा परिणत करता है।

धार्मिक काव्योंमें प्रतीकोंका प्रयोजन रसास्वादन न होकर लोक-साधना हुआ करता है। इसीलिए तुलसीने मध्यकालीन समाजको भक्ति, माया, अवतार, नाम, रामराज्य, कलिकाल आदिके रूपमें ऐसे आन्दोलनकारी प्रतीक दिये जिन्होंने सारे सामाजिक जीवनको सदियों तक प्रभावित किया है। उनके प्रतीक मात्र कला-प्रतीक नहीं, वे समाज कर्मके जीवन्त प्रतीक हैं। प्रतीक अन्तर्गत-अवचेतन-की बहिर्गत अभिव्यक्ति होनेके कारण नाना अर्थोंका धारण कर सकते हैं। उनका आधार प्रादिम और आर्केटाइपल स्रोत होते हैं, तथा उनके स्थापत्य चेतन जगत्की वास्तविकताएँ होती हैं। धार्मिक प्रतीकोंकी भूमिका तो और भी विशिष्ट हो जाया करती है। वे सामूहिक कार्यके लिए प्रेरित करके समाजको एकताबद्ध करते हैं; वे आध्यात्मिक अनुभवोंका सम्प्रेषण करते हैं जिनके प्रति सम्प्रदायमें श्रद्धा होती है; वे इस जगत्को दैवी वरदान या शापके अनुरूप रूपाकार देते हैं; वे मनुष्योंमें ऐसे संवेगोंको उद्दीप्त करते हैं जो उन्हें कर्मक्षेत्रमें ले जाते हैं तथा वे समाजके साम्प्रदायिक पुनर्निर्माणके पुरोहित-जैसे होते हैं। प्रतीक हमेशा अभिप्रेत-से 'कुछ अन्यका भी' उद्‌घाटन करते हैं। धार्मिक प्रतीक मिथकीय मायासे उद्‌भूत होते हैं। अतः उनमें जादुई सम्मोहन निहित रहता है ( मिथकीय भाषा बिम्बों एवं प्रतीकोंका प्रचुर इस्तेमाल करती है )। इस पृष्ठभूमिमें यह बात ध्यान देनेकी है कि तुलसीने 'मानस'के अयोध्याकाण्डमें ही प्रतीकोंका सांग प्रयोग किया है क्योंकि वह ऐतिहासिक चरण और काव्य-भाषा प्रधान है। बादके काण्डोंमें तो उन्होंने बिम्बों और मिथकोंसे झमाझम धार्मिक भाषा तथा मिथकीय भाषाका प्रयोग किया है। अतः प्रतीकोंकी छटा छूट गयी है। 'गीतावली', 'नहछू', दोनों 'मंगलकाव्य' बिम्ब-प्रधान हैं। 'विनयपत्रिका'में आध्यात्मिक प्रतीकोंकी इतनी व्याख्या हो गयी है कि वे दीर्घ उपमा और रूपक-जैसे होकर बच रुके हैं। अयोध्याकाण्डमें त्रासद अनुभवोंकी गहराईको बहिर्गत करनेके लिए मंगलाचरण-श्लोकमें शिवके मंगल-अमंगल दोनों पक्षोंकी बन्दना हुई है। उसमें रामके अभिषेकका क्षणिक उत्सव बालचन्द्र है, मन्थरा सर्परूप है, रामवियोग कण्ठ-हलाहल है, भयानक वन जटाएँ हैं, और गंगा ( शृंगवेरपुरमें ) उदात्त पावनता है। इसी तरह हनुमान्-द्वारा अशोकवाटिकाका विध्वंस तूफ़ान है क्योंकि हनुमान् मारुतनन्दन भी तो हैं और रामका इन्द्ररथ धर्मविजयका प्रतीक है। तुलसीकी बादकी कृतियोंमें रामभक्त, हरिशत्रु आदि चारित्रिक प्रतीक होकर गिनाये गये हैं जो 'नाम-प्रतीकों'के दृष्टान्त हैं। सारांशमें, तुलसीमें प्रतीक-बोध नहीं है क्योंकि उन्होंने रहस्यानुभवोंका तो आद्यन्त विरोध किया है। इसीलिए मिथक लीलाएँ हो गये हैं और प्रतीक सांगरूपक, उत्प्रेक्षा तथा रूपक। पूरी

रामकथाके प्रतीकीकरणकी दृष्टिसे उसमें 'क्रौंच-वियोगभाव' है। सारी रामकथा दशरथराम, राम-सीता, लक्ष्मण-उर्मिला, तारा-बालि, रावण-मन्दोदरीके वियोगोंमें करुणा-भींगी है। तुलसीने अपने सृजनात्मक कार्य ( क्रियेटिव ऐक्ट ) का प्रतीकीकरण 'यायावरीय यात्रा भाव' के द्वारा किया है। उनमें इतिहाससे मिथक तककी, कृषक समाजसे शहरी समाज तककी, ग़रीबीसे लोक सुखसम्पत्ति-प्राप्ति तककी, लोक-साधनासे लोकसिद्धि तककी, राजापुरसे काशी तककी यायावरीय यात्राओंकी मार्मिक संवेदनाएँ हैं।

सबसे अन्तमें हम तुलसी-द्वारा व्यवहृत बहुविध मिथकीय बिम्बोंका निरूपण करेंगे।

तुलसीने जिस तरहसे बिम्बोंका इस्तेमाल किया है उसमें गठनकी विविधताएँ नहीं हैं, बल्कि कल्पनाकी प्रचुरता है। बिम्ब यथार्थका प्रतिबिम्ब होकर मोहक नहीं रह पाते। वे यथार्थका अलंकरण करते हैं और एक अलंकृत यथार्थकी सृष्टि कर डालते हैं। 'मिथकीय बिम्ब' तो 'अलंकरण-बिम्ब'से भी आगे मूल वस्तुरूप अर्थात् तदेकात्मक रूप हो जाते हैं। उनमें जादू ( मैजिक ) से उत्पन्न सम्मोहन ( इ-मैजिक ) छाया रहता है। मिथकीय बिम्ब हमेशा ज्ञानपक्ष और विवेकपक्षको ढाँके रहते हैं वे मूलतः मन्त्र ( शब्द-जादू ) या बिम्ब-जादू ( इमेज-मैजिक ) होते हैं। इसके उपरूप 'धार्मिक-बिम्बों'में देवतासे कल्पित साक्षात्कारका बोध निरन्तर विद्यमान रहता है जिसकी वजहसे इनमें तात्कालिकताका बोध प्रबल होता है। धार्मिक बिम्ब धार्मिक प्रतीकोंको उपमानोंके रूपमें भी इस्तेमाल करते हैं। ये आर्केटाइपल रूपाकारोंके कवि-प्रकृति-मार्गवाले साम्प्रदायिक बिम्ब होते हैं। इसी तरहसे 'ब्रह्माण्ड बिम्बों' ( कॉस्मिक इमेजेज़ ) में मिथकीय भूगोल और इतिहासको उपजीव्य बनाकर निर्विकल्प ( ऐब्सोल्यूट ) वस्तुओंको उपमित किया जाता है। तुलसीने इन तीनों प्रकारके सम्मूर्तन-विधानोंमें बहुधा उत्प्रेक्षा-न्याय ही लागू किया है। अलबत्ता कहीं-कहीं रूपकात्मक विधा भी नज़र आ जाती है। हम तीनों तरहके बिम्ब-विधानोंके कुछ उदाहरण देंगे :

(क) मिथकीय बिम्ब : कोटि मनोजोंको लजानेवाले राम; जनकका मन मानो प्रयाग हो गया और वात्सल्य-सिन्धुके अन्दर उन्होंने सीताके स्नेह-रूपी अक्षयवटको बढ़ते देखा ( उत्प्रेक्षा-रूपक-उपमा-योग ); भरतने अपने प्रेमको सम्भाला जैसे बढ़ते विन्ध्याचलको अगस्त्यने रोका था; राक्षस दौड़े जैसे बालसूर्यको अकेला देखकर मन्देह नामक दैत्य घेर लेता है; आकाशरूपी तालाबमें रावणकी भुजाओं-रूपी कमलोंपर बसकर शिवसहित कैलास हंसके समान शोभित था, ( उपमा ); रावणकी भुजाएँ लोकपालोंके विशाल बलरूपी चन्द्रमाको ग्रसनेके

लिए राहु हैं; हनुमान् और अंगद लंकादुर्गमें घुस गये मानो दो मन्दराचल समुद्रको मथ रहे हों; मेघनाद बाणोंके समूहको छोड़ने लगा मानो बहुत-से पंखवाले साँप दौड़े जा रहे हों; आकाशमें रावणके सिर और बाहु ऐसे छा गये मानो असंख्य केतु और राहु हों; दशरथकी ऐसी विकल दशा है मानो पंखोंके जल जानेपर सम्पाति गिर पड़ा हो; राम और लक्ष्मणके बीच एक परम लावण्यमयी और सुन्दर सुकुमारी नारी है मानो चन्द्रमा और श्रीहरिके बीच साक्षात् लक्ष्मी हो; बगुलोंकी पंक्ति शिखरको स्पर्श करके श्याम घटाओंसे मिलती है मानो आदिवराह समुद्रमें क्रीड़ा कर दाँतोंपर पृथ्वी धारण कर उससे बाहर निकले हैं (गीतावली); रामके सिरपर जटाओंका मुकुट है और उसके बीचमें फूलोंकी माला गुँथी है जैसे शिवशिर गंगा हो; सशरीर अग्निने सीताका हाथ पकड़कर उन्हें रामको वैसे ही अर्पित किया जैसे क्षीरसागरने विष्णुको लक्ष्मी समर्पित की थी; इत्यादि। यहाँ दो बातें ध्यान रखने लायक़ हैं : एक, तुलसीने संख्याके द्वारा विराट् मिथकीय बोध उत्पन्न किया है ( करोड़ों कामदेव, असंख्य राहु-केतु ); और दो, रामकथा और मिथकीय कथाके काल-बोधको भी प्रकट किया है क्योंकि मिथकीय कथाके कालमें अतीत चेतना है, और रामकथाके कालमें ऐतिहासिक कालसे आगेकी वर्तमान चेतना।

(ख) धार्मिक बिम्ब : सब सुन्दरी दूल्हनें सुन्दर दूल्होंके साथ एक ही मण्डप-में ऐसी शोभा पा रही हैं मानो जीवके हृदयमें चारों अवस्थाएँ ( जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय ) अपने चारों स्वामियों ( विश्व, तेजस, प्राज्ञ, ब्रह्म ) सहित विराजमान हों; राम-लक्ष्मणके बीच सीता कैसी सुशोभित हो रही हैं जैसे ब्रह्म और जीवके बीच माया; जनकने सीतासे कहा कि तेरी कीर्ति-रूपी देवनदी गंगा-को भी जीतकर करोड़ों ब्रह्माण्डोंमें बह चली है; आपकी माया गूलरके वृक्षके समान है जिसके अन्दर चर-अचर जीव-जन्तु बसते हैं; सीता अपहरणके समय विलाप करती है कि पुरोडाश ( यज्ञका अन्न ) को गदहा खाना चाहता है; रामनाम पापरूपी पक्षियोंके समूहके लिए बधिकके समान है; जैसे रघुपतिका अमोघ बाण चलता है उसी तरह हनुमान् चले; तीनों पर्णकुटीमें ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानो वैराग्य (लक्ष्मण), भक्ति ( सीता ) और ज्ञान ( राम ) शरीर धारण करके सुशोभित हों; इत्यादि। यहाँ अमूर्त उपमानोंका धारणारूपमें प्रयोग हुआ है। इसी तरह रसोंको मानव-रूप देनेवाले, तथा प्रकृतिशोभाको नैतिक उत्प्रेक्षांशसे सन्तुलित करनेवाले बिम्ब भी भरे पड़े हैं ( पिछली गोष्ठीमें इनका निरूपण हो चुका है )।

(ग) ब्रह्माण्ड-बिम्ब : सीताकी कीर्तिरूपी देवनदी गंगाको भी जीतकर

ब्रह्माण्डोंमें बह चली है; कठिन कोदण्ड चढ़ाकर सिरपर जटाका जूड़ा बाँधते हुए राम कैसे शोभित हो रहे हैं जैसे मरकतमणिके पर्वतपर करोड़ों बिजलियोंसे दो साँप लड़ रहे हों; लव, निमेष, परमाणु, वर्ष, युग और कल्प रामके प्रचण्ड बाण हैं तथा काल धनुष है; आकाशमें दसों दिशाओंमें बाण छा गये मानो मघा नक्षत्रके बादलोंने झड़ी लगा दी हो; सात समुद्रोंकी मेखलावाली पृथ्वीके एकमात्र राजा राम हैं जिनके एक-एक रोममें अनेक ब्रह्माण्ड हैं; कुम्भकर्ण करोड़-करोड़ वानरोंको पकड़कर एक साथ खाने लगा मानो पर्वतकी गुफामें टिड्डियाँ समा रही हों; विराट् रूपके अंग-प्रत्यंगमें संसारकी विचित्र रचना प्रतिफलित हो रही हैं; इत्यादि। यहाँ विराट्ता, विशालता और व्यापकताका उदात्तगुण हावी है।

इस गोष्ठीका तमामशुद करनेके पहले अब हम मिथकोंकी महान् शक्तिका अन्दाज़ा लगा सकते हैं क्योंकि वे कार्यधर्मवाही और कर्मप्रवर्तक हैं; और आर्के-टाइपल बिम्बोंके रूपमें मानवकी विरासत भी। अतः कुछ बिम्ब समाजके स्वास्थ्य-को बढ़ाते हैं और कुछ उसे अन्धविश्वासों तथा निकम्मेपनके गर्तमें डाले रहते हैं। मध्यकालमें रामका लीला-मिथक समाज-स्वास्थ्यके लिए अमृत था, और रीतिकालमें कृष्ण मिथक मीठी शराब। वास्तवमें मिथक-मात्र कथा बनकर नहीं ही रह पाते। वे विचारधारा बनकर पूरीकी पूरी संस्कृतिके दर्पण, समाजके अधिनायक, रीनैसाओंके जनक तथा क्रान्तिकारी आन्दोलनोंके वाहक भी हो जाया करते हैं। कोई भी समाज तथा संस्कृति अपने वाहक मिथकोंके बिना ग़ाफ़िल पिछड़ेपनमें सो जाती है। रामकथा, और स्वयं सन्तभक्त कवि तुलसीदास भी एक वाहक मिथक होकर, कृषक भारत और संघर्षरत राष्ट्रको क्रियाशील किये रहे हैं। लेकिन अब देवधाम वैकुण्ठसे शुरू होकर मुग़लकालमें होती हुई यह यात्रा फ़ौलाद मिलके शहर भिलाई तथा आणविक रिऐक्टरके नगर ट्रॉम्बे तक तय हो चुकी है। अब आगे रामकथा और तुलसीकी नयी-नयी मिथकीय एवं ऐतिहासिक, आधुनिक एवं सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक भौतिकता-वादी व्याख्याओंकी बेहद व्याकुल प्रतीक्षा है। इति।

■

# समापन गोष्ठी

"उत्तर प्रतिउत्तर बहु आनसि" : अर्थात् लेखक-रूपी पाठक और सह-भोक्ताओंने कौन-सी आलोचनाएँ कीं ?

रमेश कुन्तल मेघकी यह गोष्ठी विशाल मध्यकालके एक खण्डकी संस्कृतिके एक साहित्य-रूपकी एक धाराकी भूमिका पेश करती है जब कि विशाल मध्यकालकी बहुमुखी संस्कृतिके अनेक कला-रूपोंकी अनेक धाराएँ मिलकर ही पूरी तसवीर खींच सकती हैं। यह लेखकको अनिवार्य सीमा लगती है। लेखकने तुलसी, तुलसीके कृतित्व, और मध्यकालीन संस्कृतिकी जो मूल्य-मीमांसा की है उसमें उसने बेहद आधुनिक दृष्टिकोण अपनानेकी कोशिश की है। लेकिन अपनी मौलिकताको वह पूरी तरह साबित नहीं कर सका है क्योंकि उसने नृवंशशास्त्र, समाजशास्त्र, सौन्दर्यबोध-शास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, मिथक-शास्त्र आदिका भी पर्याप्त उपयोग किया है। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि उसने इनकी वैज्ञानिक स्थापनाओंको ही आधार बनाया है।

● पहली गोष्ठीमें लेखकने इतिहास-पुराण और ग्रामीण समाजशास्त्रके आधारपर मध्यकालीन वृत्तोंकी जो रचना की है उनके अन्तर्गत वह रामवृत्तको कृष्णवृत्त, शौर्यवृत्त तथा रहस्यवृत्तसे पूरी तरह जोड़ नहीं सका है। इनके जोड़नेपर ही मध्यकालीन 'सांस्कृतिक रूपाकार'की धारणा मुकम्मिल होती।

● दूसरी गोष्ठीमें लेखकने कविके मुग़लकालीन रंगमंचको लिया है। यहाँ एक दयनीय तथ्य उभरकर आ गया कि यूनानियों, मिस्रियों, चीनियों तथा अरबोंकी तरह भारतीय जागरूक इतिहासकार नहीं रहे हैं। इसलिए उनमें सामाजिक विविधता और आर्थिक क्रियात्मकताके प्रति उन्नतिशील दृष्टिकोण नहीं पनप सका। तीसरी गोष्ठीमें लेखकने तुलसीकी आत्मकथाकी पुनर्रचना की है और उनके जीवनसे मृत्यु पर्यन्त चरित्रको पहली बार एक सूत्रमें पिरोया है। लेकिन

यहाँ भी वह चूक गया। उसने भक्त तुलसीको प्रधानता देनेके बजाय सामाजिक पुरुष तुलसीको महत्ता दी है। शायद लेखकके दिमाग़में आचार्य शुक्लका दृष्टिकोण क़ायम था। उन्होंने भी भक्त तुलसीके बजाय लोकमंगल-साधक तुलसी-का पुनर्निर्माण किया है।

● चौथी गोष्ठीमें शिल्पविधिका विवेचन है। यह स्वयंमें अत्यन्त तकनीकी कुहेलिकाओंमें व्यस्त हो गयी है। पाँचवी गोष्ठीमें लेखकने सौन्दर्यबोध-शास्त्रके अनुसार तुलसीके कृतित्वके अध्ययनको जो दिशाएँ दी हैं वे खण्डरूप हैं। सौन्दर्य-बोध-शास्त्र अपनी समग्रतामें वहाँ प्रतिष्ठित नहीं हुआ है। किन्तु इस गोष्ठीमें अनेक महत्त्वपूर्ण तथा विचारोत्तेजक दिशाओंका इशारा तो जरूर ही किया गया है। छठी गोष्ठी चरित्र-रचनासे सम्बन्ध रखती है। यहाँ लेखकने धार्मिक नैतिकताके बजाय सामाजिक नैतिकताको, साहित्यशास्त्रके बजाय समाजशास्त्रको आधार बनाया है। जिस तरह तीसरी गोष्ठीमें उसने धार्मिक अवधारणाओं तथा प्रतीकोंका आधुनिक किन्तु एकांगी विश्लेषण किया था, वह बात यहाँ कम है।

● अन्तिम सातवीं गोष्ठीमें लेखकने विद्वानोंके बहुत ज्यादा उद्धरण दे दिये हैं और हिन्दी जगत्को मिथकशास्त्रसे परिचित करानेका अतिरिक्त जोश भी दिखाया है। यह गोष्ठी पूरी वार्ताका उत्कर्ष है। किन्तु इसमें धारणाओंका पूरा प्रकाशन नहीं हो सका है। हम सहभोक्ता इस वार्ताको जारी रख सकते हैं।

कुल मिलाकर हम भी लेखकके इस मतसे सहमत हैं कि यह गोष्ठी 'मध्य-कालीन अध्ययनशास्त्र' ( मेडीवल स्टडीज़ ) का एक अगला चरण है। इस गोष्ठीमें हमें जो नयी और आधुनिक दृष्टियाँ मिली हैं उनसे प्रेरित होकर हम इस शास्त्रचर्चाको आगे बढ़ायेंगे; और सूर, कबीर तथा जायसीपर भी ऐसी ही गोष्ठियाँ आयोजित करेंगे।

औपचारिकता प्रदर्शनके लिए भी लेखक धन्यवादका पात्र नहीं है। धन्य-वादके पात्र तो हम सब गोष्ठीमें भाग लेनेवाले लोग हैं जिन्होंने लेखकको इसके लिए उत्तेजित किया कि वह तुलसी और तुलसी-कृतित्वको ज़रा अपने आधुनिक झरोखेसे भी पेश करके समाजमें उत्तर-प्रतिउत्तरोंको आमन्त्रित करे।

अब गोष्ठी विसर्जित की जाती है।

■ ■